समकालीन धर्मदर्शन

अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक वर्ष १९७२

समकालीन धर्मदर्शन

लेखक
डा० याकुब मसीह, एम० ए० (स्वर्णपदक प्राप्त)
पी० एच० डी०, (एडिनबरा), डी० लिट् (पटना)
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दर्शन विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया।

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, पटना-३

विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत सरकार (शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण, मार्च १९७२
१०००

मूल्य : रु० १६·७५ (सोलह रुपये पचहत्तर पैसे मात्र)

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, पटना-३

मुद्रक :
जनजागरण प्रेस, पटना-३

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं के विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारो के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यों मे इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायो की स्थापना हुई है। बिहार मे इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार दारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओ में समान पारिभाषिक शब्दावलो के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ 'समकालीन धर्मदर्शन' डॉ॰ याकूब मसीह् की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। डॉ॰ मसीह् अपने विषय के जाने-माने विद्वान हैं तथा उनको अध्ययन-अध्यापन का भी व्यापक अनुभव है। आशा है, इस ग्रंथ से जिज्ञासु पाठको को यथेष्ठ जानकारी प्राप्त होगी।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथो के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों मे स्वागत किया जायगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

पटना,
दिनांक १० मार्च, १९७२

अध्यक्ष,
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्राक्कथन

समकालीन दर्शन में दार्शनिक विश्लेषण और अस्तित्ववाद की दो मुख्य धाराएँ देखने मे आती हैं। फ्लू, फिंडले, विस्डम, सी० बी० मार्टिन, मैंकी इत्यादि प्रमुख विश्लेषणवादी हैं। इनके अतिरिक्त विश्लेषणवादी परम्परा में हेयर, ब्रेथवेट इत्यादि वे विचारक है, जिन्होने ईश्वर-संबधी प्रकथनो को नई मोड देने का प्रयास किया है। नॉर्मन मैल्कॉम, जॉन हिक, आई० एम० क्रौम्बी, जान विल्सन इत्यादि वे विश्लेषणवादी विचारक हैं, जो परम्परागत ईश्वरवादी प्रकथनो को अर्थपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। मेरी समझ में विश्लेषणवादी परम्परा के अनुसार परम्परागत ईश्वरवाद की सुरक्षा नही हो सकती है। मैंने अस्तित्ववादी परम्परा को धर्म के क्षेत्र मे विशेष माना है। अस्तित्ववादी धर्मदार्शनिको मे रुडॉल्फ बुल्तमान तथा पॉल तीलिख् प्रमुख हैं। मैंने तीलिख की तत्वमीमासा को नही स्वीकार किया। परन्तु इनके प्रतीक सिद्धान्त को स्वीकार किया है। मेरी समझ मे शंकर और तीलिख् के आधार पर प्रतीकात्मक कथनो की व्याख्या हो सकती है।

मैंने विषय को समकालीन रखते हुए भी पाठ्यक्रम को ध्यान मे रखा है और धर्मदर्शन के प्रमुख सभी विषयो को सरल रूप मे समकालीन दर्शन के निष्कर्षो के आधार पर प्रस्तुत किया है। छात्रों की सुविधा के लिए प्रत्येक अध्याय के अन्त मे प्रश्न भी दे दिये है। जिज्ञासुओ के लिए लबी ग्रंथ-सूची भी लिख डाली है। पारिभाषिक शब्दावली भी दे दी गई है।

मै ग्रंथ अकादमी के सचिव डॉ० शिवनदन प्रसाद को धन्यवाद देता हूँ जिनके प्रोत्साहन के फलस्वरूप मैं इस पुस्तक को लिख सका हूँ। अपने विभाग के दो प्रिय अध्यापको को भी बिना धन्यवाद दिए नही रह सकता हूं। श्री उपेन्द्र नारायण झा और डॉ० समरेन्द्र कुमार वर्मा ने मेरी लेखनी को सुधारने मे बहुत मदद की है। उनकी सहायता नही मिलती तो भाषा की अनेक त्रुटियाँ रह जाती।

—या० मसीह

विषय-सूची

धर्मदर्शन

अध्याय—१

धर्मदर्शन

धर्म का स्वरूप

धर्मदर्शन की आवश्यकता : धर्म के दार्शनिक विवेचन को 'धर्मदर्शन' कहते है। धर्मदर्शन न तो धर्म है और न दर्शन। धर्म वह सामूहिक मानव व्यापार है जो वास्तविक रूप मे पाया जाता है। इस अर्थ मे हिन्दू, ईसाई इत्यादि वास्तविक धर्म है और प्रत्येक धर्म के अपने-अपने विशिष्ट व्यापार है, उदाहरणार्थ हिन्दू वह है जो अपने किसी इष्टदेवता की पूजा करता, व्रत रखता, तीर्थ करता तथा इसी प्रकार के अन्य व्यवहार करता है। धर्मपरायण होने के लिए हिन्दू के लिए आवश्यक नही है कि वह अपने इष्टदेवता के अस्तित्व को प्रमाणित करे। उसके लिए इतना भर ही पर्याप्त है कि उसे अपने देवता मे आस्था हो और उसमे यह दृढ विश्वास हो कि उसके देवता उसके जीवन की समस्याओ मे उत्प्रेरणा प्रदान कर उसके सहायक होगे। धर्मचारी धर्म के अनुसार अनुचरण करता है, पर वह धर्म के सबध मे विचार नही करता है। ईश्वरनिष्ठ ईश्वर का आह्वान करता है, उससे सगोष्ठी करने की कोशिश करता है और ईश्वर-सायुज्य* (कम्यूनियन) स्थापित करना चाहता है। परन्तु बहुत कारणो से धार्मिक व्यापार, विश्वास तथा ईश्वर इत्यादि आराध्य विषयो के सबध मे सोचना भी पडता है। इस चिन्तन को 'धर्मदर्शन' की सज्ञा दी जाती है। धर्मदर्शन की आवश्यकता निम्नलिखित कारणो से हो जाती है।

१ धार्मिक अनुभूति परिवर्तनशील तथा क्षणस्थायी होती है। धर्मचारी अपनी अनुभूति से इतना प्रभावित हो जाता तथा आनद का अनुभव करता है कि वह चाहता है कि वह अपनी अनुभूति को स्थायी रूप दे दे। अनुभूति

---

*अर्थात ईश्वरनिष्ठ ईश्वर के साथ जुट जाना चाहता है, उसकी उपस्थिति का मान करना चाहता है तथा उसका साक्षात्कार करना चाहता है। इसका नाम है ईश्वर-सायुज्य।

स्थायी नही हो सकती है, किन्तु उसके संबंध में किए गए विचार स्थायी हो सकते हैं। विचारने के लिए संप्रत्ययों (कन्सेप्ट) की आवश्यकता हो जाती है। ये संप्रत्यय अन्त मे प्रचलित दर्शन से प्राप्त किए जाते हैं। अतः, धार्मिक अनुभूति को स्थायी करने के लिए, भविष्य मे उसके अनुस्मरण करने के लिए तथा अन्य व्यक्तियो को संज्ञापित करने के लिए दर्शन की आवश्यकता हो जाती है।

२. दार्शनिक विचारधारा गतिशील होती है, क्योकि दर्शन अपने युग के शोधो से प्रभावित होता रहता है। जो दर्शन आज का है वह विज्ञान से ओतप्रोत है—आधुनिक जीवन की समस्याओ से प्रभावित है। प्राचीन दर्शन योग, समाधि तथा धार्मिक व्यापारो पर आधृत था। अब जैसे-जैसे दार्शनिक विचार बदलता जाता है वैसे-वैसे दर्शन परम्परागत विचार और व्यवहार को आलोचना की दृष्टि से देखने लगता है। प्रत्येक युग का दर्शन धर्म मे निहित विचारों और व्यापारो की आलोचना करने लगता है और धर्मचारी इन आलोचनाओ से पराङमुख नही हो सकता है। धर्म जीवन का केन्द्र होना है और इस केन्द्र पर आघात होने से धर्मचारी विह्वल हो जाता है। इसलिए धर्मचारी के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह नवीनतम दर्शन के आधार पर अपने धर्मदर्शन की रचना करे और धर्म के संबध मे की गयी आलोचनाओ का प्रत्युत्तर दे। इसलिए धर्मदर्शन को भी दर्शन की गतिशीलता के साथ परिशोधनशील रहना पडता है।

३ फिर धर्म अनेक है। उनके बीच विचार-विमर्श होते रहते है और साथ ही साथ विचार-सघर्ष भी हो जाता है। इसलिए प्रत्येक धर्मचारी के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह अपने धार्मिक व्यापार, विश्वास, क्रिया-कलाप तथा अभिग्रहो* (असम्शन) का दार्शनिक विवेचन करे ताकि धर्म-संगोष्ठी तथा संज्ञापन संभव हो सके।

धर्म और धर्मदर्शन : किन्तु धर्मदर्शन धर्म नही है। धार्मिक व्यापार, विश्वास तथा क्रियाकलाप को 'प्राथमिक भाषा' कहा जाता है। इस प्राथमिक भाषा पर विचार करने को धर्मदर्शन' कहा जाता है। जिस प्रकार बोल-चाल की भाषा तथा साहित्य को प्राथमिक अथवा मूल भाषा कहा जा सकता है और

*अभिग्रह, पूर्वधारणाएं हैं जिनके अनुसार विचार-धारा संचालित होती है। इसे 'मान्यता' भी कहा जाता है, अर्थात् जिसे मानकर कार्यवाही संचालित की जाय।

उसके व्याकरण को द्वितीय श्रेणी की भाषा कहा जा सकता है,उसी प्रकार धर्मदर्शन को धर्म की तुलना मे द्वितीय श्रेणी की भाषा कहा जा सकता है। धर्म मे हम ईश्वर से संभाषण करते हैं; किन्तु धर्मदर्शन में हम ईश्वर-संभाषण के विषय में संभाषण करते हैं। इसलिए धर्मदर्शन साक्षात् धर्म-व्यापार नही है। यह है धर्म-चर्चा, धर्मचिन्तन, जो धर्म-विरोधी भी हो सकता है। अतः, यह आवश्यक नही है कि धर्म-दार्शनिक स्वय धर्मचारी हो।

धर्म और धर्मदर्शन मे केवल प्राथमिक एव द्वितीय स्तरीय भाषाओ का ही अन्तर नही है। साथ ही साथ इन दोनो मे व्यापकता तथा तटस्थता का भी भेद है। किसी भी धर्मविशेष की भाषा जाति-सस्कार तथा देश की संस्कृति से प्रभावित रहती है। ईसाई-धर्म, यहूदी-धर्म तथा इस्लाम की भाषाएँ अपने समय तथा देश मे सर्वथा प्रभावित हैं। इसी प्रकार हिन्दू, बौद्ध तथा जैन-धर्म की भाषाएँ भारत की सस्कृति एव भारत-भूमि के सस्कार से प्रभावित हैं। लेकिन धर्मदर्शन मे हमे ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ता है जो अनेक सस्कृतियो के लिए व्यापक रूप से लागू होती है। इस अन्तर का मुख्य कारण यह है कि धर्मों का उदय वैज्ञानिक काल मे पूर्व हुआ और इस अवैज्ञानिक काल की अनुभूति न तो परिशुद्ध हो सकती थी ओर न व्यापक ही। परन्तु धर्मदर्शन, विशेषकर समकालीन दर्शन, वैज्ञानिक अनुभूति तथा समाज के बहुमुखी विकासो पर आधृत होता है। यही कारण है कि धर्मदर्शन दर्शन की व्यापक एव परिशुद्ध भाषा तथा परिस्पष्ट सप्रत्ययो से रचित होता है।

लेकिन धर्म एव धर्मदर्शन मे विशेषकर तटस्थता का अन्तर होता है। धर्म मे आत्मग्रसन (सेल्फ इन्वोल्वमेंट) रहता है। कोई हिन्दू अपने इष्टदेवता के प्रति तटस्थ नही रह सकता है। राम का पुजारी राम नाम से 'सजल नयन पुलकित गात' हो जाता है तथा राम-निंदा से विचलित हो उठता है। यही बात मुसलमान और ईसाई के लिए भी लागू होती है। बिना धर्म के प्रति अभिविन्यास* के धर्मचारी के धर्माचरण को सच्चा नही माना जायगा। अतः, धर्म मे धर्मचारी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व सम्पुटित रहता है। इसके विपरीत विज्ञान मे विज्ञान-विषय के प्रति वैज्ञानिक पूर्ण तटस्थता बरतता है। वैज्ञानिक अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को (अर्थात् अपनी इच्छाओं, अभिलाषाओं तथा उद्देश्यों को)

* 'अभिविन्यास' [illegible] अभिप्राय है कि व्यक्ति की जड़ का सुस्थापित रहना, अर्थात व्यक्ति के अपने सम्पू[illegible]क्तित्व का लगाव।

छोड़कर तटस्थ हो़कर जो कुछ अनुभूत करता है, उसका परिशुद्ध तथा परिस्पष्ट संप्रत्ययों के द्वारा प्रतिवेदन करता है। ठीक इसी प्रकार धर्मदार्शनिक सभी धर्मों का अध्ययन बिना किसी पक्षपात के करना चाहता है। यह ठीक है कि धर्मदर्शन मे भी थोडा- बहुत आत्मग्रसन रहता है, क्योंकि गौण रूप से धर्मदार्शनिक मे भी कोई-न-कोई धर्म रहता है, चाहे वह धर्म परम्परागत न होकर विज्ञानवाद, समाजवाद तथा मानवतावाद का क्यो न हो। धर्मदर्शन की तुलना मे शुद्ध दर्शन अधिक व्यापक और तटस्थ रहता है। तोभी बिना आदर्श के प्रति अभिविन्यास एवं आत्म निवेदिनत्व के कोई भी शोध तथा विचार सच्चा एव प्रामाणिक नही कहा जा सकता है। वैज्ञानिक अपने विषय के प्रति तटस्थ अवश्य रहता है, लेकिन उसके अन्दर भी खोज की धुन सवार रहती है, नई देन देकर समाज मे अमरता प्राप्त करने की उत्कट इच्छा रहती है। इसलिए विषय के प्रति तटस्थता बरतकर वह सत्य की वेदी पर आत्मसमर्पण करता है। अत, तटस्थता के पुजारी मे भी आत्म-निवेदिता, आत्मबद्धता तथा आत्मग्रसन रहता है। तब इस बात मे अन्तर है कि धर्म मे आराध्य देवता अथवा इसके विषय के प्रति आस्था तथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व-ग्रसन रहता है, लेकिन अपेक्षतया धर्मदर्शन मे आलोच्य विषय के प्रति तटस्थता बरतने की कोशिश की जाती है। धर्म के अन्तर्गत आत्मग्रसन एव आत्मबद्धता (कॉमिटमेंट) के कारण धर्म को समष्टिपूर्ण तथा व्यक्ति का सम्पूर्णात्मक व्यवहार कहा जाता है।

यह ठीक है कि वैज्ञानिक भी पूरी तन्मयता के साथ अपने विषय मे लगा रहता है। तोभी वैज्ञानिक व्यापार को सम्पूर्णात्मक नही कहा जा सकता है, क्योंकि अपनी प्रयोगशाला मे निकलकर उसे खाने की आवश्यकता, अवकाश की आवश्यकता तथा अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए साथी की खोज करनी पडती है। मृत्यु-भय को भी ध्यान मे रखना पडता है। जीवन की इन प्रक्रियाओ के सम्पादन के लिए वैज्ञानिक को आचार एव धर्म की मदद लेनी पडती है।

नीति और धर्म आचार के लिए हमे जानना पडता है कि हमे क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए, अर्थात् नैतिक जीवन के लिए मानक को जानना पडता है जिसके अनुसार व्यवहार करना चाहिए। सच्चा नीतिवान व्यक्ति वह है जो प्रात.काल मे लेकर सोने तक आमरण निर्धारित

मानकों के द्वारा जीवन-यापन करता है। अन नैतिक मानक व्यापक कहे जाते है और व्यक्ति के जीवन के लिए ये मानक इतने व्यापक होते है कि कहा जाता है कि व्यक्ति के लिए नैतिक द्रोह की सभावना नही सोची जा सकती है। इसका कारण है कि यदि उसे सोना भी है तो नैतिक दृष्टि के अनुसार व्यक्ति को तभी सोना चाहिए जब उसके लिए यह उचित हो। यदि कर्त्तव्य न निभाने के बदले कोई सो जाए तो इसे अनुचित समझा जाएगा। इसलिए नैतिक मानक को अति व्यापक माना जाता है। तोभी नैतिक जीवन की तुलना मे धार्मिक विश्वास, व्यवहार तथा आत्मश्रद्धा को अधिक व्यापक एव गहरा माना जाता है। गहराई के लक्षण पर विचार करे।

यदि हम उचित जानकर दान देते है तो इस दान को नैतिक कार्य माना जाएगा। लेकिन इस दान को धार्मिक व्यवहार कहने के लिए दानी के अन्दर भी परिवर्त्तन होना चाहिए। दानी मे विनम्रता का भाव रहना चाहिए, उसे सब कुछ ईश्वर पर अर्पित मानना चाहिए. सब कुछ देकर भी उसके अन्दर भाव होना चाहिये मानो उसने कुछ नही दिया है। नैतिक स्तर पर दान को शुभ तथा उचित कहा जाएगा। परन्तु इसे धार्मिक होने के लिए इसमें शुचित्व अथवा पवित्रता का भाव रहना चाहिए। धार्मिक व्यवहार मे इसलिए गहराई आ जाती है कि नैतिक आदेश को ईश्वरीय आदेश मान लिया जाता है और ईश्वरीय आदेश मान लेने पर कर्त्तव्य-पालन करने मे उत्प्रेरणा मिलने लगती है और कर्त्तव्य-पालन सहज हो जाता है। परन्तु यदि हम धार्मिक उत्प्रेरणा की मदद न ले तो कर्त्तव्य-पालन करने मे पाशविक वृत्तियो तथा प्रलोभनो के द्वारा बाधाएँ उत्पन्न होने लगती है। ऐसी अवस्था मे नैतिक व्यवहार की निश्चितता नही पाई जाती है। परन्तु धार्मिक व्यवहार मे व्यक्ति के अन्दर ही स्थाई परिवर्त्तन चला आता है। डाकू सन्त हो जाता है और कामुक तुलसीदास भक्तप्रवर रामदास हो जाता है। अत, धार्मिक व्यवहार को सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रकाशन कहा जाता है और इसकी तुलना मे नैतिक व्यवहार मे वृत्तियो के बीच सघर्ष रहने के कारण व्यक्तित्व का आशिक रूप ही सक्रिय हो सकता है। नीतिवान के जीवन मे उतनी अधिक स्थिरता नही पायी जाती है जितनी स्थिरता धार्मिक व्यक्ति मे सभव हो सकती है।

फिर व्यापकता के दृष्टिकोण से नैतिक व्यवहार मे स्थानीयता तथा सीमितपन पाया जाता है। प्राय. हम अपने दान को अपनी जाति के लिए

सीमित कर देते या प्रीति-भाव को अपनी ही जाति मे सीमित रखते हैं। इसकी तुलना मे धर्म-प्रेरणा के आ जाने पर सम्पूर्ण विश्व सीयराम-मय मालूम देता है और इसलिए धर्मों के द्वारा विश्व-सौहार्द संभव हो जाता है।

अतः, धार्मिक व्यवहार मे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आबद्धता पाई जाती है। चूंकि सम्पूर्ण व्यक्तित्व धार्मिक व्यवहार मे सक्रिय होता है, इसलिए धार्मिक व्यवहार मे प्रबलता एव सबलता पाई जाती है। इसलिए धार्मिक व्यापार को ही समष्टिपूर्ण तथा सर्वांगपूर्ण कहा जा सकता है।

धर्म की परिभाषा . उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर धर्म की परिभाषा निम्नलिखित रूप से की जा सकती है :

धर्म वह सर्वांगपूर्ण अभिवृत्ति है जो किसी समाज-समादृत आदर्शपूर्ण विषय के प्रति आत्मसमर्पण एव अन्तर्बद्धता के हेतु व्यक्ति को सम्पूर्ण जगत् के प्रति अभिमुख करती है।

इस परिभाषा मे धर्म के संबध मे तीन मुख्य लक्षणो की ओर संकेत किया गया है, अर्थात् अभिवृत्ति, आदर्शपूर्णविषय और सर्वांगपूर्णत्ता। प्रायः धर्म को विचारक साधारणतया 'विश्वास' मानते आए है। 'विश्वास' एक प्रकार का संज्ञान है। चूंकि समसामयिक खोज के आधार पर स्पष्ट किया गया है कि धर्म मे संज्ञानात्मकना का अश गौण पाया जाता है और सवेग तथा क्रियात्मकता का अग विशेष पाया जाता है, इसलिए धर्म को विशेषतया 'विश्वास' की संज्ञा देना अनुपयुक्त कहा जाएगा। अब 'अभिवृत्ति' क्या है ? अभिवृत्ति मानव के अन्दर एकरूप मे सोचने-विचारने एवं सक्रिय होने का स्थाई भाव है। देश-प्रेम एक प्रकार की अभिवृत्ति है जिसके कारण व्यक्ति समय पडने पर उसकी रक्षा के लिए उठ खडा होता, उसके सुधार की बात सोचता तथा देश मे होनेवाली सभी घटनाओ के प्रति प्रतिक्रियाशील रहता है। धर्म भी अभिवृत्ति है और इसका विषय है आदर्शपूर्ण आराध्य देवता, मूल्य तथा किसी भी सामूहिक रूप मे पवित्र कहलानेवाले पात्र। राम-रहीम, ईसा-मूसा, निर्वाण—विज्ञान इत्यादि धर्म के आदर्शपूर्ण विषय देखने में आते हैं। इन आदर्शपूर्ण विषयो के प्रति आस्था देखने मे आती है और इसी आस्था के हेतु व्यक्ति मे सर्वांगपूर्ण अभिवृत्ति उत्पन्न होती है। सर्वांगपूर्णता से अभिप्राय है कि व्यक्ति के अन्तर्गत भाव, क्रियावृत्ति तथा संज्ञा तीनों प्रक्रियाएँ एकसाथ जागरूक हो सकती हैं और तीनों एक साथ ही पाई जाती हैं। इसलिए अभिवृत्ति को केवल संज्ञानात्मक समझना भूल है। यह ठीक है कि अभिवृत्ति को उत्पन्न

करने के लिए, इसे सुरक्षित-संरक्षित तथा दृढ़ बनाने के लिए युक्तियाँ दी जा सकती हैं, लेकिन युक्तियों को अभिवृत्ति का प्रमाण, आधार अथवा कसौटी नहीं कहा जा सकता है। अभिवृत्ति लाभप्रद, स्वस्थ-अस्वस्थ, कल्याणकारी-अकल्याणकारी इत्यादि हो सकती है, लेकिन अभिवृत्ति को सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता है। जहाँ सत्य-असत्य का प्रश्न नही किया जा सकता, वहाँ उसे संज्ञानात्मक भी नही कहा जा सकता है।

यह ठीक है कि धार्मिक अभिवृत्ति को सर्वांगपूर्ण कहा जाएगा, लेकिन सर्वांगपूर्णता के अन्तर्गत अन्य लक्षण भी निहित हैं। 'सर्वांगपूर्णता' से अभिप्राय है कि न केवल भाव, क्रियावृत्ति तथा सज्ञान की तीनों प्रक्रियाएँ एकसाथ पाई जाती है, परन्तु यह भी कि ये प्रक्रियाएँ समाकलित* रूप मे पाई जाती हैं जिसके कारण व्यक्ति मे शान्ति अथवा पूर्णता का भाव चला आता है। वृत्तियो और प्रक्रियाओ के संतुलन से व्यक्ति मे उसकी सम्पूर्ण शक्तियाँ समन्वयात्मक रीति मे काम करती है। इसलिए व्यक्ति के अन्दर मनोबल, स्थिरता तथा शान्ति पाई जाती है। वास्तव मे 'धर्म' से अर्थ ही निकलना है कि वह जिसके हेतु उसकी सभी प्रक्रियाएँ उसकी पकड मे आ जायें।

सर्वांगपूर्णता से दूसरा अर्थ ध्वनित होना है कि समस्त विश्व के प्रति व्यक्ति अनुक्रियाशील हो। 'समस्त विश्व' से यहाँ अर्थ है विश्व की समष्टि से अर्थात् विश्व की सभी वस्तुओ के व्यवस्थित ऐक्य से। इसलिए आकाश-पाताल, आदि-अन्त, पशु-पक्षी तथा सभी जीवो के प्रति सम्यग्दृष्टि। इस प्रकार धार्मिक सर्वांगपूर्णता का अर्थ सम्पूर्ण जगत के प्रति अभिमुख होना है।

सर्वांगपूर्णता से तीसरा अर्थ भी लगाया जाता है अर्थात् अन्तर्बद्धता तथा अन्तर्ग्रसन। धार्मिक अभिवृत्ति से धर्माचारी इतना ग्रस्त हो जाता है कि उसे मालूम देता है कि वह और उसका धर्म दो नहीं; एक ही हैं। अतः, धर्म की सर्वांगपूर्णता से ध्वनित होता है कि धार्मिक व्यक्ति का धर्म के प्रति आत्मनिवेदित होना, अपना सर्वस्व अपनी पूरी शक्ति के साथ समर्पित कर देना।

---

* 'समाकलन' से अर्थ होता है कि व्यक्ति के अन्दर सभी वृत्तियों-प्रक्रियाओं की क्रमबद्ध व्यवस्था का होना। इसके विपक्ष में असमाकलित व्यक्ति वह है जिसमें वृत्तियाँ-प्रक्रियाएँ उसे विभिन्न दिशाओं में खींचे रहती हैं। अत्यधिक असमाकलन से व्यक्ति असामान्य जीव हो जाता है।

उपर्युक्त धर्म की परिभाषा का तीसरा सप्रत्यय अथवा तत्त्व बताया गया है 'समाज-समादृत आदर्शपूर्ण विषय' जिसके प्रति आस्था के होने पर ही सर्वांगपूर्ण धार्मिक अभिवृत्ति सभव होती है। प्राय: धर्मविचारक 'आदर्शपूर्ण विषय' के स्थान पर 'ईश्वर', 'जीवित आत्मन्', 'अनुभवातीत शक्ति', इत्यादि संप्रत्ययो को काम मे लाते है। किन्तु जैन तथा हीनयानी बौद्धधर्म मे 'ईश्वर' तथा मानवेतर किसी भी आध्यात्मिक शक्ति की पूजा नही की जाती है। पाश्चात्य विचारक इन धर्मों को 'धर्म' की सज्ञा न देकर 'नीतिशास्त्र' की संज्ञा देते हैं। लेकिन चूँकि इन धर्मों मे इतनी अधिक आध्यात्मिकता का प्रचार है कि इन्हे परम्परागत अर्थ मे 'धर्म' न पुकारना सर्वथा भूल है। अब यदि हीनयानी बौद्ध धर्म और जैन धर्म को 'धर्म' सज्ञा दी जाए तो ईश्वर या किसी दैवी शक्ति को धर्म का एकमात्र विषय नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी बात है कि पाश्चात्य ईश्वरवादियो के बीच 'ईश्वर-मृत्यु-आन्दोलन' जड पकड गया है। बिशप रोबिन्सन, पास्टर बोनहोयफर, पादरी फॉन ब्रुग्रेन इत्यादि ईसाइयो ने इस ओर अपना बल प्रदान किया है। इनके अनुसार धर्म मे ऐहिकता (सेक्युलरिज्म) को विशेष स्थान देना चाहिए। इसलिए जब ईश्वरवादियो को ही दैवी शक्ति ग्राह्य नही हो रही है तो ईश्वर के प्रति विश्वास को कैसे धर्म का सार माना जाए?

फिर समकालीन विचारधारा मे धर्म के स्थान पर वैचारिकियो (आइडिऑलॅजिज) को काम मे लाया जा रहा है, उदाहरणार्थ मानवतावाद, ऐहिकतावाद, साम्यवाद इत्यादि। अनेक विचारकों का कहना है कि वास्तव मे ये विचारिकियाँ परम्परागत धर्मों के वर्तमानयुगी रूपान्तर है। इसलिए यदि विज्ञानवाद, मानवतावाद, साम्यवाद इत्यादि को वर्त्तमानयुगी धर्म कहा जाए तो धर्म की परिभाषा मे ईश्वर-पूजा को धर्म का तत्त्व नही माना जाएगा। यही कारण है कि धर्म मे आस्था के विषय को 'समाजपूजित आदर्शपूर्ण विषय' बताया गया है। यह आदर्शपूर्ण विषय ईश्वर भी हो सकता है तथा अमूर्त मूल्य भी हो सकता है। आवश्यक यह है कि धर्म का विषय मूल्यपूर्ण हो जिसके प्रति धर्मचारी को आस्था मालूम दे। फिर मूल्यपूर्णता व्यक्तिगत न होकर सामूहिक अथवा व्यक्ति के अपने समाज के द्वारा समादृत होना चाहिए। अतः, धर्म सर्वदा सामाजिक घटना माना जाता है। संभव है कि किसी धर्म-प्रचारक को नया धर्म दिखाई दे जो उसके सिवा किसी अन्य व्यक्ति को ज्ञात न हो।

तोभी यहाँ इस धर्मस्रष्टा को अपने अनुयायियो के लिए एक काल्पनिक अथवा आदर्श समाज की कल्पना रहती है। फिर नवीन से नवीन धर्म क्यों न चलाया जाए परन्तु परम्परागत धर्मों की आधारभूमि में वह संभव होता है। नया धर्म या तो प्रचलित धर्मों की आलोचना के रूप मे या उनका सशोधनमात्र अथवा उनका शोधक या पूरक होता है। अत., धर्मों मे समाज-समादर का स्थान अवश्य रहना है। हो सकता है कि एकान्त में वासकर व्यक्ति किसी धर्म का पालन करे और समाज को छोडकर केवल अपनी पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हो, तोभी इसे समाज-समादृत कहा जाएगा। इसका कारण है कि सन्यास, समाधि तथा निर्वाणप्राप्ति को समाज स्वीकार करता है। इसलिए ह्वाईटहेड का कथन केवल आशिक रीति से ही सत्य है। इस कथन के अनुसार धर्म वह है जो व्यक्ति को अपने अकेलेपन के प्रति अनुक्रियाशीलन से उत्पन्न हो। यहाँ हमे काल्पनिक आदर्श समाज के अस्तित्व को भूल नही जाना चाहिए जो किसी भी अकेले चिन्तन की आधारभूमि मे प्रस्तुत रहता है।

अब धर्म के दो सबल पक्ष देखने मे आ रहे है। एक ओर अन्तर्बद्धता के साथ सर्वांगपूर्ण अभिवृत्ति है और दूसरी ओर आदर्शपूर्ण विषय। क्या ये दोनो बराबर स्थान रखने है? यह ठीक है कि ये दोनो अवियोज्य है, क्योंकि बिना विषय या वस्तु के अभिवृत्ति सभव नहीं है। परन्तु हमे धर्म के अन्तर्गत आराध्य वस्तु को वस्तुनिष्ठ अस्तित्व अथवा पदार्थ नही मान लेना चाहिए। इसका कारण है कि धर्मवस्तु, आदर्श अथवा मूल्यो से भारित हुआ करती है। परन्तु आदर्श को वास्तविक नही कहा जाएगा। 'आदर्श' मे ध्वनित ही होता है कि जो अभी यथार्थ नही है, पर जिसे भविष्य मे साकार किया जा सकता है। साम्यवाद का वर्गहीन समाज आदर्श है. यह अभी किसी भी देश मे वास्तविक नहीं हुआ है। पर क्या ईश्वर भी आदर्शपूर्ण पदार्थ है जो वास्तविक नहीं है? इसका उत्तर विध्यात्मक और नकारात्मक दोनों हो सकता है। भक्तो के लिए ईश्वर सभी सासारिक वस्तुओ की अपेक्षा अधिक वास्तविक हैं। परन्तु क्या यह वास्तविकता साधारण वस्तुओ की वास्तविकता के समान सत्यापित की जा सकती है? नही, क्योकि यहाँ कोई भी ऐसी सार्वजनिक कसौटी नही है जिसके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व ऐसा नही है जिसे सत्यापित-मिथ्यापित

किया जा सकता है। यदि हम धर्म में निहित आदर्शपूर्ण वस्तु के अस्तित्व को सत्यापित-मिथ्यापित नहीं कर सकते हैं, तो इस बात से कई निष्कर्ष स्थापित किए जा सकते हैं। परन्तु महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष होता है कि धर्मसंबंधी कथन न तो सत्य और न मिथ्या कहे जा सकते हैं, अर्थात् ये कथन संज्ञानात्मक नही कहे जाएँगे। धार्मिक कथन को असंज्ञानात्मक मानने के इसके दो उपर्युक्त लक्षण भी बताए जा सकते है।

हमने धर्म को अभिवृत्ति की संज्ञा दी है और व्यक्ति की अभिवृत्ति को न तो सत्य कहा जा सकता है और न असत्य। उदारहणार्थ, क्या पागल की अभिवृत्ति को असत्य कहा जाएगा ? यदि कोई पगला समझे कि उसके सब भाई और संबंधी उसे घात करना चाहते हैं तो क्या उसकी अभिवृत्ति को सत्य कहा जाएगा ? नही, इसे या तो स्वस्थ कहा जाएगा या अस्वस्थ, सामान्य या असामान्य। इसलिए यदि 'धर्म' को व्यक्ति की अभिवृत्ति बताई जाय तो धार्मिक कथन अभिवृत्तिमूलक होकर असज्ञानात्मक कहे जाएँगे। फिर हमलोगों ने लिखा है कि धार्मिक अभिवृत्ति मे व्यक्ति समस्त विश्व को सम्पूर्णत्व मे आंकता है। पर क्या विश्व की समष्टि किसी भी अनुभूति की वस्तु हो सकती है ? क्या कोई भी व्यक्ति विश्व का आदि-अन्त जान सकता है ? विश्व घटनाओ का अनन्त अनुक्रम है और यदि घटनाओ की माला अनन्त हो तो इसे कौन जान सकता है ? इसलिए समस्त विश्व के सम्पूर्णत्व के विषय बताए गए धार्मिक कथन को भी सज्ञात्मक नही कहा जाएगा क्योकि यह विश्व-सम्पूर्णत्व अनुभवातीत कहा जाएगा।

इस परिभाषा के निष्कर्ष : यह प्रस्तावित परिभाषा है जिसे पाश्चात्य-प्राच्य, पुरातन-समकालीन तथा समसामयिक दर्शनधारा को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया गया है। न तो यह परिभाषा कल्पित है और न आनुभविक सामान्यीकरण है। इसकी पुष्टि सम्पूर्ण पुस्तक के विभिन्न विषयो के अध्ययन के आधार पर की जा सकती है।

द्वितीय, इस परिभाषा से ध्वनित होता है कि धार्मिक कथन संज्ञानात्मक नहीं होते हैं, अर्थात् धार्मिक कथन किसी भी वस्तुगत सत्ता का कोई ऐसा वर्णन नहीं उपस्थित करते, जिसे सत्य-असत्य समझा जाए। इस निष्कर्ष की पुष्टि कई प्रकरणों में की जाएगी। चूंकि अनेक धर्मों की तुलना मे ईश्वरवादी धर्म के अनेक अनुयायी हैं, और ये ईश्वर की वस्तुगत सत्ता मानते हैं इसलिए

यदि ईश्वर के संबंध में धार्मिक कथन को असंज्ञानात्मक सिद्ध कर दिया जाए तो इस निष्कर्ष को अन्य धर्मों के आराध्य वस्तु के संबंध में स्थापित होने मे कोई कठिनाई नही होगी। ईश्वर-संबंधी कथन के असंज्ञानात्मक सिद्ध करने के लिए इस पुस्तक मे दिखाया जाएगा।

१. ईश्वर-संबंधी सभी युक्तियाँ दोषपूर्ण हैं और ईश्वर का प्रत्यय ही आत्म-विरोधी है। इन दोनों बातो मे स्पष्ट होता है कि ईश्वर-विषयक कथन असंज्ञानात्मक हैं।

२. फिर माना जाता है कि ईश्वर मे अनन्त गुण असीमित रूप मे अनिवार्यत: पाए जाते है और यह भी दोषपूर्ण सिद्धान्त सिद्ध किया जाएगा।

३ ईश्वरवादी मानते आए हैं कि ईश्वर सर्व-शक्तिमान और परम शुभ है। परन्तु यदि ऐसी बात हो तो सिद्ध किया जाएगा कि अशुभ की समस्या का समाधान नही हो सकता है।

४. इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि ईश्वरवाद धर्म का एक प्रमुख रूप है, परन्तु धर्म को ईश्वरवाद नही कहा जा सकता है। धर्म अधिक व्यापक सप्रत्यय है। ईश्वरवाद के अतिरिक्त इसमे जैन, बौद्ध तथा शाकर धर्मदर्शन भी सम्मिलित हैं और ये विभिन्न प्रकार के धर्म सभव और युक्ति-सगत मालूम देते हैं। साथ-ही-साथ समसामयिक मानवतावाद के विभिन्न प्रकार भी युक्तिपूर्ण और उपयुक्त मालूम देते है। इसलिए ईश्वरवाद के खंडन से धर्म का खडन नहीं होता है।

५. धर्म का मुख्य उद्देश्य यह नही है कि ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति की आराधना की जाय। धर्म का उद्देश्य है कि मानव को ऐसी मन:स्थिति की प्राप्ति हो जिससे उसमे शांति और आनन्द का संचार हो और इस जीवन मे वह अपने कर्त्तव्यों को निभाने मे समर्थ हो सके। साथ-ही-साथ उसकी 'आत्मा'* का सवर्धन एवं विकास हो।

६. यदि हम धर्म के उद्देश्य को आत्मा-विकास मान लेंगे तो धर्म-संगोष्ठी एव धर्म-समन्वय के प्रसंग में देखेंगे कि धर्मों के संबंध मे सत्यना-

* यहाँ 'आत्मा' से अभिप्राय है प्रत्येक व्यक्ति की सम्पूर्ण मानसिक शक्तियों की समाकलित व्यवस्था। यहाँ आत्मा से प्लेटोवादी तथा सांख्य-न्याय तथा जैन दर्शनों में बताए गए 'अनन्त पदार्थ-रूप आत्मा' वाला अर्थ नहीं लिया गया है। अमरता-प्रकरण में इन बातों की चर्चा की जाएगी।

असत्यता का प्रश्न छोड़कर हम धर्मों के द्वारा समकालीन मानवों के विकास की बात सोचेंगे और धर्म को अन्य कला तथा विज्ञान के समान संस्कृति का मुख्य साधन मानेंगे।

सारांश . धर्म मे दो मुख्य तत्व पाए जाते है, अर्थात् विषयवस्तु जिसके प्रति धार्मिक प्रक्रिया निर्दिष्ट होती है, उदाहरणार्थ, ईश्वर, राम, कृष्ण, अल्लाह, इत्यादि; और धार्मिक अनुभूति। अभी तक धार्मिक विषयवस्तु को ही प्रधान माना जाता था, परन्तु इस पुस्तक मे उल्लिखित परिभाषा के अनुसार धार्मिक अनुभूति को विषयवस्तु की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण अग माना गया है।

धार्मिक आस्था की विषयवस्तु मे तीन विशेष प्रकार पाए जाते है, अर्थात् (क) दैवी-शक्ति, उदाहरणार्थ , ईश्वर, भगवान्, ईसा, अल्लाह, इत्यादि। (ख) यदि दैवी-शक्ति को नही भी स्वीकार किया जाए तो अनीश्वरवादी जैन एव हीनयानी बौद्ध धर्म मे, आध्यात्मिकता को धर्म का विशिष्ट एव विभेदक गुण माना गया है। म्वार्ईन्सर ने भी आध्यात्मिकता को धर्म का सारतत्व माना है। (ग) परन्तु यदि कोई ऐसा दर्शन हो जिसमे न तो किसी दैवी-शक्ति को और न आध्यात्मिकता को प्रश्रय दिया जाता है. उदाहरणार्थ, साम्यवाद, तो क्या इस दर्शन को धर्म-दर्शन की सज्ञा दी जा सकती है ? गैलोवे, मार्टिनो, फ्लिट तथा विलियमजेम्स बिना दैवी-शक्ति को स्वीकार किए हुए किसी भी वाद को 'धर्म-दर्शन' सज्ञा नही देगे। परन्तु भारतीय धर्म-परम्परा को ध्यान मे रखने पर अनीश्वरवादी जैन तथा बौद्ध दर्शन को भी धर्मदर्शन कहा जाएगा, क्योकि इनमे आध्यात्मिकता को चरम लक्ष्य माना जाता है। परन्तु क्या दैवी-शक्ति तथा आध्यात्मिकता के विरोध करनेवाले साम्यवाद को धर्मदर्शन कहा जा सकता है ? इस पुस्तक मे साम्यवाद को भी धर्मदर्शन कहा गया है, क्योकि इस पुस्तक की परिभाषा के अनुसार अनुभूति के लक्षण-विशेष को ध्यान मे रखकर किसी व्यापार को धार्मिक कहा जा सकता है। जिस व्यापार मे व्यक्तित्व मे सम्पूर्णत्व के साथ आन्तरिक गहनता पाई जाए उस व्यापार को 'धर्म' सज्ञा देने का प्रस्ताव किया गया है। चूकि साम्यवाद मे भी उसके साम्यवादी आदर्श के लिए गहन एव सम्पूर्णात्मक अनुभूति का संचार होता है, इसलिए साम्यवाद को भी 'धर्म' की संज्ञा दी गई है।

फिर वास्तव मे पाश्चात्य साम्यवाद ईसाई-धर्म का ही ऐहिक रूप है। ईसाई-धर्म मे लोक-सेवा को स्वर्ग प्राप्ति का उत्तम साधन माना गया है।

यदि ईश्वर, स्वर्ग इत्यादि आधिदैविक अस्तित्व को नही स्वीकार किया जाए और यदि ईसाई नैतिकता के समाज-विकास, सामाजिक सरक्षा तथा लौकिक कल्याण को स्वीकार कर लिया जाए, तो इसे ही साम्यवाद समझा जा सकता है। अत, ऐहिकतावादी साम्यवाद ईसाई-धर्म का ही वर्त्तमान-युगी रूप है। इसलिए साम्यवाद को भी 'धर्म' की सज्ञा देनी चाहिए।

इस पुस्तक मे उल्लिखित परिभाषा के अनुसार सर्वप्रथम ईश्वरवाद की चर्चा की जाएगी और तब उसके गुण-दोष-विवेचन के बाद भारतीय धर्म-परम्परा के ईश्वरनिरपेक्ष समाधिमूलक धर्मो की व्याख्या की जाएगी। अन्त मे, वर्तमानयुगी मानवतावाद के विभिन्न मतो का उल्लेख किया जाएगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न :

१ धर्म के स्वरूप की व्याख्या कीजिए।

(यहाँ परिभाषा देकर धर्म के लक्षणो का स्पष्टीकरण करना चाहिए।)

२ क्या धर्म व्यक्ति की सम्पूर्णात्मक प्रक्रिया है? इसकी व्याख्या करके धर्म और विज्ञान के बीच सबध बताइए।

धर्म मे बहुत अधिक अपनी वस्तु के प्रति आस्था, आत्मबद्धता तथा आत्मसमर्पण है। लेकिन विज्ञान मे ज्ञेयवस्तु के प्रति यथासभव तटस्थता बरती जाती है। द्वितीय, विज्ञान के सभी कथन सज्ञानात्मक होते है और उन्हे सत्यापित-मिथ्यापित किया जा सकता है। धार्मिक कथन कल्याणकारी-अकल्याणकारी, ठोस-छिछले इत्यादि, हो सकते है। ये असज्ञानात्मक होते है। तृतीय, वैज्ञानिक कथन मे भाव-क्रियावृत्ति का पक्ष गौण और सज्ञानात्मकता का विशेष होता है। ठीक इसके विपरीत धार्मिक कथन मे बात पाई जाती है। चतुर्थ, वैज्ञानिक लक्ष्य है कि घटनाओ का नियंत्रण, पूर्वकथन हो ताकि मानव के उद्देश्य की पूर्ति हो। धर्म का चरम लक्ष्य मानवेतर वस्तुओ की प्राप्ति नही, वरन् मानवो का ही विकास और उनका मानसिक सवर्धन।

३ धर्म की व्याख्या करके उसके साथ नीतिशास्त्र का सबध स्थिर करें। (इस अध्याय मे बताए गए सबध के अतिरिक्त आर बी ब्रेथवेट की धर्म सबधी व्याख्या पर भी ध्यान देना चाहिए।)

४. निम्नलिखित धर्म की परिभाषाओं की आलोचनापूर्वक व्याख्या कीजिये।

(क) Religion is
"man's faith in a power beyond himself whereby he seeks to satisfy emotional needs and gains stability of life, and which he expresses in acts of worship and Service".

(G. Galloway)

(क) धर्म फेथ नही, लेकिन अभिवृत्ति है। परन्तु इस बात का स्पष्टीकरण बाद मे होगा। द्वितीय, यहाँ धर्म और ईश्वरवाद एक हो जाता है जो आपत्तिपूर्ण सिद्धान्त है। तृतीय, इसमे अचेतन प्रक्रियाओं की ओर संकेत नही किया गया है। इसलिए धर्म को संपूर्णात्मक नही माना जा सकता है। वास्तव मे यह परिभाषा ईश्वरवाद की है, न कि धर्म की।

इस परिभाषा के सही-सही लक्षणो का भी उल्लेख करना चाहिए।

(ख) "Religion is a belief in an Everliving God, that is, a Divine Mind and Will ruling the Universe and holding Moral relations with mankind"

(James Martineau)

इस परिभाषा मे लगभग वे ही गुण-दोष हैं जो मैलोवे द्वारा दी गई परिभाषा मे है। यहाँ ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता पर तथा उसकी बहिर्निष्ठता पर बहुत अधिक बल दिया गया है और ऐसा मान लेने मे ईश्वर-विषयक कथन संज्ञानात्मक हो जाते है। परन्तु हम आगे चलकर देखेंगे कि ईश्वर-विषयक कथन कभी भी संज्ञानात्मक नहीं हो सकते हैं।

(ग) "Religion is commitment to a kind or quality of life that purports to recognize a source beyond itself (usually but not necessarily called God), and that issues in recognizable fruits in human conduct (e. g., law, morality), culture (e. g., art, poetry), and thougt (e. g., philosophy)."

(G. MacGregor)

इस परिभाषा के अनुसार धर्म को व्यक्ति के सम्पूर्णात्मक व्यवहार बताया गया है क्योंकि बाह्य अस्तित्व के भान से संज्ञानात्मकता, मानव व्यवहार

तथा संस्कृति से क्रियावृत्ति और गुणात्मक जीवन से भाव की ओर संकेत होता है। फिर अन्तर्बद्धता (कमिटमेंट) से भी सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निहित होना ध्वनित होता है। पुनः, नीति, संस्कृति तथा दर्शन आदि के द्वारा अभिव्यक्ति को मान लेने से समाज-समादृत आदर्श की ओर संकेत मिलता है। इसकी कमी इस बात मे है कि इस परिभाषा के अनुसार जैन तथा हीनयानी बौद्ध धर्म को 'धर्म' की संज्ञा नही दी जा सकती है, क्योंकि इन धर्मों मे मानवेतर बहिर्निष्ठ सत्ता को नही माना जाता है। इसलिए जैन-बौद्ध इत्यादि धर्मों को नही स्वीकारने पर इस परिभाषा को दोषपूर्ण एवं संकीर्ण कहा जाएगा।

सहायक पुस्तक :

१. George Galloway, The philosophy of religion Charles Scribner's Sons.

२. E. S. Brightman, A philosophy of religion, Prentice Hall.

३. A N Whitehead, Religion in the making, Macmillan

४. G MacGregor, 'Introduction to Religious Philosophy', Houghton Mifflin.

५. W. T. Blackstone, The problem of religious knowledge, Prentice-Hall (chapter iv)

६. Y. Masih, An introduction to religious Philosophy, Motilal Banarsidas.

ईश्वरवाद्

अध्याय—२

अध्याय—२

ईश्वरवाद

धर्म के प्रकार · पुरातनकाल मे लेकर अब तक धर्म के विभिन्न रूप देखने मे आते है। उन्हे सर्वप्रथम आदिम और अनादिम दो वर्गों मे बांटा जा सकता है। अनादिम धर्मों मे समकालीन विकसित धर्मों को अनेक वर्गों मे रखा जा सकता है। परन्तु आधुनिक मुख्य धर्मों को ध्यान मे रखते हुए उन्हे परम्परागत और वर्तमानयुगी दो वर्गों मे बांटा जा सकता है। वर्तमानयुगी धर्म मे मानवतावाद विशेष धर्म है और इसमे समाजवाद, साम्यवाद, प्रजातन्त्रवाद, वैज्ञानिक मानवतावाद इत्यादि अनेक धर्म गिने जा सकते है। इन वर्तमानयुगी धर्मों की चर्चा बाद मे की जायगी। परम्परागत विकसित धर्मों को समाधिमूलक और उपासनामूलक वर्गों मे रखा जा सकता है। उपासनामूलक धर्म मे किसी आदर्शपूर्ण लोकातीत सत्ता का रहना अनिवार्य है जो अपने पुजारियो मे स्वतन्त्र रह कर भी उन्हे प्रेरणा प्रदान करता है। इसकी अपेक्षा समाधिमूलक धर्म मे दैवी सत्ता के प्रति तटस्थता बरती जाती है। उपासनामूलक धर्म मे ईसाई, यहूदी एवं इस्लाम धर्म आदि गिने जा सकते हैं, और समाधिमूलक वर्ग के अन्तर्गत जैन-बौद्ध धर्म गिने जा सकते है। समाधिमूलक धर्मों मे आत्मसंवर्धन पर विशेष बल दिया जाता है और उपासनामूलक धर्मों मे आराध्य देवता को आराधना, पूजा और आत्मसमर्पण का विशेष पात्र माना जाता है। समाधिमूलक धर्म भारतीय संस्कृति की विशेष देन है जिसके महत्त्व को अभी तक धर्मदार्शनिको ने नही स्वीकार किया है। समाधिमूलक धर्म की व्याख्या बाद मे की जायगी और उपासनामूलक धर्म की चर्चा इस प्रकरण मे की जाएगी।

उपासनामूलक धर्म भी आराध्य देवता के स्वरूप के अनुसार विभिन्न वर्गों मे रखे जा सकते है, परन्तु ईश्वरवाद ही समकालीन युग मे मुख्य उपासनामूलक

धर्म है और इसलिए धर्मदर्शन की दृष्टि से इसे ही सर्वप्रथम मुख्य स्थान दिया जाएगा। फिर मानव बुद्धिसम्पन्न हुआ करता है और कोई भी ऐसा धर्म नही हो सकता, जिसमे तर्क को कम-अधिक व्यवहृत नही किया जा सकता है। तोभी कुछ धर्म मे तर्क को बहुत अधिक स्थान दिया जाता है और इसलिए इस प्रकार के ईश्वरवादी धर्म को 'दार्शनिक' कहा जा सकता है। दार्शनिक ईश्वरवाद की अपेक्षा व्यावहारिक ईश्वरवाद मे दार्शनिक युक्तियो का स्थान गौण रहता है। ईश्वरवाद के चिन्तन मे दोनो प्रकार के ईश्वरवाद विशेष स्थान रखते है और इनकी व्याख्या की यथास्थान जाएगी। धर्म के विभिन्न प्रकारो को ध्यान मे रखने के लिए धर्म की तालिका ग्रंथ के अत मे देखें।

एकेश्वरवाद (मोनोथीज्म)

पाश्चात्य एकेश्वरवाद के अनुसार एक सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, व्यक्तित्वपूर्ण, अत्यन्त शुभ सत्ता ने इस विश्व की सृष्टि इसलिए की है कि अन्त मे इच्छा-स्वातन्त्र्यपूर्ण सृष्ट मानव ईश्वराज्ञाओं का पालन कर सत्यकल्पी जीव बन सके। ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता तथा शुभत्व ऐसे अपरिमित गुण हैं, जिनकी समालोचना अन्य प्रकरण मे की जाएगी। यहाँ ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता तथा उसके सृष्टिकर्तृत्व की ही चर्चा की जाएगी।

ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता मानव मे व्यक्तित्व चरितार्थ होता है, अर्थात् उसमे स्मृति, विचार कल्पना, आदर्श इत्यादि की सगठित एकता पाई जाती है। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक आजन्म उसकी एक ही समाकलित चैतन्यपूर्ण सत्ता रहती है। इसी प्रकार यदि ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना जाए तो इससे आपादित होगा कि ईश्वर सृष्टि-संबंधी सभी घटनाओ को जानता है और वह उनमे निहित आदर्शो को पूरा करता है। यह ठीक है कि मानव की तुलना मे ईश्वर की चेतना का विस्तार अनन्त है और उसकी चेतना-अवधान मे असख्य घटनाएँ सम्मिलित रहती हैं। लेकिन ईश्वर के व्यक्तित्व मे यह विशेषता है कि मानव ईश्वर से सगोष्ठी कर सकता है और ईश्वर भी उसकी प्रार्थना और याचना पर ध्यान देता है, आज्ञाकारी रहने पर अपने भक्तों पर कृपा-दृष्टि रखता है और आज्ञाओ के उल्लंघन करने पर उसे दंडित करता है। यदि ईश्वर मे व्यक्तित्व न होता तो उसे चेतनविहीन सत्ता समझा जाता और चेतनविहीन सत्ता से क्षमा, सहानुभूति, सहायता तथा आर्त्तक्रन्दन का प्रत्युत्तर प्राप्त करना असंगत मालूम देता है।

इसलिए यदि धार्मिक दृष्टि से ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार भी कर लिया जाए तो उसे तभी उपास्य समझा जाएगा जब उसमे व्यक्तित्वपूर्णता को भी मान लिया जाए। व्यक्तित्वविहीन ईश्वर उपास्य नही हो सकता। फिर उपास्य के रूप मे व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर मे शुभत्व के साथ सत्सकल्प भी अनिवार्य है और यदि ईश्वर मे सकल्प है तब बिना किसी उद्देश्य प्राप्ति के सकल्प के रहने का कोई अर्थ नही निकलता है। परन्तु यदि ईश्वर पूर्ण हो तो उसमे किस ऋद्धि-सिद्धि की आवश्यकता होगी जिसे प्राप्त करने की उसमे इच्छा हो सकती है ? इस प्रकार व्यक्तित्वपूर्णता से सकल्प, सकल्प मे उद्देश्यपूर्णता और उद्देश्यपूर्णता से अभाव, और अभाव मे पूर्णता की कमी आपादन होती है। यदि बिना व्यक्तित्वपूर्णता के ईश्वर उपास्य नही, तब व्यक्तित्वपूर्णता होने पर ईश्वर मे सीमितपन अर्थात् अपूर्णता ध्वनित होती है और अपूर्ण ईश्वर की युक्तिसंगत रूप से उपासना सभव नही है, अर्थात् भक्त का ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण एव आत्मनिवेदन नही हो सकता है। अत, "व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर" का सप्रत्यय आत्मविरोधी है।

फिर व्यक्तित्वपूर्णता मे अर्थ होता है स्मृति, विचार, कल्पना, आदर्श आदि की चैतन्यपूर्ण एकता। अब एकता मे स्पष्ट होता है कि प्रक्रियाओ का सगठन एव समाकलन प्राप्त हो चुका है। प्रक्रियाओ के समाकलित हो जाने का अर्थ है—सगठन- क्षमता की समाप्ति एव अन्त। लेकिन पूर्ण ईश्वर अनन्त होगा और किसी भी काल या घटनाओ मे उसका अन्त नही हो जाता है। यही कारण है कि 'व्यक्तित्व' की धारणा मे सीमितपन अन्तर्निहित मालूम देता है।

पुन., व्यक्तित्व-सप्रत्यय मे सकल्प का रहना अनिवार्य रहता है और चूकि ईश्वर शुभ है, इसलिए ईश्वर बुराई की कभी भी इच्छा नही कर सकता है। तो क्या बुराई न करने की असमर्थता से ईश्वर सीमित नही हो जाता है ? यही कारण है कि वेदान्त तथा स्पिनोजा-दर्शन मे ईश्वर को निर्विकार, निर्गुण, निराकार इत्यादि शब्दो के द्वारा वर्णित किया गया है। परन्तु निराकार ईश्वर उपास्य नही हो सकता है। इसलिए गुणात्मक एव व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के संप्रत्यय मे आत्मविरोध उत्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत यदि ईश्वर को निराकार मान लिया जाए तो इससे ध्वनित होता है कि उसमे कोई गुण नही है, अर्थात् उसमें चैतन्यपूर्णता, संकल्प प्रत्युत्तर करने की शक्ति आदि का अभाव है। ऐसी दशा में ईश्वर की उपास्यता ही समाप्त हो जाती है। ईश्वर

में किसी भी गुण के रहने से ईश्वर सीमित हो जाता है। मान लिया जाए कि ईश्वर मे क-गुण है, तो इससे आपादित होता है कि ईश्वर मे क-विरोधी गुण अर्थात् न-क नही हो सकता है। यहाँ स्पिनोजा की प्रसिद्ध उक्ति है कि निश्चयीकरण के साथ निषेधीकरण अथवा अभाव-दोष चला आता है। निश्चयीकरण किसी गुणविशिष्टता से उत्पन्न होता है। यदि हम किसी छात्र को निश्चित रूप से इंगित करना चाहे तो उसके सम्बध मे कहते हैं कि अमुक छात्र गोरा है, लम्बा है और उसके नाक पर एक तिल है, इत्यादि। परन्तु जितना ही अधिक हम गुणो मे विशिष्ट कर उसे निर्दिष्ट करेंगे उसे अन्य व्यक्ति होने की उसकी क्षमता उतनी ही अधिक कम हो जाएगी। यदि छात्र गोरा हो तो वह काला नही हो सकता, लम्बा हो तो नाटा नही हो सकता, इत्यादि। अतः एक गुण के भाव होने सेअन्य गुणो का अभाव हो जाता है, अर्थात् एक गुण के भाव होने से व्यक्ति उस गुण से सीमित होकर अन्य गुणो से विभूषित नही हो स.ता है। इसलिए, निश्चियीकरण से अर्थ हुआ गुणीकरण और गुणीकरण से सीमितपन ध्वनित होता है। अब यदि व्यक्तिपूर्ण होने के हेतु ईश्वर गुणात्मक (शुभत्व, सर्वज्ञता आदि) हुआ तो वह तर्कसगत रूप से सीमित हो जाएगा और सीमित ईश्वर पूर्णतया उपास्य नही माना जाएगा।

ईश्वर का सृष्टिकर्त्तृत्व 'उपास्य ईश्वर' का सप्रत्यय आत्मविरोधी हो जाता है, परन्तु यहाँ व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की आत्मविरोधिता बोध कराने का उद्देश्य नही है। यहाँ 'व्यक्तित्वपूर्णता' का केवल अर्थ-निरूपण किया जा रहा है और इस स्पष्टीकरण मे सप्रत्यय की कठिनाई भी दृष्टिगत हो रही है। लेकिन व्यक्तित्वपूर्णता का एक विशेष लक्षण है सकल्प और सकल्प मे अभिप्राय है ईश्वर की कार्यशक्ति। इसलिए ईश्वरवादी के लिए ईश्वर सर्जनात्मक शक्ति है जिसने विश्व की सृष्टि की है। परन्तु 'सृष्टिकर्तृत्व' के अर्थनिरूपण के बिना हम आगे नही चल सकते है।

सृष्टिकर्ता और शिल्पी मे बड़ा भेद है। शिल्पी पूर्वस्थापित सामग्रियों से किसी उद्देश्य-पूर्ति के लिए नयी वस्तुओ का निर्माण करता है। उदाहरणार्थ, कुम्हार एक शिल्पी है जो 'पूर्वस्थापित मिट्टी को लेकर किसी साँचे में ढालकर घड़े, सुराही इत्यादि वस्तुओ का निर्माण करता है। 'पूर्वस्थापित' से अर्थ होता है कि वह सामग्री, जो पहले से ही वर्त्तमान है और जिसे शिल्पी स्वयं उत्पन्न नही करता है। इस सामग्री को उपादान भी कहा जा सकता है। अब

शिल्पकार की तुलना में सृष्टिकर्त्ता वह है, जो सामग्री (उपादान) को भी उत्पन्न करता है, अर्थात् जो अन्तिम अवस्था मे शून्य से ही सभी उपादान और वस्तुओं को उत्पन्न करता है। इसका कारण है कि यदि अन्तिम रूप मे ईश्वर सभी सामाग्रियो को उत्पन्न न करे तो इससे ध्वनित होता कि कुछ मूल-पदार्थ शाश्वत और नित्य हैं। इस अवस्था मे मूल पदार्थ और ईश्वर दो सत्ताओ को स्वीकारना होगा। परन्तु यदि दो परम सत्ताएँ हो तो एक सत्ता दूसरे को परिमित करेगी। ऐसी स्थिति मे ईश्वर परिमित हो जाएगा। इसलिए अपरिमित उपास्य ईश्वर केवल शून्यत सृष्टि कर सकता है। पर शून्यत. सृष्टि मे क्या अभिप्राय होता है ?

यदि ईश्वर से परे और स्वतत्र कोई अन्य सत्ता न हो और केवल ईश्वर ही एक निरपेक्ष एव परम सत्ता हो तो जो कुछ भी सृष्ट करना होगा, उसे ईश्वर स्वय अपनी ही सत्ता से सर्जन करेगा, अर्थात् सभी सृष्ट वस्तुएँ ईश्वर मे ही अनुगमित (निकलेगी) होगी। इससे (अनुगमन से) उपलक्षित होता है कि या तो विश्व ईश्वर का ही एक रूप (जैसे सुराही मिट्टी का एक रूप है) है, या विश्व ईश्वर से उसी प्रकार निगमित होता है जिस प्रकार सुगन्ध गुलाब से। अब चाहे विश्व को ईश्वर-रूप समझा जाएँ या उमे ईश्वर का निःसृत गुण माना जाय, दोनो ही दशाओ मे विश्व का ईश्वर के साथ आत्मसात् हो जाता है और इसे 'सर्वेश्वरवाद' कहते हैं (अर्थात् सब कुछ ईश्वर ही है)। यदि विश्व और ईश्वर एक हो जाय तो भक्त और भगवान् भी एक हो जाएँ गे। तब कौन किस की उपासना करेगा ? उपासना के लिए ईश्वर को भक्त से परे, अतीत एव बहिर्निष्ठ होना चाहिए। इसलिए यदि ईश्वर को शून्यत. सृष्टिकर्त्ता माना जाए तो ईश्वर 'उपास्य' नही रह सकता है और यदि किसी पूर्वस्थित उपादान से ईश्वर इस विश्व की रचना करता है तो ईश्वर सीमित होकर फिर उपास्य नही रह पाता है। अत, ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व आत्मविरोधी सप्रत्यय हो जाता है।

मान भी लिया जाए कि ईश्वर ने किसी प्रकार इस विश्व की सृष्टि की है, तो प्रश्न उठता है कि उसने इस विश्व की सृष्टि क्यो की ? क्या उसमे कोई कमी थी जिसकी पूर्ति के हेतु उसने इस विश्व की रचना की ? यदि ईश्वर मे अभाव है तो वह पूर्ण नही और वह उपास्य भी नही होगा। अब यदि ईश्वर बिना किसी उद्देश्य से इस विश्व की सृष्टि करता है तो विश्व भी

ईश्वर की लाला होकर निरुद्देश्य हो जाता है। तब निरुद्देश्यपूर्ण विश्व मे न तो मानव-उद्देश्य का कोई महत्त्व होगा और न उसकी उपासना का। यह कहा जा सकता है कि ईश्वर जो कुछ करता है वह पवित्र और शुभ कामनाओं के हेतु ही सब कुछ करता है। इस विश्व की रचना और मानव की सृष्टि भी सद्भावना से प्रेरित होकर ही की गयी है। लेकिन जो कुछ मूल्य इस विश्व-सृष्टि से उत्पन्न हो वह पूर्ण ईश्वर मे मूल्य-वृद्धि उत्पन्न नही कर सकते है। फिर ईश्वर मे इतने असख्य एव अपरिमित गुण हैं कि इस विश्व के अशुभ से उसमे कोई भी बट्टा नही लग सकता है। जिस प्रकार किसी महात्मा के प्रति की गई बुराई से महात्मा बुरा नही हो सकता, उसी प्रकार असख्य अपरिमित गुणो से विशिष्ट ईश्वर भी विश्व की बुराई से कलुषित नही हो सकता है। अत:, ईश्वर सर्जनात्मक शक्ति है जिसका स्वरूप ही है कि वह निरन्तर विश्वो की रचना करता जाए। शायद ईश्वर के लीला-सिद्धान्त की व्याख्या अन्त मे उसे अनन्त सर्जनात्मक शक्ति के रूप मे परिणत कर देती है। ऐसी स्थिति मे भी प्रश्न उठता है : यदि ईश्वर अनन्त सर्जनात्मक शक्ति हो (जैसा, बर्ग्सों ने माना है) तो उसमे व्यक्तित्वपूर्णता कैसे होगी, क्योकि ऐसी स्थिति मे चैतन्य-पूर्ण एकता नहीं रह पाएगी ? फिर अनन्त सर्जन-प्रवाह मे न किसी विश्व का और न मानव का कोई विशेष स्थान रह सकता है, इस अनन्त गगधार मे सभी प्राणी अन्त मे विलीन होते जाते हैं। इस प्रकार का मत बोसकेट ने व्यष्टित्व के सम्बन्ध मे व्यक्त की है। ऐसी दशा मे वस्तुत: मानव जीवन का कोई अन्तिम मूल्य नही रहता है और जो कुछ मूल्य मानवो के द्वारा इस विश्व-रगमच पर स्पष्ट किया जाय वह ईश्वर की अनन्त सर्जनात्मक माला मे विलीन हो जाती है। शायद यह मत कल्याणकारी सिद्ध हो लेकिन ईश्वरवादी इस मत को स्वीकार नही कर सकता है, क्योकि इस सिद्धात के अनुसार भक्त की व्यष्टि की सरक्षा नही होती है और अन्त मे यह मत बोसंकेट के प्रत्ययवादी सर्वेश्वरवाद मे परिणत हो जाता है और ईश्वरवाद का अन्त हो जाता है (क्योकि ईश्वरवाद मे भक्त की व्यष्टि के साथ ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता की भी सरक्षा होनी चाहिए)। इस आपत्ति को छोड भी दिया जाए तो प्रश्न उठता है, क्या लीलामय ईश्वर अपने अनन्त सर्जनात्मक प्रवाह मे विश्व की सृष्टि किसी कालविशेष मे करता है या नही ?

यदि विश्व-सृष्टि कालेतर रचना हो तो इस प्रकार की सृष्टि का कोई अर्थ ही निरूपित नही किया जा सकता है, क्योंकि रचना, सृष्टि, निर्माण इत्यादि

जितने भी प्रत्यय हैं, उनका सम्बन्ध काल-परिवर्त्तन से होता है। अतः, अकालिक रचना-सम्बन्ध अर्थहीन हो जाता है। वास्तव में अव्यक्त और छद्म रूप मे अकालिक सम्बन्ध कालातीत तर्कीय आपादन का सम्बन्ध हो जाता है जिस आपादान का नमूना न्यायवाक्य मे आधारवाक्य-निष्कर्ष सम्बन्ध में देखा जाता है। परन्तु यदि विश्व-ईश्वर सम्बन्ध तर्कीय हो तो तर्कीय सम्बन्ध प्रत्ययो के बीच होता है, न कि वास्तविक घटनाओ के बीच। इस अकालिक तर्कीय सम्बन्ध को मान लेने से न तो वास्तविक ईश्वर और न हाड़-मास के मानव पर किसी प्रकार का प्रकाश पड सकता है। तर्कीय सम्बन्ध शब्दों के परिभाषित अर्थों के बीच ही संभव होता है, न कि वास्तविक घटनाओ के बीच।

अब यदि ईश्वर विश्व की सृष्टि किसी कालविशेष मे करता है तो प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि क्यो किसी एक अमुक कालविशेष मे की और क्यों नही किसी अन्य क्षण मे की और फिर यदि वह सृष्टि के पूर्व बिना विश्व के रह सकता है तो विश्व की उसे क्यो आवश्यकता मालूम दी। ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनकी चर्चा फिर ईश्वर के गुण-सम्बन्धी प्रकरण मे की जाएगी। ऊपर से देखने मे ये प्रश्न छिछले मालूम दे, परन्तु असली प्रश्न ईश्वर-विश्व के सम्बन्ध मे है। क्या यह सम्बन्ध आपातिक है या अनिवार्य? यदि विश्व का सम्बन्ध ईश्वर के साथ आपातिक हो तो अन्त मे मानव (जो धर्मदृष्टि के अनुसार विश्व का मुख्य अंग है) का भी स्थान आपातिक और गौण हो जाता है, क्योंकि इस सम्बन्ध के अनुसार ईश्वर के लिए आवश्यक नही है कि वह मानव की सुधि ले। ऐसी अवस्था मे उपासयना की कडी टूट जाती है। इस आपातिक सम्बन्ध की अपेक्षा यदि ईश्वर-विश्व सबध अनिवार्य हो, तो इन दोनो मे अनिवार्य तर्कनिष्ठता का ही सम्बन्ध होता है और फिर यह संबंध वास्तविक ईश्वर तथा विश्व मे लागू नही होता है।

अगर मान लिया जाए कि ईश्वर और विश्व के बीच किसी प्रकार का कालिक और वास्तविक सम्बन्ध है तो एक महत्त्वपूर्ण समस्या खडी हो जाती है। क्या ईश्वर अपनी सृष्टि से बाहर, अतीत तथा बहिर्निष्ठ है, या ईश्वर इस विश्व में अन्तर्व्याप्त है? बहिर्निष्ठता (ट्रैन्सेन्डेन्स) से तात्पर्य है कि ईश्वर विश्व से परे, स्वतंत्र और दूरस्थ है। अब यदि ईश्वर विश्व तथा मानव से स्वतंत्र और दूरस्थ हो तो मानव फिर ईश्वर के साथ किस प्रकार सायुज्य अथवा संगोष्ठी स्थापित कर सकता है? अभी इसके बाद के प्रकरण मे दिखाया

जाएगा कि देववाद मे ईश्वर की बहिर्निष्ठता से अन्त मे अनुपास्यता सिद्ध हो जाएगी ।

यदि ईश्वर विश्व से बहिर्निष्ठ न हो तो ईश्वर इस विश्व मे अन्तर्व्याप्त होगा । अन्तर्व्याप्ति को सर्वगतता (ऑमनिप्रेजअन्स) से भिन्न समझना चाहिए । सर्वगत मे तात्पर्य होता है कि ईश्वर सभी स्थलो पर विद्यमान है और सभी घटनाएँ उसके सामने प्रस्तुत रहती है । इसके विपरीत अन्तर्व्याप्ति मे तात्पर्य होता है कि ईश्वर विश्व का अन्तर्स चालक और उसका प्राण है । जिस प्रकार अंडे मे बच्चे बनने की प्रेरणा अडे की सभी आन्तरिक प्रक्रियाओ का सचालित करती है, उसी प्रकार ईश्वर विश्व के अन्दर और विश्व की सभी घटनाओं मे प्रविष्ट शक्ति है जो विश्व की सभी घटनाओ का संचालन करती है । विशेष बात ध्यान मे रखनी है कि यदि ईश्वर विश्व की अन्तर्व्याप्त शक्ति हो तो वह फिर विश्व के बाहर भी एक साथ नही हो सकता है । क्या अडे मे बच्चे उत्पन्न करने की शक्ति को अंडे के बाहर भी कहा जा सकता है ? परन्तु यदि ईश्वर विश्व की अन्तर्व्याप्त शक्ति हो और विश्व की सभी घटनाओं का वह संचालक हो तो ये दोष साक्षात् परिलक्षित होते हैं ।

सर्वप्रथम, यदि ईश्वर पूर्ण विश्व मे अन्तर्व्याप्त हो जाए तो मानव मे भी वह अन्तर्व्याप्त समझा जाएगा । परन्तु यदि ईश्वर मानव की आन्तरिक शक्ति हो जो उसके प्रत्यग मे अन्तर्व्याप्त हो तो मानव और ईश्वर मे अन्तर कैसे किया जाएगा ? फिर यदि ईश्वर और मानव एक ही हो जायँ तो किसकी कौन पूजा करेगा ? इसे सर्वेश्वरवाद कहा जाता है । सर्वेश्वरवादी धर्मदर्शन महत्त्वपूर्ण माना जाता है, परन्तु इसमे उपासना का स्थान नही आता है । इसे समाधि-मूलक धर्म मे गिना जाता है । सर्वेश्वरवाद को ईश्वरवाद नही माना जा सकता है और सर्जन-सिद्धान्त ईश्वरवाद के अन्तर्गत आता है । इसलिए विश्व-अन्त-र्व्याप्तिवाद के मान लेने मे उपासना के अभाव मे ईश्वरवाद सभव नही हो पाता है । उसी प्रकार यदि मानव के कर्मों का अन्तिम कारण ईश्वर हो तो मानव को अपने कर्मों का उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता है और यदि मानव अपने कर्मों का उत्तरदायी नहीं हो सकता है तो उसे अपने कर्मों के लिए बुरा-भला नही ठहराया जा सकता है । इसलिए अन्त मे मानव अनैतिक प्राणी हो जाते है । इसलिए सर्वेश्वरवाद मे नैतिकता के स्थान को युक्तिसंगत रूप से नही माना जाता है ।

परन्तु मुख्य आपत्ति यह है कि ईश्वरवाद में ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना जाता है और बिना ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता को स्वीकार किये हुए ईश्वर को उपास्य नही माना जा सकता है। अब अन्तर्व्याप्त ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। ईश्वर एक व्यक्तित्वहीन शक्ति का रूप धारण कर लेता है। वह शक्ति जो सरिता के झर-झर कलनाद मे है, चिडियो के चहचहाने मे, पुष्पो के मधुर सुरभिमय मुस्कान मे, प्राची के लालित्य मे है, उसे कैसे व्यक्तित्वपूर्ण शक्ति कहा जा सकता है ? यही कारण है कि सर्वेश्वरवाद मे ईश्वर अवैयक्तिक कहा जाता है।

पर क्या ईश्वर विश्व मे अन्तर्व्याप्त और फिर विश्व से अतीत, दोनो माना जा सकता है ? सगत रूप से ईश्वर को अतीत और अन्तर्व्याप्त दोनो एक साथ नही माना जा सकता है, क्योकि जो शक्ति बहिर्निष्ठ और परे है, वह फिर विश्व मे अन्तर्व्याप्त नही कही जाएगी। परन्तु ईश्वरवाद मे ईश्वर को एक साथ ही विश्व मे अतीत और फिर विश्व मे अन्तर्व्याप्त माना जाता है और इसे आत्म-विरोध समझा जाता है। लेकिन अतीतपन और अन्तर्व्याप्ति ऐसे दो लक्षण हैं, जिन्हे न तो एक साथ माना जा सकता है और न उनमे से किसी एक को ही स्वीकार किया जा सकता है। धार्मिक चेतना के अन्तर्गत इन दोनो लक्षणो के बीच तनाव (कसाकसी, खिचाव) पाया जाता है और इसी कसाव के कारण कभी एक पक्ष को और कभी दूसरे पक्ष को प्रबल माना गया है। अतीतपन और अन्तर्व्याप्ति को लेकर देववाद और सर्वेश्वरवाद के दो प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त देखने मे आते है और इनकी व्याख्या करने पर ही ईश्वर-सम्बन्धी समस्याओ का गुण-दोष दृष्टिगोचर होने लगता है।

तटस्थ-ईश्वरवाद (डीइज्म) अथवा देववाद

तटस्थ-ईश्वरवाद का सिद्धान्त विशेषकर अग्रेज धर्म दार्शनिको ने चलाया था। इस सिद्धान्त का प्रारम्भ 'चरबरी के हर्बट' साहब ने (सन् १५८३-१६४८) किया था। इनके अनुसार श्रुति धर्म से स्वतन्त्र प्राकृतिक धर्म है। यदि श्रुति-धर्म आस्था एव विश्वास का विषय है तो प्राकृत धर्म अनुभव एव तर्कबुद्धि का। इनके अनुसार ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान-ज्योति प्रदान की है जिससे वह अपना धर्म जान सकता है। फिर चरबरी के हर्बट साहब ने माना है कि धर्म और नैतिक कर्त्तव्यों के बीच अवियोज्य सम्बन्ध है, और इसी प्राकृतिक ज्ञानज्योति द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को निश्चित कर

सकता है *। फिर अन्य तटस्थ-ईश्वरवादियों ने ईश्वर के अतीतपन को भी महत्त्वपूर्ण माना है। अतः, तटस्थ-ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर का अतीतपन और तर्कबुद्धि की पर्याप्तता दो प्रमुख मान्यताएँ हैं।

ईसाई एकेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर विश्व से अतीत भी है और वह विश्व मे अन्तर्व्याप्त भी है। देववाद, जिसे केवलनिमित्तेश्वरवाद भी कहा जाता है, ईश्वर के अतीतपन को ही मानता है। देववाद के अनुसार ईश्वर ने इस विश्व की सृष्टि सुदूर अतीतकाल मे की है और चूँकि ईश्वर सर्वशक्तिमान यन्त्रकार है, इसलिए यह विश्व सर्वथा दोषरहित यत्र है, जिसकी कार्यवाही के निरीक्षण की कोई आवश्यकता नही पडती है। इसलिए ईश्वर को तटस्थ मानना चाहिए।

देववाद के विकास मे विज्ञानवाद का बहुत अधिक हाथ है। इसका कारण है कि प्रोटेस्टेंट-आन्दोलन ने व्यष्टि पर जोर दिया, उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को पवित्र जाना तथा बुद्धि के द्वारा विश्व की सत्यता को खोज निकालना मानव का पुनीत धर्म गिना। इन सब मान्यताओं के फलस्वरूप विज्ञानो मे प्रगति होने लगी। किन्तु विज्ञानो के निष्कर्ष परम्परागत ईसाई ईश्वरवाद के विरुद्ध सिद्ध होने लगे। उदाहरणार्थ, ईसाई ईश्वरवादी सोचते थे कि पृथ्वी एक चिपटा समतल ग्रह है और यह ब्रह्माड का केन्द्र है। सूर्य और सभी ग्रह इसकी परिक्रमा करते हैं। ईश्वर ने अपने हाथो से मानव की सृष्टि विशेष रूप से की है और इस (ब्रह्माड के केन्द्र) पृथ्वी को मानव के निवास के ही लिए बनाया है। परन्तु विज्ञान के निष्कर्ष ने मानव और पृथ्वी, दोनो की उत्कृष्टता पर भारी आघात पहुँचाया।

कोपर्निकस ने (सन् १४७२-१५४३) सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी नही, वरन् सूर्य ही इस विश्व का केन्द्र है। फिर गैलेलिओ ने (सन् १५६४-१६४१) प्रयोग द्वारा सिद्ध कर दिया कि वास्तव मे पृथ्वी ही सूर्य की परिक्रमा करती है। मानव का वास-स्थान (पृथ्वी), जिस पर लोगो का गर्व था, एक तुच्छ ग्रह के रूप मे सिद्ध हो गया। इस प्रकार पृथ्वी की विशिष्टता के अवमूल्यन के साथ मानव का भी गर्व चूर हो गया। मानव को अपने मान-मर्दन से बडी चोट पहुँची। परन्तु धीरे-धीरे मानव ने इसे सहन कर लिया, लेकिन अपने बडप्पन का उसका सपना नही टूटा। अभी तक उसको इस बात का घमंड बना रहा है

* Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 4—P. 333.

कि वह सर्वोत्कृष्ट जीव है, जिसे ईश्वर ने बडी सावधानी और कुशलता से रचा है। लेकिन उसका यह भी सपना चकनाचूर हो गया है। डार्विन ने (सन् १८०९-१८८२) दिखाया है कि मानव का विकास उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार किसी भी पशु की उपजाति का हुआ। परिणाम ? मानव स्वर्गिक जीव न रहकर उर्ध्वगामी पक्षी या भूमिज पशु के समान इस पृथ्वी का ही जीव गिना जाने लगा। नक्षत्रो के स्वर्णिम प्रकाश से होनेवाला मानव धूल-धूसरित हो उठा। वह स्वर्गदूत नही वह तो बानरो का ही चचेरा भाई है। जब आकाश से भूतल पर गिरने की चोट से उसे होश आए तो वह विचारने लगा, जो भी हो, कम-से-कम अभी उसमे एक अमूल्य रत्न शेष बच गया है जिसके कारण स्वर्ग के देवता भी उसका समादर करते हैं। वह है मानव की तर्कबुद्धि। लेकिन बाद के विकास ने मानव की इस मोह-निद्रा को भी भंग कर दिया।

फ्रायड ने (सन् १८५६-१९४०) स्पष्ट कर दिया कि मानव प्राय: चेतन की अपेक्षा अचेतन से ही सचालित होता है और फिर जहाँ चेतन दिखाई भी देता है वहाँ भी मानव दमित एव दबी हुई गाँठो से ही नियंत्रित रहता है। बुद्धि का घमंड अज्ञान है। मानव जो भी तर्क दिया करता है उसके अनेक स्थलों पर तथ्य नही, पर दमित गाँठो का आरोपण होता है। धर्म, आचार, साहित्य तथा अन्य सास्कृतिक देनो मे सयुक्तिकीकरण हुआ करता है*। इस निष्कर्ष पर आने के बाद मानव-मूल्यो का अवमूल्यन तथा उसकी तर्कबुद्धि के गर्व का भी हनन हो जाता है। मानव के विवेक तथा अन्तर्जात ज्योति के धार्मिक सिद्धात का इस प्रकार खडन हो जाता है।

अत:, ईसाई धर्म के प्रोटेस्टेंट-आन्दोलन के फलस्वरूप ही विज्ञान का प्रसार, प्रचार एवं विस्तार हुआ, लेकिन विज्ञान-विधि तथा विज्ञान-निष्कर्ष धर्म विचारको के लिए प्रारभ से ही शका के विषय हो गए। इसलिए ईसाई धर्म विज्ञान की रोक-थाम मे कुछ क्रियाशील दिखाई पडने लगा। लेकिन विज्ञान की प्रगति को जारी रखने के लिए दार्शनिको तथा वैज्ञानिको ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि धर्म और विज्ञान का क्षेत्र पृथक-पृथक है, इसलिए वैज्ञानिक खोज के द्वारा धार्मिक मूल्यो पर आघात नही पड़ सकता है। विचारको ने स्पष्ट करना चाहा कि विश्व को ईश्वर ने ही रचा है। इसकी

* सयुक्तिकीकरण वह है जिसमें यथार्थ बात को न बताकर मनगढ़न्त एवं बनावटी आधार को ही सत्य बताया जाता है।

कार्यवाही में ईश्वर हस्तक्षेप नहीं करता है और विश्व का ज्ञान प्राप्त करने से मानव को उस चरम उद्देश्य को जानने में सहायता मिलेगी जिसके कारण ईश्वर ने इस विश्व की सृष्टि की है । इन्ही सब विचारो से प्रभावित होकर देववाद अथवा तटस्थ-ईश्वरवाद को स्थापित किया गया था ।

प्रारंभ से ही धर्म एवं विज्ञान के बीच के झगड़े को दूर करने के लिए इन क्षेत्रों को पृथक करने का प्रयास किया गया था । देकार्त ने (सन् १५९६-१६५०) अपने दर्शन में बताया कि विश्व वास्तव में यान्त्रिकी से सचालित होता है । इनके अनुसार पशु-पक्षी भी वास्तव में जटिल यंत्र ही हैं । उनमें किसी प्रकार की चेतना नही है । केवल मानव मे ही चेतना देखने मे आती है । इसलिए देकार्त ने विश्व की सभी घटनाओं को यंत्र द्वारा समझने का प्रोत्साहन दिया । जो बात देकार्त ने दिखाने की कोशिश की थी, उसे विश्व विख्यात न्यूटन ने (सन् १६४२-१७२७) कम-से-कम जड-जगत के संदर्भ मे वैज्ञानिक रीति से स्पष्ट कर दिया ।

न्यूटन ने दिखा दिया कि सभी भौतिक घटनाएँ गुरुत्वाकर्षण के नियम से सचालित होती हैं । समस्त सूर्यमण्डल वास्तव मे इसी गुरुत्वाकर्षण के नियम से सचालित होता है, चाहे या चन्द्रग्रहण का उदाहरण हो या सूर्यग्रहण का, चाहे यह बात दिन-रात के होने मे पाई जाए या ऋतु-परिवर्तन मे । अतः, न्यूटन की विचारधारा के अनुसार सम्पूर्ण विश्व एक चतुर यंत्रकार का ही खेल है, जिसने ऐसी पूर्ण यान्त्रिकी की व्यवस्था की है । लेकिन न्यूटन स्वयं ईश्वर-भक्त और धर्मवैज्ञानिक भी थे । उन्होने चाहा कि ईश्वर को जगत् से सम्पूर्णतया तटस्थ नही माना जाए । इसलिए इनके अनुसार ईश्वर ने जगत् के संचालन मे कुछ ऐसी व्यवस्था कर दी है जिस हेतु उसे बीच-बीच मे इस विश्व की गति मे हस्तक्षेप करना पडता है । न्यूटन के अनुसार सूर्य के चारों ओर नक्षत्रो के परिक्रमा-पथ मे चलते-चलते गति-विकृतियाँ चली आती हैं । यदि ईश्वर नक्षत्रो को पथ-भ्रष्ट होने से बीच-बीच में न बचाए तो या तो नक्षत्र सूर्य में ही गिर कर विनष्ट हो जायेंगे, या वे सूर्यमंडल से स्वतंत्र होकर अनियमित रूप से विचरने लगेंगे ।

बाद मे चलकर लैपलेस ने (सन् १७४९-१८२७) दिखाया कि नक्षत्रों के पथ-भ्रष्ट होने की आशंका निराधार है । स्वयं प्राकृतिक नियमों के ही

अनुसार परिक्रमा-पथ की त्रुटियाँ अपने आप सुधर जाती हैं। अतः, लैपलेस ने दिखा दिया कि सम्पूर्ण विश्व एक यान्त्रिकी है जिसके संचालन के लिए किसी चेतन बुद्धि अर्थात् ईश्वर की कल्पना करना आवश्यक है।

यद्यपि देकार्त ने जीवो को भी जटिल यंत्र माना था, परन्तु इस सिद्धान्त की उन्होंने कोई प्रयोगात्मक पुष्टि नही की थी। लेकिन डार्विन ने स्पष्ट कर दिया कि जीवों की अपनी विशेषता जो भी हो, कम-से-कम समस्त जीव-विकास मे यात्रिक नियमो को ही देखा जा सकता है। जीव-विकास में दो बातें मुख्य रूप से देखी जाती हैं, अर्थात्—

१ जीव के अन्दर अपने आप, बिना परिस्थिति तथा अन्य प्रभाव के ही, उसके गर्भ-जीवाणुओ मे परिवर्तन होते रहते हैं और ये परिवर्तन बाद आनेवाले वशजो मे संक्रमित होते रहते हैं।

२. इन आपातिक अथवा आकस्मिक परिवर्तनो मे से कुछ उपयोगी और कुछ अनुपयोगी होते हैं। उपयोगी परिवर्तनो के फलस्वरूप नये परिवर्तनवाले जीवो का सरक्षण हो जाता है और अनुपयोगी परिवर्तनवाले जीवो का विनाश। उपयोगी परिवर्तन से अभिप्राय है वे परिवर्तन, जिनके द्वारा जीव को परिस्थिति के प्रति अभियोजन-कार्य मे सहायता मिले और अनुपयोगी परिवर्तन वे हैं, जिनके रहने मे परिस्थिति के प्रति अभियोजन मे सहायता नही मिले। परिस्थिति के प्रति अभियोजन से तात्पर्य है भोजन तथा मैथुनिक पात्र की उपलब्धि से। उदाहरणार्थ, यदि कटीले वृक्षो के देश मे ऊँची गर्दनवाली बकरियाँ होगी तो उन्हे भोजन प्राप्त हो सकेगा और नाटी गर्दनवाली बकरियो का भोजन नही मिल पाएगा। अत', ऊँची गर्दनवाली बकरियाँ उक्त परिस्थिति मे संरक्षित रहेगी और नाटी गर्दनवाली बकरियाँ विनष्ट हो जाएँगी। अब डार्विन ने दिखाया कि—

(क) जीवो के गर्भ-जीवाणुओं में परिवर्तन अनायास, अंधाधुन्ध तथा आकस्मिक होते हैं।

(ख) दूसरी पीढ़ी के वशजो मे ये परिवर्तन सम्पूर्णतया यान्त्रिक रूप से संक्रमित होते हैं और इन यात्रिक नियमो को मेंडेल ने बाद मे स्पष्ट कर दिया था।

(ग) भोजन तथा मैथुन-पात्र को पाने के संघर्ष में विजय भी शारीरिक बल तथा उपयोगी परिवर्तन की उपयुक्तता पर निर्भर करती है। यह सघर्ष

और इसमें जय-विजय सम्पूर्णतया अनैतिक एवं यान्त्रिक नियमों से ही संचालित रहता है।

अतः, विज्ञान ने स्पष्ट कर दिया कि यह विश्व सम्पूर्णतया यान्त्रिकी है, परन्तु डार्विन भी न्युटन के समान ईश्वरवादी थे। उन्होंने लिखा है कि ईश्वर ने ऐसी सृष्टि-व्यवस्था की है कि कुछ जीव-कणों मे जीवन का श्वास फूँककर उनमें अनेक, परिवर्तनशीलता तथा विकास की क्षमता भर दी, जिसके फलस्वरूप आज हमे जीवो के अनेक आश्चर्यजनक रूप देखने मे आते हैं *। अब यदि ब्रह्माड को यान्त्रिकी मान लिया जाए और फिर ईश्वरवाद को भी स्वीकार किया जाए तो तटस्थ- ईश्वरवाद को संगत कहा जा सकता है। कैसे ?

यदि ब्रह्माड पूर्ण यान्त्रिको हो तो इसकी सृष्टि करनेवाला यत्रकार इससे तटस्थ ही माना जा सकता है। उदाहरणार्थ, कुम्हार मिट्टी का पात्र बनाता है, पर वह पात्र मे स्वयं अन्तर्व्याप्त नही रहता है। फिर इस यान्त्रिकी मे अन्त-र्निहित यत्रकार के उद्देश्यो को केवल बुद्धि ही के द्वारा जाना जा सकता है। इसलिए तटस्थ-ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर ने प्रत्येक मानव को प्राकृतिक अन्तर्ज्योति प्रदान की है, जिसके द्वारा वह ईश्वर की बातो को समझ सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज्योति के अनुसार निश्चित कर सकता है कि उसके क्या नैतिक कर्त्तव्य है और उसे ईश्वर के प्रति किस प्रकार अपने कर्त्तव्यों को निभाना चाहिए। तटस्थ-ईश्वरवाद एव ईसाई एकेश्वरवाद के बीच दो मुख्य अन्तर हैं, अर्थात—

तटस्थ-ईश्वरवाद और ईश्वरवाद के बीच मुख्य अन्तर :

(क) एकेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर विश्व से अतीत भी है और उसमें अन्तर्व्याप्त भी है। इसके विपरीत देववाद के अनुसार ईश्वर विश्व से अतीत है और वह इस विश्व मे अन्तर्व्याप्त नही है।

(ख) ईश्वरवाद के अनुसार मानव ईश्वर के रहस्य और ब्रह्मांड मे अन्त-र्निहित ईश्वर के उद्देश्यो को अपनी प्राकृतिक शक्तियो के द्वारा नही जान सकता है, क्योकि बुद्धिमान तथा विद्वान व्यक्ति के लिए ईश्वर का ज्ञान मूर्खता और व्यर्थ का बकवास है। हम ईश्वर की बातों को केवल ईश्वर के अनुग्रह से, ईश्वर की पवित्र आत्मा की प्रेरणा से ही निश्चित कर सकते हैं। इसके विपरीत देववादियो के अनुसार प्रत्येक मानव में ईश्वर प्रदत्त आन्तरिक

* चार्ल्स डार्विन, ओरिजिन आव स्पिसीज, अन्तिम पंक्तियाँ।

ज्ञानज्योति है जिसके द्वारा वह ईश्वर-सम्बंधी ज्ञान और ईश्वर के प्रति अपने नैनिक कर्त्तव्यो को निर्धारित कर सकता है। ईश्वरवादी श्रुति पर और देववादी तर्कबुद्धि पर भरोसा रखते हैं। ईश्वरवादी आश्चर्यकर्म तथा धार्मिक अनुभूति पर अधिक जोर देते है। इसके विपरीत देववाद प्रकृतिवादी धर्मविज्ञान को अधिक मान्यता देते है।

तटस्थ-ईश्वरवाद की विशेषतायें :— तटस्थ-ईश्वरवाद की अपनी कुछ विशेषतायें हैं जिनके कारण इसकी लोकप्रियता को स्पष्ट किया जा सकना है।

(१) ईश्वरवाद का ईश्वर उपास्य होता है और उपास्यता के लिये आवश्यक है कि भक्त और भगवान् के बीच दूरी रहे। इस अर्थ मे भक्त से ईश्वर को अतीत रहना चाहिये। यही कारण है कि प्रसिद्ध ईश्वरवादी धर्म-दार्शनिको ने ईश्वर के अतीतपन को स्वीकार किया है और इन दार्शनिकों मे सन्त टामस अक्वाईनस, कार्ल बार्थ एव पॉल तीलिख उल्लेखनीय हैं। अतः, देववादियो द्वारा ईश्वर के अनीतपन को स्वीकार करना धर्मसंगत माना जायगा।

(२) श्रुति पर जोर न देकर तर्कबुद्धि तथा आन्तरिक ज्योति पर बल देने के कारण धर्म मे आ गये अनेक अंधविश्वासो को दूर करने मे धर्म-विचारको को बहुत सहायता मिली। प्रायः आश्चर्यकर्मों की दुहाई देकर जो धर्मों के प्रति आस्था उत्पन्न की जाती थी वह तर्कबुद्धि पर बल देने के कारण क्षीण पड गयी। देववादियो के अनुसार वही अन्त मे सत्य ठहरेगा जो युक्तिपूर्ण सिद्ध होगा, अर्थात् जो वैज्ञानिक खोज से मेल खायेगा। अतः युक्तिपूर्णता पर बल देने से अंधविश्वास का क्षेत्र दिनो दिन सकुचित होने लगा और वैज्ञानिक ज्ञान का प्रसार होने लगा जिससे अंत मे ऐहिकता का उदय हुआ। लेकिन ऐहिकता* का विकास विज्ञान-प्रसार से सभव हो सकना है और देववाद ने विश्व की यांत्रिकना तथा ईश्वर के अनीतपन से वैज्ञानिक गवेषणाओं को प्रोत्साहन दिया। देववाद के अनुसार चूंकि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है, इसलिये उसकी ज्ञानप्राप्ति को मानव को पुनीत कर्त्तव्य समझना चाहिये। फिर चूंकि ईश्वर विश्व से अतीत है, इसलिये प्रकृति पर आधिपत्य और उसके नियंत्रण

---

* धर्मदर्शन की ऐहिकता उस मत का नाम है जिसके अनुसार यही लोक सब कुछ है और इसके अतिरिक्त न ईश्वर है न परलोक।

करने से ईश्वर की कार्यवाहियो में हस्तक्षेप करने की आपत्ति नही उठायी जा सकती है। चूंकि प्रकृति की सभी घटनाये कारण-कार्य के नियतिवादी नियम से संचालित होती हैं, इसलिये प्रकृति की किसी भी घटना को 'आश्चर्यकर्म' की सज्ञा नही दी जा सकती है।

३ सगत रूप से देखा जाय तो ईश्वर के अतीतपन को मान लेने से ईश्वर-प्रकाशना तथा अवतारवाद दोनो को प्रश्रय मिलता है। यदि ईश्वर अतीत हो तो मानव उसे कैसे जान सकता है। यही कारण है कि अतीतवादी ईश्वर को प्रच्छन्न मानते है। परन्तु यदि ईश्वर अव्यक्त मानव हो तो उसे तभी जान सकते है जब वह अपनी प्रकाशना व्यक्ति के लिये प्रस्तुत करे या अपने को किसी प्रकार अन्य रूप से प्रकट करे। यही कारण है कि अतीतवादी ईश्वर के अवतार मे विश्वास करते है। अवतार मे अतीत ईश्वर मानव रूप मे प्रकट होता है। फिर अतीतवादी स्वीकार करते हैं कि अतीत ईश्वर को हम तबतक नही मान सकते है जबतक ईश्वर श्रुति-द्वारा अपने को नही व्यक्त करे।

अत., देववादियो का सिद्धान्त सर्वथा ईसाई ईश्वरवादियो के मन मे स्वतन्त्र नही है, तोभी देववाद धर्मपरम्परा की अपेक्षा विज्ञान से अधिक प्रभावित रहा है। यही कारण है कि तटस्थ-ईश्वरवाद मे धार्मिक पक्ष को विशेष स्थान नही प्राप्त हो सका है। तर्कबुद्धि को प्रधान मानने से और श्रुति को प्रमाण नही मानने से कई त्रुटियाँ देखने मे आती है।

तटस्थ-ईश्वरवाद के प्रति आपत्तियाँ

यदि ईश्वर तर्कबुद्धि से ही सिद्ध हो जाता और यदि सभी व्यक्तियो मे यह प्राकृतिक देन होती तो आज सभी व्यक्ति ईश्वर के उपासक हो जाते। यही कारण है कि परम्परागत ईश्वरवादी मानते आये है कि वास्तव मे ईश्वर ज्ञान का नही, वरन् आस्था अथवा दृढविश्वास का विषय है। फिर 'तर्कबुद्धि' से क्या अभिप्राय हो सकता है? यहाँ तर्कबुद्धि से केवल निगमनात्मक तर्कशक्ति का अर्थ नहीं हो सकता है, क्योकि शुद्ध निगमन से किसी भी वास्तविक सत्ता को नही प्रमाणित किया जा सकता है। तब तर्कबुद्धि का अर्थ होता है वह बुद्धिशक्ति जिसके द्वारा वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, अर्थात अनुभव से प्राप्त करने की तर्कबुद्धि। आजकल यह कहा जाता है कि ईश्वर को तर्कबुद्धि से स्थापित करने के लिये यह जरूरी है कि ईश्वर-सम्बन्धी प्रतिज्ञप्तियाँ अर्थपूर्ण हों और उन्हे अर्थपूर्ण स्थिर करने के लिये सत्यापन-मिथ्यापन सिद्धान्त

को स्थापित किया गया है। परन्तु अर्थ-निरुपण- सिद्धात की सहायता लेने से ईश्वर-सम्बधी कथन स्थापित क्या होगे कि वे अर्थहीन एवं आत्मविरोधी सिद्ध हो रहे है। अत, तर्कबुद्धि पर बल देने से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध न होकर अनीश्वरवाद ही प्रमाणित हो जाता है। अत, तर्कबुद्धि का जो भी स्थान विज्ञान में हो, कम से कम धर्म-विज्ञान मे इसे विशेष और पर्याप्त मान लेने से लाभ की अपेक्षा हानि हो जाती है।

फिर यदि ईश्वर को विश्व से अतीत माना जाय और यह भी स्वीकार किया जाय कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि युगों पूर्व की है और यह भी कहा जाय कि यही कारण है कि परम्परागत ईश्वरवादी सोचते आए है कि ईश्वर अपने यान्त्रिक विश्व से तटस्थ रहता है तो इससे ईश्वरवाद की सरक्षा नही हो सकती है। मानव सोचेगा कि यह ठीक है कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है, पर अब वह अपनी रचना तथा मानव से बहुत दूर रहता है, अब उसे मानव की कोई सुधि नही और न उसे मानव की चिन्ता करने की आवश्यकता है। यदि मानव ईश्वर को जानने की कोशिश भी करे तो भला वह दूरस्थ और अतीत ईश्वर को कैसे जान सकता है। 'अतीत' का यही अभिप्राय है कि जहाँ विश्व ओर ईश्वर के बीच किसी प्रकार की समानता तथा तादात्म्य न हो। इसलिये जिन शब्दो के द्वारा हम ईश्वर के गुण का उल्लेख करेंगे वे शब्द अक्षरश. ईश्वर के लिये उपयुक्त नही सिद्ध होगे। अतः, ईश्वर के अतीतपन से ईश्वरविषयक अज्ञेयवाद सिद्ध होता है और यही बात सन्त टामस अक्वाईनस ने अपने अनुपात एव साम्यानुमान सिद्धात मे ईश्वर को अतीत मानकर स्पष्ट की है। अब यदि ईश्वर अज्ञेय हो और मानव दृष्टि से ओझल हो जाय तो मानव भी सोच सकता है कि जब ईश्वर ही मानव से दूर है और वह उसकी चिन्ता नही करता है तो फिर मानव क्यो ईश्वर की चिन्ता करे और उसे ढूँढ निकालने का प्रयास करे। यदि ईश्वर दिनो दिन मानव विचार-व्यवहार से ओझल होता जाय तो अन्त मे मानव-जीवन मे ईश्वर का कोई स्थान बच नही जाता है और समकालीन ईश्वर चिंतन के सदर्भ मे ऐसे ईश्वर का विलयन हो जाता है। मानव के सभी व्यापारो से ओझल हो जाने एव अनावश्यक सिद्ध हो जाने का ही नाम है 'ईश्वर-मृत्यु'। अतः, ईश्वर के दूरस्थ एवं अतीत मानने से देववाद के द्वारा अन्त मे अनीश्वरवादी तथा ईश्वर-मृत्यु का निष्कर्ष स्थापित हो जाता है और इसलिये देववाद द्वारा धर्म की रक्षा नही हो पाती है।

फिर विश्व-यान्त्रिकता मान लेने से यह भी आभासित हो सकता है कि विश्व की सभी घटनायें नियतिवाद से जकडी हुई हैं और इनमे कोई अन्तर्निहित उद्देश्य नही छिपा हुआ है। भला जड़ अथवा अचेतन घटनाओ मे कौन उद्देश्य-पूर्णता देखी जा सकती है? ऐसा आभासित होता है कि विश्व की सभी घटनायें आपातिक है और सभी परिवर्तन अंधाधुन हुआ करते हैं। कम से कम यह बात विश्व के उद्विकास मे पायी जाती है और विशेषकर जैविक विकास मे। पूर्व ही बताया जा चुका है कि जैविक विकास मे नीति का हाथ नहीं, वरन् उसमे हिंसा तथा शक्ति-नीति का ही हाथ दिखाई देता है। अत., तटस्थ-ईश्वरवाद से परम्परागत विश्व की उद्देश्यपूर्णता पर भारी आघात पहुँचा। यही कारण है कि तटस्थ-ईश्वरवाद अब लोकप्रिय नही हो पाया है। इसलिये मानव आवश्य-कताओ की पूर्ति के लिये, विशेषकर हृदय के उद्‌गारो का प्रतिरक्षा के हेतु, प्रतिक्रिया के रूप मे सर्वेश्वरवाद का विकास हुआ।

सर्वेश्वरवाद (पैनथिइज्म)

सर्वेश्वर, अर्थात् सर्व + ईश्वर। शब्दश: इससे उपलक्षित होता है कि धर्म-दर्शन का वह सिद्धान्त जिसके अनुसार सब कुछ वास्तव मे ईश्वर ही है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्।

(जो कुछ इस जगत् मे है, वह सब ईश्वर से ही संभव है)।

फिर इससे यह भी ध्वनित होता है कि वह वाद जिसके अनुसार ईश्वर ही सब कुछ है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति,
सर्वभूतेषु चात्मानं···· ···· ···· ··· ।
(जो ईश्वर को सब जड़ एवं जीव में देखता है),

प्राय: लोग समझते हैं कि 'सब ईश्वर है, और 'ईश्वर सब कुछ है,' दोनों एक हैं। परन्तु दोनों मे सूक्ष्म अन्तर है जो सर्वेश्वरवाद के विभिन्न प्रकार के उल्लेख-मात्र से स्पष्ट हो जायगा।

सर्वप्रथम, सर्वेश्वरवाद की दो प्रमुख शाखायें हैं, निर्वैयक्तिक और ईश्वरवादी रहस्यवाद। निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद भी निर्गमनवादी और अन्तर्वर्त्तितावादी दो प्रकार का होता है। फिर अन्तर्वर्त्तितावादी सर्वेश्वरवादी भी स्थैतिक और गतिक दो प्रकार के होते है।
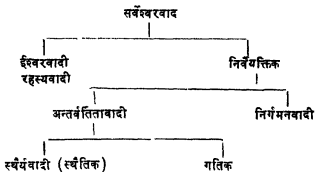
ईश्वरवादी सर्वेश्वरवाद वह है जिसके अनुसार भक्त अपने ईश्वर को सब स्थलों पर, सब घटनाओं में देखता है। यह बात कश-प्रह्लाद-कथा से झलकती है। प्रह्लाद के कहने से कि ईश्वर खम्भे में भी है तो खम्भे पर प्रहार करने के बाद ईश्वर के होने की बात पुष्ट हुई। जेहनर का कहना है कि सूफियों के रहस्यवाद मे भी सर्वेश्वरवाद दिखाई देता है। इस रहस्यवाद के अनुसार यह आवश्यक नही है कि वस्तुयें जड न हो या ईश्वर से भिन्न अन्य सत्तायें न हो। सूफियो का रहस्यवाद जेहनर के अनुसार तात्विक सर्वेश्वरवाद नही है। केवल ईश्वर के प्रति भावपूर्णता के आधार पर ही ईश्वर सभी स्थलों पर दिखाई देता है और भक्त ईश्वर की उपस्थिति मानकर आत्मविभोर हो जाता है और उसे ईश्वर को छोड किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नही रह जाता है। जेनहर के अनुसार सूफी कुछ भी कहता हो, लेकिन वह असाक्षात् रूप से भक्त और भगवान् के बीच के भेद को सही समझता है।

रही पर्दे मे अब वह न पर्देनशी,
जो पर्दा-सा बीच मे था सो न रहा।

यहाँ पर्दे के हट जाने से भक्त और भगवान् एक नही हो जाते हैं, किन्तु भगवान् का दीदार (दर्शन) हो जाता है। यह ठीक है कि सूफियो ने आत्म-विलयन (फना) की बात कही है, किन्तु यह चैतन्य महाप्रभु के प्रेमोन्माद की ओर संकेत करता है, न कि जल में बूँद के विलयन वाली बात की ओर। सूफी ईश्वर को इतना महान्, उच्चतम तथा पवित्र मानते हैं कि उनके अनुसार कोई भी सीमित जीव अपने को ईश्वर हो जाने की बात नही कह सकता है *।

* आर. सी. जेहनर, मिस्टिसिज्म, अध्याय ८ ९

जो बात सूफी मत के लिये कही गयी है वही बात ईसाई मत के लिये भी कही जा सकती है। बर्ग्सों (सन् १८५९-१९४१) प्रसिद्ध यहूदी रहस्यवादी थे। उनके अनुसार ईश्वर के साथ केवल आंशिक तादात्म्यीकरण हो सकता है[१]। फिर इनके अनुसार ईश्वर का प्रकाशनमात्र होता है जिसके द्वारा विशेष भक्तो मे बोधि उद्भूत होती है[२]। इसी प्रकार विलियम जेम्स भी मानते है कि रहस्यवाद मे सज्ञानात्मकता का अंश रहता है और इसलिये ईश्वरवादी रहस्यवाद मे ईश्वर और भक्त के बीच भेद रहता है[३]। और फिर कहते है कि ईश्वर के साथ तादात्म्यीकरण को विषयीगत भाव मानना चाहिये[४]। अतः, ईश्वरवादियो का सर्वेश्वरवाद तात्त्विक नहीं है। भाव से अभिभूत होकर भक्त सभी स्थलो पर ईश्वर ही को पाता है। पर यह उसकी उन्मत्तता है, न कि तात्त्विक सत्यता। इसके विपक्ष मे निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद है।

निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद मे अन्तिम सत्ता को व्यक्तिपूर्ण नही माना जाता है। निर्गमनवादी सर्वेश्वरवाद नवप्लेटोवाद मे देखा जाता है।

नव-प्लेटोवाद के प्रचार और प्रसार मे प्लोटिनस (सन् २०५-२७०) को उल्लेखनीय विचारक माना जाता है। इनके अनुसार परम सत्ता अद्वैत है जो निर्गुण, सर्वव्यापी, अविभेदित तथा ज्ञाता-ज्ञेय के भेद से परे शुद्ध चित्त है। यह परम सत्ता पूर्णत्व के आधिक्य मे आकर अनिवार्य रूप से प्रस्फुटित तथा विकीर्ण होने लगती है। इस प्रसर्जन मे सर्वप्रथम बुद्धि, मन तथा आत्मा का उद्भव होता है और अन्त मे जड पदार्थ का उद्भव होता है। इस प्रसर्जन के अनुक्रम मे अन्तिम निस्सृत वस्तु मे सब से कम पूर्णता रहती है और आत्मा तथा बुद्धि मे इसकी तुलना मे अधिक पूर्णता पायी जाती है। यह बात ठीक साख्य-दर्शन के उद्विकास के सिद्धान्त से मिलती है। साख्य-दर्शन के अनुसार भी उद्विकास के अनुक्रम मे महत्, बुद्धि मे सब से अधिक सत्वगुण पाया जाता है और इसकी तुलना मे स्थूल वस्तुओं मे सबसे कम सत्व गुण पाया जाता है।

प्लोटिनस यह भी स्वीकार करते है कि प्रसर्जन के बावजूद अद्वैत सत्ता की अपनी पूर्णता ज्यो की त्यो बनी रहती है। यही कारण है कि

---

(१) हेनरी बर्ग्सों. टू सोर्सेज आव मोरैलिटी ऐंड रिलिजन, पृ. १८८
(२) वही पृ १८३
(३) वेराइटिज आव रिलिजस इक्सपीरियेन्स-पृ-३८०
(४) वही पृ-५०६

विश्व को अद्वैत सत्ता से विकीर्ण, प्रस्फुटित, निर्गमित तथा बहि:निर्यासित कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्य से किरणें विकीर्ण होने पर भी साधारणतया सूर्य ज्यो का त्यों बना रहता है, उसी प्रकार विश्व और विश्व की सभी वस्तुये अद्वैत सत्ता से प्रसर्जित हो जाने पर भी ज्यो की त्यो बनी रहती हैं। अत, निर्गमनात्मक सर्वेश्वरवाद मे अद्वैत सत्ता विश्व मे और विश्व से बाहर भी रहती है। इसलिये निर्गमनात्मक सर्वेश्वरवाद को आन्तरातीत-ईश्वरवाद भी कहा जाता है। परन्तु यदि परम सत्ता विश्व मे रहकर भी अतीत कही जाय तो इसे शुद्ध सर्वेश्वरवाद नहीं माना जायगा।

प्लोटिनस यह भी मानते हैं कि शरीरधारी जीव वासना-सुख के कारण परम सत्ता से विमुख हो जाते है। वास्तव मे प्लोटिनस का नवप्लेटोवाद बहुत अधिक अशो मे भारतीय अद्वैतवाद और योग दर्शन से प्रभावित हुआ था। प्लोटिनस स्वीकार करते है कि परम सत्ता को जानने के लिये मुमुक्षु को स्वय परम सत्ता बनना पडता है। परम सत्ता बनने के लिये भाव-समाधि, आत्म-समर्पण इत्यादि की सहायता लेनी पडती है।

प्लोटिनस ने परम सत्ता को अद्वैत माना है, परन्तु चूंकि सृष्टि उसी सत्ता से उत्पन्न होती है, इसलिये अनेकता भी गर्भित रूप से उसमे अवश्य पायी जाती है। नवप्लेटोवाद मे रहस्यानुभव के रहने से इसे सर्वेश्वरवाद के अन्तर्गत माना जाता है, यद्यपि इसे आन्तरातीत-ईश्वरवाद ही कहा जाना चाहिए।

अन्तर्वर्तितावादी सर्वेश्वरवाद सभी प्रकार के सर्वेश्वरवाद की तुलना मे अन्तर्वर्तितावाद प्रमुख है। इसके अनुसार परम सत्ता विश्व में अन्तर्व्याप्त है। पर इस अन्तर्वर्तिता को दो प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। एक मत के अनुसार परम सत्ता उसी प्रकार विश्व मे अन्तर्व्याप्त है जिस प्रकार बच्चे होने की प्रवृत्ति अडे मे अन्तर्व्याप्त है। यह प्रवृत्ति केवल अडे के सभी अंगो मे ही व्याप्त नही है, पर यह अडे को बच्चे के रूप मे लाने के लिये भी इसकी रचनात्मक अथवा सर्जनात्मक शक्ति है। यदि हम परम सत्ता की अन्तवर्त्ती सर्जनात्मक शक्ति पर बल दे तो हमे स्पष्ट हो जायगा, कि इसे गतिक सर्वेश्वरवाद कहा जायगा, क्योकि इस दशा मे इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व के सभी परिवर्तन और उद्विकास इसी परम सर्जनात्मक अन्तर्व्याप्त शक्ति के द्वारा होता है। इस रूप में गतिक सर्वेश्वरवाद प्रत्ययवाद बर्ग्सों के सर्जनवादी विकासवाद तथा उन्मज्जनवादी विकासवादियो के दर्शन मे पाया जाता है।

इस गतिक सर्वेश्वरवाद से भिन्न स्थैतिक सर्वेश्वरवाद है जो अद्वैतवाद तथा स्पिनोजावाद के एक पक्ष मे पाया जाता है। यदि मान लिया जाय कि निर्गुण ब्रह्म एक परम सत्ता है जो हमारे अज्ञान के कारण विशिष्ट रूप धारण कर विभिन्न और अनेक दीखता है तो इसे स्थैतिक सर्वेश्वरवाद कहा जाय। इस व्याख्या के अनुसार परम सत्ता निर्गुण है और वह ज्यो का त्यो निर्विकार रूप मे रहता है। परन्तु जिस प्रकार एक ही चाँद जल-तरगो मे अनेक दीखता है, या एक ही सिक्का जादूगर के हाथ मे अनेक दिखायी देता है उसी प्रकार मिथ्या दृष्टिवश (अथवा अज्ञानवश) एक निर्विकार ब्रह्म जीवो को अनेक दीखता है। दूसरी उपमा के अनुसार गगा-जल का कोई सीमित, निश्चित रूप नही है। परन्तु वही गंगा-जल लोटे मे रहने से लोटे का और घडे मे रहने से घडे का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार परम सत्ता बिना किसी रूप-आकार का है, पर जीव अज्ञान मे पडकर एक ब्रह्म को अनेक और विविध वस्तुओ का नाम-रूप देकर उस अद्वैत सत्ता को नाना रूप दे देता है। पर वास्तविकता क्या है ? अद्वैत सत्ता की। इस स्थैतिक सर्वेश्वरवाद के अनुसार ज्ञान अर्थात् सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर नानात्व का विलयन हो जाता है और उनमे अन्तर्निहित निर्विकार सत्ता का भान होने लगता है। इस गति को प्राप्त करने मे कहा जायगा 'यह सब सचमुच ब्रह्म ही है'। अन्तिम अवस्था मे प्रत्येक वस्तु एव व्यष्टि का विलयन हो जाना अनिवार्य है। इसे कबीर ने इन पक्तियो के द्वारा व्यक्त किया है

जल मे कुंभ, कुंभ मे जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुँभ जल जल ही समाना जो बूझे सो ज्ञानी॥

स्थैतिक सर्वेश्वरवाद के अनुसार परिवर्तन, विकास, विशेष, वस्तुविशिष्टता इत्यादि सभी अज्ञान से जनित भ्रम है।

भारतीय दर्शन मे नानत्व को भ्रम और एकत्व को सत्य किस निश्चित अर्थ में लिया जाता है, यह निर्णय करना कठिन है। पर यदि परम सत्ता को आकृतियो की तुलना मे दिक् के समान या वर्त्तनों की तुलना मे मिट्टी के समान एकमात्र सत् मानना सही हो, तो नानत्व केवल दृष्टि मात्र है। औरतें गहने पर अर्थात् सोने के रूप और आकार पर अधिक ध्यान देती हैं। परन्तु सुनार उन गहनो मे लगे असली सोने को देखकर गहनो का मूल्य आकना

है। अब वेदान्ती सर्वेश्वरवाद के अनुसार औरतों की दृष्टि अज्ञान-दृष्टि कही जायगी और सुनार की दृष्टि को ज्ञान-दृष्टि कही जायगी। ज्ञान-दृष्टि के अनुसार नानत्व से विमुख होकर हमे सब नानात्व के मूल मे एक ब्रह्म को मानना चाहिए। तो क्या केवल एक ब्रह्म की ओर ध्यानस्थ होने पर नानात्व समाप्त हो जाता है? क्या सोने पर ध्यान देने पर गहनो के रूप, आकार और बनावट समाप्त हो जाते हैं? नही, परन्तु उनकी सार्थकता विनष्ट हो जाती है। अन्त मे, सब में अन्तर्व्याप्त सत् के परम तत्व को हम पा जाते है। यहां परम सत् का एकत्व दृष्टि और तत्व दोनो प्रकार से प्राप्त होता है। परन्तु सूफियो के ईश्वर की सार्वभौमिकता उनकी दृष्टि का परिणाम है, न कि तात्विक खोज का परिणाम है। अद्वैतवादी सर्वेश्वरवाद मे युक्तियो के आधार पर एकत्व की स्थापना की जाती है और अन्त मे इस एकत्व को ध्यान, समाधि और योग द्वारा प्राप्त किया जाता है।

क्या सर्वेश्वरवादी की खुदी या अहमन्यता भी सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो जाने पर समाप्त हो जाती है? क्या वास्तव मे घडा (शरीर) फूट जाता है और परम सत्ता मे मिल जाता है? न तो अहमन्यता का सर्वनाश होता और न शरीर का ही उन्मूलन होता है। ज्ञानी की स्वार्थपरता, विषयरुचि का विस्तारण एव उदात्तन हो जाता है। इसलिये व्यष्टि की विशालता एव मनोवैज्ञानिक उदारता के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो, अब ज्ञानी का अपना अस्तित्व रहा ही नही है। परन्तु यह केवल विषयीगत अनुभूति मात्र है। साथ ही साथ सर्वेश्वरवादी को मालूम देता है कि परम सत्ता ही सब कुछ है। अन्त मे भक्त को शान्ति मिलती, क्योंकि उसका दुःख विश्व का दुःख हो जाता और सुख विश्व-सौहार्द्र की निधि। परन्तु यदि अहमन्यता का सर्वनाश हो जाता तो इस अनुभूति का भोक्ता कैसे होता और फिर इन सभी अनुभूतियो का प्रतिवेदक कहाँ से आता? अत, अन्त मे देखा जाय तो सर्वेश्वरवाद धार्मिक दृष्टि का परिचायक है।

भारतीय अद्वैतवाद से मिलता हुआ स्थैतिक सर्वेश्वरवाद का उदाहरण स्पिनोजा के दर्शन मे पाया जाता है। स्पिनोजा के अनुसार एक द्रव्य परम सत्ता है जो असंख्य गुणों से असीमित रूप से व्यक्त होता है। वस्तुयें वास्तव मे उसी एक परम द्रव्य के नित्य-क्षणभंगुर रूप है जिनका अपना कोई स्थायित्व नहीं है।

* डब्ल्यू. टी. स्टेस, मिस्टिसीज्म ऐंड फिलौसफी—पृ० २४५

चूँकि इस एक द्रव्य को छोड़कर अन्य सत्तायें नही है, इसलिए यह प्रकृति वास्तव मे उसी एक द्रव्य का रूप है। लेकिन प्रकृति तो अनेक वस्तुओ एवं घटनाओ से परिपूर्ण मालूम देती है तो हम कैसे कहे कि प्रकृति और एक द्रव्य रूप परम सत्ता एक ही है ? प्रकृति अनेक वस्तुओ का योगफल अवश्य है, पर अन्तिम सत्ता केवल एक द्रव्य की है। यदि किसी बोर्ड पर अनेक वर्ग बनाये जाये तो क्या वर्ग की सत्ता रहती है या उस बोर्ड की जिस पर वर्ग चित्रित किये जाते है। कोई भी वर्ग (जैसा ग्राफ पेपर में देखने मे आता है) आत्मा-श्रयी नही है, यह स्वनिर्भर नही है। इसकी सत्ता भुजाओ से घिरे रहने पर होती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जल घट मे तभी तक रहता है जब तक घट मिट्टी की दीवारो से घिरा रहता है। अत स्पिनोजा केवल एक परम सत्ता को मानते है और वस्तुये तो उसी एक सत्ता के सीमायन, विशेषीकरण तथा नाम-रूपीकरण से उत्पन्न होती है। परन्तु स्वय स्पिनोजा मे प्रकृति को वस्तुओ का योगफल, अर्थात् एक सत्ता के अनेक सीमित रूप का सकलनमात्र कहा है (नेतुरा नेतुराता)। फिर यह भी कहा है कि विश्व की सभी गतियाँ और परिवर्त्तन उसी एक परम सत्ता से ही उत्पन्न होते हैं और इस एक सत्ता को विश्व का अन्तर्वर्ती आधार भी कहा है। इस रूप मे उन्होंने परम द्रव्य को प्रकृति प्राकृतीयन (नेतुरा नेतुरैन्स) भी कहा है। परन्तु यद्यपि स्पिनोजा मानते है कि परम सत्ता ही विश्व की अन्तर्व्याप्त प्राण-शक्ति है जो उसे विभिन्न रूप से उद्वेलित करती है तोभी स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद को गतिक नही कहा जायगा क्योकि इसमे उद्विकास का कोई स्थान नहीं है।

गतिक सर्वेश्वरवाद : स्थैतिक सर्वेश्वरवाद की तुलना मे गतिक सर्वेश्वरवाद निरपेक्ष प्रत्ययवाद, बर्गसाँ का सर्जनात्मक विकासवाद तथा उन्मज्जनवादी विकासवाद मे अधिक देखने में आता है। हेगेल, ब्रैडले, बोसकेट इत्यादि को निरपेक्ष प्रत्ययवादी (ऐबसल्यूट आइडियलिस्ट) कहते है। निरपेक्ष प्रत्यय-वादियो के अनुसार परम सत्ता विश्व मे अन्तर्व्याप्त विकासात्मक गतिक शक्ति है। अन्तर्व्याप्ति का उदाहरण अडे मे अन्तर्निहित सर्जनात्मक प्राणशक्ति के रूप मे दिया जा सकता हे। यदि यह प्राणशक्ति अडे की सर्जनात्मक शक्ति हो तो यह शक्ति अंडे के बाहर नही रह सकती है। इसलिये यदि ईश्वर या परम सत्ता को विश्व मे अन्तर्व्याप्त माना जाय तो अलेक्जैण्डर * के अनुसार

* फिलासफिकल ऐंड लिटररी पीसेज—पृ० ३२२

इसे अन्तर्वर्त्तिता के साथ अतीत नहीं माना जायगा। अब निरपेक्ष प्रत्ययवादी के लिए परम सत्ता विश्व की अन्तर्वर्ती सर्जनात्मक शक्ति है जो विश्व के अन्तर्गत सभी नूतन विकास के आधार मे रहती है।

हेगेल के अनुसार परम सत्ता असख्य शक्यताओं का आगार है और वह क्रमशः उनका वास्तविकीकरण करता रहता है। उदाहरणार्थ, प्रारंभ मे केवल जड था और केवल भौतिक-रसाय शक्तियो का ही कोलाहल होता था। लेकिन इन्हीं किसी भूत-रसाय परिवर्त्तनो के योग मिलने से जीव का उद्‌भव हुआ। प्रारंभ में जीवशक्ति अति क्षीण थी, परन्तु कालान्तर के साथ जीवशक्तियाँ प्रबल होती गयी और तब किसी प्रकार इन जीवो मे से चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारभ मे चेतन प्राणियो, विशेषकर मानवो मे आपसी सग्राम रक्तमय हुआ करता था। परन्तु कालगति के साथ आदर्शों का विकास हुआ और इतिहास इसका साक्षी है कि जिन जातियो मे मूल्यो का समादर हुआ वे सभ्यता के शिखर पर आयी और अन्य जातियो की तुलना मे विजयी घोषित की गयी। अत., अतीत के गर्भ मे छिपी कहानी पर ध्यान देने से मालूम देता है कि विश्व की प्रक्रियाये अधाधुन नही है, वरन् उनमे अन्तर्निहित विकासोन्मुखी सर्जनात्मक शक्ति है।

हेगेल के विचार की पुष्टि करते हुए ब्रैड्ले का मत है कि परम सत्ता सर्वग्राही आत्मसगत अनुभूति है। यदि हम विश्व के गठन पर ध्यान दे तो पायेगे कि इमे एक अनुक्रमिक व्यवस्था माना जा सकता है। ऊँचे स्तर पर नीति, धर्म, मानव-व्यष्टि इत्यादि पायी जाती है। पर हम कितनी ही अधिक ऊँचाई, गहराई एवं विस्तार तक क्यो न पहुँचे, हमे कोई भी ऐसी अनुभूति नही प्राप्त हो सकती है जिसे हम सर्वसमावेशी आत्मसगत की संज्ञा दें। यह ठीक है कि आचार मे हमारी अनुभूति सम्पूर्णत्व की ओर प्रगति करती है। परन्तु इसमे भी यथार्थ और कल्पित आदर्श के बीच की खाई कभी भी भरी नही जा सकती है। अच्छे-से-अच्छा नीतिवान अपने मे अनुभव करता है कि उसे जो प्राप्त करना चाहिये था, वह नही प्राप्त कर पाया है। परन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या धर्म में यथार्थ और आदर्श का अन्तर मिट नही जाता? क्या ईश्वर मे सभी आदर्शों का साकारीकरण नही होता है और क्या ईश्वर के साथ सायुज्यकर कुछ क्षणो के लिये भक्त ईश्वर-तुल्य होकर सभी आदर्शों को नहीं प्राप्त कर लेता है? ब्रैड्ले ने इसका अभावात्मक उत्तर दिया है।

यदि हम ईश्वर के साथ तादात्मीकरण कर लेते हैं तो भक्त-भगवान् का अन्तर समाप्त हो जाता है और इसके साथ-साथ धार्मिक उपासना की भी समाप्ति हो जाती है। परन्तु यदि भक्त-भगवान् का अन्तर रह जाता है तो भक्त एक क्षण के लिये भी सभी आदर्शों को वास्तविक नहीं कर पाता है। अत., ब्रैडले के अनुसार परम सत्ता विश्व मे अन्तर्व्याप्त होकर नित्य नूतन अनुभूतियो को क्रमशः परिपूर्ण करती रहती है, परन्तु हम आशिक एव पारस्परिक विरोधी अनुभूतियो के घेरे से कभी बाहर नही निकल पाते हैं। मानव आभास के तल ही पर रह जाता है, परन्तु आभास को आभास समझने से सिद्ध हो जाता है कि अन्तिम सत्ता ऐसी है जहाँ सभी आभास अपनी सीमा को अतिक्रमित करके सर्वग्राही संगत संगीत मे संरक्षित हो जाते है। बोसंकेट ने उसे दूसरे प्रकार से कहा है।

जिसे ब्रैडले ने सर्वग्राही आत्मसगन अनुभूति कहा है उसे बोसंकेट ने बताया है कि परम सत्ता सम्पूर्णत्व की अनुप्रेरणा है जो विश्व की सभी सीमित वस्तुओ मे पायी जाती है जिसके कारण प्रत्येक वस्तु अपनी सीमितपन से असतुष्ट होकर सम्पूर्णत्व के प्रति अथवा सम्पूर्णत्व बनने के प्रति प्रयत्नशील रहती है। यही कारण है कि जड मे ही जड सीमित नही रह पाता है। वह विस्तृत एवं व्यापक बनने के लिये अनुप्रेरित होता है और यही कारण है कि जड से जीव का उद्विकास होता है और जीव भी जिस दिशा मे रहता है सम्पूर्णत्व-प्रवृत्ति से ओत-प्रोत होकर वह भी चेतनमय प्राणी का रूप धारण करता है। परन्तु सम्पूर्णत्व की भावना विशेष रूप से मानव मे उद्बोधित होती है और मानव सम्पूर्णत्व-भावना से अनुप्रेरित होकर आदर्शों की स्थापना और फिर उनका क्रमशः विकास करता है। क्या आदर्शपूर्ण व्यष्टि उन्मज्जित होकर स्थायी रहेगा? नही। व्यष्टि मे कुछ आदर्श का केवल सीमित अश ही विकसित रह सकता है। निरपेक्ष सत्ता मे अनेक आदर्शों की अपूर्व शक्यतायें साकार होने के लिये आतुर रहती है। अत, वैज्ञानिक, पडित, धर्म-नायक, अजेय विजेता इत्यादि सभी सम्पूर्णत्व-भावना से अनुप्रेरित होकर निरपेक्ष सत्ता मे निहित शक्यताओं की अभिव्यक्ति करते हैं और आनेवाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा के विषय होते हैं। अतः, अन्त मे देखा जाय तो सम्पूर्ण विश्व मे परम सत्ता अन्तर्वर्ती रूप धारण कर विश्व की प्रगति और उसका विकास करती रहती है।

उन्मज्जनमूलक विकासवादी में शामुएल अलेक्जैण्डर का नाम अग्रगण्य है। इसके अनुसार, सभी उन्मज्जित गुण, उदारहणार्थ, जड-जीव, चेतना, आदर्श और आराध्य देवता भी अन्तिम रूप से आकस्मिक हैं। इनका आधारभूत दैशिक काल अथवा कालिक देश ही एकमात्र सत्य है। परन्तु अलेक्जैण्डर भी मानते हैं कि दैशिक काल मे अन्तर्निहित अनुप्रेरणशक्ति है जिसके कारण उद्विकास का होना अवश्यम्भावी है। मानव भी उद्विकास की भावना से उत्प्रेरित रहता है और इसी भाव से अतिरंजित हो जाने पर सर्वोच्च उन्मज्जित सृष्टि से भी उच्चतर सत्ता की वह उपासना करता रहता है। परन्तु आराध्य देवता अर्थात् भावी उच्चतर सत्ता भविष्य के गर्भ में रहता है, वह वास्तविक सत्ता नही है। तोभी मानव इस भावी आराध्य देवता से उत्प्रेरित हुए बिना नही रह सकता है।

स्पिनोजावाद : परन्तु गतिक सर्वेश्वरवाद का प्रभाव नीत्शेमार्क्स के माध्यम से समाज-क्रान्ति के विकास के रूप में विशेष पाया जाता है। शुद्ध धर्म की दृष्टि से अद्वैत दर्शन तथा स्पिनोजावाद को ही सर्वेश्वरवाद का विशेष रूप माना जाना है। स्पिनोजा ने परम सत्ता को एक द्रव्य कहा है और फिर इसे 'ईश्वर' संज्ञा भी दी है। इनके अनुसार द्रव्य, ईश्वर और प्रकृति सब एक ही है। चूंकि सम्पूर्ण विश्व मे अन्तर्व्याप्त सत्ता एक ही है इसलिये स्पिनोजा के लिये प्रकृति और ईश्वर को एक ही मानना तर्कसंगत मालूम देता है। परन्तु क्या कोई प्रकृति की पूजा कर सकता है? यदि नहीं, तो प्रकृति को 'ईश्वर' संज्ञा देकर स्पिनोजा क्यो उसके प्रति प्रेमोन्मत्त हो गये? सर्वप्रथम, 'ईश्वर' नाम में ही जादू है जो कृष्ण-बांसुरी सुनता है वह अवश्य ही उस सुर अथवा नाम से अभिभूत हो जायगा। क्यो? यह सस्कार से उत्पन्न होता है। स्पिनोजा यहूदी थे और ईश्वर के प्रति उन्हे अगाध अनुराग की कथा बतायी गयी थी। यही कारण है कि अपने ईश्वर की व्यक्तिपूर्णता को अस्वीकार करने पर भी आप शैशव सस्कार से अपने को वंचित नही रख पाये। परन्तु इसके अतिरिक्त प्रकृति में अन्तर्व्याप्त प्राणशक्ति के अनुभव करने पर वास्तव में धार्मिक अनुभूति का लाभ होने लगा। विश्वव्यापी शक्ति के साथ आत्मसात् करने पर व्यक्ति के अन्दर स्वार्थभाव का लोप हो जायगा और मनोवैज्ञानिक रूप से उसको अपना कोई भाव-संवेग नही मालूम देगा। स्पिनोजा के अनुसार मानव को चाहिये कि वह अपने भाव को नित्यता एव

सर्वव्यापकता की दृष्टि से देखे (सब स्पिसी इटर्नीटैटिस) । तब उसका अपना दुःख विश्व का दुःख होगा, उसकी जीत विश्व की जीत होगी । स्वयं न तो वह किसी प्राप्ति से आनन्दित रहेगा और न किसी दुःख से दुःखी होगा । वह 'हर्ष-विषाद बिखेरे' होकर उपेक्षाभाव को प्राप्त करेगा । इसे आत्म-समर्पण-भाव कहा गया है जो तटस्थता एवं उपेक्षाभाव है । इसी को 'न किंचित् करोमि अहं' का भी भाव कहा गया है जो 'निष्काम कर्म' से उत्पन्न होता है । इस भाव को धार्मिक भाव की पराकाष्ठा स्वीकार किया गया है । अहंमन्यता के लोप हो जाने पर, उपेक्षा भाव के हो जाने पर त्याग-भाव आ जाता है । इसे स्पिनोजा ने 'ईश्वरीय प्रेम' संज्ञा दी है । यह वह प्रेम है जो न 'मेरा' है और न 'तेरा' । यह किसी भी व्यक्ति विशेष का न प्रेम है और न उसका कोई पात्र है । किन्तु यदि ईश्वरोन्मत्त व्यक्ति का व्यष्टित्व ही नही रहता है तो उसका निजी भाव कहाँ से आयेगा ? यह है बौद्धो की अपरिमित करुणा । यदि व्यक्ति इस प्रेम से उन्मत्त होकर जीवन की सभी विडम्बनाओ में एकरस रह सके, तो क्या इस अडिग स्थिरता को जीवन का चरम उद्देश्य नही माना जायगा ? यदि ईसाइयो को धार्मिक अनुभूति होती हैं तो क्या स्पिनोजा की अनुभूति कुछ कम साधना की थी ? यही कारण है कि यदि ईसाइयों की धार्मिक अनुभूति ईश्वर से उद्भूत बतायी जाती है तो स्पिनोजा की धार्मिक अनुभूति भी "प्रकृति" से उद्भूत है जिसे उसने "ईश्वर" की संज्ञा दी है । यदि प्रकृति यान्त्रिक हो, जैसा स्पिनोजा के पूर्ववर्त्ती देकार्त ने बताया था, तो इस यान्त्रिकता तथा सर्वव्यापकता की दृष्टि से उपेक्षा-भाव को प्राप्त करना क्या 'ईश्वर-प्राप्ति' नही माना जायगा ? यही कारण है कि स्पिनोजावाद को धार्मिक सर्वेश्वरवाद कहा जाता है । यही बात अद्वैत वेदान्त एवं उपनिषदों मे पायी जाती है । अतः, सर्वेश्वरवाद रहस्यवादी भावो से पूर्ण रहने पर शुद्ध धर्म का रूप धारण कर लेता है । तो क्यों ईश्वरवादी इसे नहीं स्वीकार करते ? इसके निम्नलिखित कारण हैं ।

सर्वेश्वरवाद के प्रति आपत्तियाँ:—(१) सर्वप्रथम, ईश्वरवादी समझते हैं कि उपासना ही एक शुद्ध धार्मिक विधि है । यह उपासना तभी संभव हो सकती है जब भक्त और भगवान के बीच अन्तर रहे, अर्थात् ईश्वर भक्त से दूर हो, अतीत हो और भिन्न हो । परन्तु सर्वेश्वरवाद मे परम सत्ता को अन्तर्वर्ती सत्ता माना जाता है और इस प्रकार से ईश्वर भक्त मे ही अन्तर्व्याप्त

रहता है। तो किस प्रकार से भक्त भगवान् की पूजा करे, कैसे उससे भिन्न हो? यदि ईश्वर भक्त के नस-नस मे हो, उसके सभी विचारो और भावों में हो तो यहाँ भक्ति-विचार भी कैसे भक्त का कहा जायगा? अतः,सर्वेश्वरवाद में उपासना का कोई स्थान नही बताया जाता है।

फिर शुद्ध सर्वेश्वरवाद प्राय: निर्वैयक्तिक होता है। परन्तु यदि परम सत्ता निर्वैयक्तिक हो तो ऐसी सत्ता के समक्ष प्रार्थना, आराधना अथवा उपासना का कोई अर्थ नही होता है क्योकि व्यक्तित्वहीनता के रहने से सुनने, समझने, भाव इत्यादि गुणो का अभाव रहता है। इसलिये सर्वेश्वरवाद मे उपासना का स्थान नही होता है और ईश्वरवादियो के लिये जहाँ उपासना का स्थान न हो वहाँ धर्म की संरक्षा नही हो सकती है।

(२) किन्तु यदि सर्वेश्वरवाद वैयक्तिक हो जाय, जैसा कुछ सूफी और ईसाई रहस्यवादियो ने माना है, तो इसमे ईश्वर-निन्दा चली आती है। ईश्वर-वादी सर्वेश्वरवाद के अनुसार भक्त कुछ ही क्षण के लिये ईश्वर के साथ आत्म-सात् कर लेता है। ऐसी अवस्था मे भक्त भगवान् बन जाता है। परन्तु ईश्वर-वादी ईश्वर को इतना महान, पवित्र और सर्वोच्च समझते है कि उनके अनुसार कोई भी सीमित मर्त्यलोकी अपने को ईश्वर के बराबर कल्पना भी नही कर सकता है। परन्तु, चू कि स्वानुभूति की पराकाष्ठा मे भक्त अपने को भगवान-तुल्य समझने लगता है, इसलिये ईश्वरवादी इसे ईश्वर-निन्दा-दोष कहते है।

३ ईश्वरवादियो के अनुसार कम से कम निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद मे न तो धर्म का कोई स्थान हो सकता है और न नीति का ही। चू कि निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद मे परम सत्ता विश्व की अन्तर्व्याप्त शक्ति होती है, इसलिये कोई भी परिवर्तन या घटना बिना इस शक्ति द्वारा संचालित नही हो सकती है। इसलिये सभी सक्रियाये, यहाँ तक कि मानव की इच्छात्मक प्रक्रिया भी नियति-वाद से सम्पूर्णतया नियंत्रित रहती है। परन्तु यदि सक्रिया पूर्णतया नियंत्रित हो तो यहाँ इच्छा-स्वातंत्र्य का स्थान नही रह पायेगा और बिना इच्छा-स्वातंत्र्य के किसी भी मानव संक्रिया को अच्छा-बुरा नही कहा जा सकता है। इस प्रकार बिना अच्छे-बुरे के मानक के नीति का कोई स्थान नही है।

दूसरे शब्दों में यदि सभी घटनायें तथा मानव सक्रियायें ईश्वर से ही संचा-लित हों तो वही अन्तर्व्याप्त ईश्वर विश्व की सभी संक्रियाओं के लिये उत्तरदायी हो जाता है। इस विश्व में बुरी घटनायें भी होती हैं जिसका कर्त्ता परम सत्ता

को ही मानना पड़ेगा। अतः, सर्वेश्वरवाद मे परम सत्ता को नीति-निरपेक्ष कहा जाता है।

पुनः, निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद में परम सत्ता को व्यक्तित्वहीन कहा जाता है और जहाँ संकल्प, विचार-विमर्श, चेतना इत्यादि का अभाव हो वहाँ शुभ-अशुभ तथा अच्छे-बुरे का स्थान नही रह जाता।

सर्वेश्वरवादी का प्रत्युत्तर—सर्वेश्वरवाद प्रधानतः निर्वैयक्तिक परम सत्ता को मानता है और जो विश्व की अन्तर्व्याप्त सर्जनात्मक शक्ति होती है। यही कारण है कि अन्तर्व्याप्ति रहने के कारण सर्जनात्मक शक्ति को अतीत नही कहा जा सकता और बिना आराध्य सत्ता को अतीत माने हुए उपासना की सभावना नही है। पर क्या उपासना ही एक विधि है जिसके द्वारा धार्मिक अनुभूति प्राप्त की जा सकती है? यह ईश्वरवादियो की भूल है कि वे उपासना को एकमात्र धर्म-विधि मानते है। उपासना के समतुल्य योग, समाधि तथा ध्यान की विधि है जिनके द्वारा धार्मिक अनुभूति प्राप्त की जाती है। जैन, बौद्ध, अद्वैत वेदान्त, स्पिनोजावाद तथा सूफी मत मे भी ध्यान को धार्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिये आवश्यक माना गया है। इसलिये उपासना के स्थान पर निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद मे ध्यान, समाधि एवं योग को काम मे लाया जाता है ओर इन विधियो के आधार पर अमर शांति, उपेक्षा-भाव तथा आत्म-समर्पण की प्राप्ति सभव होती है। अतः, उपासना के अभाव मे सर्वेश्वरवाद को अधर्म नही मानना चाहिये।

फिर यह ठीक है कि सर्वेश्वरवाद की परम सत्ता प्रायः निर्वैयक्तिक होती है। सभव है कि निर्वैयक्तिक सत्ता के प्रति अधिकाश व्यक्ति अनुक्रियाशील न हो, परन्तु इस प्रकार की सत्ता के स्वीकार करने मे ईश्वरवाद के व्यक्तित्वपूर्ण साकारी ईश्वर को मानने की अपेक्षा कम कठिनाइयाँ दिखती हैं। पहली बात है कि व्यक्तित्वपूर्णता के साथ सीमितपन का होना अनिवार्य मालूम देता है और सीमित सत्ता शायद ही तर्कसंगत रीति से उपास्य हो। दूसरी बात है कि समकालीन अनुभववादी युग मे ईश्वर का प्रतीक लोगों को आकर्षक नही मालूम दे रहा है और मनोवैज्ञानिक स्तर पर ऐसे व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के प्रति उदासीनता तथा अनास्था होती जा रही है। फिर दार्शनिक विश्लेषणवादी इस प्रकार के ईश्वर-प्रत्यय को आत्मविरोधी भी सिद्ध कर रहे हैं। अतः परम सत्ता को निर्वैयक्तिक मानना कम-से-कम परम सत्ता को व्यक्तित्वपूर्ण स्वीकारने की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत मालूम देता है।

ईश्वरवादी भूल जाते हैं कि धार्मिक अनुभूति भाव-प्रधान होती है, न कि ज्ञान-प्रधान। धार्मिक जीवन का मुख्य उद्देश्य है कि सभी स्थितियों में व्यक्ति समरस रह सके और पूर्ण शांति प्राप्त कर वह अपने जीवन में स्थिरता को प्राप्त करे। इस दृष्टि से सर्वेश्वरवादी निर्वैयक्तिक सत्ता से तादात्म्यीकरण करके सुख-दुःख से परे उपेक्षा-भाव को प्राप्त करता है। कम-से-कम इसकी सभावना जैन, बौद्ध तथा वेदान्ती धार्मिकों में देखी जाती है। जहाँ वैयक्तिक ईश्वर को स्वीकार ही नहीं किया जाता है वहाँ ईश्वर-निन्दा का प्रश्न ही नहीं उठता है। तब ईश्वरवादी सर्वेश्वरवाद में भक्त को भान होता है कि वह और उसका आराध्य ईश्वर एक है। परन्तु यह विषयीगत अनुभूति है और इसे तात्त्विक कथन नहीं मानना चाहिये। कम-से-कम भारतीय धर्मदर्शन में बताया गया है कि भक्त कितना ही अधिक ईश्वर के साथ आत्मसात् क्यों न करे तोभी वह ईश्वर के सृष्टिकर्त्तृत्व को नहीं प्राप्त कर सकता है। बूँद के तुल्य भक्त समुद्र में विलीन हो सकता है, पर वह एक बूँद स्वयं समुद्र नहीं बन सकता है। अतः ईश्वर-निन्दा की आपत्ति पूर्णतया निराधार नहीं है, परन्तु इस आपत्ति में विशेष बल भी नहीं है। भक्त प्रेम-विह्वल होकर भाव का प्रदर्शन करता है। उसके कथन को दृढ विश्वास एवं आत्मनिष्ठ अनुभूति का परिचायक मानना चाहिये, न कि उस आत्मसात्करण के कथन को संज्ञानात्मक समझना चाहिये।

सर्वेश्वरवाद के प्रति नीति-सम्बन्धी आपत्ति बहुत-कुछ उचित है। प्रायः नीति का सम्बन्ध समाज, लोकहित, परहित, लोककल्याण इत्यादि की प्राप्ति के हेतु संकल्पात्मक व्यापार से रहता है। किन्तु सर्वेश्वरवाद में विशेषकर निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद में व्यष्टि की पूर्णता पर, समाज-विमुखता पर बल दिया जाता है, यहाँ तक कि संसार को भ्रम और माया कहा जाता है। अतः, साधारण नीति का स्थान निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद में नहीं पाया जाता है। परन्तु जिस प्रकार का सम्बन्ध उपासना और समाधि में है, उसी प्रकार का सम्बन्ध नीति और आत्मविकास के बीच है। यह ठीक है कि निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद में नीति का स्थान नहीं है, पर इसके स्थान पर आत्मविकास, आत्मपूर्णता तथा उपेक्षा-भाव को व्यवहार का सर्वोच्च आदर्श माना जाता है। अतः, सर्वेश्वरवादी जब नीति का स्वीकार ही नहीं करते हैं तो उन्हें क्यों नीति-तटस्थ तथा आचार-विरोधी कहा जाय ? परन्तु यदि व्यष्टि की पूर्णता को व्यवहार का आदर्श या

मानक माना जाय तो सर्वेश्वरवाद मे भी नीति-तुल्य विमल चरित्र तथा उपेक्षा-भाव का संदेश पाया जाता है।

यह ठीक है कि यदि परम सत्ता विश्व मे अन्तर्व्याप्त उत्प्रेरक शक्ति हो तो जो कुछ भी विश्व मे होगा उसके लिये इसी अन्तर्व्याप्त शक्ति को उत्तरदायी माना जायगा। यदि इस विश्व मे बुराई होती है तो इसके लिये भी इसी परम सत्ता को उत्तरदायी कहा जायगा। बाढ, सूखा, भूकम्प इत्यादि सभी प्राकृतिक अशुभ के लिये इसी परम सत्ता को उत्तरदायी ठहराया जायगा। इसी प्रकार मानव इच्छा से उत्पन्न नैतिक बुराई के लिए इसी सत्ता को दोषी माना जायगा। द्वेष, कृतघ्नता, हिंसा इत्यादि सभी प्रकार के पतन के लिए विश्व की अन्तर्वर्त्ती सत्ता को जिम्मेदार करार दिया जायगा। परन्तु इन सब गम्भीर आपत्तियों के रहते हुए भी सर्वेश्वरवादी निरूत्तर नही रहता है। स्पिनोजा के अनुसार जो कुछ भी विश्व में होता है वह परम द्रव्य से अनिवार्यत. निष्पन्न होता है। जिस प्रकार त्रिभुज के स्वरूप मे ही सिद्ध होता है कि इसके तीनो कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं, उसी प्रकार परम द्रव्य के स्वरूप से ही विश्व की सभी प्रक्रियायें निगमित होती हैं। अब यदि विश्व की सभी प्रक्रियायें अनिवार्य रूप से निष्पन्न होती हैं तो उनके प्रति उल्लास एव विषाद क्यो प्रगट किया जाय ? क्यों सूखे, बाढ तथा मानव की कृतघ्नता इत्यादि के प्रति रोष दिखाया जाय ? हमे सभी घटनाओ का आलिंगन करना चाहिए और प्रकृति के विधान के प्रति निश्चल आस्था प्राप्त करके अपने मे उपेक्षा-भाव प्राप्त करना चाहिए। अत:, सर्वेश्वरवादी के लिए न कुछ बुरा है और न भला, न कुछ हर्ष का विषय है और न खेद का। जब बुरा-भला है नहीं, तो क्यो इसी विचार-विडम्बना मे पडकर हम किसी कार्य को बुरा-भला समझें ?

अत:, सर्वेश्वरवाद तथा ईश्वरवाद मे मौलिक अन्तर है। उनमे उनकी मान्यता और मानक का भेद है।

सर्वेश्वरवाद और ईश्वरवाद के बीच अन्तर :

सर्वेश्वरवाद	ईश्वरवाद
१. परम सत्ता निर्वैयक्तिक तथा विश्व की अन्तर्व्याप्त सर्जनात्मक शक्ति है।	१. परम सत्ता वैयक्तिक है और यह विश्व से मुख्य रूप से अतीत है।

सर्वेश्वरवाद	ईश्वरवाद
२. ध्यान, योग, समाधि आदि के द्वारा इस विश्वव्यापी सत्ता के साथ अनन्य सम्बन्ध स्थापित कर उपेक्षाभाव को प्राप्त किया जा सकता है जो मानव जीवन का परम लक्ष्य है।	२. उपासना-द्वारा व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर से सायुज्य उत्पन्न कर अच्छे कार्य करने की उत्प्रेरणा प्राप्त कर मानव सत्सकल्पी जीव बन सकता है जो मानव जीवन का परम लक्ष्य है।
३. चूँकि विश्व की सभी घटनाओ का संचालन अन्तर्व्याप्त उत्प्रेरक शक्ति के द्वारा होता है, इसलिये सम्पूर्ण विश्व मे नियतिवाद एव अनिवार्यता पायी जाती है।	३. चूँकि नैतिक शुभ-अशुभ को स्वीकार किया जाता है, इसलिये ईश्वरवादी इच्छा-स्वातन्त्र्य को मान्यता देता है और मानव को स्वतंत्र जीव मानता है।
४. सर्वेश्वरवाद के अनुसार विश्व की सत्ता विशेष नही है। वास्तव मे एक परम सत्ता ही सत् है। इस परम सत्ता की तुलना मे विश्व को भ्रम, आभास तथा माया आदि नाम से पुकारा जा सकता है।	४. ईश्वरवाद के अनुसार सापेक्षतया विश्व सत् है और इसे सुधारना और समाजकल्याण करना मानव का पुनीत कर्त्तव्य है।

जीवन क मूल्यो का निश्चयीकरण कोरे ज्ञान तथा तर्कबुद्धि का काम नही है। यह निर्णय का विषय है। जैसा मानव निर्णय करेगा वैसा ही उसके लिये उसका मूल्य होगा। अन्त मे, मूल्य-निर्धारण व्यक्तियो की अभिवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। अतः, सर्वेश्वरवादी की अभिवृत्ति आत्मविकास एव उपेक्षा-भाव की प्राप्ति मे सक्रिय होती है और ईश्वरवादी की अभिवृत्ति समाज-कल्याण के प्रति अनुक्रियाशील होती है। दोनो ही मार्गों के द्वारा व्यक्ति अपने जीवन का पाठ प्राप्त कर सकता है और अपनी वृत्तियों को ध्यान मे रखकर किसी एक को अपनाकर अपने जीवन को सच्चा एवं प्रामाणिक सिद्ध कर सकता है। आगे चलकर हम देखेगे कि ईश्वरवाद को संज्ञानात्मक मान लेने पर इसमे अनेक आपत्तियो का सामना करना पड़ता है। इसकी विशेषता इसी मे है कि वर्त्तमान युग मे समाज-सुधार, लोकसंग्रह, मानव-कल्याण को अधिकांश जातियाँ सही समझ रही है और ईश्वरवाद इसे मान्यता देकर सब

दोषों के रहते हुए भी जीवित सिद्धान्त और धर्मदर्शन है। यहाँ सर्वेश्वरवाद की सब से बडी कमी है कि इसमें समाज-सुधार का संगत संदेश सभव नही हो सकता है। परन्तु यदि उपेक्षा-भाव को जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया जाय और आत्मपूर्णता के संदेश को सही माना जाय तो सर्वेश्वरवाद आज भी मानव जीवन की उत्प्रेरण करने मे सहायक प्रीतत होगा। खेद यही है कि आज के युग में न तो कोई महावीर बनना चाहता है और न बुद्ध भगवान् ही। वर्तमान युग के संदर्भ मे सासारिकता को इतना अधिक मान्य समझा जाता है कि आत्मपूर्णता का लक्ष्य ही ओझल हो गया है। परन्तु वर्तमानयुगी दृष्टि से तो ईश्वरवाद भी आज क्षीण हो गया है। इस बात को हम ईश्वरवाद के सर्वोच्च एवं लोकप्रिय रूप को, अर्थात् एकेश्वरवाद की व्याख्या करके स्पष्ट करेंगे।

एकेश्वरवाद (थीइज्म)

ईश्वरवाद के तीन रूप देखने मे आते है, एकेश्वरवाद, द्वैतवाद और अनेकेश्वरवाद। पुरुष-प्रकृति, अहूरमज्दा-अहरिमन, खुदा-इब्लीश इत्यादि का द्वैतवाद बहुत पुराना है और इनमे से द्वैतवाद के कुछ रूप आज भी धर्मदर्शन और व्यवहार मे आते हैं। अनेकेश्वरवाद भी व्यावहारिक रूप मे यत्र-तत्र विद्यमान है। परन्तु उपास्यता के दृष्टिकोण से एकेश्वरवाद ही ईश्वरवाद का प्रमुख और सगत रूप है।

ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर ही पूजा, उपासना आदि का मुख्य विषय है, पर इसमे यह बात नहीं बतायी गयी है कि उस ईश्वर का क्या स्वरूप है जो उपासना का विषय है। क्या ईश्वर एक है या अनेक . सीमित है या अपरिमित, साकार है या निराकार ? इन प्रश्नो पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगा कि बिना ईश्वर के स्वरूप को निश्चित किये हुए ईश्वरवाद का रूप भी निरूपित नही किया जा सकता है। परन्तु यदि हम उपास्यता के स्वरूप का विश्लेषण करें, तो इस उपास्यता के अनुरूप एकेश्वरवाद ही संगत ठहरेगा। प्राय: लोग ईश्वरवाद और एकेश्वरवाद के बीच भेद नहीं करते हैं। अतः, इसे स्पष्ट करना आवश्यक है।

ईश्वरवाद (थीइज्म)	एकेश्वरवाद (मोनोथीइज्म)
१. ईश्वरवाद के अनुसार एक ही ईश्वर है जिसे सभी पूजते हैं। पर	१ एकेश्वरवाद के अनुसार केवल एक ही ईश्वर है जिसकी सही

ईश्वरवाद (थीइज्म)	एकेश्वरवाद (मोनोथीइज्म)
इसके अनुसार यह आवश्यक नही है कि अन्य देवी-देवताओं की पूजा न की जाय। इसके अनुसार अन्य देवी-देवताओ की पूजा से कम धर्मलाभ होगा। सम्पूर्ण लाभ के लिये आवश्यक है कि एक ईश्वर की पूजा की जाय जो अन्य देवताओ की तुलना मे महा-प्रभु, परमेश्वर अथवा महादेव कहा सके। यहूदियो के आरंभिक धर्मदर्शन मे याहवे को देवताओं का देवता माना जाता था, न कि एकमात्र सत्य ईश्वर। परन्तु भारतीय धर्मदर्शन मे यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वैदिक काल मे किसी एक देवता को उनकी उपासना के अवसर पर उसे एकमात्र अधिष्ठाता तथा ईश्वर कहा जाता था। और, इसी प्रकार दूसरे देवता की उपासना के समय उस देवता को भी एकमात्र ईश्वर कहा जाता था। इस अवस्था को, जिसमे बारी-बारी से प्रत्येक मुख्य देवता एक-ईश्वर कहे जायं, हेनोथीइज्म (विकल्पे-श्वरवाद) की संज्ञा दी गयी है। फिर वेदो के अतिरिक्त भगवद्गीता मे भी श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ ईश्वर माना गया है, परन्तु यहाँ भी अन्य देवी-देवताओं की पूजा को निषिद्ध नहीं किया गया है। "क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं (श्रीकृष्ण भगवान्)	उपासना हो सकती है। इस एक ईश्वर की तुलना मे अन्य सभी देवी-देवता मिथ्या अथवा झूठे हैं। यहाँ न केवल एक ईश्वर को सत्य ही माना जाता है, अपितु अन्य सभी देवी-देवताओ को नकारा भी जाता है। अतः, अन्य देवी-देवताओं की पूजा को मूर्ति-पूजा की संज्ञा दी जाती है।

ईश्वरवाद (थीइज्म)	एकेश्वरवाद (मनोथीइज्म)
ही हूँ, परन्तु वे (अनेक उपासक) मेरे इस अधियज्ञ-स्वरूप को तात्विक रूप से नही जानते है" (श्रीमद्भगवद्-गीता ९:२३)	
२. चूंकि अन्य देवी-देवताओ की पूजा को निन्दित नही कहा गया है, इसलिये सीमित देवी-देवताओ की पूजा को ईश्वर-पूजा का साधन माना गया है। इसमे धार्मिक सहिष्णुता तथा सहास्तित्व का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है और इसका पालन भी किया गया है।	२. चूंकि अन्य देवी-देवताओं की पूजा मूर्त्तिपूजा कही गयी है, इसलिये इसमें अन्य देवी-देवताओ की पूजा के प्रति असहिष्णुता-भाव देखने में आता है। कम से कम यह बात यहूदी धर्म, ईसाई मत और इस्लाम मे देखी जाती है।
३. ईश्वर-संबंधी कथनों को कल्याणकारी या अकल्याणकारी कहा गया है, न कि सत्य-मिथ्या। अतः, इनके अनुसार ईश्वर संबंधी कथन अभिवृत्तिमूलक होते हैं और इन्हे असंज्ञानात्मक ही कहा जा सकता है।	३. चूंकि इसमे किसी एक ईश्वर को सत्य और अन्य देवी-देवताओं को असत्य कहा गया है, इसलिये अधिकांश ईसाई धर्मदार्शनिक समझते हैं कि ईश्वर-संबंधी कथन संज्ञानात्मक हैं और इन्हें सत्यापित-मिथ्यापित किया जा सकता है।

एकेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर मानव की उपासना का विषय है और सच्ची उपासना वह है जिसमे भक्त अपना सर्वस्व ईश्वर पर बलि कर देता है; वह ईश्वर की तुलना मे अपने को भगवान् की चरण-रज भी मानने को तैयार नही होता है। सम्पूर्ण आत्मसमर्पण उपासना का शुद्ध रूप है। पर क्या भक्त अपना सर्वस्व अर्पण और अपना सम्पूर्ण समर्पण किसी सीमित देवता के प्रति कर सकता है? यदि सर्वस्व लुटाना हो तो क्यों वह किसी सीमित देवता पर अपने को अर्पित करेगा? गंग छाड़हि प्रभु कौन कूप नहावै? सीमित शक्ति भक्त को सर्वथा स्थिर करने में समर्थ नही हो सकती है। सीमित शक्ति से तात्पर्य उस शक्ति से जो आज है और बाद मे नहीं भी हो सकती है, अर्थात् जो

आकस्मिक एवं आपोतिक है। इसकी तुलना में अपरिमित ईश्वर वह है जिसके नहीं होने की संभावना कल्पित भी नहीं की जा सकती है। वह सर्वशक्तिमान दयालु और प्रेमी है और इन गुणों से वह अनिवार्यतः आज, कल और सर्वदा विभूषित रहेगा। दूसरे शब्दों में, उपास्य ईश्वर उपासना के सही पात्र के अर्थ मे अनिवार्यतः वास्तविक सत्ता के नाम से पुकारा जा सकता है। अतः, एकेश्वरवाद के संदर्भ में ईश्वर को अनिवार्य सत्ता माना जाता है और इस रूप मे ईश्वर धर्मदर्शन का प्रमुख प्रत्यय माना गया है। परन्तु एकेश्वरवाद के अन्य पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है और उनका भी उल्लेख पहले ही कर दिया गया है, अर्थात् वही ईश्वर उपास्य हो सकता है जिसमे व्यक्तित्वपूर्णता हो, जो मानव के समान सुन सकता है और क्रन्दन को सुन उसका सही समाधान कर सकता है, जिसमे नैतिक तथा अन्य उच्च आदर्शों को स्थापित एवं संवर्द्धित करने की शक्ति है और जिसे सही अर्थ मे सृष्टिकर्त्ता एव पालक माना जा सकता है। फिर चूकि ईश्वर अपरिमित सत्ता है, इसलिये उसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और शुभ माना गया है।

अभी तक एकेश्वरवाद के उन लक्षणो का उल्लेख किया गया है जो धर्म-दर्शन के लिये प्रमुख माने गये है और जिनकी व्याख्या इस पुस्तक मे विस्तार-पूर्वक की जायगी। परन्तु हमें भूल नही जाना चाहिये कि एकेश्वरवाद जीवन के व्यवहार से निकला है और इसलिये इसमे कई ऐसी बातें स्वीकार की गयी है जो उपासक की दृष्टि से आवश्यक मालूम देती हैं। उदाहरणार्थ, ईश्वर को विश्व से अतीत और फिर उसे विश्वव्यापी भी माना गया है। अब यदि ईश्वर अन्तर्व्याप्त हो तो वह विश्व से परे और अतीत नही हो सकता है, क्योंकि अन्तर्व्याप्ति का तात्पर्य ही है कि वह सम्पूर्ण विश्व मे ही निहित रहे और इससे बाहर न रह पाये। अन्तर्व्याप्ति से सर्वगतता अथवा सर्वविद्यमत्ता का अर्थ नहीं है। यद्यपि वरुण देवता को सर्वगत एव पाशो के रहने से सर्वविद्यमान माना जा सकता है, परन्तु विश्वव्यापी नहीं कहा जा सकता है। एकेश्वरवादी उपासना-दृष्टि से ईश्वर को अतीत और फिर ईश्वर के सन्निकट पहुँचने और सायुज्य के कारण उसे अन्तर्व्याप्त भी मानते हैं। फिर चूंकि ईश्वर अतीत है, इसलिये ईश्वर द्वारा आत्मप्रकाशना और श्रुति को भी मान्यता देते हैं। ईश्वर अपने को सृष्टि मे प्रकट अवश्य करता है, परन्तु एकेश्वरवादी यहूदी और मुसलमान मानते हैं कि ईश्वर ने ईशदूतों के द्वारा विशेष रूप से मानव के

लिये ईश्वरीय लक्ष्य को प्रकट किया है। ईसाई मानते हैं कि केवल ईशदूतों हा के द्वारा, परन्तु अनूठे और अद्वितीय रीति से ईश्वर ने अपने को ईसा मसीह के रूप में प्रकट किया है। अतः, जिसने ईसा को देखा-सुना-समझा है, उसने ईश्वर को भी देखा-सुना है। पुनः, एकेश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर ने श्रुति में अपने रहस्य को मानव के लिये स्पष्ट किया है। यहूदियों के लिये पुराना नियम, ईसाई के लिये बाइबिल और मुसलमान के लिये अलकुरान श्रुतिग्रंथ हैं।

एकेश्वरवाद वास्तव मे धार्मिक अनुभूति से निकला है। व्यक्ति इस जीवन में अपने को त्रस्त पाता है, उसे अनेक समस्यायें घेरे रहती हैं और जब ऐसी आत्मग्लानि और अशांति की अवस्था मे वह ईश्वर से प्रार्थना करता है तब वह पाता है कि उसकी समस्यायें विचित्र रीति से हल होती जाती हैं और जब वे नहीं भी हल हो पाती हैं और ऊपर से देखने मे आपदायें बनी रहती है तोभी उसे दु:ख झेलने की शक्ति मिल जाती है, जीवन की आंधी रहने के बावजूद उसके मन मे शांति आने लगती है और उसे जीवन में स्थिरता का बोध होता है। अपनी इस अनुभूति को वह अन्य ईश्वरवादी के समक्ष रखता है। वह भी उसकी अनुभूति की पुष्टि करता है और धर्म के इतिहास को साक्षी रखकर बताता है कि ईश्वर अपने भक्तों की बातो को सुनता है और जीवन मे उन्हे स्थिरता एव शांति प्रदान करता है तथा जीवन की समस्याओ का सामना करने के लिये उसे बल प्रदान करता है, इत्यादि। क्या ये सब अनुभूतियाँ, इतिहास की असख्य गवाहियाँ झूठी है ? यदि नही, तो ईश्वर भी अवश्य ही वास्तविक सत्ता है।

संश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक कथनो का स्पष्टीकरण : हम देखेंगे कि एकेश्वरवाद धार्मिक अनुभूति पर अवश्य ही अवस्थित है, किन्तु न तो धार्मिक अनुभूति इतनी पुनरावृत्त्य है और न इतनी सार्वजनिक है कि इसके आधार पर निश्चित निष्कर्ष स्थापित किया जा सकता है। फिर ईश्वर-प्रत्यय भी स्पष्ट एव परिस्पष्ट नही है। यही कारण है कि एकेश्वरवाद लोकप्रिय रहने पर भी दार्शनिक स्तर पर ठोस नहीं कहा जा सकता है।

एकेश्वरवाद की सबसे बड़ी कठिनाई इसकी भाषा के संबंध मे है। प्रायः ईश्वरवादी समझते हैं कि ईश्वर बिहार के मुख्य मन्त्री के समान कहीं वास करता है जिसके सम्मुख हम प्रार्थना के रूप मे अपना आवेदन प्रस्तुत करते हैं। चूंकि भक्त को अपनी प्रार्थना का प्रत्युत्तर मिल जाता है, इसलिये वह अपनो

धारणा में दृढ़ हो जाता है। वह ईश्वर के संबंध में संज्ञानात्मक कथनो का प्रयुक्त करता है। संज्ञानात्मक कथन वे हैं जो हम किसी इन्द्रिय-प्रदत्त, वस्तु या शब्द-अर्थ के संबंध में सूचना देते हैं और यह सूचना या तो सत्य होती है, या असत्य। इन्हे संश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक दो वर्गों मे बाँटा गया है। सश्लेषात्मक कथन वे हैं जो तथ्यों के संबंध में वर्णनात्मक होते हैं। इनके विधेय को उद्देश्यपद के संबंध मे कल्पना द्वारा निषिद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यह गुलाब लाल है। यह ठीक है कि हम अपनी आँखों से देख रहे हैं कि यह अमुक प्रस्तुत गुलाब लाल रंग का है और इसकी परीक्षा बार-बार अनेक निरीक्षकों द्वारा की जा सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से इस कथन को सत्य माना जायगा, किन्तु इसे अनिवार्य नही पुकारा जायगा। क्यो ? अनिवार्य वह है जिसकी सत्यता को हम अन्य प्रकार से कल्पित भी नही कर सकते हैं। परन्तु आँख मूँदकर इस अमुक प्रस्तुत गुलाब के संबंध मे हम कल्पना कर सकते हैं कि यह लाल न होकर सफेद हो या पीला हो। इसलिये सश्लेषात्मक कथन प्रायिक ही हो सकते है· उन्हें हम अनिवार्य नही मान सकते हैं। सश्लेषात्मक कथन के विपरीत विश्लेषात्मक कथन वे है जिनमे शब्द अपने परिभाषित अर्थ मे संगत रीति से व्यवहृत होते हैं। यहाँ हम विधेयपद को अपनी कल्पना मे भी निषेध नही कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'लाल गुलाब लाल है'। यदि हम 'लाल' और 'गुलाब' पदो का अर्थ सही-सही समझते हैं तो हमें स्वीकारना ही पड़ेगा कि "लाल गुलाब' लाल है," या "लाल गुलाब गुलाब है," या "लाल गुलाब फूल है," इत्यादि। अत: 'लाल' 'लाल गुलाब' के संबध में अवश्यमेव रूप से प्रयुक्त हो सकता है। इस 'अवश्यमेव' के लिये 'अनिवार्य' शब्द काम मे लाया जाता है। यद्यपि 'लाल गुलाब लाल है' अनिवार्यत: सत्य कहा जायगा, तोभी इसकी सत्यता प्रयुक्त पदों के विश्लेषण पर निर्भर करती है। इसकी सत्यता को स्थापित करने के लिये अनुभूति की मदद नही ली जाती है। 'लाल गुलाब' की लाली की जाँच करने के लिये हमे उसे देखने की आवश्यकता नही होती है। इसकी सत्यता प्रयुक्त पदों के विश्लेषण-मात्र से स्पष्ट की जाती है। इसलिये इस प्रकार के कथन को विश्लेषात्मक कहते हैं। अत:, विश्लेषात्मक कथन की सत्यता तो अनिवार्य है, परन्तु इसकी सत्यता की परीक्षा अनुभव द्वारा अनावश्यक है और बिना अनुभव के वास्तविक जगत् का ज्ञान संभव नही है, इसलिये विश्लेषात्मक कथनों को वास्तविकता-निरपेक्ष कहते हैं। इनकी तुलना में संश्लेषात्मक कथनों को वास्तविक अथवा तथ्यात्मक कहते

हैं, क्योंकि इनकी सत्यता अनुभव द्वारा सिद्ध-असिद्ध की जाती है। उदाहरणार्थ, वास्तव में 'यह गुलाब लाल है या नहीं' इसकी सत्यता केवल सार्वजनिक, पुनरावृत्य ऐन्द्रिक अनुभूति ही के द्वारा निर्णीत हो सकती है। जो भी विधेय इस अमुक प्रस्तुत गुलाब के साथ जोड़ा जायगा उसे केवल अनुभव से ही प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि अनुभव से इस गुलाब के साथ 'लाल' को जोडा जा सकता है, इसलिये इस प्रकार के कथन को संश्लेषात्मक कहते हैं और ये अनुभवाश्रित भी कहे जा सकते हैं।

प्रायः गणित के कथनो को भी विश्लेषात्मक कहा जाता है। उदाहरणार्थ, "२ और २ का योगफल ४ होता है।" यदि हम '२', 'और' 'योगफल' और '४' के अर्थों को समझते हैं तो हमे कहना ही पड़ेगा कि "२ और २ का योग-फल अवश्यमेव ४ होगा। इसी प्रकार सभी ज्यामितिक साध्य विश्लेषात्मक कथनो से विरचित होते हैं। यदि हम "त्रिभुज," "कोण", "समकोण", "समानान्तर रेखा" इत्यादि की परिभाषाओ को समझते है तो हमे कहना ही पड़ेगा कि किसी भी त्रिभुज के तीनो कोण मिलकर अवश्यमेव दो समकोण के बराबर होंगे। परन्तु विश्लेषात्मक संवाक्यो को वास्तविकता-निरपेक्ष कहते हैं, क्योंकि ये अनुभूति पर आश्रित नही होते। यदि अनुभव के द्वारा हम कहते कि २ और २ मिलकर ४ होते है तो ऐसा कहने मे हमे कठिनाई हो जाती। पानी की दो बूंदे और दो बूंदे मिलकर चार न होकर एक बडी बूंद हो जाती है। उसी प्रकार यदि दो बकरियां और दो बाघ एक पिंजडे मे रख दिये जायँ तो दूसरे दिन दो ही बाघ दिखेगा। इन सब उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है कि गणितीय संवाक्य वास्तविकता-निरपेक्ष होते हैं। इसी प्रकार यदि ज्यामिति की रेखायें, बिन्दु, धरातल इत्यादि अनुभूति पर निर्भर होते तो यह सत्य नही हो सकता कि सरल रेखा वह है जिसकी लम्बाई हो, लेकिन चौड़ाई न हो। भला, किसने ऐसी रेखा देखी है जिसकी चौड़ाई न हो। अतः, ज्यामिति के विश्लेषात्मक कथन अनुभव से नहीं प्राप्त किये जाते है, उन्हे केवल परिभाषित पदो का सगत व्यवहार कहा जा सकता है।

संश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक कथनो की व्याख्या से निष्कर्ष निकलता है कि ये दो प्रकार के संवाक्य परस्पर-विरोधी हैं। यदि हमें वास्तविकता के सम्बन्ध में सही प्रकथन काम में लाना है तो हम उसे संश्लेषात्मक कथनों द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। ये कथन केवल प्रायिक हो सकते हैं और इन्हें हम कभी

'अनिवार्य संज्ञा नहीं दे सकते हैं। इसके विपरीत विश्लेषात्मक कथन अनिवार्य होते हैं, किन्तु इन्हें हम वर्णनात्मक, तथ्यात्मक अथवा यथार्थ नहीं कह सकते हैं। इनका संबन्ध वास्तविकता से कदापि नहीं होता।

चूंकि एकेश्वरवादी ईश्वर को वास्तविक समझते हैं, इसलिये इनके अनुसार ईश्वर-संबन्धी कथन संज्ञानात्मक हैं और इसलिये ईश्वर-संबन्धी कथनों को संश्लेषात्मक मानना चाहिये। परन्तु हम देखेंगे कि ईश्वरवादी ईश्वर-सबन्धी कथनों को संश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक दोनों मानते हैं, किन्तु यह आत्मविरोधी उक्ति है। इन सब की आलोचना बाद में की जायगी, परन्तु यदि ईश्वर को वास्तविक माना जाय तो उसके सबन्ध में दिया गया कथन वर्णनात्मक कहा जायगा और इस सम्बध मे प्रमाण का प्रश्न उठ सकता है। अत हमलोग ईश्वर के अस्तित्व के सबन्ध मे दी गयी युक्तियों का विवेचन करेंगे। यहाँ हम पायेंगे कि ईश्वर का अस्तित्व युक्तियो के द्वारा नहो सिद्ध हो सकता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर आनुभविक सत्ता नही है और उसके संबन्ध में दिये गये कथन भी संज्ञानात्मक नही हैं। तब ईश्वर किस प्रकार की सत्ता है और उसके संबन्ध मे किस प्रकार के कथन दिये गये हैं। अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर आयेंगे कि ईश्वर प्रतीक है और ईश्वर-संबन्धी कथन भी प्रतीकात्मक है। हम इन कथनो को दृढ़-विश्वासमूलक अथवा सप्रत्यायक कह सकते हैं। सर्वप्रथम हम ईश्वर के अस्तित्व-सबन्धी युक्तियो की व्याख्या करेंगे।

प्रश्न

१ ईश्वरवाद की व्याख्या कीजिये। क्या यह एकेश्वरवाद से भिन्न है ?

२. गीता के एकेश्वरवाद और सिमिटिक एकेश्वरवाद के बीच के अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह बतलाये कि आप किसको अधिक मान्य समझते हैं ? (सिमिटिक एकेश्वरवाद के अन्तर्गत इस्लाम, ईसाई और यहूदी धर्म आते हैं। इनमे शुद्ध मोनोथीइज्म पाया जाता है और अन्य धर्मों के प्रति इनकी असहिष्णुता भी दिखाई पड़ती है)।

३ तटस्थ-ईश्वरवाद के गुण-दोषों का विवेचन कीजिये।

४ तटस्थ-ईश्वरवाद का विज्ञान के साथ संबंध स्थापित कर इसके मुख्य लक्षणों की व्याख्या कीजिये।

५. क्या तटस्थ-ईश्वरवाद से धार्मिक तत्वो की संतुष्टि होती है ?
(यहाँ तटस्थ-ईश्वरवाद की त्रुटियो को दिखाना चाहिये और तटस्थ-ईश्वरवाद तथा अनीश्वरवाद का सबंध स्पष्ट करना चाहिये।)

६. सर्वेश्वरवाद के मुख्य लक्षणो की व्याख्या कीजिये और इसकी अन्तर्वर्त्तिता पर विशेष प्रकाश डालिये।

७. क्या सर्वेश्वरवाद मे धर्म और नीति का स्थान नहीं है ?

८. स्पिनोजावादी सर्वेश्वरवाद की व्याख्या कीजिये और इसके सारतत्व को स्पष्ट कीजिये।

९. सर्वेश्वरवाद और एकेश्वरवाद की तुलना कीजिये। आपको इन दोनो में कौन अधिक युक्तिसंगत दिखाई देता है ?

१०. गतिक सर्वेश्वरवाद की व्याख्या कीजिये। क्या इससे धार्मिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति हो सकती है ?
(इस पुस्तक मे गतिक सर्वेश्वरवाद की व्याख्या केवल दार्शनिक तल पर की गयी है। दार्शनिक समाधान कुछ ही चिन्तनशील व्यक्तियो के लिये संतोषजनक हो सकता है। यही कारण है कि ब्रैडले, बोसंकेट, जोशियाह रोयस इत्यादि प्रत्ययवादियों की अनुपम लेखनी का प्रभाव भी साधारण जनता पर नही पड़ा है)।

११. टिप्पणी लिखें :
(क) ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता,
(ख) ईश्वर का सृष्टिकर्त्तृत्व।
(ग) सूफी मत और अद्वैत वेदान्त के बीच अन्तर।
(सूफी मत के अनुसार ईश्वर की सर्वव्यापकता दृष्टि से संभव होती है और जीव और ईश्वर की एकता को तात्त्विक तल पर नही भी स्वीकार किया जा सकता है। दूसरे शब्दों मे ईश्वर की सर्ववर्तिता विषयिनिष्ठ है, न कि विषयगत है)।
(घ) संश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक कथनों की व्याख्या।

ईश्वर के अस्तित्व के लिये प्रमाण

अध्याय—३

ईश्वर के अस्तित्व के लिये प्रमाण

'अस्तित्व' पद से परिलक्षित होता है कि ईश्वर अनुभव का विषय है और चूँकि यह अनुभव सार्वजनिक है, इसलिये इस अनुभव के आधार पर ईश्वर का अस्तित्व स्पष्ट किया जा सकता है। किन्तु खेद का विषय है कि ईश्वर-प्राप्ति के लिये अभी तक किसी भी ऐसे पुनरावृत्ती एव सार्वजनिक अनुभव को निश्चित नही किया जा सका है, जिसके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को स्थिर किया जा सके। चूँकि ईश्वर प्राप्ति के लिये कोई सार्वजनिक अनुभव नही है, इसलिये ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये वास्तव मे 'प्रमाण' सभव नही है। क्योकि ईश्वर का अनुभव पुनरावृत्य एवं सार्वजनिक नही होने से उसे परम सत्ता के ही रूप मे माना जाता है और परम सत्ता तत्त्वमीमासा का विषय है, किन्तु कोई तत्त्वमीमासीय विषय प्रमाण का नही होता, वरन् मूल्य का विषय होता है। मूल्यो का निर्धारण व्यक्ति के निर्णय से उत्पन्न होता है और यह निर्णय अनुनयात्मक युक्तियो के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। अतः, ईश्वर का अस्तित्व भी शुद्ध प्रमाण का नही वरन् अनुनयात्मक युक्तियों का विषय होता है।

फिर, यदि ईश्वर के अस्तित्व मे प्रमाण दिया जायगा तो यह प्रमाण या तो निगमनात्मक या आगमनात्मक या प्राक्कल्पना-निगमनात्मक होगा। यदि यह प्रमाण निगमनात्मक होगा तो शुद्ध निगमन मे वास्तविकता नही सिद्ध की जाती है। अतः, ईश्वर की यथार्थता निगमन द्वारा सिद्ध नही की जा सकती है। फिर, आगमन से अभिप्राय होता है निरीक्षण पर आधारित सामान्यीकरण। उदाहरणार्थ, अनेक कौओं को काला देखकर हम सामान्यीकरण करते हैं कि सभी कौवे काले होते हैं। अब धार्मिक अनुभूति के आधार पर किसी प्रकार का सामान्यीकरण संभव नही हो सकता है। इसका कारण है कि धार्मिक अनुभूति एक प्रकार की नही होती है, जिसके आधार पर कोई सामान्यीकरण किया जा सके। परन्तु इसका मुख्य कारण है कि ईश्वर इन्द्रियों के द्वारा नही जाना जा सकता है, उसके सम्बन्ध मे निरीक्षण भी संभव नही हो सकता है। इसलिये निरीक्षण के आधार पर सामान्यीकरण किस प्रकार संभव हो सकता है ? चूँकि ईश्वर अपरिमित है और अपरिमित का निरीक्षण

ही संभव नहीं है तो ऐसे अस्तित्व को प्राक्कल्पना-निगमनात्मक विधि के द्वारा भी स्पष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इस प्रकार के प्रमाण मे भी अन्त में निरीक्षण की सहायता ली जाती है और ईश्वर निरीक्षण का विषय नही है। अत', 'प्रमाण' के सही अर्थ मे ईश्वर को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। तब ऐसी स्थिति में 'प्रमाण' अथवा 'युक्ति' से क्या तात्पर्य हो सकता है ? ईश्वर के संदर्भ में हमें 'प्रमाण' से अभिप्राय लगाते हैं अनुनयात्मक युक्तियो से। जिस प्रकार अभियोक्ता और प्रतिपक्षी दोनो न्यायाधीश के समक्ष अपने-अपने पक्ष को रखते हैं ताकि न्यायाधीश उनके पक्ष में न्याय करे, उसी प्रकार ईश्वरवादी ईश्वर के अस्तित्व के लिये अपनी अनुनयात्मक युक्तियो को प्रस्तुत करता है ताकि इन युक्तियो के द्वारा व्यक्तियो में ईश्वर के प्रति उद्‌बोध हो जाय— उसकी उपस्थिति से व्यक्ति अभिभूत हो जायें। अतः, ईश्वरवादी स्वयं ईश्वर मे आस्था रखता है और उसकी युक्ति इसी आस्था की अभिव्यक्ति होती और उसकी युक्ति का उद्देश्य होता है कि अन्य व्यक्तियो मे भी ईश्वर के प्रति आस्था हो जाय। इसलिये इस प्रकार के प्रमाण के द्वारा न तो वैज्ञानिक ज्ञान की स्थापना की जाती है और न परिभाषाओं के उपलक्षण के रूप मे निगमनात्मक निष्कर्षों की स्थापना ही की जाती है। ईश्वर के अस्तित्व के संबंध मे प्रमाण को प्रस्तुत कर भक्त ईश्वर के संबध मे यह गवाही देना चाहता है कि वास्तव मे ईश्वर के प्रति आस्था से उसके जीवन मे शाति, स्थिरता तथा सद्‌भाव का सचार होता है और इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वर अपने भक्तो मे साकार होना रहता है। अतः, ईश्वर इस अर्थ मे जीवित है और इसी रूप मे उसका अस्तित्व भी सिद्ध हो सकता है। इसलिये ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी युक्तिया वास्तव मे आत्मसमर्पण और अन्तर्ग्रसन के परिचायक हैं। हम देखेंगे कि प्रत्येक युक्ति आस्थामय कही जायगी, न कि संज्ञानात्मक। यदि कोई ईश्वर के समीप आना चाहता है तो इन युक्तियों से उसे अनुप्रेरणा मिल सकती है। परन्तु इन प्रमाणो से ईश्वर के सम्बन्ध मे कोई ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता है, क्योकि न तो ईश्वर वैज्ञानिक ज्ञान का विषय है और न ये प्रमाण ही संज्ञानात्मक हैं। वास्तव में ये युक्तियाँ ईश्वर में विश्वास रखने के लिये अनुनय-मात्र हैं। विश्वासी का विश्वास इन युक्तियों द्वारा दृढ़ होता है, परन्तु अनीश्वरवादी (जिसके लिये ईश्वर आस्था का नही, वरन् ज्ञान का विषय है) के लिये इन युक्तियो द्वारा विश्वास नही उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि वह ईश्वर का 'ज्ञान' खोजता है, न कि ईश्वर के लिये भक्ति। ईश्वरवादी इन युक्तियों के द्वारा ईश्वर के प्रति अपनी आस्था का साक्ष्य प्रस्तुत करता है, न

कि उसे सिद्ध करना चाहता है। ईश्वर को भक्त ज्ञान से सिद्ध नहीं करता है, अपितु उसकी स्तुति, उससे अपने पापो की क्षमायाचना, परीक्षाओं के समय उससे अनुप्रेरणा प्राप्ति इत्यादि के आधार पर वह ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करता है। अतः, सत्तामूलक प्रमाण द्वारा भक्त बताना चाहता है कि ईश्वर का अस्तित्व ऐसा है कि उसे वह और उसके ऐसे अनेक भक्त नित्य प्राप्त करते रहते हैं और उसको अपने जीवन में अनुभव किये बिना नही रह सकते हैं। इसलिये ईश्वर भक्त के लिये अनिवार्य सत्ता है। अब यदि भक्त ईश्वर की उपस्थिति से ओतप्रोत रहे तो उसके लिये सम्पूर्ण विश्व ईश्वर के बिना संभव नही हो सकता है। ईश्वर भक्त के लिये विश्व की सृष्टि करनेवाला और उसका आद्यन्त है। यह है विश्वमूलक प्रमाण का आस्थामय उद्देश्य। इसी प्रकार भक्त ईश्वर के अस्तित्व को इस ब्रह्माड की क्रमबद्धता मे देखता है और विश्व के सूर्य मडल मे, प्राणि जगत् तथा मानव-चेतना मे पाता है। यही उद्देश्यमूलक प्रमाण का वास्तविक अभिप्राय है। यदि ईश्वर के अस्तित्व मे दिये गये प्रमाणो को संज्ञानात्मक रूप मे लिया जाय तो इन्हे दोषपूर्ण समझा जायगा, परन्तु यदि इन प्रमाणो को मप्रत्यायक माना जाय, अर्थात् दृढविश्वास-सूचक समझा जाय तो इन्हे सगत माना जा सकता है।

फिर इन सभी प्रमाणों को पृथक-पृथक नहीं समझना चाहिये। ये सभी प्रमाण पारस्परिक रूप से सम्बद्ध है। प्रत्यय-सत्तामूलक प्रमाण मे सिद्ध किया जाता है कि ईश्वर की सत्ता ईश्वर प्रत्यय से ही स्पष्ट हो जाती है। ईश्वर की सत्ता का भान करते रहना और उसकी उपस्थिति से अभिभूत रहना धार्मिक भाव के लिए महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इस भाव को आत्मनिष्ठ ईश-प्रेम नही समझना चाहिए। इस भाव से ओत-प्रोत होकर भक्त को भान होता है कि ईश्वर के द्वारा सम्पूर्ण विश्व आद्यन्त संचालित होता है और इसे स्पष्ट करने के लिए विश्वमूलक प्रमाण दिया जाता है, जिसके अनुसार इस विश्व का अनिवार्य आधार ईश्वर है। फिर सामान्य रूप से नही, वरन् विश्व के अंग-प्रत्यंग की रचना मे भी ईश्वर का हाथ दिखाई देता है और भक्त के लिए ईश्वर की रचना अथवा उसकी अभिकल्पना समस्त विश्व मे दिखाई देती है। इसलिए सत्तामूलक प्रमाण बोध कराता है कि ईश्वर है, विश्वमूलक के अनुसार केवल ईश्वर की कोरी सत्ता ही नही है, वरन् यह सत्ता विश्व का कारण और उसका आधार है, उद्देश्यमूलक प्रमाण बोध कराता है कि विश्व का आधार चैतन्यपूर्ण अभिकल्पना-कर्त्ता है। अतः, ये तीनो प्रमाण अनुक्रमिक रूप से

आराध्य गुणों से विशिष्ट उपास्य ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। अब इन प्रमाणों को क्रमशः विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जायगा।

सत्तामूलक प्रमाण : इस प्रमाण को प्रत्यय-सत्तामूलक प्रमाण भी कहा जाता है। इसका शाब्दिक अभिप्राय है कि ईश्वर-प्रत्यय में ही ईश्वर की सत्ता निहित रहती है। यह हो नहीं सकता है कि ईश्वर-प्रत्यय को हम समझें और फिर हम उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करें। अतः, ईश्वर-प्रत्यय का सार-तत्त्व ही है कि तदनुरूप सत्ता भी है। चूँकि प्लेटो ने (ई० पू० ४२७-३४७) प्रत्यय को ही शाश्वत, नित्य तथा परम सत्ताओं में गिना है, इसलिए सर्वप्रथम, प्लेटो के ही दर्शन में इस बात की चर्चा की गई है कि सर्वोच्च प्रत्यय शुभ का प्रत्यय है और इसे ही अत्यधिक सत्तापूर्ण समझना चाहिए। बाद में चलकर इसी शुभ के प्रत्यय को 'ईश्वर' संज्ञा दी गई है।

ईसाई धर्म-विचारक मे सन्त अगस्टिन अग्रगण्य समझे जाते हैं और सन्त अगस्टिन (सन् ३५४-४३०) भी प्लेटोवादी थे और उनके अनुसार भी ईश्वर परम सत्ता है जिसमें सभी वस्तुओं के प्रत्यय वस्तुओं के हेतु एव आधार के रूप मे पाये जाते हैं और फिर उनका कहना है कि प्रत्ययो का सार तत्त्व ही है कि उनके अनुरूप सत्ता भी हो। परन्तु सत्तामूलक प्रमाण के रचयिता मे अन्सेल्म (सन् १०३३-११०९) को अग्रगण्य माना जाता है और अन्सेल्म के ही दिये गये प्रमाण को देकार्त ने (सन् १५९६-१६५०) संशोधित रूप मे रखा था। फिर अपने-अपने दर्शन के अनुसार लाईबनित्स (सन् १६४६-१७१६), हेगेल (सन् १७७०-१८३१) तथा जॉन केअर्ड (सन् १८२०-१८९८), ने इसे सही मानकर स्वीकार किया है। परन्तु इस प्रमाण में प्रारम्भ से ही इतनी कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं कि इसके अनेक प्रसिद्ध विरोधी भी हुए हैं। सन्त टामस अक्वाईनस (सन् १२२५-१२७४) और इमानुएल कान्त ने (सन् १७२४-१८०४) इस प्रमाण का प्रबल विरोध किया है। समकालीन धर्मदर्शन में ए० जे० एर, जे० जे० सी० स्मार्ट, ए० फ्लू तथा जे० एन० फिडले ने सत्तामूलक प्रमाण का विरोध किया है और नॉर्मन मैल्कॉम तथा ए० केनी ने इस प्रमाण को संपुष्ट करना चाहा है। अब इस सत्तामूलक प्रमाण की व्याख्या यथासंभव अन्सेल्म के अनुसार की जायगी।

अन्सेल्म के द्वारा प्रस्तुत युक्ति* : अन्सेल्म ने सत्तामूलक प्रमाण को दो प्रकार का बतलाया है। दोनों ही प्रकार की युक्तियों में अन्सेल्म के लिए

---

*देखें, जॉन हिक, 'दि एक्सिस्टेन्स आव गॉड'—पृ० २५-२९। फिर इसकी अर्थात् अन्सेल्म की युक्तियों की व्याख्या के लिये देखें, वही पुस्तक, नॉर्मन मैल्कौम—पृ. ४७-६८

ईश्वर-प्रत्यय से अभिप्राय उस सत्ता से है जिससे बृहत्तर अन्य किसी सत्ता का विचार संभव न हो। यदि ईश्वर ऐसी सत्ता हो जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता न हो, तो क्या ऐसी सत्ता बिना अस्तित्व के संभव हो सकती है ? अन्सेल्म ने इसका अभावात्मक उत्तर दिया है। क्योंकि मान लिया जाय कि ऐसी सत्ता जिससे अन्य बृहत्तर सत्ता न हो तो ऐसी सत्ता या तो (क) केवल विचार की ही वस्तु होगी, या (ख) विचार और यथार्थ दोनो की। यदि हम (क) और (ख) दोनो का मिलान करें, तो विचार और यथार्थ दोनों में रहनेवाली सत्ता केवल विचार मे रहनेवाली सत्ता की तुलना मे अधिक बृहत्तर मानी जायगी। अब चूं कि ईश्वर ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता नही हो सकती है, इसलिए ईश्वर ऐसी सत्ता है जो विचार और यथार्थ दोनो मे होगी। अतः, ईश्वर अवश्य ही यथार्थ और वास्तविक सत्ता है।

इस युक्ति के अनुसार केवल विचार मे होनेवाली सत्ता से यह अभिप्राय लगाया जाता है कि ऐसी सत्ता जिस के सबध मे संगत रीति से कल्पना की जा सकती है, उदाहरणार्थ, स्वर्ण पर्वत। यह बात दूसरी है कि इसके अनुरूप वास्तव मे कोई पर्वत हो या नही। अतः, यदि ईश्वर केवल विचार मे निहित संगत प्रत्यय है तो सभव है कि ईश्वर वास्तविक हो, या न हो। और फिर यदि इसके अनुरूप सत्ता वास्तविक भी हो तो यह वास्तविकता आपातिक होगी, अर्थात् इसके नही होने की कल्पना की जा सकती है। उदाहरणार्थ, सेंधा नमक का पर्वत है लेकिन इसके नही होने की कल्पना की जा सकती है। अतः, यदि ईश्वर वह सत्ता हो जिसकी तुलना मे अन्य कोई बृहत्तर न हो और यदि ऐसा ईश्वर विचार संगत भी हो और वास्तविक भी, तोभी ऐसी सत्ता के नही होने की कल्पना की जा सकती है। आगे चलकर अन्सेलम दिखाना चाहते हैं कि ईश्वर ऐसी सत्ता है जिसके नही होने की (अनस्तित्व की) कल्पना भी नही की जा सकती है। यदि हम 'लाल गुलाब' का अर्थ समझते है, तो हमें कहना पड़ेगा कि 'लाल गुलाब लाल है', या, 'लाल गुलाब गुलाब है', इत्यादि। इसी प्रकार अन्सेल्म का कहना है कि यदि हम 'ईश्वर-प्रत्यय' का सही अर्थ समझते हैं तो हमे मानना ही पड़ेगा कि ईश्वर अनिवार्य सत्ता है। जिस प्रकार 'लाल गुलाब' की 'लाली' 'लाल गुलाब' में हमें मानना ही पड़ता है (विधेयन करना ही पडता है), उसी प्रकार ईश्वर के संदर्भ में ईश्वर के अस्तित्व को हमें स्वीकार करना ही पड़ता है। अन्सेल्म की उक्ति इस प्रकार है।

कोई भी व्यक्ति, मूर्ख से मूर्ख भी क्यों न हो, यदि वह समझता है कि ईश्वर का क्या स्वरूप है, तो वह कह ही नहीं सकता है कि ईश्वर नहीं है। यदि वह कहता है कि ईश्वर नहीं है तो शायद वह 'ईश्वर-प्रत्यय' को बिना किसी अर्थ के काम में लाता है, या उस प्रत्यय से ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य विषय के संबंध में सोचता है। क्योंकि यदि ईश्वर-प्रत्यय को वह सही-सही समझता है, अर्थात् ऐसी सत्ता जिससे बृहत्तर कोई अन्य सत्ता सोची नहीं जा सकती है, तो ऐसी सत्ता के विचार मे भी नहीं होने की (अनस्तित्व की) संभावना नहीं विचारी जा सकती है। इसलिए जो 'ईश्वर-प्रत्यय' का सही अर्थ समझता है, उसके लिए ईश्वर के नहीं होने की कल्पना विचार मे भी नहीं की जा सकती है।

उपर्युक्त युक्ति के अनुसार अन्सेलम के लिए दो प्रकार की सत्ताएँ संभव है, अर्थात्—

१. जिसके नहीं होने की कल्पना तार्किक रूप से नहीं की जा सकती है (उदाहरणार्थ, विश्लेषात्मक अनिवार्यता, जैसे 'लाल गुलाब लाल है')

२. जिसकी वास्तविकता आपातिक है, पर जिसके नहीं होने की कल्पना की जा सकती है, उदाहरणार्थ, सेंधा नमक का पहाड।

जिस प्रकार से अन्सेलम ने आपातिक वास्तविकता और अनिवार्य वास्तविकता का भेद किया है, उस प्रकार का भेद देकार्त और लाईबनित्स के भी सत्तामूलक प्रमाण की व्याख्या मे पाया जाता है। चूंकि अधिकाश आलोचकों ने आपातिक और अनिवार्य वास्तविकता के भेद को ध्यान मे नहीं रखा है, इसलिए उनकी सत्तामूलक प्रमाण की आलोचना सही नहीं हो पायी है। इस बात को ध्यान मे रखकर इस सत्तामूलक प्रमाण की व्याख्या की जायगी।

अन्सेलम ने सत्तामूलक प्रमाण के पहले रूप मे तीन कुंजा-पदों को व्यवहार किया है और बिना इन पदों को स्पष्ट किये हुए अन्सेलम के प्रमाण की व्याख्या कठिन हो जायगी। अन्सेलम ने बताया है कि वह सत्ता जो केवल विचार मे हो, तो 'केवल विचार मे हो' का क्या अर्थ हो सकता है? कम-से-कम इसके तीन अर्थ संभव हो सकते हैं:

(क) वह जो काल्पनिक उडान है।

(ख) वह जो केवल मानसिक संप्रत्यय है, अर्थात् वह जो शुद्ध संप्रत्यय है जिसे अनुभव से नहीं प्राप्त किया गया है।

(ग) वह संप्रत्यय जो अनुभव से प्राप्त किया गया है।

इसी प्रकार अन्सेल्म के अनुसार परम सत्ता न केवल विचार में, पर साथ ही साथ रिआलिटी में भी देखी जाती है। रिआलिटी शब्द का अर्थ स्पष्ट नही किया गया है। समकालीन विश्लेषण के अनुसार रिआलिटी शब्द से मूल्य, अर्घ्य एवं आदर्श का बोध होता है। शायद अन्सेल्म कहना चाहते थे कि ईश्वर मानव-जीवन का परम मूल्य है। परन्तु उन्होंने रिआलिटी शब्द से यथार्थता अथवा वास्तविकता का अर्थ भी लगाया है। अतः, इनके अनुसार ईश्वर वह सत्ता है जो हमारे विचार मे तो है ही, पर जो वास्तविक तथ्य भी है। पर तथ्य वह है जो पुनरावृत्य, सार्वजनिक इन्द्रियानुभूति द्वारा प्राप्त किया जाता है। परन्तु ईश्वर इस प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूति का विषय नही हो सकता है। इसलिये अन्सेल्म के अनुसार ईश्वर तथ्य तो नही, परन्तु वह वास्तविक अथवा अस्तित्वपूर्ण सत्ता है। अब इस 'वास्तविक सत्ता' का क्या तात्पर्य हो सकता है? अन्सेल्म ने इसकी व्याख्या नही की है। उन्होंने इतना भर ही बताया है कि ईश्वर है, क्योंकि काल्पनिक सत्ता ऐसी नही हो सकती जिसके संबंध मे कहा जाय कि यह वह सत्ता है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता की कल्पना नही की जा सकती है।

इसी प्रकार से तीसरा कुँजीपद है 'बृहत्तर'। अब 'बृहत्तर' (ग्रेटर) से भी कोई परिशुद्ध अर्थ नही उपलक्षित होता है। बृहत्तर से अर्थ लगाया जाता है उस तुलना मे जो नापा-जोखा जा सके, अर्थात् जो गणितीय रूप मे बताया जा सकता है। परन्तु यहाँ पर दो सत्ताएँ है: एक वह सत्ता है, जो केवल विचार मे है और दूसरी वह सत्ता जो विचार और वास्तविकता, दोनो मे है। यदि ये सत्तायें केवल विचार या सप्रत्यय हो तो गणितीय सम्बन्ध विचारो में नही हो सकते है, और यदि इनमे एक सत्ता विचार पर आधारित हो और दूसरी तथ्य पर, तो दोनो असामान्य सत्ताओ मे मिलान कैसे होगा? अतः, 'बृहत्तर' शब्द वास्तव मे मूल्यात्मक शब्द है, न कि अक्षरश: सज्ञानात्मक पद।

उपर्युक्त शब्दो को ध्यान मे रखकर पूछा जाय कि अन्सेल्म के अनुसार इसका क्या अर्थ होगा कि ईश्वर अवश्यमेव विचार के अनुरूप वास्तविक होगा? यहाँ 'वास्तविक' से अभिप्राय है कि वह सत्ता, जो है, जिसका अस्तित्व है। यदि ईश्वर हो, जैसा भक्त मानते है, तो ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है? प्रायः किसी वस्तु के अस्तित्व को तभी प्रमाणित करने की आवश्यकता पड़ती है जब उस वस्तु के नही होने का संदेह सम्भव होता है। उदाहरणार्थ, अस्तित्ववाची प्रश्न हो सकते हैं, भूत-प्रेत होता है?

क्या जादू-मंत्र का भी प्रभाव होता है ? इसलिये यदि हम पूछें, क्या ईश्वर है ? तो इस प्रश्न से सिद्ध होता है कि ईश्वर भी भूत-प्रेत के समान संदेह का विषय है। परन्तु संदेहपूर्ण सत्ता उपास्य नहीं हो सकती, क्योंकि उपासना में भक्त अपना सर्वस्व आत्म-समर्पित कर देता है और संदेहपूर्ण सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण कैसे होगा ? ईश्वर वही है, जिसमें दृढ विश्वास हो। अतः भक्त के लिये उपास्य ईश्वर सत् होगा और उसके अनस्तित्व का प्रश्न ही नही उठेगा और यदि ईश्वर की सत्ता संदेहात्मक होगी तो वह उपास्य ईश्वर नहीं होगा। इसलिये ईश्वर के अस्तित्व के संदर्भ मे किसी प्रमाण को प्रस्तुत करना व्यर्थ है। परन्तु इस 'अस्तित्व' का भी हमे अर्थ स्पष्ट करना चाहिये।

जब कहा जाता है कि ईश्वर अस्तित्वपूर्ण है तो इससे उपलक्षित होता है कि अस्तित्वपूर्णता ईश्वर का उसी प्रकार सारगुण है जिस प्रकार सर्वज्ञता, सर्व-शक्तिमत्ता, दयालुता, प्रेम इत्यादि उसके गुण हैं। पर आपत्ति की जाती है कि अस्तित्वपूर्णता किसी भी वस्तु का, चाहे वह लौकिक हो या पारलौकिक हो, गुण नही हो सकता है। गुण वह है, जो किसी वस्तु के समझने मे सहायक होता है, परन्तु अस्तित्वपूर्णता किसी भी वस्तु के समझने मे सहायक नहीं होती है। उदाहरणार्थ, एक रुपया वह भारतीय सिक्का है, जिसमे सौ पैसे होते हैं। जब हम कहते हैं कि हमारे पॉकेट मे एक भी रुपया नही है, तो इससे यही ध्वनित होता है कि हमारे पास १०० पैसे नहीं हैं। परन्तु 'रुपये' पद का अर्थ ज्यो-का-त्यों बना रहता है—चाहे पॉकेट मे एक रुपया हो या नही हो। अतः, अस्तित्व-पूर्णता अथवा अनस्तित्वपूर्णता किसी भी वस्तु का सारगुण नही है। इसी बात को एक दूसरे रूप मे स्पष्ट किया जा सकता है।

(१) कुत्ता पालतू जानवर होता है।

(२) परियाँ अस्तित्वपूर्ण होती हैं।

अब किसी कुत्ते को पालतू कहने के लिये उसके वास्तविक होने की पूर्वा-पेक्षा की जाती है। यदि कुत्ता होगा, तभी कहा जायगा कि यह पालतू होता है या नहीं। इसी प्रकार परियों के संबंध मे इन्हें अस्तित्वपूर्ण बताने के लिये यह अपेक्षा की जाती है कि परियाँ है। अतः, 'परियाँ अस्तित्वपूर्ण हैं' का विश्लेषण हुआ 'अस्तित्वपूर्ण परियाँ अस्तित्वपूर्ण होती हैं'। इसे पुनरुक्ति कहा जायगा और इसे तथ्यात्मक कथन नहीं कहा जायगा। परन्तु जब हम कहते हैं कि 'ईश्वर है' तो इस 'है' से ईश्वर का यथार्थ तथ्य बताने का प्रयास करते हैं।

परन्तु वास्तव में 'है' अथवा 'अस्तित्वपूर्णता' किसी भी वस्तु का गुण नहीं कहा जा सकता है और ईश्वर की अस्तित्वपूर्णता को सिद्ध करने से वास्तव में हम ईश्वर की वास्तविकता सिद्ध नहीं करते हैं।

परन्तु यदि मान लिया जाय कि ईश्वर की अस्तित्वपूर्णता से हम बताना चाहते हैं कि ईश्वर तथ्य है तब क्या होगा ? जब कहा जाता है कि 'ईश्वर है' अर्थात् वह वास्तविक तथ्य है तो किसी भी तथ्यात्मक संवाक्य को अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है। 'यह गुलाब लाल है', यदि यह कथन वास्तव मे सत्य हो, अर्थात् अनेक व्यक्तियो ने इसे प्रकाश मे देखकर, बार-बार इसकी जाँच कर सही बताया है तो व्यावहारिक रूप से इसे हम सत्य मानेंगे। परन्तु इस गुलाब के नहीं लाल होने की कल्पना की जा सकती है। आँखें मूँदकर हम कल्पना कर सकते है कि यह गुलाब लाल न होकर पीला या सफेद है। अतः, 'यह गुलाब लाल है', सत्य तथ्यात्मक कथन है। पर इसे आपातिक रूप से सत्य समझा जायगा, न कि अनिवार्य रीति से। अब यदि 'ईश्वर है', तथ्यात्मक कथन हो तो यह ठीक है कि अभी ईश्वर है, अभी तक ईश्वर अपने भक्तों की बात सुनता आया है, परन्तु अन्य सभी प्रकार के तथ्यो के समान विलीन हो जा सकता है। अतः, ईश्वर की तथ्यात्मकता से ईश्वर की आपातिकता सिद्ध होगी, न कि उसकी अनिवार्यता। परन्तु यदि ईश्वर अनिवार्य न हो, अर्थात किसी भी समय उसके नहीं होने की संभावना हो तो ऐसे ईश्वर को भक्त कैसे अपना सर्वस्व समर्पण करेगा ? उपास्यता की दृष्टि से ईश्वर को अनिवार्य सत्ता होना चाहिये, अर्थात् ऐसी सत्ता, जिसके नहीं होने की संभावना ही नहीं की जा सकती है। पर क्या अनिवार्य सत्ता या अनिवार्य वास्तविकता संगत प्रत्यय है ?

यहाँ बताया जाता है कि यदि कोई सत्ता वास्तविक हो,—तथ्य हो, तो इसे अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है और जिसे अनिवार्य कहा जाता है वहाँ विश्लेषात्मक अनिवार्यता हो सकती है, अर्थात् 'शब्दों के परिभाषित अर्थों के संगत व्यवहार से उत्पन्न सत्यता'। परन्तु विश्लेषात्मक अनिवार्यता का संबंध वास्तविकता से नहीं, परन्तु शब्दों के विश्लेषण, उनके अर्थ-स्पष्टीकरण से ही रहता है। अतः, ईश्वर अनिवार्य सत्ता है तो इससे यही ध्वनित होता है कि हम ईश्वर को परिभाषित अर्थ मे सही रीति से काम मे ला रहे हैं, पर इससे यह नहीं टपकता है कि ईश्वर वास्तव मे ईश्वर है। इसलिए कहा जाता है

कि 'अनिवार्य वास्तविकता' आत्मविरोधी प्रत्यय है। इस स्थल पर अन्सेल्म के द्वारा प्रस्तुत दूसरी युक्ति उल्लेखनीय हो जाती है।

सत्तामूलक प्रमाण के वैकल्पिक तर्क में अन्सेल्म ने विश्लेषात्मक अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि या तो वास्तविकता आपातिक हो सकती है या अनिवार्य। वैकल्पिक तर्क में अन्सेल्म सर्वप्रथम सत्ता को ध्यान में रखकर इसके आपातिक और अनिवार्य दो रूपों की विवेचना करते हैं। इसके विपरीत प्रथम रूप में अन्सेल्म ईश्वर-प्रत्यय को ही अपने चिन्तन कर मुख्य विषय बनाकर दो प्रकार के प्रत्ययों के विषय सोच रहे थे, एक वह प्रत्यय, जो केवल विचार में ही हो सकता है और दूसरा वह प्रत्यय, जो विचार और यथार्थ में अवियोज्य रीति में रहता है। पहले प्रकार के तर्क के प्रति आपत्ति गौनिलो ने और फिर इसी प्रकार के देकार्त के तर्क के प्रति गैसेंडी ने आपत्ति की थी कि कोई भी प्रत्यय क्यों न हो, उसके अनुरूप वास्तविकता का रहना अनिवार्य नहीं हो सकता है। हम पूर्ण से पूर्ण द्वीप की कैसी ही कल्पना क्यों न करें, तदनुरूप द्वीप के वास्तविक होने की बात अनिवार्यतः नहीं उठ सकती है। इसी प्रकार ईश्वर-प्रत्यय कितना ही पूर्ण क्यों न हो, ऐसा ही प्रत्यय क्यों न हो कि उसकी तुलना में कोई अन्य प्रत्यय बृहत्तर अथवा सर्वोच्चतर न सोची जा सके, तोभी इस प्रकार के प्रत्यय के अनुरूप भी वास्तविकता का रहना अनिवार्य नहीं माना जायगा। गौनिलो, गैसेंडी तथा कान्त और समकालीन विचारकों में अनेक अनुभववादी एवं विश्लेषणवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रत्ययों से अन्य प्रत्ययों के संबंध में कथन आपादित किये जा सकते है, परन्तु प्रत्यय से वस्तु नहीं प्राप्त की जा सकती है। कितनी ही तीव्रता से, अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर हम रसगुल्ले की कल्पना क्यों न करें, परन्तु रसगुल्ला साकार होकर हमारे सामने या मुँह में नहीं प्रस्तुत हो सकता है। अतः, अनिवार्य सत्ता का प्रत्यय भी प्रत्यय ही रहेगा,—वह विचार की सीमा को अतिक्रमित कर वास्तविक नहीं हो सकता है। यदि इस अनिवार्य सत्ता को अधिक पूर्ण बनाने के लिए हम कहें कि ईश्वर वह भावना है, जो सर्वोच्चतम एवं बृहत्तम है और यह भावना ऐसी है कि इसके अनुरूप सत्ता को विचार एवं यथार्थ दोनों होना चाहिए। परन्तु यथार्थ की भावना प्रत्यय ही है, न कि यथार्थता। अतः, ऐसी भावना जो विचार और यथार्थ दोनों में हो, प्रत्यय-मात्र है, न कि वास्तविकता। इस स्थल पर अन्सेल्म अपना वैकल्पिक तर्क प्रस्तुत करते हैं। अन्सेल्म यहाँ

वास्तविकता को, न कि वास्तविकता के प्रत्यय को अपने चिन्तन का मुख्य विषय बता रहे हैं।

अब अन्सेल्म के अनुसार वास्तविकता दो प्रकार की है, आपातिक और अनिवार्य। आपातिक वास्तविकता वह है जो अभी है, परन्तु संभव है कि एक समय नही थी और फिर संभव है कि वह किसी अन्य समय नही रहे। उदाहरणार्थ, हिमालय पर्वत की वास्तविकता आपातिक है। यह एक समय नही था और हम कल्पना कर सकते हैं कि यह किसी अन्य समय भविष्य मे न रहे। परन्तु जिस ईश्वर की उपासना की जाती है वह अनिवार्य सत्ता है। इस प्रकार की सत्ता का न कोई आदि है और न अन्त — यह सतत और अनन्त काल तक रहती है। परन्तु यदि मान भी लिया जाय कि ईश्वर अनन्त काल तक रहता भी है तोभी इस सत्ता को अनिवार्य नही कहा जायगा। जिस प्रकार सहस्र वर्षीय सत्ता सहस्र वर्षों तक रहने पर भी आपातिक कही जायगी, उसी प्रकार यदि ईश्वर अनन्तकालीन हो तोभी उसे आपातिक ही माना जायगा। क्योकि मान भी लिया जाय कि ईश्वर अनन्तकालीन हो तोभी उसके नही होने की हम कल्पना कर सकते है। परन्तु अनिवार्य सत्ता वह हे, जिसके नही होने की हम कल्पना कर ही नही सकते है। इसलिए अन्सेल्म का कहना है कि ईश्वर अनिवार्य सत्ता है और यदि हम अनिवार्य सत्ता का अर्थ समझते हैं तो हम अपनी कल्पना मे भी ईश्वर के अनस्तित्व को नही विचार सकते हैं। अत:, ईश्वर अवश्यमेव है। क्या इस अनिवार्य सत्ता के विचार को स्वीकार किया जा सकता है?

हम पहले ही देख चुके है कि यदि कोई सत्ता वास्तविक हो तो यह अनिवार्य नही हो सकती और यदि यह अनिवार्य हो तो यह वास्तविक नही हो सकती है। परन्तु यह मान्यता कि वास्तविकतामूलक अथवा अस्तित्वपूर्णतामूलक कथन अनिवार्य नही हो सकते हैं, इस मान्यता का आधार क्या है? निस्सन्देह इस प्रकार की मान्यता मनमानी नही बनायी गई है। सामान्य बोध की भाषा तथा वैज्ञानिक साहित्य की रचनाओ के सावधानीपूर्वक विश्लेषण-द्वारा यह मान्यता प्राप्त की गई है कि कोई भी अस्तित्ववाची कथन अनिवार्यत. सत्य नही हो सकता है। यदि ईश्वर को भी वास्तविक माना जाय तो ईश्वर के विषय मे जो कुछ भी हम कहे, इस मान्यता के अनुसार ईश्वर की वास्तविकता को हम अनिवार्य नही कह सकते हैं। तब क्या ईसाई धर्म की यह मान्यता कि ईश्वर अनिवार्य सत्ता है, आत्मविरोधी सिद्धान्त है?

मेरा समझ में ईश्वर की अनिवार्य वास्तविकता साधारण तथा वैज्ञानिक अनुभूति पर आधारित नहीं है और इसलिए यह ज्ञान अथवा संज्ञानात्मकता की समस्या नहीं है। मैल्कॉम स्वयं इस बात को मानने के लिए तैयार नही होंगे। परन्तु मैल्कॉम के अनुसार ईश्वर की अनिवार्य वास्तविकता ईसाई धार्मिक अनुभूति की मान्यता है और उन्होने यह भी अटकल लगाया है कि इस प्रकार की अनुभूति मे पापों की क्षमा के भाव का हाथ हो सकता है। धार्मिक अनुभूति मे अनेक प्रकार के भाव आते हैं और अनेक प्रकार की स्थितियों से धार्मिक अनुभूति उत्पन्न होती है। परन्तु अस्तित्ववादी दृष्टि से धार्मिक अनुभूति जीवन के सम्पूर्णत्व के प्राप्तिभाव अथवा जीवन की चिन्ता, बेचैनी, अशांति तथा विडंबना के प्रति स्थिरता-भाव के प्रादुर्भाव से उत्पन्न होती है और इसी के फलस्वरूप वह प्रतीक, जिसके द्वारा यह गहरी, आत्मग्रसित एव संवेग-भारित अनुभूति होती हैं, 'ईश्वर' कहा जाता है। अतः भाव संवेग के आधिक्य से बोझिल होकर ईश्वर से अभिभूत होकर भक्त के लिए ईश्वर एकमात्र सत्ता दिखाई देता है जिसके बिना वह एक क्षण भी नही रह सकता है, 'जल बिनु मीन'। इसी सत्ता को वह अनिवार्य सत्ता की सज्ञा देता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर जल बिनु मीन की स्थिति तथा उस समय स्थिरता-भाव की प्राप्ति मे उत्पन्न ईश्वर की वास्तविकता अनिवार्य कहा गया है। ईश्वर इसलिए वास्तविक है कि भक्त के लिए उसका अस्तित्व एकदम स्पष्ट मालूम देता है, अर्थात् ईश्वर-प्रतीक भक्त के लिए आनंदमयी, क्रान्तिकारी, सजीव तथा अनुप्राणित करनेवाली शक्ति का रूप धारण किए हुए होता है। भक्त को ईश्वर की वास्तविकता मे कैसे संदेह हो सकता है? पर क्या अनिवार्यता को हम तार्किक अनिवार्यता समझ सकते हैं?

मैल्कॉम, रेनर और ह्यू समझते हैं कि ईश्वर की वास्तविकता की अनिवार्यता तार्किक स्तर पर मान ली जा सकती है और समकालीन मान्यता में ही कहना चाहिए कि धर्म-व्यवस्था में अनिवार्य वास्तविकता संभव है, यद्यपि विज्ञान में नहीं। मेरी समझ में धर्म और विज्ञान को अलग-अलग क्षेत्र में नहीं रखा जा सकता है। हाँ, धार्मिक अनुभूति संवेगपूर्ण अभिवृत्तिमूलक होती है और इसी संदर्भ मे अनिवार्यता की भी व्याख्या होनी चाहिए। इसलिए मेरी समझ में ईश्वर की अनिवार्यता संप्रत्ययात्मक अथवा दृढ़विश्वास-सूचक भाषा में समझना चाहिए, न कि संज्ञानात्मकता की आधारभूमि में। यदि संज्ञानात्मक रूप से अनिवार्यता का अर्थ लगाया जायगा तो इसके अनुसार ईश्वर को नित्य

कालातीत अथवा प्रागनुभव रीति से ईश्वर की नित्य वास्तविकता की व्याख्या करनी पड़ेगी। परन्तु वास्तविक वह है जो काल में हो और नित्य वह है जो काल-शून्य एवं काल से अतीत हो। तो क्या ईश्वर का प्रत्यय फिर आत्मा विरोधी नहीं हो जाता है? फिर ईसाई धर्म परम्परा के अनुसार ईश्वर को अनंतकालीन माना गया है, अर्थात् वह जो आदि से अन्त तक एकरूप रहता है। ऐसा ईश्वर काल की सभी दशाओं में रहता है, जो था, जो है और जो रहेगा। अतः, अनिवार्यता को नित्यता के अर्थ मे नहीं लाया जा सकता है। ईश्वर की अनिवार्य सत्ता भक्त की ईश्वरानुभूति की पराकाष्ठा एवं ईश्वर से विह्वल होने की स्थिति का परिचायक है। यह बात स्वयं अन्सेल्म की लेखनी से स्पष्ट होती है।

अन्सेल्म ने सत्तामूलक प्रमाण को शुद्ध ज्ञान का विषय नहीं माना है। उन्होंने इस प्रमाण को ईश्वर से प्रार्थना के रूप मे प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि बिना भक्ति एवं आस्था के ईश्वर को नहीं जाना जा सकता है और फिर इस आस्था-कथन को हम ईश्वर के ज्योति-दान के फलस्वरूप समझ सकते हैं। उन्होने प्रमाण देकर अन्त में लिखा है:

"हे सत्प्रभु! तेरा धन्यवाद हो, तेरा धन्यवाद हो क्योकि जिस पर मैं तेरे दान (अनुग्रह-दान) के कारण पहले विश्वास रखता था, उसे मैं तेरी ज्योति से अब समझता भी हूँ"।

वास्तव में अन्सेल्म ईश्वर को परम भक्ति का विषय समझते थे। जब वे ईश्वर को वह सत्ता मानते है जिससे बृहत्तर अन्य कोई सत्ता नही हो सकती है, तो 'बृहत्तर' के स्थान पर 'सर्वोच्चतम', 'अत्यन्त सत्य' इत्यादि संज्ञा भी दी है। अतः, ईश्वर अन्सेल्म के लिए ज्ञान का विषय नही, लेकिन मूल्य अथवा अर्घ्य का विषय माना है। हमलोग जनसाधारण भाषा मे भी अस्थायी तथा क्षणभंगुर को कम मूल्यवान् और दीर्घस्थायी को अधिक मूल्यवान् मानते है। अतः, ईश्वर को 'नित्य' कहकर वास्तव मे अन्सेल्म बताना चाहते थे कि ईश्वर आदर्शों का धाम है और जीवन मे आदर्श-प्राप्ति का मूल स्रोत है। इसलिए अन्सेल्म का सत्तामूलक प्रमाण वास्तव मे मूल्यात्मक कथन है, कि न संज्ञानात्मक।

अतः, सत्तामूलक प्रमाण की जड़ ईश्वर-भक्ति में है और उसके अस्तित्व के संबंध में दी गयी युक्ति वास्तव मे संज्ञानात्मक युक्ति नहीं है, लेकिन धार्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। इसे ईश्वरवादी के साक्ष्य रूप में समझना चाहिए।

अब जो बात सत्तामूलक प्रमाण के विषय कही गयी है, वही बात विश्वमूलक प्रमाण मे भी लागू है। जब स्वानुभूति की पराकाष्ठा विह्वल हो छलक जाती है तो भक्त ईश्वर के अस्तित्व का भान केवल अपने मे न करके संपूर्ण विश्व में करने लगता है। यहां आन्तर अनुभूति का बाह्यीकरण देखा जाता है।

विश्वमूलक प्रमाण : ईसाई एकेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर के लिये उसका सारतत्त्व या प्रत्यय या विचार और उसकी वास्तविकता अथवा अस्तित्व दोनों अवियोज्य रीति से एक ही है। यह बात अन्य किसी सीमित वस्तु में नही पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, रसगुल्ला का प्रत्यय और उसकी वास्तविकता एक नही है। रसगुल्ले के विषय मे विचार करने पर रसगुल्ला सामने नहीं चला आता है। यदि विचार मे लाते ही तदनुरूप वस्तु भी हो जाती, तो स्वर्ग की और कामधेनु की कल्पना नही करनी पड़ती, धनी और दरिद्र के बीच अन्तर ही नही होता। परन्तु एकेश्वरवादी के अनुसार ईश्वर-प्रत्यय ही ऐसा है कि ईश्वर के नही होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। परन्तु ईश्वर-प्रत्यय से ईश्वर की वास्तविकता नही, परन्तु ईश्वर की वास्तविकता का प्रत्यय ही संभव हो सकता है। अत, अन्सेल्म के प्रयत्न करने पर भी ईश्वर-प्रत्यय से ईश्वर को वास्तविकता नही सिद्ध हो सकती है। परन्तु धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वर की वास्तविकता ही हमारी पहली मान्यता है और केवल वास्तविक आधार पर ईश्वर की वास्तविकता सिद्ध हो सकती है। इसलिये सत्तामूलक प्रमाण को प्रागनुभविक कहा गया है, क्योंकि यहाँ बिना अनुभूति की सहायता लिये हुए ईश्वर-प्रत्यय से ही ईश्वर की वास्तविकता को सिद्ध किया जाता है। सत्तामूलक प्रमाण की अपेक्षा विश्वमूलक प्रमाण को आनुभविक कहा गया है, क्योकि यहाँ हमारा प्रस्थान-बिन्दु विश्व की आकस्मिक वस्तुएँ हैं और वस्तुविशेष अनुभव का विषय हो सकता है। चूँकि इस प्रमाण का प्रारंभिक बिन्दु अनुभव और वास्तविक वस्तुएँ है, इसलिये कहा जाता है कि एकेश्वरवादी प्रत्यय और वास्तविकता की अवियोज्यता की मान्यता मे विश्वमूलक प्रमाण वास्तविकता को प्राथमिकता देता है, प्रत्यय को नही। यहाँ कहा जाता है कि चूँकि ईश्वर है, इसलिये हमे उसका प्रत्यय होता है, न कि ईश्वर के प्रत्यय से उसकी वास्तविकता ध्वनित होती है। अतः, सत्तामूलक प्रमाण मे प्रत्यय को और विश्वमूलक प्रमाण मे वास्तविकता को प्राथमिकता दी जाती है। परन्तु चाहे अन्सेल्म हों, चाहे अक्वाईनस हों, सभी एकेश्वरवादी ईश्वर में प्रत्यय और वास्तविकता को अवियोज्य रीति से एक ही मानते हैं।

हम रसगुल्ले के प्रत्यय और उसकी वास्तविकता को पृथक मान सकते हैं, परन्तु ईश्वर की वास्तविकता और उसका प्रत्यय एक दूसरे से अलग किया ही नही जा सकता है।

पाश्चात्य विचार मे विश्वमूलक प्रमाण भी बहुत प्राचीन है। प्लेटो और अरस्तू के दर्शन मे इस प्रमाण का शुरुआत होता है। परन्तु जिस प्रकार से सत्तामूलक प्रमाण विशेषत. अन्सेल्म की रचना से निःसृत माना जाता है, उसी प्रकार मुख्यतः विश्वमूलक प्रमाण सन्त टामस अक्वाईनस (सन् १२२४/५ १२७४) की लेखनी से प्रारंभ हुआ है। इस समय कोपुल्स्टन और मैस्केल ने इस युक्ति को विशेष रूप से समकालीन भाषा मे स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

विश्वमूलक प्रमाण की व्याख्या दो प्रकार से की गई है। कोई इसे कारण-कार्य सिद्धान्त पर आधारित करते है, तो कोई इस प्रमाण को विश्व की आपातिकता पर आधारित करते हैं। वास्तव मे विश्वमूलक प्रमाण विश्व की आपातिकता पर निर्भर करता है और विश्व के कार्यपन को प्राथमिकता नही दी जा सकती है। परन्तु अनेक धर्मविचारको ने विश्वमूलक प्रमाण को कारण-कार्य-सिद्धान्त के माध्यम से व्यक्त किया है। इसलिये यहाँ विश्वमूलक प्रमाण को पहले कारण-कार्य-युक्ति के रूप मे और तब इसे आपातिकता के आधार पर स्पष्ट किया जायगा।

कारण-कार्य पर आधारित युक्ति

विश्वमूलक प्रमाण के एक रूप मे विश्व को कार्य और ईश्वर को इसका सृष्टिकर्त्ता या कारण माना जाता है। इस कारण-कार्य के सिद्धान्त पर आधारित इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सीढियाँ है :

१. कोई भी घटना बिना कारण के नही सभव हो सकती हैं। अतः, प्रत्येक घटना का कोई-न-कोई कारण अवश्य होगा।

२. घटनाओं की श्रृंखला अनवरत रूप से जारी रहती है। 'क' का कारण 'ख', 'ख' का कारण 'ग', ग' का कारण 'घ', इत्यादि का अनुक्रम लगातार बना रहता है। उदाहरणार्थ, इस घर के बनाने मे लकड़ी, लोहा, ईंटा इत्यादि काम मे आता है। इस लकड़ी के दरवाजे को बनाने वाला बढई है; बढ़ई ने लकडी को दूकानदार से खरीदा, दूकान-दार इसे अन्य स्टाकिस्ट से खरीदा, इत्यादि।

३. घटनाओं के इस अनुक्रम का कोई अन्त देखने में नहीं आता है। फिर अनिश्चित कड़ियों तक प्रतिगमन भी संभव नहीं हो सकता है। अतः, अनवस्था-दोष से बचने के लिये इस अनुक्रम का, जिसे हम विश्व कहते हैं, कोई-न-कोई आदि कारण मानना पड़ता है।

४. सम्पूर्ण घटनाओ की अनुक्रम-व्यवस्था को 'विश्व' संज्ञा दी जाती है। इस विश्व के आदि कारण को आद्य प्रवर्तक कहा जा सकता है जिसके द्वारा अन्य सभी घटनाएँ होती हैं और जो सभी घटनाओं का कारण होता है, पर जो स्वयं किसी भी अन्य कारण से विचलित नहीं होता है। अतः, आद्य प्रवर्तक विश्व का आदि कारण है, पर आद्य प्रवर्तक का कोई कारण नही होता है। उदाहरणार्थ, प्लेटो और अरस्तू के दर्शन मे आद्य प्रवर्तक को आदर्श के रूप मे माना गया है। अब सभी घटनाएँ आदर्श से अनुप्रेरित होती हैं, परन्तु स्वयं आदर्श अमूर्त्त (अपकर्षित) गुण होने के कारण गतिहीन रूप मे सोचा जा सकता है। अतः, प्लेटो के दर्शन में शुभ-प्रत्यय वह आद्य प्रवर्तक है, जिसके द्वारा सभी वस्तुएँ उसी दिशा मे आकर्षित होती रहती हैं, परन्तु जो स्वयं किसी भी घटना से न तो आकर्षित होता और न संचालित होता है। इसी आद्य प्रवर्तक को 'ईश्वर' की संज्ञा दी गयी है।

५. अतः ईश्वर सम्पूर्ण विश्व का कारण है, पर ईश्वर का कोई कारण नहीं पूछा जा सकता है, क्योकि यह इतनी सर्वोच्चतम चोटी-सत्ता है कि इस सूचीस्तम्भीय व्यवस्था (*) मे इससे और अधिक व्यापक सत्ता नहीं हो सकती है।

इस पृष्ठभूमि का एक प्रश्न है: क्या विश्व अपने आप से आत्मसंचालित, आत्मनिर्भर व्यवस्था है, या इसकी व्याख्या किसी अन्य सत्ता के द्वारा ही की जा सकती है। समकालीन वैज्ञानिक युग मे विश्व को आत्मसंचालित, आत्म-नियंत्रित तथा आत्मनिर्भर व्यवस्था समझने मे कठिनाई नही होती है। ह्यूम, लैपलेस तथा अन्य भौतिकवादियो ने सफल रूप से विश्व को आत्म-नियमित

---

*सूचीस्तम्भीय व्यवस्था में आधार में अनेक वस्तुयें होती हैं और जैसे-जैसे 'अपकर्षण' सिद्धान्त के द्वारा हम चोटी की ओर प्रगति करते हैं, वैसे कुछ ही व्यापक और सामान्य गुण रहते जाते हैं। अन्त में, उच्चतम जाति का गुण अथवा द्रव्य रह जाता है। यूनानी दर्शन में प्लेटो, अरस्तू, पोरफिरी और आधुनिक युग में क्लोयड मॉर्गन, अलेक्जेंडर इत्यादि के दर्शन में सूचीस्तम्भीय व्यवस्था पायी जाती है।

व्यवस्था माना है। परन्तु अधिकांश व्यक्ति सोचते हैं कि विश्व की व्याख्या विश्वेत्तर शक्ति के द्वारा होनी चाहिये। पर क्या विश्व की व्याख्या कारण-कार्य के सिद्धान्त के द्वारा की जा सकती है ?

सर्वप्रथम, कारण-कार्य का नियम वैज्ञानिक खोज के लिये एक अवधारणा के रूप मे है। इस अवधारणा के अनुसार वैज्ञानिक अपनी खोज में आगे बढ़ता है और किसी भी घटना को अकारण नही समझता है। इस अभिग्रह को मान लेने पर विज्ञान मे प्रगति होती गई है। पर यह स्वयं अभिग्रह है, न कि कोई तथ्यात्मक नियम है। जब वैज्ञानिक चाहे, इस अभिग्रह को वैज्ञानिक प्रगति में अड़चन समझकर इसे छोड सकता है। कान्त समझते थे कि कारण-कार्य का नियम अनिवार्य है। परन्तु २०वी शताब्दी के प्रारभ से उपाणविक खोज के संदर्भ मे वैज्ञानिक इस अभिग्रह को अनावश्यक मानते है। अत:, कारण-कार्य का सिद्धान्त ऐसा सर्वव्यापक और अनिवार्य नही है कि किसी भी घटना के स्पष्टीकरण के लिये इसकी मदद लेना आवश्यक हो। अत:, विश्व की व्याख्या के लिये भी कारण कार्य का अभिग्रह अनावश्यक हो सकता है और इसके संबंध मे कई युक्तियाँ दी जा सकती हैं।

कारण-कार्य का सिद्धान्त घटना-विशेषों की व्याख्या करने के लिये एक मान्यता अथवा पूर्वधारणा के रूप मे स्वीकार किया गया है। पर क्या विश्व कोई घटनाविशेष है ? विश्व कोई घटना विशेष नही है। विश्व की सृष्टि के संबंध मे पूछना कि इसका कौन सृष्टिकर्त्ता है, उसी प्रकार का प्रश्न नही है कि इस कविता को किसने लिखा है, या घर की किसने रचना की है। क्योंकि विश्व से अभिप्राय होता है समस्त घटनाओं की शृंखला का संपूर्णत्व और संपूर्णत्व स्वयं कोई घटना नही है। इसी बात को दूसरे रूप में रखा जा सकता है। राम का पिता हो सकता है, यदु का पिता हो सकता है और इसी प्रकार किसी व्यक्तिविशेष के पिता के संबध में पूछा जा सकता है। पर समस्त मानव-जाति का कौन पिता हो सकता है ? मानव जाति से अर्थ होता है समस्त भूत, वर्तमान तथा भावी मानव व्यक्तिविशेष। परन्तु पिता तो कोई व्यक्तिविशेष हो सकता है और उसकी संतान भी व्यक्तिविशेष हो सकती है। परन्तु न तो कोई मानवता का शब्दश: पिता हो सकता है और न इसी प्रकार विश्व का कोई सृष्टिकर्त्ता अथवा आदि कारण हो सकता है।

कान्त ने पहले ही कहा था कि कारण-कार्य का सिद्धान्त विश्व की प्राति-भासिक घटनाओं की व्याख्या के लिये काम में लाया जा सकता है, परन्तु

उन्होने साथ ही साथ यह भी कहा था कि इस कारण-कार्य के नियम को पारमार्थिक सत्ता के लिये नही काम में लाया जा सकता है। अब विश्व और ईश्वर दोनो ही पारमार्थिक सत्ताएँ हैं और कान्त के अनुसार हम ईश्वर को विश्व का कारण और विश्व को ईश्वर के सृष्टिकर्त्तृत्व का कार्य नही मान सकते हैं। इसी बात को भाषाई विश्लेषण के आधार पर राइखेनबाख ने बडी स्पष्टता के साथ कहा है।

राइखेनबाख के अनुसार ईश्वर को इसलिये आद्य कारण माना जाता है कि ईश्वर ने आदिम घटना की सृष्टि की और फिर उसी आदिम घटना से अन्य सभी घटनाएँ होती चली आती है। पर क्या इस आदिम घटना के प्रसंग मे आद्य कारण का प्रश्न उठाया जा सकता है? राइखेनबाख के अनुसार जिस प्रकार से निःसंतान व्यक्ति को 'पिता' कहना अयुक्तिसगत है, उसी प्रकार आदिम घटना का कारण खोजना असंगत है। कारण-कार्य का प्रश्न वही तर्कसंगत होगा, जहाँ दो घटनाएँ हो। आदि घटना अकेली और अनूठी है। इसका कारण नही पूछा जा सकता। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व एक हो है और फिर इसका भी कारण नही सभव हो सकता है। परन्तु यहाँ प्रत्युत्तर किया जा सकता है कि आदि कारण और आदि घटना, दो है, न कि एक। उसी प्रकार विश्व और ईश्वर दो है, न कि एक। पर क्या आदिकारण को घटना कहा जाय, क्या ईश्वर को भी क्षणभगुर, परिवर्त्तनशील घटना माना जाय? न तो आदिकारण को और न ईश्वर को 'घटना' की सज्ञा दी जा सकती है। इसलिये विश्व की व्याख्या कारण-कार्य के सिद्धान्त के अनुसार नही की जा सकती है। पर क्या तर्कसगत रीति से 'आदि कारण' पद को ही काम मे लाया जा सकता है?

'आदि कारण' शब्द से यही उपलक्षित होता है कि जो अन्य घटनाओ का कारण हो, पर जिसका कोई अन्य कारण न हो। परन्तु 'कारण' शब्द को हम उसी स्थल पर काम मे लाते हैं जो अन्य घटनाओं का कारण होता है, पर जो स्वयं अन्य पूर्ववर्ती कारण का कार्य है। पर यदि आदि कारण किसी अन्य पूर्ववर्ती कारण का कार्य नही है तो इसे क्यो 'कारण' की संज्ञा दी जाय? फिर यदि आदि कारण का कारण नही हो सकता है तो क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि सभी स्थलों पर कारण की जिज्ञासा करना अनावश्यक है? यदि आदि कारण का कारण नही हो सकता है तो क्यों नही विश्व का भी कोई

कारण नहीं हो सकता ? इन विरोधी आपत्तियों को स्वीकार करते हुए मैस्केल का कहना है कि अक्वाइनस ने बताया है कि ईश्वर विश्व का आदि कारण नहीं है जिसने प्रथम घटना का प्रारंभ किया है, परन्तु ईश्वर सभी घटनाओं के होने का, उनके आदि-अन्त तक, उनका अनिवार्य आधार है। वास्तव में देखा जाय तो कारण-कार्य के द्वारा विश्व की व्याख्या नही हो सकती, क्योंकि कारण-कार्य स्वयं आपातिक हैं। मान भी लिया जाय कि आग कारण है और ताप उसका कार्य है। पर प्रश्न उठाया जा सकता है, क्योंकि आग ताप का कारण होगा ? क्यों नहीं अग्नि से ठंडक उत्पन्न हो ? कम-से-कम हम कल्पना कर सकते हैं कि आग से ताप न मिलकर ठंडक मिले। इसलिये विश्व की व्याख्या कारण-कार्य के आधार पर न होकर वास्तव मे आपातिकता के आधार पर होना चाहिये और यही विश्वमूलक प्रमाण का प्रमुख रूप है।

आपातिकता के आधार पर विश्वमूलक प्रमाण

सन्त टामस अक्वाइनस ने संभाव्यता तथा अनिवार्यता के आधार पर अपने तर्क को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

हम प्रकृति में जितनी वस्तुएँ देखते है उनकी होने और न होने की संभावना रहती है, क्योकि वे उत्पन्न होती हैं और फिर विनष्ट हो जाती हैं। यह असंभव है कि ये सर्वदा रहें, क्योकि यदि वह जो एक समय नहीं हो सकता है, वह बाद में (किसी अन्य समय) नही रहता है। इसलिए यदि प्रत्येक वस्तु का अनस्तित्व हो सकता है, तो एक समय किसी भी वस्तु का अस्तित्व नही होगा। यदि यह सत्य हो, तो अभी भी कुछ नहीं रहना चाहिए ··· ····इसलिए यदि किसी भी काल मे कुछ भी नही रहे तो किसी भी वस्तु के होने का प्रारंभ होना असंभव होगा* और इसलिए इस समय भी कुछ नही रहना चाहिए जो बेतुकी बात है†। इसलिए सभी सत्ताएँ केवल संभव ही नही है, वरन् ऐसी एक सत्ता होनी चाहिए जिसकी वास्तविकता अनिवार्य है।

अक्वाइनस के प्रमाण का विश्लेषण करने पर इसमे निम्नलिखित सीढियाँ दिखाई पड़ेंगी —

१. विश्व की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और फिर विलीन हो जाती हैं। उन्हे हम आपातिक कह सकते हैं अर्थात् वे ऐसी वस्तुएँ हैं कि उनका

---

* क्योंकि शून्य से कुछ भी प्रारंभ नहीं हो सकता है।

† क्योंकि यह वास्तविकता है कि वस्तुयें इस विश्व में हैं।

अस्तित्व उनके स्वरूप से ही नही उत्पन्न होता है : उनका अस्तित्व अन्य वस्तुओं पर निर्भर रहने से उनके नही होने की संभावना किसी भी समय हो सकती है ।

२. यदि सभी वस्तुएँ, एक-एक करके आपातिक हो, तो काल की अनन्त शृंखला मे उन्हें किसी एक समय मे एक-एक करके अब तक विलीन हो जाना चाहिए था ।

३ यदि एक-एक करके किसी एक समय सबकी सब वस्तुएँ विलीन हो जातीं, तो अन्त में शून्य हो जाना चाहिए था, और यदि शून्य किसी भी समय हो जाता तो अभी भी शून्य ही रहना चाहिए था, क्योंकि शून्य से कुछ भी नही उत्पन्न हो सकता है ।

४. पर अभी शून्य नही है, कुछ वस्तुएं अवश्य है । तो इन आपातिक वस्तुओ के अभी तक रहने की कैसे व्याख्या की जा सकती है ?

५ ये आपातिक वस्तुएँ ऐसी नही हैं, जो अपने से स्वयं उत्पन्न होने और समाप्त होने को स्पष्ट कर सकें । इसलिये अवश्य ही ऐसी सत्ता है जो इन आपातिक वस्तुओं को धारण करती है और इन्हे इनके अस्तित्व मे जारी किये रहती है और जो स्वयं अपने स्वरूप से ही अपने अस्तित्व को स्थिर करती है । इसी अनिवार्य वास्तविकता को 'ईश्वर' की संज्ञा दी जा सकती है ।

६. अतः, ईश्वर स्वनिर्भर, स्वाश्रित और स्वयंभू है, और जो अन्य सभी आपातिक वस्तुओ का अनिवार्य आश्रय और आधार है ।

अक्वाइनस के विश्वमूलक प्रमाण मे कई मान्यताएँ छिपी हुई दिखती हैं । सर्वप्रथम, अक्वाइनस की मान्यता है कि क्षणभंगुर वास्तविकता किसी अनिवार्य सत्ता का आह्वान करती हैं, अर्थात् आपातिक घटनाओं की व्याख्या बिना अनिवार्य वास्तविकता के संभव नहीं हो सकती है । क्या यह मान्यता आनुभविक है ? ह्यूम का कहना है कि यह मान्यता प्रागनुभविक है । इसी प्रकार कान्त का कहना है कि चाहे अक्वाइनस कुछ कहे, उनका विश्वमूलक प्रमाण यथार्थ में सत्तामूलक प्रमाण का ही छद्म रूप है । यहाँ केवल प्रमाण मे एक के स्थान पर दो पग हैं, अर्थात्

१. विश्व की सभी घटनाएँ आपातिक हैं और आपातिक बिना अनिवार्य सत्ता के संभव नही हो सकता है ।

२. इसलिये अनिवार्य सत्ता है, जिसका स्वरूप ही है कि वह वास्तविक रहे। इसलिये वास्तव में यह प्रमाण प्रागनुभविक है। प्रथम पग तो केवल दिखलाने भर के लिए अनुभवाश्रित कहा जा सकता है। वस्तुओ की आपातिकता उनका इतना अमूर्त्त गुण है कि शायद ही इस गुण को कोई ऐन्द्रिक अनुभूति का विषय मानेगा। अतः विश्वमूलक प्रमाण वास्तव में 'अनिवार्य वास्तविकता' के ही प्रत्यय पर टिका हुआ है, जो प्रत्यय सत्तामूलक प्रमाण का मुख्य विषय है। इसलिये न तो इस प्रमाण को अनुभवाश्रित कहा जायगा और न इसे सत्तामूलक प्रमाण से भिन्न कोई स्वतंत्र प्रमाण गिना जायगा।

अक्वाइनस के विश्वमूलक प्रमाण की दूसरी मान्यता है कि काल की अपरिमित शृंखला में वस्तुओं का संपूर्ण सभावनाओं को अब तक वास्तविक हो जाना चाहिये था, अर्थात् सभी आपातिक वस्तुओं को एक-एक करके इस समय विनष्ट हो जाना चाहिये था। पर इस मान्यता को क्यो स्वीकार किया जाय ? यह शृंखला स्वय अनंत है और वस्तुएँ भी अनंत हैं, तो क्यों समझा जाय कि जो कुछ भी सभी वस्तुओं को होना चाहिये था, वह अब तक हो जाना चाहिये था ? भविष्य अभी भी है। कौन जानता है कि भविष्य मे सभी आपातिक वस्तुयें विलीन होकर अन्त में शून्य हो जायें ? इसलिये अनत काल के प्रवाह के अन्त होने की बात ही करना आत्मविरोधी है। जब हम कहते हैं कि विश्व अपरिमित अथवा असंख्य घटनाओं का अनत प्रवाह है, तो इस प्रवाह का न आदि है और न अंत। अनंत प्रवाह की सज्ञा देकर विचारक बताना चाहते हैं कि विश्व आत्मसंचालित, आत्म नियमित तथा आत्मनियंत्रित व्यवस्था है और इसकी व्याख्या के लिये विश्वेतर सत्ता की आवश्यकता नही है।

अतः अक्वाइनस की दूसरी मान्यता में दो दोष उत्पन्न हो जाते हैं। एक तो यह कि सभी आपातिक घटनाओं के विलयन से अभी तक शून्य-स्थिति का होना, तर्कसंगत नहीं मालूम देता है; और यदि शून्य की स्थिति हुई नही है तो यह कहना कि इस समय भी शून्य रहना चाहिये क्योंकि शून्य से कुछ भी नही हो सकता है, तर्कसंगत नहीं रह पाता है। दूसरा दोष यह है कि एक ओर विश्व को घटनाओं की अनंत शृंखला कहा जा रहा है और दूसरी ओर इसके अंत होने की बात कही जा रही है। भला, अनंत का अंत कैसे होगा ? वास्तव में इनकी तीसरी मान्यता भी है जिसके रहने से दूसरी मान्यता को बल मिल जाता है।

अक्वाइनस की तीसरी मान्यता है कि विश्व की व्याख्या होना आवश्यक है। मान लिया जाय कि विश्व घटनाओं की व्यवस्था हो, तो भी इसके संबंध में प्रश्न उठ सकता है; क्यों विश्व इस अमुक प्रकार की व्यवस्था है, क्यों यह किसी अन्य प्रकार की व्यवस्था है? अतः हमें स्पष्ट करना चाहिये कि क्यों विश्व है, क्यों इस समय विश्व के स्थान पर शून्यता नहीं है? प्रो० ए. जे. ऐअ. तथा रसेल के अनुसार विश्व के सम्बन्ध म इस प्रकार का प्रश्न उठाना व्यर्थ एवं प्रयोजनहीन है। इन विचारकों के अनुसार घटना विशेषों की व्याख्या हो सकती है और विशिष्ट वस्तुओं के होने के संबंध में प्रश्न किया जा सकता है। परन्तु विश्व के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि विश्व है और इसका विधान वही है जिसे हम अपने अनुभव से प्राप्त करते हैं। इसके सम्बन्ध मे यह प्रश्न पूछना कि गुरुत्वाकर्षण का नियम क्यों है, अथवा कोई अन्य विधान क्यों है, व्यर्थ का प्रयास करना है। क्यों विश्व की सृष्टि के सम्बन्ध में प्रश्न करना व्यर्थ है? 'विश्व' से अर्थ लगाया जाता है कि यह सभी घटनाओं की समष्टिपूर्ण व्यवस्था है। यदि हम पूछें कि इसका आदि कारण कौन है? या इसका आधार क्या है, तो या तो आदि कारण अथवा सर्वोच्च आधार इस विश्व के अन्तर्गत है या बाहर। यदि यह आदि कारण विश्व के अन्तर्गत होगा तो यह विश्व मे की ही कोई घटना होगी और यदि यह घटना (आद्य कारण अथवा अनिवार्य आधार) विश्व के पूर्व हो तो जब विश्व ही नही है तो विश्व का अधार क्या होगा? अत. विश्व अर्थात् सभी घटनाओ के पूर्व किसी अन्य घटना की कल्पना ही करना असंगत है, क्योंकि सभी के अन्दर सभी घटनाएं अर्थात् आदि घटना भी चली आती हैं और आदिमतम घटना से भी पूर्व किसी अन्य घटना की कल्पना करना असगत सिद्ध होगी। अतः, विश्व आत्मनियमित और अपने में पूर्ण घटना-प्रवाह की व्यवस्था है और इससे परे और पूर्व किसी भी अन्य व्याख्याकारी सत्ता की खोज करना तर्कसंगत नही मालूम देता है।

इस स्थल पर कोपुल्स्टन का कहना है कि आदि कारण अथवा अनिवार्य सत्ता की दुहाई देना वैज्ञानिक व्यापार नही है। यहाँ विज्ञान की नहीं, वरन् तत्त्वमीमासा की चर्चा की जा रही है। तब पूछा जा सकता है कि वैज्ञानिक व्याख्या से परे तत्त्वमीमांसीय व्याख्या का क्या स्वरूप है। कोपुल्स्टन का कहना है कि वैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार क की व्याख्या ख के द्वारा और ख की व्याख्या ग के द्वारा और ग की व्याख्या घ के द्वारा, इत्यादि की जाती है। परन्तु यह अनुक्रम अनत है और अन्तिम कड़ी को न हम प्राप्त कर सकते हैं

और न विज्ञान मे इसकी कोई आवश्यकता रहती है कि अन्तिम व्याख्या अथवा कड़ी खोजी जाए। परन्तु कोपुल्स्टन का कहना है कि तत्त्वमीमांसीय व्याख्या समष्टिपूर्ण व्याख्या होती है। तब समष्टिपूर्ण व्याख्या किसको कहते हैं ? कोपुल्स्टन का कहना है कि घटनाओं के समष्टिपूर्ण अनुक्रम की व्याख्या को पूर्ण व्याख्या कहा जा सकता है। परन्तु रसेल के अनुसार सभी घटनाओं की समष्टि किसी घटना का नाम नही है, क्योकि घटना किसी काल विशेष मे होती है और सभी घटनाओं की समष्टि से अर्थ होता है भूत, वर्तमान और भविष्य की घटनाओं का एक साथ होना। अतः, या तो सभी घटनाएँ एक साथ नही हो सकती है, या उन्हे एक साथ विचारा ही नही जा सकता है। फिर यदि सभी घटनाओं की समष्टि सभव भी हो जाय तो इस समष्टि से पृथक क्या रह जाता है ? परन्तु किसी भी व्याख्या की संभावना के लिये कम-से-कम दो सत्ताएँ रहनी चाहिये : एक वह सत्ता या घटना, जिसकी व्याख्या हो और इससे पृथक दूसरी सत्ता या घटना, जो पहली सत्ता की व्याख्या करे। परन्तु सम्पूर्ण घटनाओ की एक साथ समष्टि के रहने से कोई अन्य सत्ता नही रह जाती है, जो समष्टिपूर्णता की व्याख्या करे।

वास्तव मे देखा जाय तो समकालीन दर्शन मे तत्त्वमीमासीय व्याख्या को संज्ञानात्मक व्याख्या नही माना जाता है। जिसे तत्त्वमीमासीय व्याख्या कहा जाता है वह सारसग्राही अथवा सर्वसंग्राही दृष्टि है। यह दृष्टि न तो सत्य कही जा सकती है—और न असत्य – यह या तो परिपूर्ण होती है या सकीर्ण, जीवन-यापन मे सफलता प्रदान करती है या असफलता, इत्यादि। अब जहाँ सत्यता-असत्यता का प्रश्न ही नही होता है, वहाँ संज्ञानात्मकता नही देखने में आती है। इसलिये या तो ईश्वर को रहस्यमय मान लिया जाय, जैसा अन्त मे मैंस्केल इत्यादि मान लेते है, या नही तो यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि अभी तक ईश्वर सबधी अस्तित्व की सज्ञानात्मक युक्ति नही दी जा सकी है।

चूँकि अनिवार्य सत्ता अथवा वास्तविकता की चर्चा सत्तामूलक प्रमाण मे कर दी गई है, इसलिये यहाँ अब इसकी आलोचना करना पुनरावृत्ति मात्र होगा। अब विश्वमूलक प्रमाण मे विश्व के अति सामान्य गुण, अर्थात् इसकी आपातिकता के आधार पर ईश्वर को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रमाण की तुलना में उद्देश्यमूलक प्रमाण मे विश्व के विभिन्न अंगों के निरीक्षण के फलस्वरूप प्रमाणित किया जाता है कि इस विश्व का सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ तथा मतिमान सृष्टिकर्त्ता है जिसे ईश्वर की संज्ञा दी जा सकती है।

उद्देश्यमूलक प्रमाण

धर्म के इतिहास के दृष्टिकोण से उद्देश्यमूलक प्रमाण को प्राचीनतम, सबसे अधिक लोकप्रिय और सर्वमान्य प्रमाण कहा जा सकता है। प्लेटो ने कहा है कि नक्षत्र, ग्रह तथा तारे इस प्रकार गति करते रहते हैं मानो इन्हें किसी बुद्धि ने इस प्रकार उन्हे सचालित किया है। फिर बाइबिल के भजनसग्रह नामक पुस्तक में बताया गया है कि आकाश बताता है कि यह ईश्वर की रचना है। उसी प्रकार सन्त पॉल ने लिखा है कि ईश्वर की नित्यता और उसका अलख रूप प्रकृति की रचना मे अभिव्यक्त होते हैं। हेनरी मोर (सन् १६१४-१६८७), विलियम पेली (सन् १७४३-१८०५), जेम्स मार्टिनो (सन् १८०५-१९००) तथा इस आधुनिक युग मे एफ० आर० टेनेंट ने (१८६६-१९५७) इस प्रमाण को दार्शनिक युक्ति का रूप दिया है। परन्तु जितना यह लोकप्रिय रहा है उतना ही अधिक प्रसिद्ध दार्शनिको ने इसका खडन भी करना चाहा है। ह्यूम (सन् १७११-१७७६), मिल (सन् १८०६-१८७३), कान्त सन् १७२४-१८०४) इत्यादि विचारको ने इस प्रमाण का सफल खडन भी किया है। समकालीन दर्शन मे जॉन विस्डम का लेख 'गॉड्स' प्रमुख माना जायगा जिसमे उन्होने इस प्रकार की युक्ति पर अच्छा प्रकाश डाला है।

विश्वमूलक प्रमाण मे बताया जाता है कि विश्व अपने आप से उत्पन्न आकस्मिक घटना नही है। इस उद्देश्यमूलक प्रमाण मे बताया जाता है कि विश्व आकस्मिक तथा अधाधुनी घटना नही है, क्योंकि इसके अन्दर इतनी योजना और सम्बद्धता है कि सभी स्थलों पर अभियोजना और अभिकल्प (*) दिखाई देता है। अतः, इस योजना को आपातिक नहीं माना जा सकता है। इसलिये यह विश्व बुद्धिमान यंत्रकार का अभिकल्प है। चूँकि इस विश्वरूप यंत्र में इतनी जटिलता, इतनी गहनता और इतनी सूक्ष्मता दिखाई देती है कि इस विश्व को बनानेवाला अपरिमित बुद्धिवाला ही हो सकता है। अतः, इस विश्व का रचयिता अपरिमित निरपेक्ष सत्ता है जिसे ईश्वर की संज्ञा दो जा सकती है।

उद्देश्यमूलक प्रमाण को सर्वप्रिय रूप मे विलियम पेली ने प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सम्पूर्ण विश्व एक जटिल यत्र है, जिसकी सूक्ष्म यात्रिकता

---

* 'अभिकल्प' से तात्पर्य उस योजना से है जिसे केवल चेतनमय बुद्धि स्थापित कर सकती है। उदाहरणार्थ, घड़ी को अभिकल्पित यंत्र कहा जायगा, क्योंकि अपने आप यह अंधाधुन प्रक्रियाओं के फलस्वरूप नहीं उत्पन्न हो सकती है।

इसके अंग प्रत्यंग में अभिलक्षित होती है। क्या इस प्रकार का जटिल और विशाल यंत्र अपने आप से उत्पन्न हो सकता है और फिर यह अपने आप इतना सुचारु रूप से संचालित रह सकता है? इस विशाल और आश्चर्यजनक सम्बद्धता को छोड़ दीजिये और विचार कीजिये कि यदि कोई घड़ी किसी को मरस्थल भूमि मे मिले तो क्या कोई कल्पना कर सकता है कि यह घडी अपने आप बालुका से, प्रचंड वायु के थपेडों से उत्पन्न हुई है? क्या इसके काँटे, स्प्रिङ्ग, कुंजी इत्यादि अपने आप उत्पन्न हो सकती हैं और अपने आप आपस मे इस प्रकार सम्बद्ध हो जा सकती हैं कि यह नियमित रूप से चलकर सही-सही समय बतावे? यदि एक छोटे से यंत्र घडी के सम्बन्ध मे यह बात नही सोची जा सकती है तो इस विश्व के सम्बन्ध मे, जिसके कण-कण मे सूक्ष्म और विषम जटिलता छिपी हुई है, कैसे सोचा जा सकता है कि यह अपने आप उत्पन्न होकर इतना व्यवस्थित रूप मे युगो से संचालित हो रहा है?

ऐसा मालूम देता है कि पेली ने ह्यूम की रचना नही पढी थी। यदि वे ह्यूम के विचार से अवगत होते तो उन्हे विदित हो जाता है कि व्यवस्थित विश्व की कल्पना बिना किसी योजनाकार के संभव हो सकती है। परन्तु जेम्स मार्टिनो ने ह्यूम की लेखनी और फिर डार्विन की रचना 'ऑरिजिन आव स्पिसिज' (सन् १८५९) अवश्य पढी होगी। तोभी मार्टिनो के अनुसार यदि जीवो के अंग प्रत्यग पर विचार किया जाय और उनकी सम्बद्धता और अभियोजन-क्षमता पर ध्यान दिया जाय तो मानना पडेगा कि इस प्रकार की सूक्ष्मता अपने आप नही हो सकती है और इसे उत्पन्न करनेवाला अवश्य ही अपरिमित बुद्धिवाला रचयिता होगा।

प्रत्येक जाति के जीव के आहार के उपयुक्त उनके दाँत, पिंड, अँतड़िया इत्यादि अंग बने हुए है। गाय की दाँत, अतड़ियाँ, पेट घास-पात आहार के लिये, बाघ के दाँत, जबड़े, पंजे, अंतड़ियां माँस-भक्षण, अहेर को पकडने और उन्हे पचाने के लिये बने हुए हैं। फिर जिस जाति के प्राणी जिस वातावरण में रहते हैं, ठीक उसके अनुरूप उनके अंग-प्रत्यंग की बनावट होती है। मनुष्य में हाथ, पक्षी में डैने तथा अन्य जन्तुओं में उनके अनुरूप डैने होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी मे वातावरण के अनुरूप साँस लेने के अंग की बनावट होती है। यह अभियोजन-क्षमता, सम्बद्धता तथा जटिल कारीगरी किसी जीव के अग-प्रत्यंग की रचना में ही नहीं, वरन् अनेक जातियों के पारस्परिक अभि-योजन में भी देखा जाता है। उदाहरणार्थ, वनस्पति जगत से पशु जगत अपना

आहार प्राप्त करता है, पर वनस्पति जगत् भी कीट-पतंगों, मधुमक्खियों, इत्यादि से पुष्पित, पल्लवित होता है। मधुमक्खी फूलों से मधु जमा करती है, परन्तु साथ ही साथ पराग रज एक फूल से दूसरे फूल में अपने पैरों से ले जाती है, जिससे पराग-रज के मिलने से बीज उत्पन्न होता और तब इन फूल-पौधों का भविष्य बना रहता है।

अब मार्टिनो पूछते है कि क्या इस प्रकार की विशल और विशद व्यवस्था अपने आप संभव हो सकती है? मार्टिनो के अनुसार इस प्रकार की व्यवस्था आकस्मिक नहीं हो सकती और न अंधाधुनी प्रक्रियाओं का अनायास फल हो सकता है। अतः इस सम्पूर्ण व्यवस्थित विश्व की रचना करनेवाला अवश्य ईश्वर है।

हमलोगों ने सकेत किया है कि जिसने डार्विन के जैविक विकास के सिद्धान्त को पढ़ा है और जिसने उसके पूर्व ह्यूम-रचित "डायलोग्स कन्सर्निंग नेचरल रिलिजन" का अध्ययन किया है, उसे उपर्युक्त युक्ति नही प्रस्तुत करनी चाहिये थी। ह्यूम ने बताया है कि जीवन-संग्राम मे संरक्षित रहने की यह शर्त है कि जीव अपनी परिस्थिति के साथ अभियोजित रहे। यदि किसी परिस्थिति मे घास न होकर केवल झाडी और कटैले वृक्ष हो तो नीची गर्दन की बकरी वहाँ अपने आप विनष्ट हो जायगी और लम्बे गर्दन की ऊँची शरीरवाली बकरियाँ संरक्षित रहेगी। जो इस प्रकृति के विधान और परिस्थिति से उत्पन्न प्रतिबंध को नही समझता है, वह कहेगा कि किसी ने ऊँट को अपने हाथ से ऐसा रचा है कि यह मरुस्थल मे भी थोडे से जल और कटैले वृक्षों के पत्ते खाकर जीवित रहे। परन्तु यह व्यवस्था अपने आप परिस्थिति के प्रति अभियोजन-कार्य से उत्पन्न हो गई है। अतः ह्यूम की उक्ति है कि यदि प्राणियो के शारीरिक अंग-प्रत्यंग की समायोजनापूर्ण व्यवस्था नही होती तो वे युगान्तरो के उथल-पुथल में अनुजीवित रह ही नही सकते थे। इसलिए यह विश्व स्वरचित, स्वसचालित व्यवस्थापूर्ण सत्ता है और इस व्यवस्था की व्याख्या करने के लिए किसी चेतनामय शक्ति की प्राक्कल्पना करना व्यर्थ है।

डार्विन ने ह्यूम के विचारो की आनुभविक पुष्टि की है। उन्होने बताया है कि प्रत्येक जाति के जीवो मे अनायास, अंधाधुनी परिवर्तन होते रहते हैं। इनमें से कुछ परिवर्तन ऐसे होते हैं जिनके द्वारा जीवन-संग्राम में सहायता मिलती है, अर्थात् जिन परिवर्त्तनो के फलस्वरूप भोजन-प्राप्ति में सहायता मिलती है और

फिर तदनुरूप मैथुनिक जोड़ा मिलता है, तब इन परिवर्तनों के साथ उत्पन्न जीव संरक्षित रह जाते हैं। यदि बर्फीले हिमालय में कम और छोटे बालवाली बकरियाँ उत्पन्न हों तो वे ठंड से मर जायँगी। वे उतनी प्रौढ़ावस्था तक जीवित ही न रहे कि तदनुरूप उन्हें बकरा भी मिले। इसलिए कम और छोटे बाल के परिवर्तन को असफल और घने तथा लम्बे बाल के परिवर्तन को सफल परिवर्तन कहा जायगा। अतः, डार्विन ने अनेकों उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि विभिन्न जातियों का विकास अपने आप अंधाधुनी परिवर्तनों के फलस्वरूप होता रहता है। इस प्रकार की दृष्टि से स्पष्ट हो जाता है कि पशु-जगत् की अभियोजित व्यवस्था अनायास होती है और इसे स्पष्ट करने के लिए किसी अलौकिक शक्ति को प्राक्कल्पित करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

एफ० आर० टेनेंट ने ह्यूम और डार्विन की रचनाओं का अध्ययन किया था। उन्होंने बताया है कि उद्देश्यमूलक प्रमाण को समझने के लिए हमे विश्व मे निहित योजना पर ध्यान देना चाहिए। यदि हम किसी घटना अथवा जाति विशेष को अपने अध्ययन का विषय बनावें तो संभव है कि इन घटनाविशेषों के द्वारा विश्व की उद्देश्यपूर्णता स्पष्ट न हो पाए, परन्तु यदि विश्व की महान योजना को इसके सम्पूर्णत्व मे देखा जाय तो विश्व की उद्देश्यपूर्णता स्पष्ट हो जाती है। निर्जीव प्रकृति से जीव उत्पन्न हुए, जीव कालगति मे चेतन प्राणी हुए और मानव चेतना मे आदर्श का ज्ञान उत्पन्न हुआ। विकास की इस विहगम दृष्टि मे स्पष्ट हो जाता है कि विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में सम्पूर्ण सामजस्य देखने मे आता है। निर्जीव और जीव ऊपर मे देखने मे कितने ही विरोधी क्यों न मालूम दे, तोभी इन दोनो मे प्रगाढ सबंध दिखाई देता है, क्योंकि अन्त मे निर्जीव पर ही जीव-जगत् आश्रित रहता है। फिर चेतना और ज्ञान का भी सबध इस निर्जीव प्रकृति के साथ घनिष्ठ दिखाई देता है। प्रकृति की रचना ऐसी है कि इसमे ज्ञान का विकास हो सके और फिर इसकी बनावट ऐसी है कि मानव बुद्धि प्रकृति के नियमो को खोज निकाले। इसी प्रकार मानव ज्ञान और नैतिक एवं धार्मिक आदर्शों के बीच अवियोज्य सबध दिखाई देता है। इस विश्व मे आदर्श निहित है, जिन्हे मानव बुद्धि ग्रहण कर उसके अनुरूप जीवन यापन कर सकता है। अतः, विश्व मे प्रगतिशील एवं अनुक्रमिक विकास देखने मे आता है जो बिना अभिकल्पना के सुबोध नही हो सकता है। विश्व मे निहित कालक्रम में स्पष्ट होती हुई विशाल योजना प्रकृति की बुद्धिगम्यता, निर्जीव प्रकृति द्वारा जीव-जगत् के परिवहन तथा संरक्षण, जीवों मे अंग-प्रत्यंग

के पारस्परिक अभियोजन, प्रकृति के सौंदर्य और उसके द्वारा मानव में आदर्शों की स्फुरण-शक्ति तथा जीव-जगत् एवं मानव में अनुक्रमिक और उत्क्रमिक विकास के द्वारा (यह विश्व-योजना) परिलक्षित एवं पुष्ट होती है।

टेनेंट की विचारधारा विशेष रूप से प्रत्ययवादी विचार से प्रभावित दिखती है, क्योंकि इस प्रकार की योजना को हेगेल, बोसंकेट तथा रॉयस ने अपनी रचनाओं में विशेषकर प्रिंगिल-पैटिसन ने "आइडिया आव गॉड" नामक पुस्तक में मार्मिक रीति से व्यक्त किया है। परन्तु हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि प्रत्ययवादी विचारधारा आनुभविक नहीं है, परन्तु तत्त्वमीमांसीय है। टेनेंट साहब चाहते थे कि वे अपने दार्शनिक धर्मचिंतन को आनुभविक बनाए रखें। परन्तु अपने धर्मचिंतन को वे आनुभविक नहीं रख पाए हैं। उन्होंने एक दृष्टि रखी है, जिसके अनुसार वे विश्व की घटनाओं को समझा जा सके। परन्तु यह तथ्य का विषय नहीं है, वरन् तथ्यों के प्रति अभिवृत्ति अथवा दृष्टि का विषय है। अत:, टेनेंट के उद्देश्यमूलक प्रमाण को प्रमाण नहीं कहा जायगा, क्योंकि तत्त्वमीमांसीय दृष्टि को संज्ञानात्मक नहीं कहा जा सकता है। यह समष्टिपूर्ण दृष्टि का प्रश्न है, जिसमें बौद्धिक तर्क गौण समझे जाते हैं। जब इस दृष्टि में संज्ञानात्मक नहीं है तो इसे 'प्रमाण' संज्ञा कैसे दिया जा सकता है? टेनेंट ईश्वरवादी है और इस एकेश्वरवादी दृष्टि से उन्हें विश्व सामंजस्यपूर्ण अनुक्रमिक व्यवस्था दिखाई देती है। परन्तु इस दृष्टि में सुविधानुसार उन तथ्यों को छोड़ दिया गया है, जिनसे एकेश्वरवादी दृष्टि की पुष्टि नहीं होती है। मिल की दृष्टि टेनेंट की दृष्टि से भिन्न है। उनके अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है और इसलिए ईश्वर की योजना सफल नहीं दिखती है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान, दयालु, शुभ और विश्व का संचालक होता तो सूखा, बाढ़, भूकम्प, तूफान इत्यादि क्यों होते। बूढ़ी विधवा का एकलौता पुत्र भरी जवानी में क्यों मरता? पशु-जगत् में इतनी हिंसा क्यों होती?

अब जहाँ दृष्टि का प्रश्न है, वहाँ किसी प्रकार के निर्णायक तर्क प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। केवल अपने-अपने मत की पुष्टि करने के लिए अनुनयात्मक युक्तियाँ पक्ष-समर्थन के हेतु प्रस्तुत की जा सकती हैं। इन युक्तियों के द्वारा कुछ व्यक्ति पक्ष को अपना सकते हैं, परन्तु विपक्ष का मार्ग कभी भी बन्द नहीं किया जा सकता है। यह विश्व एक ही सत्ता है, जिसे कोई भी सम्पूर्णतया नहीं जान सकता है। इसलिए छः अंधों के समान हाथी-रूपी विश्व के एक पक्ष को एक विचारक अपनाता है और दूसरे पक्ष को दूसरा अपनाता है। ये सब के

सब आंशिक हैं और ह्यूम का कहना है कि प्रत्येक विचारक को इतना मसाला मिल जाता है कि वह अपनी कल्पना को अनेक प्रकार की प्राक्कल्पनाओं की रचना मे दौडाये। अनीश्वरवादी कहेगा कि विश्व में कोई भी विचारपूर्ण व्यवस्था नही है। यदि विचारपूर्ण व्यवस्था होती तो व्यर्थ की बरबादी, मूल्यो का हनन तथा रोग, विप्लव आदि अशुभ क्यो होते? अतः, इन युक्तियों के द्वारा किसी भी प्रकार का निश्चित निष्कर्ष नही स्थापित किया जा सकता है। परन्तु यदि उद्देश्यमूलक प्रमाण को तत्त्वमीमांसीय दृष्टि नही माना जाय और इसे संज्ञानात्मक कहा जाय तोभी यह दोषो से वंचित नही रह सकता है।

विलियम पेली ने उद्देश्यमूलक प्रमाण को साम्यानुमान के द्वारा प्रस्तुत किया है। अब साम्यानुमान को कभी भी संतोषजनक नही माना जा सकता है। अधिक से अधिक साम्यानुमान के आधार पर प्राक्कल्पना की रचना की जा सकती है, परन्तु स्वय साम्यानुमान को कोई युक्ति नही माना जा सकता है। फिर यहाँ जो साम्यानुमान किया गया है, उसमे मान लिया गया है कि यह विश्व एक यंत्र के समान है और इसलिए इस विश्व-यंत्र का निर्माता कोई यान्त्रिक होगा। परन्तु क्या इस यन्त्र-यान्त्रिक के कुंजी-पद द्वारा इस विश्व की व्याख्या की जा सकती है? यन्त्र-यन्त्रकार केवल मानव रचना के लिए उपयुक्त शब्द है। इस मानव स्तर के शब्द को विश्व की व्याख्या करने मे मानवत्वारोप चला आता है। यहाँ हमारी युक्ति की आधार भूमि मे भावना हो रही है कि इस विश्व का रचयिता भी कोई यंत्रकार ही है। अब मानव यंत्रकार किसी भी यंत्र-रचना मे पूर्वस्थित सामग्री और मानसिक प्रतिमान इत्यादि को काम मे लाता है। तो क्या ईश्वर के संबध में भी यह बात कही जा सकती है? यदि विश्व को रचने के लिए पहले से ही सामग्री थी और ईश्वर ने केवल उस सामग्री को नया रूप दिया है तो ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नही माना जायगा। उदाहरणार्थ, कुम्हार मिट्टी के बर्त्तन को मिट्टी से बनाता है। परन्तु वह स्वय मिट्टी को उत्पन्न नही करता है, वह केवल मिट्टी को नया रूप दे देता है। यदि ईश्वर भी किसी शाश्वत सामग्री से (जो विश्व-रचना के पहले से ही विद्यमान है) विश्व की रचना करता है तो इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वर एक शिल्पकार है, न कि सृष्टिकर्त्ता। सृष्टिकर्त्ता वह है जो सामग्री को भी उत्पन्न कर रचना करता है। परन्तु यदि यंत्रकार के समान ईश्वर ने पूर्वस्थित सामग्री से इस विश्व की रचना की है तो वह सृष्टिकर्त्ता नहीं कहा जा सकता है। यदि ईश्वर शिल्पकार हो तो इससे स्पष्ट होगा कि उसको पूर्व-स्थापित सामग्री पर पूर्ण अधिकार नहो होगा

और फिर इस सामग्री के द्वारा उसकी रचना भी सीमित रह जायगी। अतः, सामग्री-द्वारा स्वयं सीमित सत्ता बन जाती है। यही कारण है कि कान्त ने बताया था कि उद्देश्यमूलक प्रमाण के द्वारा केवल शिल्पकार सत्ता को, न कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया जा सकता है। और सीमित ईश्वर पूर्णतया उपास्य नही हो सकता है, क्योंकि उसे सर्वस्व अर्पित कर भक्त अपने जीवन मे पूर्ण स्थिरता नही प्राप्त कर सकता है।

प्रायः, केवल तीन ही प्रमाणों को, सत्तामूलक, विश्वमूलक तथा उद्देश्य-मूलक प्रमाणो को संज्ञानात्मक माना जाता है और हम पाते हैं कि इनमे से कोई भी प्रमाण न तो शुद्ध संज्ञानात्मक है और न ईश्वर को सिद्ध करने मे सफल होता है। इन प्रमाणों के अतिरिक्त नीतिपरक तथा अनुभूतिमूलक प्रमाण भी हैं, परन्तु ये प्रमाण संज्ञानात्मक नहो कहे जा सकते हैं। नीतिपरक प्रमाण आदर्शमूलक है और आदर्श का सम्बन्ध वास्तविकता मे नहीं परन्तु संभाव्यता से रहता है और संज्ञानात्मकता का संबंध वास्तविकता से रहता है। अतः आदर्शाश्रित नीतिपरक प्रमाण को संज्ञानात्मक नही गिना जायगा। उसी प्रकार अनुभूतिपरक प्रमाण रहस्यानुभूति पर आधारित है और रहस्यमयता को संज्ञानात्मक नहीं समझा जाता। इसलिये इन प्रमाणो को 'प्रमाण' समझना ही नही चाहिये। परन्तु कोई भी ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण सही अर्थ मे प्रमाण नहो हो सकता है। जिन्हे हम प्रमाण कहते हैं, वे केवल अनुनयमात्र है। इसी रूप में नीतिपरक और अनुभूतिमूलक प्रमाण भी हैं और हम इनमे से नीतिपरक प्रमाण की व्याख्या करेंगे। अनुभूतिमूलक प्रमाण की चर्चा धर्म-ज्ञान के अन्तर्गत की जायगी।

नीतिपरक प्रमाण

उपास्य ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये इस नीतिपरक प्रमाण को प्रमुख समझना चाहिये, क्योंकि न तो कोरा अस्तित्वपूर्ण ईश्वर और न कोरा सृष्टिकर्त्ता ईश्वर उपास्य हो सकता है। केवल शुद्ध सत्संकल्पी, पवित्र शुभेच्छायुक्त ईश्वर ही परम उपास्य माना जायगा और नीतिपरक प्रमाण स्पष्ट करना चाहता है कि इस विश्व का आधार शुभ और शिव ईश्वर है। परन्तु हम देखेंगे कि इस प्रमाण को मूल्यात्मक कहा जा सकता है, परन्तु इसे शायद ही कोई संज्ञानात्मक कहे। चूँकि ५० वर्ष पहले तत्त्वमीमांसा को लोग संज्ञानात्मक मानते थे, इसलिये नीतिपरक प्रमाण को तत्त्वमीमांसीय बनाकर

इस प्रमाण को विचारक संशात्मास्तिक रूप मे समझने लगे थे। इस प्रमाण के संस्थापक इमानुएल कान्त (सन् १७२४-१८०४) माने जाते हैं। परन्तु कान्त के अनुसार नीतिपूर्ण एवं शुभ ईश्वर हमारी आस्था का विषय है, न कि सज्ञान का। उन्होने कहा था 'तारों से भरा आकाश और मन के अन्दर नैतिक नियम, ऐसी दो वस्तुएँ हैं जिनपर हम जितनी ही अधिक बार और स्थिरता के साथ ध्यान दें, उतना ही नवीन रूप से (ईश्वर के प्रति) श्रद्गद् भाव और आश्चर्य रस का संचार होता है"।

इस बीसवीं शताब्दी मे हेस्टिंग्स रैशडेल ने (सन् १८५८-१९२४) "दी थेअरी आव गुड ऐंड इविल" (१९०७, क्लैरेंडन प्रेस) मे तथा डब्ल्यू आर. सोर्ले ने (सन् १८५५-१९३५) "मौरल वैल्यूज ऐंड दी आइडिया आव गौड" (कैम्ब्रोज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९१८) में नीतिपरक प्रमाण को तत्त्वमीमांसा के स्तर पर व्यक्त किया है। हे. जे. पेटन को नीतिपरक प्रमाण को पुष्ट करनेवालों में प्रमुख माना जायगा। इन्होने अपने मत को "दी माडर्न प्रिडिकामेंट" (मैकमिलन, १९५५) में व्यक्त किया है। हम कान्त, रैशडेल और सोर्ले के मतों को पृथक् पृथक् व्याख्या करेंगे।

कान्त द्वारा प्रस्तुत नीतीपरक प्रमाण

कान्त के अनुसार मानव दो विभिन्न जगत् का प्राणी है। एक ओर वह अन्य पशुओं के समान मूल प्रवृत्तियों, भाव और संवेग से नियंत्रित होता है और फिर वह आदर्शों अथवा मूल्यों से भी संचालित होता है। पाशविक स्तर पर मानव मूल प्रवृत्तियों को संतुष्टि प्राप्तकर सुख प्राप्त करता है और नैतिक स्तर पर वह कर्त्तव्यपरायण होने का आदेश प्राप्त करता है। पशु रहने की हैसियत से वह कारण-कार्य अथवा नियतिवाद से जकड़ा हुआ दिखता है; परन्तु अपने नीति-आचार मे मानव स्वतन्त्र रहता है। कान्त ने नीति को स्वायत्त माना है, अर्थात् कर्तव्य का आदेश किसी भी प्रतिबन्धों से जुटा नहीं होता है। उदाहरणार्थ 'हमें सत्य बोलना चाहिये', 'चोरी नहीं करनी चाहिये', इत्यादि कत्तव्यों का आदेश प्रतीत हाना है। हमे बताया जाता है कि नीतिवान् व्यक्ति को बिना कर्त्तव्यों के फल पर विचार किये हुए अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये। नैतिक कर्त्तव्य को निर्प्रतिबन्ध माना जाता है, अर्थात् हमे ऐसी शर्त नहीं बना लेनी चाहिये कि दूकान से वस्तु नहीं चोरी करना चाहिये, या माँ के पैसे को नहीं चुराना चाहिये, परन्तु बी. ए. की परीक्षा की

स्थिति कुछ और है। यदि छात्र अपनी सुविधा के लिए कहे कि यहाँ सब बात को ध्यान में रखकर छात्रों को चोरी करनी चाहिये, तो कान्त के अनुसार यह नैतिकता नहीं हुई। हमें अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्यनिष्ठ होकर निभाना चाहिये, इसमे किसी अपवाद को जगह नहीं देना चाहिये।

फिर चूँकि नैतिक आदेश के पालन करने में स्पष्ट मालूम देता है कि नैतिकता का पालन केवल स्वतंत्र रहकर ही सम्भव है। उदाहरणार्थ, नैतिक आदेश है, सत्य बोलो। अब जहाँ सत्य बोलने का आदेश है, वहाँ दूसरा पक्ष झूठ बोलने का भी है। अतः, सत्य बोलने और झूठ बोलने के दो पक्ष हैं और व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र होता है कि वह इन दो विकल्पों मे से किसी एक को अपनाये। यदि किसी को डरा-धमका कर सत्य बोलने के लिये बाध्य किया जाय तो इससे वह सत्यवादी नही कहा जायगा। उसी प्रकार यदि हम अपनी स्वतंत्र इच्छा के आधार पर कर्त्तव्यनिष्ठता से अनुबाध्य होकर दान दें तो इसे अच्छा कहा जायगा। परन्तु यदि छूरा दिखाकर रुपये लूट लिये जाएँ तो इसे दान नही कहा जायगा। अतः, कर्त्तव्यता केवल इच्छा-स्वातंत्र्य के रहने पर ही संभव हो सकती है।

फिर यदि व्यक्ति अपनी मूल प्रवृत्तियो से, उदाहरणार्थ, भूख-प्यास, निन्द्रा-आहार इत्यादि वासनाओं से सचालित हो तो वह पशु-जगत् का प्राणी होगा, उसका सम्पूर्ण व्यवहार कारण-कार्य के नियतिवाद से जकड़ा हुआ होगा। परन्तु हमलोगों ने देखा है कि कर्त्तव्य को इच्छा-स्वातन्त्र्य से संचालित रहना चाहिये। इसलिये कान्त के अनुसार भाव-सवेग एवं मूलप्रवृत्तियों से संचालित कर्मों को नैतिकता की संज्ञा नही देनी चाहिये। परन्तु जबतक मूल प्रवृत्तियों की संतुष्टि नही होगी तबतक सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। चूँकि कान्त के अनुसार नैतिक आदेश केवल नैतिक प्रज्ञा से ही संचालित होना चाहिये, और उसमे पाशविक वृत्तियों का अंश नही रहना चाहिये, इसलिये नैतिक कर्त्तव्यता को सुख-निरपेक्ष समझना चाहिये। अतः, कर्त्तव्यनिष्ठता से सुख-प्राति की अपेक्षा नही की जा सकती हैं, क्योंकि इनके भिन्न-भिन्न स्रोत हैं (*) अर्थात्

* परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि कान्त ने यह बताया है कि कर्त्तव्य सुखविहीन होता है। कान्त का सिद्धान्त है कि कर्त्तव्यपरायणता सुखनिरपेक्ष होता है, अर्थात् सुख भी मिल सकता है और दुःख भी। अतः, कर्त्तव्यनिष्ठता को सुखविहीनता की संज्ञा नहीं दी जा सकती हैं। देखें, एच० जे० पेटन, "कैटगोरिकल इम्पेरिटिव", हचिंसन प्रेस। संक्षिप्त व्याख्या के लिये देखें, या मसीह, 'पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास"।

सुख-प्राप्ति का स्तर प्रातिभासिक जगत् है और तर्कबुद्धि का स्तर पारमार्थिक जगत् है । संभव है कि चूंकि मानव दोनों जगत् का प्राणी होता है, इसलिये अमुक कर्म दोनों प्रकार से, पाशविक वृत्तियों एव तर्कबुद्धि दोनों से नियंत्रित हो। उदाहरणार्थ, किसी मित्र के प्रति कर्त्तव्य निभाने में सुखप्राप्ति के साथ कर्त्तव्यपालन भी हो जाय। परन्तु कान्त के अनुसार नैतिकता कर्त्तव्यता से उत्पन्न होती है, न कि सुखप्राप्ति के लिये। अतः, नैतिकता स्वलक्ष्य है और इसमें सुख-दुःख-निरपेक्षता रहती है।

परन्तु कान्त के अनुसार सुखप्राप्ति भी अभीष्ठ मूल्य है और कर्त्तव्य-परायणता-सुख निरपेक्ष होती है। बहुधा कर्त्तव्यपरायणता मे सुख का अभाव रहता है। सत्यवादी को, उदाहरणार्थ, राजा हरिश्चन्द्र को सत्यता-निभाने मे अत्यन्त गम्भीर कठिनाइयो का सामना करना पड़ा था। इसी प्रकार वर्त्तमान युग मे अनेक देशसेवियो को, साहित्यसेवियो को तथा ईमानदारो को दुख प्राप्त हो रहा है। अब मानव के अन्दर दो स्वतन्त्र शक्तियां हो सकती हैं, परन्तु वह एक जीव है और अन्त मे सुख और नैतिकता मे समन्वय होना चाहिये। इनके बीच कैसे समन्वय हो सकता है ? इसका प्रत्युत्तर करने के लिये एक-दो बातें उल्लेखनीय हैं। मानव की नैतिक बुद्धि का परम लक्ष्य है कि निःश्रेयस् की प्राप्ति की जाय और नि.श्रेयस् से तात्पर्य है परमानन्द जीवन से और इस प्रकार के जीवन मे सुख और कर्त्तव्य धर्म, दोनो का सम्मिश्रण रहता है। फिर इस नि.श्रेयस् की प्राप्ति मे पवित्र संकल्पी होना चाहिये। इस जीवन में, चूकि मानव पशु और नीतिवान् दोनो है, इसलिये अपने कर्त्तव्य के निभाने में व्यक्ति को पाशविक वृत्तियो के उद्दीपन के कारण प्रलोभन चला आता है, उसके जीवन मे पाशविकता और आचार, इन दोनो के बीच संघर्ष होता रहता है। परन्तु अन्तिम लक्ष्य यही है कि मानव ऐसा दृढ सत्संकल्पी जीव बन जाय कि उसके लिये कर्त्तव्यनिष्ठता अनायास रूप से कार्यान्वित होने लगे। कान्त के अनुसार इस प्रकार की साधना के लिये असंख्य जीवनों की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु इस प्रसंग में कान्त द्वारा अमरता की बात छोड़ भी दी जाय तो भी कान्त के सत्संकल्प के सिद्धान्त में परमानन्द जीवन के आदर्श मे कर्त्तव्य-निष्ठता और सुखप्राप्ति का समन्वय चला आता है।

फिर यह ठीक है कि कान्त ने नीति को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने के लिये इसे पाशविक जीवन से एकदम पृथक माना है और इस प्रकार के द्वैतवाद से सुख और आचार दोनों के बीच विरोध चला आता है। परन्तु कान्त का असली

अभिप्राय यह नहीं था कि इन दोनों को, अर्थात् सुख-प्राप्ति और कर्त्तव्य-परायणता को एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रखा जाय। उन्होंने नैतिकता को आस्था का और सुखप्राप्ति को ज्ञान का विषय माना था। पर क्या आस्था और ज्ञान में विरोध है? नहीं। आस्था ज्ञान से ऊपर पारमार्थिक स्तर से उत्पन्न होती है और इसलिये ज्ञान केवल साधन है ताकि इसके द्वारा आस्था का विषय, अर्थात् नैतिकता को प्राप्त किया जाय। कान्त के लिये ज्ञानी पुरुष समाज के लिये उपयोगी होता है, परन्तु ज्ञानी की अपेक्षा सत्संकल्पी अधिक मूल्यवान् होता है। पुनः, कान्त के लिये नैतिकता की मान्यताएँ स्वयं ज्ञान सीमा से ही उपलक्षित होती हैं। अतः, नैनिकता ज्ञान को भी पुनीत बनाती है। इसलिये अन्तिम रूप में, यदि कान्त के दर्शन की सूक्ष्म परीक्षा की जाय तो उसमे ज्ञान और आस्था, सुख और कर्तव्यता में इतना विरोध नही दिखेगा, जितना कान्त-दर्शन के टीकाकारों ने दिखाने की कोशिश की है।

अब उपर्युक्त बातों को ध्यान मे रखकर हम इसका प्रत्युत्तर करेंगे: किस प्रकार से सुखप्राप्ति और कर्त्तव्यनिष्ठता के बीच समन्वय हो सकता है? सर्वप्रथम, कान्त के अनुसार, नि.श्रेयस् का चरम लक्ष्य नैतिकता मे अन्तर्निहित दिखाई देता है, जिसमे सुख और कर्तव्यपरायणता दोनों अवियोज्य रीति से समाविष्ट हैं। चूँकि नि.श्रेयस्-प्राप्ति की उत्प्रेणा मानव मे पायी जाती है, इसलिये इसके अनुरूप वास्तविकता भी अवश्य होगी। परन्तु इस प्रकार की अपेक्षा करना आत्मनिष्ठ कहा जायगा। आत्मनिष्ठ रूप से हम भरोसा कर सकते हैं कि जिस ईश्वर ने मानव मे प्रातिभासिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकार का स्वभाव रचा है, वह उन दोनों प्रकार के स्वभावो को ध्यान मे रखकर इन्हे समन्वित कर देगा, अर्थात् कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को उसके कर्त्तव्यपरायणता के अनुसार परमानन्द का लाभ होने देगा। परन्तु इस प्रकार की आशा केवल आत्मनिष्ठ है और इसको वस्तुनिष्ठता नहीं प्राप्त की जा सकती है। वह विश्वास जो आत्मनिष्ठ रूप से पर्याप्त हो, परन्तु वस्तुनिष्ठ रूप से अपर्याप्त हो उसे (उस विश्वास को) आस्था-संज्ञा कहा जाता है। अतः ईश्वर जो मानव को अन्त में उनकी कर्त्तव्यनिष्ठता के अनुसार सुख प्रदान करेगा, वह हमारी आस्था का विषय है, न कि संज्ञान का। तोभी कान्त हमे बताते हैं कि कर्त्तव्यनिष्ठता अथवा नैतिकता स्वायत्त है और कर्त्तव्य को इसलिये नही पालन करना चाहिये कि अन्त में मानव को सुख प्राप्त ही हो जायगा, और न इसलिये कर्त्तव्य-पालन करना चाहिये कि नैतिकता-प्राप्ति ईश्वर की इच्छा है। परन्तु ईश्वर को

इसलिये मन्तव्य के रूप में स्वीकारा जाता है कि वह नैतिक विचार का अनिवार्य परिलक्षण सिद्ध होता है। अब ईश्वर के अस्तित्व को नैतिकता का उचित परिलक्षण कहा जायगा, परन्तु इसे संज्ञानात्मक निष्कर्ष नहीं माना जायगा। हाँ, यह ठीक है कि यदि ईश्वर न हो जो प्रत्येक व्यक्ति को उसकी कर्त्तव्यनिष्ठता के अनुसार परमानन्द प्रदान करे, तो नैतिकता में अन्तर्निहित अन्तर्ध्वनि अपूर्ण रह जायगी। ईश्वर हमारी नैतिकता का उचित, तर्कसंगत तथा परिलक्षित मन्तव्य है।

अन्त मे, यद्यपि कान्त ने नैतिकता का स्वायत्त माना है और बताया है कि सभी प्रकार से अन्य प्रतिबंधो से मुक्त नैतिकता स्वनिर्भर है और धर्म अथवा अन्य आधारों पर आधारित नहीं है तो भी कान्त ने स्वीकार किया है कि कर्त्तव्य निभाना आसान नही है। इसलिये उन्होने माना है कि नैतिकता-पालन मे हमे मनोवैज्ञानिक प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये और इसके लिए हमे समझना चाहिये कि नैतिक आदेश ईश्वर का आदेश है। लेकिन यहाँ भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वर की आज्ञा मानकर नैतिक आदेशो का पालन करना केवल मनोवैज्ञानिक साधन है, न कि नैतिकता का औचित्य-प्रतिपादन। ईश्वर की आज्ञा मानकर नैतिक आदेशो का पालन नैतिकता की अनुशास्ति नहीं है, परन्तु नैतिक इच्छा मे अन्तर्निहित माँगों की उचित पूर्ति है। अतः, कान्त के अनुसार ईश्वर विश्व के मूल्यों का और विशेषकर नैतिक मूल्यों का अन्तिम श्रोत तथा उनकी युक्तिमूलकता है। इस अर्थ में, कान्त के अनुसार, ईश्वर का अस्तित्व सम्पूर्णतया बुद्धिसगत माना जायगा।

आलोचना

कान्त के इस नैतिक ईश्वरवाद में कई विशेषताएं हैं, जिन्हे आगे चलकर रैशडेल तथा सोर्ले ने और अधिक स्पष्ट करने की कोशिश की है। सर्वप्रथम, कान्त के अनुसार, जो कुछ मानव की मनोकामनाएँ हैं, उनके अनुरूप अवश्य ही वास्तविकता भी होनी चाहिये। जहाँ तक मानव में नैतिकता की माँग है, उसके अनुसार उसे कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के हेतु करना चाहिये। कर्त्तव्य सवर्था सुख-निरपेक्ष होता है। यह भी संभव है कि कर्त्तव्यपरायणता में सुख की अपेक्षा दुःख की ही मात्रा अधिक पाई जाय। तो भी, कांत के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को प्रामाणिक अथवा सच्चा व्यक्ति बनने के लिये कर्त्तव्यपरायण होना चाहिये। लेकिन व्यक्ति की आन्तरिक मांग यह भी है कि उसे उसकी कर्त्तव्यता के अनुरूप सुखप्राप्ति भी हो। अतः, इस आन्तरिक विधयिनिष्ठ दृढ़ विश्वास

के अनुरूप वास्तविकता भी होगी। चूँकि इस संसार मे कर्त्तव्यपरायणता और सुखप्राप्ति में अनुरूपता नहीं देखने मे मिलती है, इसलिये मृत्यूत्तर जीवन में इन दोनों के समन्वय की आशा करना बुद्धिसगत माना गया है। परन्तु इस आशा का बौद्धिक आधार क्या है ? इसके दो आधार बताए गए है, (१) या तो कहा जाय कि विषयिनिष्ठता के अनुरूप वास्तविकता पायी जाती है, या (२) सम्पूर्ण विश्व की ऐसी सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था है कि मानव के इतिहास में विश्व का इतिहास छिपा हुआ है और यह बताता है कि सम्पूर्ण विश्व मानव-विकास मे अन्तर्निहित रहता है तथा उसकी सम्पूर्ण शक्तियों का परिवहन करता रहता है। अत., इसमे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानव अकांक्षाएँ भी विशेषकर मूल्यो के प्रति अभिलाषाएँ भी, ऐसी हैं जो परम सत्ता में गर्भित मानी जा सकती हैं। अत:, इन मूल्यों के साथ इसमे अन्तर्निहित कर्त्तव्यनिष्ठता और सुखप्राप्ति की माँगें भी सत् होनी चाहिये।

वास्तव में देखा जाय तो (१) का भी आधार (२) ही को माना जायगा, क्योकि विषयिनिष्ठ निश्चितता को कोई भी वस्तुनिष्ठ सत्यता नही मान सकता है। अत:, कान्त के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व आस्था का विषय है, ज्ञान का नही। वास्तव मे कान्त ने (२) को स्पष्ट रूप मे नही रखा है, क्योंकि कान्त स्वयं शुद्ध तत्त्वमीमांसी नही थे। बाद में हेगेलीय प्रत्ययवादियो ने जड़ और जीव, जीव और चेतन तथा चेतन और आदर्श के बीच तात्विक सम्बन्ध स्थापित कर स्पष्ट किया है और इसके आधार पर आदर्शों की वास्तविकता भी मानी है। यह बात विशेषकर रैशडेल के नीतिपरक प्रमाण मे बताई जायगी। परन्तु कान्त ने इसका सकेत अवश्य किया है कि मानव की दो विरोधी प्रकृतियो का रचनेवाला केवल एक ही सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है। अत:, आशा की जा सकती है कि ईश्वर ने ही ऐसी व्यवस्था की होगी कि अन्त मे कर्त्तव्यनिष्ठता और सुखप्राप्ति के बीच समन्वय स्थापित किया जाय। अब कर्त्तव्यनिष्ठता और सुखप्राप्ति का संबंध क्यों नही स्थापित किया जा सकता है, इसे सोर्ले ने स्पष्ट करने की कोशिश की है। उन्होने बताया है कि सत्संकल्पी जीव का विकास अनुक्रमिक है और इसलिए कर्त्तव्यपरायणता निभाने मे कठिनाइयों का रहना अनिवार्य है। परन्तु कर्त्तव्यनिष्ठ सत्संकल्पी जीव का विकास इस विश्व का लक्ष्य है और इस समय मानव के अपने इच्छा-स्वातंत्र्य के दुरुपयोग से अशुभ अथवा दुःख का होना अवश्यम्भावी है। परन्तु फिर

मानव की यह पुनीत आशा है कि अन्त में अशुभ का विलयन होगा और कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तियो को शुभ-लाभ होगा।

शायद कान्त के नैतिक ईश्वरवाद का सबसे बड़ा दोष यह था कि उन्होने सुख और कर्त्तव्यता के बीच बहुत बड़ी दीवार खडी कर दी है। यदि ये दोनो विषमजातीय विषय हैं तो इनके बीच मेल कैसे स्थापित किया जा सकता है ? जो विषम तर्कसगत रूप मे समन्वित नही किया जा सकता है उन्हे ईश्वर की दुहाई देकर सामजस्यपूर्ण बनाना कृत्रिम समाधान समझा जायगा। इसलिये कान्त ने सुखप्राप्ति और कर्त्तव्यनिष्ठता के बीच दैवी समाधान बताकर समस्या को असमाधेय बना दिया है। यही कारण है कि समकालीन विचार के प्रवर्तक बोन्होयेफर ने इस प्रकार की ईश्वर-धारणा को समस्या-असमाधेयक बताकर इसे छोड़ने की सलाह दी है।

कान्त ने स्वय ईश्वर के अस्तित्व को नैतिक अनुभूति का अनिवार्य आपादान के रूप मे माना था और उन्होने इस प्रमाण को तत्त्वमीमासीय नही किया था। परन्तु आगे चलकर रैशडेल और सोर्ले ने इस नीतिपरक प्रमाण को तत्त्वमीमासीय बना दिया है।

हेस्टिंग्स रैशडेल का नीतिपरक प्रमाण

रैशडेल प्रत्ययवादी तत्त्वमीमासी हैं, जिनके अनुसार निरपेक्ष आत्मा ही परम सत्ता है। फिर प्रत्ययवादी मन्तव्य के अनुसार सत्यता वही है, जो अन्य सभी अनुभूतियो से मेल खा जाय। अतः, नैतिक मूल्यो की सत्यता मानव की सम्पूर्ण अनुभूतियो से मेल खाना चाहिये। पुन:, रैशडेल के अनुसार, नैतिक मूल्य को निरपेक्षतया सत्य समझना चाहिये। इसलिये अन्तिम रूप से निरपेक्ष मूल्यों का स्पष्टीकरण केवल परम सत्ता के आधार पर हो सकता है। रैशडेल की मान्यताओं को निम्नलिखित रीति से सुबोध किया जा सकता है।

यदि नैतिकता को मान्यता दी जाय तो इसमे अन्तर्निहित आवश्यकताओं को भी स्वीकार करना चाहिये। अब बिना मानव-आत्मा को यथार्थ माने हुए नैतिकता की संभावना सभव नही हो सकती है। यह ठीक है कि ज्ञान के क्षेत्र मे मानव-मन को और उसकी संज्ञानात्मक प्रतिक्रियाओं को वास्तविक समझा जाता है और माना जाता है कि ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के सही स्वरूप का सत्य प्रतिपादन किया जाता है। किन्तु यदि ज्ञानप्राप्ति में मन को और उसकी

प्रक्रियाओ को ज्ञेय-वस्तु के प्रकाशन के लिये सत्य मान लिया जाय तो उसके अनुरूप हमें मानव की नैतिक प्रक्रिया और उसमें अन्तर्निहित शुभ का मूल्य भी सही और वास्तविक मानना चाहिये। फिर, जिस प्रकार संज्ञानात्मक सत्यता को प्रत्ययवादी रैशडेल के अनुसार, अन्य सभी अनुभूतियों के साथ मेल खाना चाहिये, उसी प्रकार नैतिक सत्यता को भी अन्य सभी अनुभूतियों के साथ मेल खाना चाहिये। इस नैतिक सामंजस्यपूर्णता का अभिप्राय क्या है?

रैशडेल के अनुसार, व्यक्ति नैतिक जीव होता है और उचित-अनुचित के भेद को ध्यान मे रखकर वह कार्य-सम्पादन करता है और यदि वह चाहे तो नैतिक मूल्यों से अपनी सम्पूर्ण अनुभूति के साथ मेल स्थापित किये बिना भी नैतिक बना रह सकता है। परन्तु हम बिना सच्ची अथवा खरी नैतिकता को समस्त अनुभूतियो के साथ समन्वित किये हुए इस नैतिकता की व्याख्या नही कर सकते, क्योकि नैतिक मूल्य वास्तविक स्थितियो तथा अन्य मूल्यों की तुलना मे केवल आशिक है और अश का मूल्याकन बिना सम्पूर्णत्व के सभव नहीं है। इसलिये सच्ची नैतिकता की व्याख्या तत्त्वमीमांसीय हुए बिना सतोष-जनक नही हो सकती है।

यदि नैतिकता पर हम विचार करें तो हमे स्वीकार करना होगा कि नैतिक मूल्य अथवा मानव उसी प्रकार वस्तुनिष्ठ है, जिस प्रकार ज्ञानवस्तु कुर्सी-टेबुल ज्ञानेतर बाह्यनिष्ठ कही जाती हैं। परन्तु क्या नैतिक आदर्श का वस्तुनिष्ठता जड़वाद तथा प्रकृतिवाद के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है? जड़वाद के अनुसार सभी आदर्श भ्रम है। अब यदि आदर्श भ्रम हों तो इस जड़वाद के अनुसार नैतिक मानकों की वस्तुनिष्ठता किस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है? इसी प्रकार प्रकृति मे नैतिक मूल्य नही दिखाई देते हैं। वास्तव मे नैतिक मूल्यों का स्थान मानव चेतना में पाया जाता है। पर क्या मानव चेतना के आधार पर निरपेक्ष एवं वस्तुनिष्ठ नैतिक शुभ तथा मूल्य की व्याख्या की जा सकती है? रैशडेल के अनुसार यदि निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ नैतिकता न हो तो वह सच्ची अथवा विशुद्ध नैतिकता नही हो सकती है। यदि नैतिकता की निरपेक्षता मान ली जाय तो मानव चेतना के आधार पर सच्ची नैतिकता की व्याख्या नही की जा सकती है, क्योकि मानव नैतिकता केवल सीमित रूप में दिखती है। फिर नैतिक आदर्श मानव चेतना से परे और अतीत प्रतीत होता है। हम समझते हैं कि अमुक मानव या समस्त मानवजाति का भी

विनाश हो जाय तो भी नैतिक आदर्श अक्षुण्ण रहेंगे। अतः मानव की चेतना के द्वारा वस्तुनिष्ठ एवं निरपेक्ष नैतिकता की व्याख्या संभव नहीं हो सकती है। तब इसकी व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है ?

वैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा की मान्यता है कि वैज्ञानिक ज्ञान के अनुरूप वास्तविकता भी है। उसी प्रकार सच्ची नैतिकता की सही व्याख्या के लिये हमे मानना पड़ेगा कि नैतिक मूल्य भी वास्तविक हैं। परन्तु हम देख चुके हैं कि यह नैतिक मूल्य न तो जड पदार्थ, न प्रकृति और न व्यक्तिविशेषों में पाया जा सकता है। अनः, नैतिक मूल्य निरपेक्ष एव वस्तुनिष्ठ रूप में केवल एक निरपेक्ष मानस अर्थात् ईश्वर में ही साकार होकर वास्तविक माना जा सकता है। यह ठीक है कि बिना इच्छा-स्वातन्त्र्य के नीति संभव नहीं है। परन्तु बिना ईश्वर को स्वीकार किये नैतिक मूल्यों की नित्यता, निरपेक्षता तथा वस्तुनिष्ठता स्पष्ट नहीं की जा सकती है। अत, नैतिकता के साकार रूप ईश्वर को नैतिकता का अनिवार्य मन्तव्य स्वीकारा जा सकता है।

आलोचना

रैशडेल का नीतिपरक प्रमाण तत्त्वमीमांसात्मक है और हम देख चुके हैं कि तत्त्वामामासा को सज्ञानात्मक नहीं कहा जा सकता है। समष्टिपूर्ण विश्व किसी भी अनुभूति का विषय नहीं होता और जहाँ अनुभूति, नहीं वहाँ ज्ञान सभव नहीं हो सकता है। विश्व की समष्टिपूर्णता एक विहंगमदृष्टि है। यह दृष्टि कोई ज्ञान नहीं है, अपितु विश्व के प्रति एक अभिवृत्तिमात्र है। चूंकि रैशडेल ने नीतिपरक प्रमाण को सन् १६०७ में प्रस्तुत किया था, इसलिये उस युग के अनुसार वे तत्त्वमीमासा को संज्ञानात्मक समझते थे। परन्तु अब समकालीन दर्शन मे तत्त्वमीमासा को संज्ञानात्मक नहीं माना जाता है। अतः रैशडेल के प्रमाण को संज्ञानात्मक नहीं माना जा सकता है। अधिक-से-अधिक इसे शुभ ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे अनुनयमात्र माना जा सकता है।

फिर रैशडेल समझते थे कि नैतिक मानक वस्तुनिष्ठ एवं निरपेक्ष हैं। परन्तु ये मानक मानव के निर्णयों पर आधारित रहते हैं और ये निर्णय ज्ञानवृद्धि, युग-मान्यता, अन्य क्षेत्रों के मानक इत्यादि पर निर्भर करते हैं। अतः, इन निर्णयों को रूढ़िगत कहा जायगा, न कि शाश्वत, नित्य तथा निरपेक्ष। पुनः, नैतिक मानक अभिसामयिक* रहने के कारण न तो निरपेक्ष होते

* सर्वसम्मत पर आधारित।

और न वस्तुनिष्ट। प्रत्येक युग के अधिकारी विशेषज्ञो पर आधारित रहने के कारण इन्हें सापेक्ष माना जायगा। उदाहरणार्थ, मैथुनिक सम्बन्ध की शुद्धता को अब वह नैतिक मान्यता प्राप्त नही है, जो मध्ययुग मे या विक्टोरिया-युग मे प्राप्त थी। फिर नैतिक मूल्य आदर्श है और आदर्श मानव-चेतना पर निर्भर माने गये है। आदर्शों एव मूल्यो को मानवनिरपेक्ष वास्तविकता मानना कठिन है। अत:, रैशडेल की तत्त्वमीमासा का आधार भी समकालीन दर्शन मे ठोस नही माना जा सकता।

अत, रैशडेल के नीतिपरक प्रमाण को तत्त्वमीमासीय रहने के कारण सज्ञानात्मक नही कहा जायगा और सज्ञानात्मक नही होने के कारण इसे 'प्रमाण' की सज्ञा भी नही दी जा सकती है।

विलियम रिचो सोर्ले का नीतिपरक प्रमाण

रैशडेल के समान सोर्ले भी विश्व का नीतिमूलक उद्देश्यपूर्णता के आधार पर शुभ ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना चाहते हैं। उनका प्रश्न है—क्या विश्व उद्देश्यपूर्ण है या उद्देश्यविहीन ? यदि विश्व उद्देश्यविहीन है तो किसी प्रकार का व्यवस्थित चिंतन, जिसे 'दर्शन' की संज्ञा की जाती है, सभव नही। अत., विश्व को उद्देश्यपूर्ण समझना चाहिये। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि इस विश्व मे एक ओर प्रकृति है और दूसरी ओर नैतिक व्यवस्था। ये दोनो कितने ही परस्परविरोधी क्यो न दिखें, लेकिन इन दोनो प्रकार की व्यवस्थाएँ परम सत्ता मे स्थित मालूम देती हैं। अब यदि सम्पूर्ण विश्व वास्तव मे सामंजस्यपूर्ण है (क्योकि हमलोगो ने इस विश्व को उद्देश्यपूर्ण मान लिया है) तो हमे मानना पडेगा कि यह सामंजस्यपूर्णता मानव के नैतिक विकास द्वारा स्पष्ट की जा सकती है।

सर्वप्रथम, हमे मानना होगा कि यदि यह विश्व उद्देश्यपूर्ण हो तो यह उद्देश्यपूर्णता विश्व की कालगति मे प्राप्त होगी। यह ठीक है कि काल के अनत प्रवाह मे कोई ऐसी घटना नही बतायी जा सकती है, जिसमे यह उद्देश्यपूर्णता पूरी होती है, परन्तु इस कालगत घटनाओ के ध्यानपूर्वक निरीक्षण से हमे इस उद्देश्यपूर्णता का अवबोध* हो जाता है। फिर इस उद्देश्यपूर्णता की प्राप्ति में मानव ही को आवश्यक साधन बनाया जाता है, जिसके द्वारा यह उद्देश्यपूर्णता

* 'अवबोध' से तात्पर्य है कि जहाँ पूर्ण एवं निश्चित बोध न हो। ज्ञान-झाँकी तथा ज्ञान-स्पर्श को अवबोध कहा जा सकता है।

कालगति में क्रमशः प्राप्त होती है। अब यदि मानव को इस उद्देश्यपूर्णता का साधन माना जाय तो हमें मानना पड़ेगा कि मानव के लिए उसकी नैतिकता उसके जीवन का चरम लक्ष्य है। अतः, हमे स्वीकार करना पड़ेगा कि विश्व की उद्देश्यपूर्णता अन्तिम रूप मे नैतिक शुभ प्राप्ति मे स्पष्ट होती है।

अब यदि इस विश्व का रचयिता ईश्वर हो जो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और शुद्ध रूप से शुभ है तो किस प्रकार से इस विश्व के चरम लक्ष्य शुभप्राप्ति को स्पष्ट किया जाय ? यह प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इस विश्व मे अशुभ वास्तविक रूप मे पाए जाते हैं और विशेषकर ये अशुभ अनैतिक कहे जा सकते हैं। अतः, सर्वशक्तिमान् ईश्वर इस नीतिमूलक विश्व मे क्यो अशुभ को प्रश्रय देता है ? सोर्ले के अनुसार नैतिक शुभ केवल स्वतन्त्र इच्छायुक्त जीवो के द्वारा प्राप्त हो सकता है। फिर इच्छा-स्वातंत्र्य के रहने पर मानव इसका सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी। अत., ईश्वर ने मानव को इच्छा-स्वातत्र्य देकर अपने से अपनी शक्ति को सीमित किया है। सोर्ले का विचार फ्लू, मैकी इत्यादि समसामयिक विचारको से भिन्न है। फ्लू, मैकी इत्यादि समकालीन दार्शनिको के अनुसार ईश्वर मानव के इच्छा-स्वातत्र्य का ऐसा नियत्रण कर सकता है कि मानव कभी भी अपनी इच्छा का दुरुपयोग न करके सभी समय शुभ विकल्प को अपना सकता है। परन्तु सोर्ले के अनुसार ईश्वर भी इच्छा-स्वातत्र्य को कभी पूर्णतया नियत्रित नही कर सकता है। अत, ईश्वर ने मानव को इच्छा-स्वातत्र्य देकर अपने को आत्म सीमित कर लिया है। ईश्वर चाहता है कि व्यक्ति सभी समय, सभी स्थितियो मे अपनी इच्छा को नैतिक शुभप्राप्ति के लिए काम मे लाए। परन्तु केवल स्वतत्र इच्छा के सदुपयोग से ही नैतिक शुभ प्राप्त हो सकता है। यहाँ इच्छा-स्वातत्र्य देकर ईश्वर को मानव की इच्छा पर फिर पूर्ण अधिकार नही रहता है। मानव अपने इच्छा-स्वातत्र्य का दुरुपयोग कर नैतिक अशुभ उत्पन्न कर सकता है। अत., नैतिक अशुभ ईश्वर के द्वारा नही उत्पन्न होता है। स्वय मानव अनैतिकता एव अशुभ के लिए उत्तरदायी है। अत., नैतिक शुभ ही इस विश्व का एकमात्र उद्देश्य है। ईश्वर अशुभ को चाहता नही है, परन्तु ईश्वर को उसे अनुमति प्रदान करना पडता है। पर क्या उच्छृंखल मानव अपनी अनैतिकता से इस विश्व के नैतिक उद्देश्य को समाप्त कर सकते हैं ? नहीं ! ईश्वर ने मानव को सीमित शक्ति ही दी है। इस सीमित शक्ति के द्वारा वे विश्व के शुभपरक उद्देश्य की पूर्ति मे अन्तिम रूप से बाधक नही हो सकते हैं। यद्यपि ईश्वर ने इच्छा-स्वातंत्र्य देकर अपने को आत्मसीमित

अवश्य कर दिया है तो भी ईश्वर सर्वज्ञ होने के हेतु मानव की सभी प्रक्रियाओं को उनके तीनों काल में जानता है और इस पूर्वज्ञान से वह उच्छृंखल मानव की अनैतिक कार्यवाही को ध्यान मे रखकर उसका प्रतिकार करता रहता है। पर स्वतंत्र इच्छा को ईश्वर कैसे पूर्णतया जान सकता है ?

प्रक्रियाएँ काल-क्रम में होती हैं और काल-क्रम मे पूर्व-अपर संबंध देखने में आता है। मानव मे भी देखा जाता है कि वह अपनी प्रक्रिया के कुछ अंशों का पूर्व-अपर भाग अपने अवधान में एक साथ प्रत्यक्ष करता है। उदाहरणार्थ, किसी रेखा के अनेक भाग हों तो मानव अपने अवधान मे वह क, ख, के ओझल होते हुए भाग के साथ ग, घ, के भाग को भी ले आता है। मानव की तुलना मे ईश्वर का अवधान-विस्तार अतिव्यापक है। वे किसी भी मानव के सम्पूर्ण व्यापार को, आद्यन्त अपने अवधान मे लाकर साक्षात् उसका प्रत्यक्ष करता है। अतः, ईश्वर के लिए मानव प्रक्रियाओं का भूत, वर्त्तमान और भविष्य सभी एक साथ उसके एक क्षण मे समाविष्ट होकर प्रत्यक्ष होते रहते है। मानव की इच्छात्मक प्रक्रिया मे भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य होता है, परन्तु ईश्वर के लिये मानव की इच्छात्मक प्रक्रिया के सभी अग एक साथ वर्तमान रहते हैं। स्वतंत्र इच्छा के रहते हुए भी ईश्वर मानव की सीमित प्रक्रियाओं मे पूर्णतया अवगत रहता है। अतः, उच्छृंखल मानव अपने अनैतिक कार्यों के द्वारा इस विश्व की शुभप्राप्ति के उद्देश्य को नही उन्मूलित कर सकता है।

अतः, इस विश्व का रचयिता नैतिक सत्ता है जिसने इस विश्व की ऐसी सृष्टि की है कि इसमे अन्त मे नैतिक शुभ की प्राप्ति हो।

आलोचना

सन् १९१८ मे प्रस्तुत सोर्ले का प्रमाण उस समय के लिए विशेष माना जाता था और उनकी पुस्तक 'मोरल वैल्यूज ऐंड दी आइडिया आव गॉड' के कई संस्करण भी निकले। परन्तु इस प्रमाण को समकालीन दर्शन मे विशेष मान्यता नहीं दी जायगी। वास्तव मे देखा जाय तो ईश्वर के अस्तित्व के लिए सोर्ले ने कोई नया प्रमाण नही दिया है। उन्होंने स्वीकार कर लिया है कि ईश्वर है और यह ईश्वर नैतिक रूप से पूर्ण है। अब यदि इस नैतिक एकेश्वरवाद को मान लिया जाय तो किस प्रकार से नैतिक अशुभ की व्याख्या की जा सकती है। अतः, सोर्ले का दर्शन नैतिक ईश्वरवाद का स्पष्टीकरण है, न कि नैतिक ईश्वरवाद का प्रमाणीकरण है। तो भी मानना पड़ेगा कि अशुभ की व्याख्या

करने में सोर्ले का मत उल्लेखनीय है। अब निम्नलिखित कारणों से सोर्ले के नीतिपरक प्रमाण को युक्तिसगत नही माना जायगा।

सर्वप्रथम, सोर्ले का प्रमाण तत्त्वमीमासात्मक है और इसलिए इसे संज्ञानात्मक नही माना जायगा। इस विश्व की उद्देश्यपूर्णता तथा उद्देश्यहीनता का प्रश्न प्रसंगहीन है। हम समझते है कि मानव मानक से इस विश्व को मूल्याकित किया जा सकता है। चूकि मानव व्यवहार उद्देश्यपूर्ण होते हैं, इसलिए हम समझते हैं कि विश्व को किसी अतिमानव ने ही उद्देश्यपूर्त्ति के लिए बनाया होगा। इस प्रकार के दर्शन मे मानवतारोपण दोष चला आता है।

फिर ईश्वर-ज्ञान की व्याख्या ऐसी की गई है जो मानव ज्ञान से सर्वथा भिन्न और विलक्षण है। ईश्वर-ज्ञान को कालातीत कहा गया है, क्योंकि इसमे तीन काल एक साथ पाए जाते हैं।

अतः, सोर्ले का प्रमाण भी वास्तव मे सज्ञानात्मक नही होने के हेतु 'प्रमाण' नही कहा जायगा। यह बात केवल सोर्ले के ही नीतिपरक प्रमाण मे लागू नहीं होती, बल्कि किसी भी नीतिपरक प्रमाण मे पाई जाती है, क्योंकि नैतिक शुभ का सबंध वास्तविकता से नहीं, वरन् मानव दृष्टि तथा अभिवृत्ति से रहता है और अभिवृत्ति को असंज्ञानात्मक कहा जायगा।

प्रश्न

१. 'प्रमाण' से किस प्रकार का अर्थ लगाया जा सकता है ? क्या ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित हो सकता है ?

२. सत्तामूलक प्रमाण की व्याख्या कीजिये।

३. क्या मैल्कॉम सत्तामूलक प्रमाण के प्रति की गई आपत्तियो का समाधान कर पाए हैं ?

४. क्या 'अनिवार्य सत्ता' आत्मविरोधी प्रत्यय है ?

५. कारण-कार्य पर आधारित विश्वमूलक प्रमाण की अलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

६. आपातिता पर आधारित विश्वमूलक प्रमाण की अलोचनापूर्वक व्याख्या कीजिये।

७. उद्देश्यमूलक प्रमाण की समीक्षा कीजिये।

८. नीतिपरक प्रमाण की व्याख्या कीजिये।

९. क्या हेस्टिंग्स का नीतिपरक प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर पाया है ?

१०. क्या कान्त का नीतिपरक प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर पाया है ?

११. सत्तामूलक और विश्वमूलक प्रमाणो की तुलना कर बताएँ कि आप इन दोनो मे किस प्रमाण को क्यो अधिक संतोषप्रद मानते है ।

१२ क्या उद्देश्यमूलक प्रमाण को विश्वमूलक प्रमाण का विस्तारण माना जा सकता है ?

१३. क्या पेली की अपेक्षा टेनेंट का उद्देश्यमूलक प्रमाण अधिक सतोषजनक समझा जा सकता है ?

ईश्वर के गुण

अध्याय–४

ईश्वर के गुण

भूमिका : ईश्वर के अस्तित्व के प्रति दिये गये 'प्रमाण' की समीक्षात्मक व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर-सम्बन्धी कथन संज्ञानात्मक नही कहे जा सकते हैं। बार-बार प्रत्येक प्रमाण की अलोचना से निष्कर्ष स्थापित हुआ है कि कोई प्रमाण वास्तव मे तर्कबुद्धिपरक नही है। वे सभी दृष्टिमूलक अथवा अभिवृत्तिमूलक है और अभिवृत्ति को सज्ञानात्मक नही कहा जायगा। यह बात ईश्वर के गुणसबधी कथनो के सबध मे भी कही जा सकती है। ईश्वरवादी चाहते है कि ईश्वर का वर्णन किया जाय, परन्तु ईश्वर के गुणो का अर्थ स्पष्ट नही किया जा सकता है। अन्त मे ईश्वर के गुणों को समीक्षात्मक व्याख्या करने के बाद हम पाएँगे कि ईश्वर सम्बंधी कथन प्रतीकात्मक होते हैं और इसलिए ईश्वर के गुणों के सबध मे भी असज्ञानात्मक कथन संभव हो सकते है।

ईश्वर के गुण . ईश्वर कोरी सत्ता नही है, उसे उपास्य माना जाता है और यदि ईश्वर उपास्य हो तो वह अपने गुणो के ही कारण उपास्य माना जायगा। उपास्यता की दृष्टि से सर्वप्रथम ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण होना चाहिये और उसे अपरिमित अनिवार्य सत्ता होना चाहिये *। फिर ईश्वर को सर्वशक्तिमान होना चाहिये ताकि वह अपने भक्तो की सहायता प्रत्येक स्थिति मे कर सके। और, यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान नही होगा तो इससे तात्पर्य होता है कि ईश्वर अन्य शक्ति से सीमित हो जायगा और सीमित ईश्वर भक्तो की उपासना अथवा उसके सर्वस्व अर्पण का तर्कसगत पात्र नही ठहरेगा। इसी प्रकार यदि ईश्वर सर्वज्ञ न हो तो वह तर्कसंगत रीति से उपास्य नही कहा जायगा। पुन, ईश्वर को शुभ होना चाहिये, नही तो वह भक्तो के नैतिक विकास का आधार नही बन पाएगा। वास्तव मे ईश्वर का शुभत्व ईश्वर की उपास्यता का प्रमुख लक्षण माना जाएगा। इसी प्रकार यदि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर ध्यान दिया जाय तो ईश्वर की कर्तृत्वशक्ति भी इसमे निहित मानी जायगी और ईश्वर की कार्यशक्ति मे उसका सृष्टिकर्तृत्व भी छिपा हुआ है। अब सृष्टि-कर्तृत्व के संदर्भ मे काल और ईश्वर-सृष्टि-सबध भी चले आते हैं। ईश्वर को नित्य माना जाता है तो कालिक सृष्टि और नित्य ईश्वर का संबंध भी ईश्वर

* देखें, अध्याय—२, पृष्ठ ७८।

के गुण के अन्तर्गत आयेगा। फिर ईश्वर का विश्व के साथ अन्तर्वर्तिता और अतीतपन का भी विषय चला आता है। अतः, उपास्य ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता सर्वज्ञता, शुभत्व, सृष्टिकर्तृत्व, नित्यता, अन्तर्वर्तिता तथा अतीतपन की यहाँ संक्षिप्त व्याख्या की जायगी।

व्यक्तित्वपूर्णता एवं अपरिमितता

उपास्यता की दृष्टि से ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता और उसकी अपरिमितता दोनों को ईश्वर में तर्कसंगत रीति से रहना चाहिये। जहाँ तक मानव व्यक्तित्व-पूर्णता को बात उठती है, वह सीमित समाकलन होता है। कोई भी ऐसा मानव नहीं है, जिसमे उसकी सम्पूर्ण स्मृतियाँ, कल्पनाएँ, भविष्य मे निहित उद्देश्य-प्राप्ति इत्यादि सम्पूर्णतया चेतन रूप में समाकलित रहती हैं। उसकी अनेक भूत प्रक्रियाएँ अचेतन के गर्भ मे चली जाती हैं। उसका व्यक्तित्व कभी भी पूर्ण नहीं रह सकता, क्योंकि भविष्य मे उसके व्यक्तित्व के विकास मे अन्तर आ सकता है। मानव कालीन जीव होता है और उसका व्यक्तित्व भी परिवर्तनशील रहता है। परन्तु जब ईश्वर को अपरिमित कहा जाता है तो उसके अपरिमित व्यक्तित्व-संगठन को किस प्रकार सुबोध किया जा सकता है ? यदि ईश्वर का व्यक्तित्व-संगठन पूर्ण हो तो पूर्णत्व के नाते उसकी सभी प्रक्रियाएँ एक साथ व्यवस्थित रहनी चाहिये। अतः, इस पूर्णता की दृष्टि से परिलक्षित होता है कि ईश्वर की सभी प्रक्रियाएँ पूर्वापर, कालीन और परिवर्तनशील न होकर एक साथ पाई जाती हैं। यदि सभी प्रक्रियाएं एक साथ हो तो 'प्रक्रियाओं' से क्या अभिप्राय हो सकता है ? 'प्रक्रिया' शब्द से ध्वनित होता है कि जिसमे परिवर्तनशीलता हो पूर्वापर सबंध हो, और सभी प्रक्रियाओ के एक साथ होने का अभिप्राय है कि प्रक्रियाओं मे न तो गति है और न पूर्व-अपर, भूत-वर्त्तमान-भविष्य का काल-भेद है। अतः 'प्रक्रिया' शब्द को ईश्वर के संबंध मे साधारण अर्थ मे नहीं समझा जा सकता है। फिर सभी प्रक्रियाओ मे मानव की स्वतन्त्र प्रक्रियाएँ भी सम्मिलित होती हैं। तो क्या मानव की प्रक्रियाएँ भी ईश्वर के इसी व्यक्तित्वपूर्णता के ऐक्य में सन्निहित रहती हैं ? यह प्रश्न कई प्रकार से ईश्वर के विभिन्न गुणों के संबंध मे उठेगा। पुनः, ईश्वर के व्यक्तित्व को किस प्रकार पूर्ण माना जाय ? क्या उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता ? क्या ईश्वर ज्यों का त्यों, एकरस, एकरूप बना रहता है ? यदि ऐसी बात हो कि ईश्वर का व्यक्तित्व स्वनिर्भर और आत्मपूर्ण रहता है तो ईश्वर

की अपरिमितता किस प्रकार अक्षुण्ण रहेगी ? व्यक्तित्वपूर्णता से अभिप्राय है कि वह अन्य सभी सीमित व्यक्तियों से भिन्न है, तो क्या यह भिन्नता ईश्वर को सीमित नहीं कर देगी ? यदि सभी मानव भी ईश्वर के व्यक्तित्व मे समाहित हों तो मानव की व्यक्तित्वपूर्णता का विनाश हो जाता है और मानव ईश्वर में विलीन हो जाता है। यहाँ ऐसी दशा मे सर्वेश्वरवाद हो जायगा और भक्त-भगवान के बीच का अतीतपन विनष्ट हो जायगा और फिर ईश्वरवादी उपासना का स्थान नही रह पाएगा। परन्तु इस प्रसंग में हम एकेश्वरवाद की व्याख्या कर रहे हैं, जहाँ ईश्वर को सर्वथा उपास्य माना जाता है। अतः, यदि हम ईश्वर के व्यक्तित्व को मानें तो व्यक्तित्व का स्वरूप ही है कि दो व्यक्ति कभी भी एक नहीं हो सकते। राम और भरत सभी बातो मे कितने ही समीप *क्यों न हो—एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति राम को कितना ही अधिक अभिव्यक्त क्यों* न कर पाए, परन्तु उनका मनोवैज्ञानिक जीवन-इतिहास विभिन्न रहता है और इसलिये उनकी भिन्नता बनी रहती है। अब यदि ईश्वर का व्यक्तित्व मानव व्यक्तित्व से भिन्न हो तो ईश्वर का व्यक्तित्व मानव व्यक्तित्व से सिद्धान्त: सीमित हो जायगा और ईश्वर की अपरिमितता शका मे पड जायगी। इसके विपरीत यदि ईश्वर का व्यक्तित्व सभी प्रकार के व्यक्तित्व को अपने मे समाहित कर पूर्ण हो जाय तो अन्य मानव का व्यक्तित्व का विलयन हो जायगा और तब एकेश्वरवाद सर्वेश्वरवाद मे बदल जायगा। दूसरे अर्थ मे भी यदि ईश्वर के व्यक्तित्व की पूर्णता पर बल दिया जाय तो कालगति की व्याख्या नही हो सकती, क्योंकि ईश्वर के पूर्ण व्यक्तित्व मे संपूर्ण काल को समाहित होना चाहिए, परतु काल-प्रवाह को अनत समझा जाता है तो वह कैसे कभी भी पूर्ण अथवा समाप्ति के रूप मे हो सकता है ? फिर यदि ईश्वर पूर्ण हो और उसे किसी प्रकार की अपेक्षा न हो, तो विश्व और उसकी घटनाओ से ईश्वर का किस प्रकार का सच्चा सबंध स्थापित किया जा सकता है ? अतः, यहाँ विचारों की विडम्बना मे हम पड़ जाते है। यदि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण न हो तो वह उपास्य नही; और यदि वह व्यक्तित्वपूर्ण हो तो उसकी पूर्णता और सर्वकालीनता के साथ उसकी अपरिमितता मे आपत्ति चली आती है।

फिर मानव व्यक्तित्वपूर्णता मानव के शरीरपन पर निर्भर करती है। ईश्वर अशरीरी है, तो उसकी व्यक्तित्वपूर्णता को किस अर्थ मे समझा जाता है।

बात यह है कि ईश्वर-संबंधी संगोष्ठी संज्ञानात्मक नही है और जब हम ईश्वर के संदर्भ मे साधारण शब्दों को असामान्य रीति से व्यवहार करने लगते

हैं और उसका शब्दशः अर्थ लगाने लगते हैं तो हमें कठिनाई का सामना करना पड़ता है। धर्मभाषा पर विचार करते हुए हम पाएँगे कि धर्मभाषा वास्तव में संप्रत्यायक होती है अर्थात् धर्मभाषा के द्वारा भक्तों के दृढ़विश्वास का बोध कराया जाता है। ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण कह कर भक्त ईश्वर के साथ सायुज्य-संभावना की सार्थकता का परिचय देना चाहता है; ईश्वर को अपरिमित कह कर भक्त ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन और सम्पूर्ण समर्पण को अभिव्यक्त करना चाहता हैं। परन्तु आत्मनिवेदन, आत्मग्रसन तथा आत्मसमर्पण भक्त की व्यापक अभिवृत्ति का परिचायक हैं और अभिवृत्ति असंज्ञानात्मक कही जायगी, न कि संज्ञानात्मक। यदि ईश्वर संबंधी गुणों को अभिवृत्तिमूलक न माना जाय तो प्रत्येक गुण की संज्ञानात्मक व्याख्या मे कठिनाई आ जायगी। उदाहरणार्थ, 'अपरिमितता' पर विचार किया जाय।

क्या 'अपरिमित' अभावात्मक पद है, जिसका अर्थ है 'वह, जिसमें सीमितपन अथवा परिमितता का अभाव हो'? नही, ईश्वरवादी के अनुसार, ईश्वर सम्पूर्ण, आत्मनिहित और पूर्ण है। उसमे सभी मूल्यों का सम्पूर्ण भाव है और ईश्वर की भावात्मकता से ही किसी भी वस्तु का भाव निष्पन्न होता है। तब ईश्वर की अपरिमितता से अभिव्यंजित होता है कि उसमें कोई भी विशिष्ट गुण नही है जो ईश्वर को सीमित करे। उदाहरणार्थ, यदि हम कहें कि ईश्वर ईमानदार है तो इससे यह भी ध्वनित होता है कि वह बेईमान नही हो सकता है। यहाँ विशेषीकरण से ईश्वर में सीमितपन आ जायगा। अतः, स्पिनोजा की सारगर्भित उक्ति थी कि निश्चयीकरण से अभावात्मकता उत्पन्न होती है। अतः, ईश्वर को किसी भी गुणविशेष से विभूषित करके हम ईश्वर को अभावात्मक बनाते हैं।

> एक कहौं तो हैं नही, दोय कहौं तो गारि।
> है जैसा वैसा रहे, कहै कबीर विचारि॥
> भारी कहूँ तो बहु डरूँ, हलका कहूँ तो झीठ।
> मैं क्या जानू पीव को नैना कछु न दीठ॥

परन्तु यहाँ आत्मविरोध उत्पन्न हो जाता है। पूर्णतया भावपूर्ण ईश्वर में अभाव कैसे हो सकता है? अतः, ईश्वरवादी का कहना है कि ईश्वर पूर्णतया भावपूर्ण सत्ता है और उसमें किसी भी गुण का अभाव नहीं है। परन्तु जैसे ही कहा जाता है कि ईश्वर में *सभी मूल्य हैं*, तो मूल्य के रहने से क्या अर्थ लगाया

जा सकता है ? क्या वह वैज्ञानिक है, धर्मपरायण है, सत्यवादी है, इत्यादि ? क्या ये मूल्य विशिष्ट नही हैं ? अत., शुद्ध भावपूर्णता बिना विशिष्ट गुण के अचिन्त्य हो जाता है । यही कारण है कि ईश्वर को निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अचिन्त्य इत्यादि अभावात्मक रूप से वर्णित किया जाता है। पर सम्पूर्णतया नकारात्मक पद उसी प्रकार निरर्थक है अर्थात् बिना भावात्मकता के सभव नही है जिस प्रकार निश्चित गुण बिना अभावात्मक के सोचा नही जा सकता है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि अमुक पुस्तक *लाल नहीं है*, तो इससे ध्वनित होता है कि यह पुस्तक *किसी अन्य रंग की है* और इसी रग के होने से इसे 'लाल' सज्ञा नही दी जा सकती है। अतः, सम्पूर्णतया नकारात्मकता से भी ईश्वर के अन्दर गुण विशिष्टता की झलक आ जाती है। यदि ईश्वर सम्पूर्णतया भावपूर्ण है तो इससे उपलक्षित होता है कि ईश्वर मे सभी गुण, सभी मूल्य बिना किसी भी मूल्य की अपेक्षा के एक साथ पाए जाते है। ऐसा कहते ही ईश्वर मे गुणविशिष्टता चली आयेगी, नहो तो ईश्वर शून्यवत् हो जायगा । वास्तव में हेगेल ने शुद्ध भाव से अभाव-प्रत्यय को निष्पन्न किया है। परन्तु ऐसा कहने से मानना होगा कि ईश्वर भावपूर्ण और अभावपूर्ण भी है, और यह निरर्थक एव आत्मविरोधी हो जाता है। अत. ईश्वर की अपरिमितता भी सज्ञानात्मक रूप से नही स्पष्ट की जा सकती है।

जिस प्रकार ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता पर विचार करते हुए ईश्वर के अन्य गुण भी अन्तर्निहित दिखाई देते हैं, उसी प्रकार ईश्वर के किसी भी अन्य गुणविशेष पर चिन्तन करने से तत्सम्बद्ध अन्य गुणो का भी उपलक्षण हो जाता है। इसका कारण है कि ईश्वर के सभी गुण ईश्वर मे संगत रीति से समाविष्ट रहते हैं। हम ईश्वर को तर्कसंगत रीति से अपरिमित कहते हैं, पर क्या उसका ज्ञान और उसकी शक्ति भी अपरिमित है ।। ज्ञान पर ध्यान दिया जाय।

सर्वज्ञता एवं पूर्वज्ञान : मानव ज्ञान तार्किक नियमों से संचालित होता है। बर्टोक्सी का कहना है कि ईश्वर को सभी वस्तुओ का ज्ञान है, क्योंकि उसने सभी वस्तुओ की सृष्टि की है। क्या ईश्वर, जिसने मानव नेत्रों की सृष्टि की है, प्रकाशिकी से अनभिज्ञ हो सकता है ? जिसने मानव बुद्धि की रचना की है, क्या वह तार्किक नियमो की अवहेलना कर सकता है ? बर्टोक्सी के अनुसार ईश्वर में ही सभी तार्किक नियम निहित हैं और वही अन्तिम रूप मे सभी तार्किक नियमों का आधार है। इसलिये ईश्वर के लिये भी २ और २ मिलकर ५ नही हो सकते हैं।

परन्तु आपत्ति यहाँ उठती है कि वास्तव में तार्किक नियम का असली स्वरूप क्या है। क्या ये नियम अन्तःप्रज्ञा से साक्षात् रीति से जाने जाते हैं या अन्त मे भाषा पर आधारित परम्परानिष्ठ नियम हैं ? फिर क्या ये तार्किक नियम द्विमूल्यात्मक हैं या अनेक मूल्यात्मक ? वास्तव में, जब मानव ईश्वर पर विचार करने लगता है तो मानव-विचार बिना विचार के नियमों को ध्यान में रखे हुए सफल नही हो सकता है। परन्तु मानव-विचार को परम सत्ता में निहित मानना मानवतारोपण कहा जायगा। हाँ, जहाँ तक ईश्वर के विषय मे मानव चिन्तन करता है, वहाँ तक मानव को स्वीकार करना पड़ेगा कि ईश्वर में उसके सभी गुण सामजस्यपूर्ण रीति से निहित रहते हैं और ईश्वर-ज्ञान भी तार्किक नियमो का पालन करता है। परन्तु ईश्वर का ज्ञान मानव-ज्ञान से परे और अतीत है। मानव-ज्ञान मुख्य रूप से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है और उसका विषय वस्तु-विशेष रहता है, जो देश-काल में सीमित रहता है। ईश्वर न तो इन्द्रियों से जानता है, क्योंकि वह अशरीरी है, न ईश्वर का ज्ञान वस्तुविशेष में ही सीमित रहता है और न उसका ज्ञान देश-काल की सीमाओं मे सीमित रहता है। ईश्वर का ज्ञान मानव-ज्ञान की तुलना मे पहेली है। इस रहस्यमय स्थिति को स्पष्ट करने के लिये बोध कराया जाता है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, अर्थात् ईश्वर का ज्ञान अपरिमित है। क्या ईश्वर के ज्ञान का विषय अपरिमित है ? क्या वह सभी वस्तुओ को एक साथ उनकी विशिष्टता की संरक्षा करते हुए उन्हें समष्टिपूर्ण रूप से जानता है ? जब राम से हम मिलते हैं तो हम राम को उसके रूप-रंग, डील-डौल इत्यादि विशिष्ट गुण के साथ जानते है। अब यदि राम पटना के गाँधी मैदान की भीड़ मे अन्य व्यक्तियो के साथ हो और हम इस भीड़ को कुछ ऊँचाई से, वायुयान से, देखें तो हम राम को तो नहीं, परन्तु भीड को ही देख सकते हैं। अब मानव की समष्टि मे केवल पटना की ही भीड नही, वरन् किसी एक काल के समस्त मानव, और किसी एक काल के ही नहीं, वरन् सभी काल के और सभी देश के मानव इस समष्टि मे सन्निहित माने जायेंगे। इस अनुपात से समस्त वस्तुविशेषों की समष्टि में क्या प्रत्येक वस्तु अपनी विशिष्टता के साथ जानी जा सकती है ? मानव-दृष्टि से यदि विशिष्टता की रक्षा की जाय तो समष्टित्व का विनाश होता है और समष्टित्व पर बल दिया जाय तो विशिष्टता की अवहेलना हो जाती है। यदि ईश्वर की सर्वज्ञता में, विशेष और सामान्य, विशिष्टता और समष्टिपूर्णता दोनों एक साथ पाए जाते हैं तो मानव बुद्धि के लिये इसमें तार्किक असंगति आ जाती है।

फिर यदि ईश्वर मानव को जानता है तो क्या वह मानव की सभी दुर्बलताओं को उसी प्रकार जानता है जैसा मानव उन्हें जानता है ? क्या ईश्वर व्यभिचार, हिंसाभाव, लोभ इत्यादि को उसी प्रकार जानता है, जिस प्रकार मानव जानता है ? किंवदन्ती के अनुसार आजन्म ब्रह्मचारी शंकराचार्य को स्त्रीप्रणय को योगबल से नही, परन्तु गार्हस्थ जीवन के द्वारा ही जानने का अवसर मिला। क्या ईश्वर बिना मानव तल पर आये हुए मानव-अनुभूति को शब्दशः जान सकता है ? यदि अपूर्ण, भ्रमपूर्ण अनुभूति को पूर्णज्ञानी नही जान सकता है तो ईश्वर को कैसे सर्वज्ञ माना जाय; और यदि सर्वज्ञानी भ्रम को भी भ्रम में आकर समझे तो उसे पूर्णज्ञानी कैसे कहा जाए ? पुनः, यदि ईश्वर बिना भ्रम में आकर अनुभूति को प्राप्त नही करे तो अपने भक्तों के क्रन्दन को वह कैसे सुनेगा—द्रौपदी के चीरहरण की लाज को वह कैसे बचायेगा ? सर्वज्ञता मे अन्तर्निहित अन्य गाँठें भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

यदि ईश्वर ने मानव की सृष्टि इसलिये की है कि वह अन्त मे सत्संकल्पी जीव बनकर ईश्वर की सहभागिता का अधिकारी हो, तो क्या उसे इसका *पूर्व-ज्ञान* या कि अनेक मानव सन्सकल्पी जीव न बनकर स्वयं पापिष्ठ रहेगे और वे ईश्वर-भक्तो को कष्ट दिया करेंगे और उन्हें विपथ करते रहेगे ? यदि ईश्वर को अधिकाश व्यक्तियो के अधर्मी होने का पूर्वज्ञान था तो उसने क्यो इन्हें उत्पन्न किया और यदि उसे इनके अधर्मी होने का ज्ञान नहीं था तो ईश्वर को कैसे सर्वज्ञ कहा जाय ? जानते हुए यदि ईश्वर अशुभ को नही रोकता है तो वह या तो शुभ नहीं, या सर्वशक्तिमान नहीं; और यदि ईश्वर को नैतिक अशुभ का पूर्वज्ञान नही था तो वह सर्वज्ञ नही। इस उभयत पाश से बच निकलने के लिए ईश्वरवादियो का कहना है कि ईश्वर ने मानव को इच्छा-स्वातन्त्र्य प्रदान किया है और इच्छा-स्वतंत्र्य का स्वरूप ही ऐसा है कि उसका पूर्वज्ञान नही हो सकता है। परन्तु इच्छा-स्वतंत्र्य का पूर्वज्ञान हो सकता है या नही, यह एक विवादास्पद विषय है, जिसकी व्याख्या होनी चाहिए।

पूर्वज्ञान और इच्छा-स्वातंत्र्य

सन्त अगस्टिन का विचार था कि संकल्पात्मक प्रक्रिया स्वतंत्र होती है, परन्तु ईश्वर को पूर्वज्ञान रहता है कि अमुक व्यक्ति अमुक परिस्थिति में क्या पक्ष अपनायेगा। केवल पूर्वज्ञान होने पर ही व्यक्ति के इच्छा-स्वातंत्र्य में कोई अदल-बदल नही हो सकता है। उदाहरणार्थ, ईश्वर को पूर्वज्ञान रहता है कि

राम चुनाव में किस को वोट देगा। परन्तु इस पूर्वज्ञान से राम के वोट देने मे कोई हेर-फेर नही होता है। समय आने पर राम जिसको चाहेगा उसे स्वतत्र रूप से वोट देगा। अब अगस्टिन का यह मत सही है या नही, और क्या इस मत के रहने से अशुभ की समस्या का समाधान हो सकता है या नहीं, इन बातों पर विचार बाद में होगा। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या इच्छा-स्वातंत्र्य का ऐसा स्वरूप है कि इसका पूर्वज्ञान संभव हो सकता है या नही। यहाँ तीन मत विशेष रूप से प्रमुख बताये जाते हैं।

१. इच्छा-स्वातंत्र्य के स्वरूप से उपलक्षित होता है कि भविष्य की निर्णयात्मक प्रक्रिया के ज्ञान का दावा करना अयुक्तिसंगत माना जायगा (ईश्वरवादी तथा विकासवादी का मत)।

२. मानव के लिए स्वतंत्र प्रक्रिया का भावी निर्णय पूर्वज्ञात नही हो सकता है, परन्तु ईश्वर के लिए वर्त्तमान, भूत, भविष्य सभी एक ही चेतना-विस्तार मे सदैव विद्यमान रहते है। इसलिए ईश्वर के लिए स्वतत्र प्रक्रिया का भावी चुनाव-पक्ष पूर्वज्ञात रहता है (सोर्ले, रॉयस, शामुएल टॉमसन का मत)।

३. स्वतत्र प्रक्रिया के विश्लेषण में अनुभववादी के अनुसार तीन लक्षणो को रहना चाहिये।

(क) दो या दो से अधिक विकल्पो का रहना।

(ख) व्यक्ति के द्वारा किसी एक विकल्प के अपनाने मे बाह्य तथा आन्तरिक दबाव का अभाव होना।

(ग) किसी एक विकल्प के अपनाने मे निर्धारक घटको का रहना।

अनुभववादी के अनुसार यदि (क) और (ख) के दोनो लक्षण वर्त्तमान रहे, तो किसी अमुक विकल्प के चुनने मे व्यक्ति के निर्धारक घटक एकमात्र पक्ष-चयन का स्पष्टीकरण कर सकते हैं। फिर अनुभववादी के अनुसार सिद्धांतत: ये सभी निर्धारक घटक निश्चित किये जा सकते है और ईश्वर इन सब घटकों का पूर्वज्ञान रख सकता है। अत:, फ्लू, मैकी इत्यादि अनुभववादी के अनुसार संकल्पात्मक प्रक्रियाओ का निर्णय-पक्ष ईश्वर को पूर्वज्ञात रहता है। इस अनुभववादी विश्लेषण की व्याख्या की जाय।

अनुभववादी व्याख्या : मान लिया जाय कि राम अब व्यस्क हो गये हैं, कालेज में पढ़ते हैं और यहाँ इस कालेज में अनेक लड़कियाँ हैं, जिनमें से किसी

एक के साथ आप विवाह कर सकते हैं। यदि सीता का वरण करने में उनकी प्रक्रिया को स्वतंत्र कहा जाय तो प॰ के अनुसार इसमे निम्नलिखित अंग होना चाहिये।

(i) एक से अधिक वरागनाओ का होना।

(ii) माँ-बाप तथा किसी अन्य व्यक्तियों के एवं सामाजिक तथा आन्तरिक दबाव का अभाव।

(iii राम अपनी शिक्षा, जाति, सस्कार, चरित-गठन, स्थिति इत्यादि के अनुसार निर्धारित करता है कि वह सीता का वरण करेगा।

यहाँ अनुभववादी का कहना है कि राम के मित्र अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छे अटकल के माथ कह सकते है कि राम सीता के साथ विवाह करेगा या नही। फिर मित्रों की अपेक्षा यदि कोई प्रवीण मनोवैज्ञानिक हो तो सिद्धातन: स्वीकार किया जा सकता है कि उसका पूर्वकथन राम के मित्रो के अटकल की अपेक्षा अधिक प्रायिक होगा। ऐसी स्थिति मे यह क्यो नही स्वीकार किया जा मकता है कि सभी घटकों को जाननेवाला ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के भावी निर्णय-पक्ष को पूर्वज्ञात कर सकता है ?

अनुभववादियो का सबमे बडा दोष यह है कि वे समझते हैं कि ईश्वर भी मानव की भाँति ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु यदि इस मानवतारोपण को हटा भी दिया जाय तोभी अनुभववादी व्याख्या मे आत्मविरोध चला आता है। यदि स्वतत्र प्रक्रिया सम्पूर्णतया (ग) के अन्तर्गत घटको से निर्धारित हो जाय तो इसे फिर 'स्वतत्र' क्यो पुकारा जाय ? यदि प्रत्येक व्यक्ति का किसी भी पक्ष को अपनाना उसके संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, शारीरिक-मानसिक रचना, इत्यादि से पूर्णतया नियन्त्रित रहे, नो इस पूर्ण नियंत्रित प्रक्रिया को क्यों स्वतत्र कहा जाय ? यहाँ ईश्वरवादियों और विकासवादियो का कहना सही है कि 'स्वतंत्र' प्रक्रिया का अर्थ ही है वह प्रक्रिया, जिसका पूर्वकथन पहले से नही किया जा सकता है। अत', ईश्वरवादी के अनुसार यदि प्रक्रिया को 'स्वतंत्र' कहा जाय तो उसका पूर्वकथन नहीं हो सकता है; और यदि सम्पूर्णतया पूर्व घटको से निर्धारित प्रक्रिया नियन्त्रित होकर पूर्व-कथनीय हो तो वह 'स्वतत्र' नहीं कही जा सकती है। अनुभववादी और परम्परागत ईश्वरवादी के दो परस्परविरोधी मतों के बीच सोर्ले, रॉयस इत्यादि विचारकों का मत है। सोर्ले, रॉयस इत्यादि का मत ईश्वर की त्रिकालज्ञता पर निर्भर करता है।

सोर्ले, रॉयस इत्यादि ईश्वर को त्रिकालद्रष्टा मानते हैं। सोर्ले के मत की व्याख्या पहले ही नीतिपरक प्रमाण के प्रसंग में कर दी गई है और रॉयस का भी वैसा ही विचार है। इन लोगों के अनुसार ईश्वर के लिए मानव प्रक्रियाओं के सभी काल—भूत, वर्तमान और भविष्य—एक ही साथ ईश्वर के अवधान-विस्तार में रहते हैं। अतः, जो मानव के लिए भविष्य है, वह भी ईश्वर के लिए विद्यमान है। इसलिए मानव में इच्छा-स्वातंत्र्य है और मानव के लिए संकल्पात्मक प्रक्रिया का भावी निर्णय-पक्ष नहीं जाना जा सकता है। परन्तु ईश्वर के लिए भूत, वर्तमान और भविष्य सभी एक ही विद्यमान मूहूर्त में पाए जाते हैं। इसलिए ईश्वर मानव की संकल्पात्मक प्रक्रियाओं के भविष्य का भी पूर्वज्ञान रखता है।

क्या ईश्वर के लिए भी क—भूत, ख—वर्तमान, और ग—भविष्य पूर्वापर अनुक्रम में पाए जाते हैं ? हाँ, लेकिन जिस प्रकार किसी संगीत की छोटी पंक्ति का १, २, ३, ४ शब्द पूर्वापर होते हुए भी एक साथ सुना जाता है, उसी प्रकार यहाँ क, ख और ग पूर्वापर क्रम मे रहते हुए भी ईश्वर के एक ही क्षण मे विद्यमान रहते हैं। उपमा अच्छी है, पर क्या यह तर्कसंगत है ? सर्वप्रथम, यदि क, ख और ग पृथक-पृथक कालक्रम हैं तो ये अलग-अलग रहते हुए भी कैसे एक साथ विद्यमान रहेंगे ? क्या इसका भूत-पक्ष भूत रूप में और भविष्य-पक्ष भविष्य रूप में तीनों कालों की समष्टि में पाया जा सकता है ? जब हम संगीत के १, २, ३, ४ शब्दों को एक साथ सुनते हैं, तो इन शब्दों में से प्रत्येक अंग की पृथकता विनष्ट हो जाती है। फिर यदि हम प्रत्येक शब्द को उसकी पृथकता के साथ ध्यान मे रखें तो पंक्ति का पंक्तिपन विनष्ट हो जाता है। यदि काल क—भूत और ग—भविष्य अपनी-अपनी पृथकता मे रहे तो इन दोनो को कैसे विद्यमान माना जा सकता है ? या तो क-ख-ग का अनुक्रम रहता है या नहीं। यदि अनुक्रम संरक्षित रहेगा तो क को पूर्व और ग को अपर कहा ही जायगा। इसलिए ईश्वर के लिए भी भविष्य वर्त्तमान नहीं हो सकता है।

फिर यह कहना कि सभी मानव का भविष्य ईश्वर के निरन्तर एक क्षण में विराजमान रहता है, अतर्कसंगत है। क्या ईश्वर के लिए विश्व और सभी मानव का अन्त हो गया है ? यदि नहीं, तो यह कहना कि मानव का भविष्य मानव के ही लिए है, ईश्वर के लिए नहीं, असंगत है। अब यदि ईश्वर को सर्वकालीन न मानकर नित्य (अर्थात् कालातीत) माना जाय तो इसमें अन्य कठिनाइयाँ आएँगी जिनकी चर्चा ईश्वर की नित्यता के प्रसंग में उठायी जाएंगी।

ईश्वर को कालातीत बताकर कहा जाता है कि ईश्वर सभी कालिक घटनाओं को जानता है, पर वह उन्हें उनके किसी काल विशेष में नहीं जानता है। ईश्वर आज जानता है कि कल बंगला देश में क्या होगा, पर उसका आज बंगला देश का आज नही है। पर क्या ईश्वर की त्रिकालदर्शिता की व्याख्या कालातीतपन से हो सकती है ?

अतः, स्वतंत्र प्रक्रिया के भविष्य का पूर्वज्ञान होना विवादास्पद है। इन सब आपत्तियों का फिर से विचार ईश्वर की नित्यता और अशुभ की समस्या के प्रसंग में होगा। इसलिए ईश्वर की सर्वज्ञता का भी आसानी से समाधान नहीं हो सकता है। अब काल-समस्या से सम्बद्ध ईश्वर की नित्यता का उल्लेख किया जायगा।

ईश्वर की नित्यता

ईश्वर को अक्षर, नित्य और अविनाशी कहा जाता है और मानव उसकी तुलना में क्षणभंगुर माना जाता है। परन्तु 'नित्यता' से क्या तात्पर्य हो सकता है ? कम-से-कम तीन अर्थ लगाये जा सकते हैं :

१. वह जो कालातीत अथवा कालनिरपेक्ष है। उदाहरणार्थ, गणितीय तथा तार्किक कथन।
२. वह जो सर्वकालीन है, अर्थात् आदि-अन्त, क-ह है।
३. वह जो कालिक रहते हुए भी कालनिरपेक्ष रहता है। इसे हम मूल्याश्रित प्रत्यय कह सकते हैं।

इसके साथ चौथा अर्थ भी जोडा जा सकता है, अर्थात् त्रिकालविद्यमानता। यह मत सोर्ले और रॉयस का है, जिसके अनुसार ईश्वर मे सभी काल,—भूत, वर्तमान और भविष्य —एक साथ विद्यमान रहते हैं। परन्तु चूंकि त्रिकालविद्यमानता प्रत्यय की आलोचना पहले ही सर्वज्ञता के प्रसंग में कर दी गयी है, इसलिए अब इस अर्थ मे नित्यता की व्याख्या नही की जायगी।

कालातीतता : कालनिरपेक्षता वह है, जिस पर कालगति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। एक गणितीय उदाहरण ले लिया जाय, २ और २ मिलकर ४ होते हैं। इसकी सत्यता किसी काल में नही उत्पन्न होती और न किसी कालविशेष में समाप्त हो सकती है। इसी प्रकार तार्किक कथन है कि क चाहे ख है या ख नही है, क एक साथ ख और न-ख नहीं हो सकता है। चूंकि गणितीय और तार्किक कथनों का सम्बन्ध वास्तविकता से नहीं होता और

चूंकि ईश्वर को वास्तविक माना जाता है, इसलिए ईश्वर को कालनिरपेक्षता के अर्थ मे नित्य नहीं माना जा सकता है। तो क्या सर्वकालीनता के अर्थ में ईश्वर को नित्य कहा जा सकता है ?

'सर्वकालीनता' से अभिप्राय होता है कि ईश्वर तीनों कालों में संचरण करता रहता है। वह था, है और रहेगा, युगानुयुग से युगानुयुग तक,— इस कालक्रम का न आदि है और न अन्त। परन्तु इस सर्वकालयुगी ईश्वर के सम्बन्ध मे पूछा जा सकता है कि क्या ईश्वर कालगति से प्रभावित रहता है या वह कालगति में रहकर भी ज्यों-का-त्यों उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार अनेक परिवर्तनशील तरगो के रहते हुए भी समुद्र ज्यो-का-त्यो बना रहता है। यदि ईश्वर परिवर्तनशील घटनाओ से प्रभावित होकर स्वय परिवर्तनशील होने लगे तो उसकी पूर्णता मे बट्टा लगता है। फिर हमलोगो ने पहले ही देखा है कि ईश्वर मे सभी गुण अनिवार्यतः रहते हैं और इसलिए उपास्यता की दृष्टि के अनुसार ईश्वर कालगति मे रहकर स्वयं परिवर्तनशील नही रह सकता है। परन्तु यदि ईश्वर कालगति मे रहकर उससे अछूता रहना है तो ईश्वर और कालगति के साथ किसी भी प्रकार का आपसी सम्बन्ध नही रहेगा। इस अर्थ में ईश्वर फिर कालातीत हो जाता है। शायद इस विडबना से बच निकलना आसान नही है और इस स्थिति मे ब्रैडले, बोसकेट, प्रिंगिल-पैटिसन इत्यादि विचारको ने माना है कि ईश्वर कालचक्र मे रहकर भी स्वय कालिक सत्ता नही है। ईश्वर में अनेक घटनायें और अनेक इतिहास छिपे हुए हैं, परन्तु स्वय ईश्वर का न कोई इतिहास है और न वह किसी घटना-चक्र मे ही निहित रहता है। इसी प्रकार संत अगस्टिन ने कहा है कि काल और विश्व एक साथ सृष्ट हुए हैं और ईश्वर इस काल और सृष्टि से परे और अतीत है। अब हमें स्पष्ट करना है कि ईश्वर किस प्रकार काल मे रहकर भी काल से परे है ?

जो कुछ अगस्टिन ने कहा, उसके अनुसार ईश्वर काल का स्रष्टा है और इसलिए वह काल से अतीत है। अतः, अगस्टिन के अनुसार विश्व से पूर्व काल की बात ही नही उठती है। परन्तु जो प्रत्ययवादी प्रिंगिल-पैटिसन इत्यादि ने कहा है कि काल मे रहकर भी ईश्वर कालनिरपेक्ष है, यह कथन मूल्याश्रित माना जायगा। यहाँ कीट्स की उक्ति को लेकर बोसंकेट ने इसे इस प्रसग मे कुंजीपद के रूप मे काम में लाया है। कीट्स ने कहा था कि सौन्दर्य-वस्तु

अमर है और इसकी सुन्दरता कभी भी नहीं विनष्ट होगी। क्यों ? क्योंकि जब तक मानव चेतना रहेगी वह सौन्दर्य-वस्तु से आकर्षित होती रहेगी और फिर कीट्स के मार्मिक वचन थे कि सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य है और इसी ज्ञान को प्राप्त करना ही मानव के लिए उसकी चरम सिद्धि है। अब यदि सौन्दर्य मूल्य के साथ वैज्ञानिक सत्यता, आत्म-त्याग, समाज-कल्याण, वीरता इत्यादि मूल्यों को भी जोड़ लिया जाए तो इस संदर्भ मे मुख्य उक्ति होगी कि मूल्य नित्य और अमर है। परन्तु क्या ताजमहल किसी काल मे नही बनाया गया था, क्या मदुराय के मन्दिर अपने आप खड़े हो गए हैं, क्या कोणार्क के अनुपम सूर्यमन्दिर के बनने मे समय नही लगा था ? प्रत्येक मूल्यवान वस्तु के बनने मे समय लगता है, वह किसी-न-किसी कालविशेष में उत्पन्न होती है। परन्तु एकबार जब वह मूल्यवान वस्तु तैयार हो जाती है तो वह फिर अनन्त काल के लिए आनन्द-वस्तु बन जाती है। इस अर्थ मे जो वस्तु जितनी अधिक और उत्तम मूल्यो से मंडित होगी वह वस्तु उतनी ही मात्रा मे मानव चेतना के लिए काल से परे शाश्वत निधि कहलाएगी। अभिज्ञान शकुंतलम् किस काल मे लिखी गई और इसके लिखने मे कितना समय लगा, शायद ये बातें अतीत के गर्भ मे रहकर कभी भी निश्चित रूप से ज्ञात न हों, पर क्या शकुन्तला का चित्रण इससे कम आकर्षण-रचना हो जायगी ? आज भी मोना-लीसा के सामने रोम मे भीड़ लगी रहती है। दर्शक उस विचित्र चित्र-कला को देखकर दग रह जाते हैं, उसके सौन्दर्य का पान करते हैं—उसको देखते-देखते आत्मविभोर हो जाते हैं। मिनट और घटे बीत जाते है— दर्शक और वह मोना-लीसा। क्या उस चित्रविस्मृति मे दर्शक पूछता है कि यह चित्र-कला कब बनाई गई और इसके बनने मे लेओनार्डो को कितना समय लगा था ? किसी भी सौन्दर्य-वस्तु के तैयार होने मे समय लगता है, – वह काल-गति मे उत्पन्न होती है, पर जब वह मूल्यवान वस्तु हो जाती है तो वह कालनिरपेक्ष हो जाती है। मूल्यवान वस्तु की नित्यता न तो सर्वकालीनता मे है और न तर्कनिष्ठ कालनिरपेक्षता मे, —इसकी नित्यता मानव चित्र को आकृष्ट करने की क्षमता मे, उसके विभ्रान्त चित्त को शांति प्रदान करने की शक्ति मे, मानव जीवन को सार्थक करने मे, उसको मानव-सभ्यता के मूल्यो को परिपूर्ण करने में देखी जाती है। अतः, नित्यता से अन्तिम अर्थ लगाया जाता है मूल्याश्रितत्व का।

यदि ईश्वर नित्य है तो वह इसी मूल्याश्रित प्रत्यय के रूप मे नित्य है। ईश्वर में सभी मूल्य आदिकाल से ही साकार हैं। परन्तु मूल्यों का विवेचन

संज्ञानात्मक नहीं कहा जा सकता है। अतः, ईश्वर की मूल्याश्रित निम्नता भी संज्ञानात्मक रीति से स्पष्ट नहीं की जा सकती है और जब इसे हम मूल्यात्मक समझ कर स्पष्ट करते हैं तो इसकी संज्ञानात्मकता विनष्ट हो जाती है। यही बात ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के सम्बन्ध में देखी जाती है।

सर्वशक्तिमत्ता और सृष्टिकर्त्तृत्व

ईश्वर सब कुछ अवश्य कर सकता है, पर उसकी कार्य शक्ति वही कर सकती है जो उसके अन्य गुणों से तर्कसंगत रूप में मेल खाए। ईश्वर पाप नही कर सकता, विश्व में अशुभ नहीं उत्पन्न कर सकता है, इत्यादि। फिर ईश्वर स्वतन्त्र मानव को पूर्णतया नियंत्रित नहीं कर सकता है, जबतक मानव स्वयं शुभ न बने तबतक ईश्वर उसमे शुभ उत्पन्न नहीं कर सकता है। यदि मानव प्रारम्भ से ही शुभ हो तो वह ईश्वर का कठपुतला होगा, न कि स्वतंत्र मानव। इन बातो को ध्यान में रखकर हम ईश्वर के सृष्टिकर्त्तृत्व की व्याख्या करेंगे।

सृष्टिकर्त्तृत्व के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं* कि सृष्टिकर्त्तृत्व से शिल्पी का अर्थ नहीं लगाया जा सकता है। शिल्पी पूर्वस्थित सामग्रियों के आधार पर किसी उद्देश्यपूर्त्ति के लिए वस्तुओ का निर्माण करता है, उदाहरणार्थ, कुम्हार मिट्टी से पात्रो का निर्माण करता है। अब ईश्वर पूर्ण है और इसलिए उसमें कोई अभाव नही। इसलिए वह किसी उद्देश्यपूर्त्ति के लिए निर्माण नहीं कर सकता है। फिर ईश्वर से स्वतन्त्र कोई अन्य सामग्री नहीं रह सकती, नहीं तो ईश्वर उस सामग्री से सीमित हो जाएगा। परन्तु ईश्वर अपरिमित सत्ता है। अनः, ईश्वर ने किसी पूर्वस्थित सामग्री से इस विश्व का निर्माण नहीं किया है। तब ईश्वर के सृष्टिकर्त्तृत्व को किस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है ?

ईश्वरवादी का कहना है कि ईश्वर ने विश्व-रचना शून्य से की है। परन्तु शून्य से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता है, तो 'शून्य से उत्पन्न' करने का अर्थ है कि ईश्वर ने अपनी शक्ति से और अपने सारतत्व से इस विश्व की सृष्टि की है। इससे यह अभिव्यंजित होना है कि विश्व ईश्वर का ही रूप है अर्थात् विश्व स्वयं ईश्वर है और ईश्वर ही विश्व है। परन्तु ऐसा कहने से सर्वेश्वरवाद चला आता है और ईश्वरवाद का विलयन हो जाता है। वास्तव में ईश्वरवादी संज्ञानात्मक रीति से ईश्वर के सृष्टिकर्त्तृत्व को स्पष्ट नहीं कर

* अध्याय—३

सकते हैं। उनके अनुसार ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व रहस्यमय है। बर्टोक्सी और मैस्केल ने* इसे स्पष्ट शब्दों में माना है। इनका कहना है कि ईश्वर सचमुच मे असत् से सृष्टि करता है और इस सृष्टि की सामग्री न तो पूर्वस्थित हो सकती है और न उसका कोई अंश ही हो सकता है। इसलिए यह बताना कठिन है कि ईश्वर किस प्रकार सृष्टि करता है। इसी प्रकार मैस्केल ने कहा है कि हम नहीं जानते हैं कि ईश्वर क्यों और कैसे सृष्टि करता है : केवल इतना भर ही जानते हैं कि यदि ईश्वर इस विश्व की सृष्टि नहीं करता तो विश्व का अस्तित्व नही रहता। हम इतना भर ही जानते हैं कि क्यो हम इन सब बातों को नही जानते हैं और हमारे लिए यही पर्याप्त है। अतः, बर्टोक्सी और मैस्केल के लिए ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व आस्था का विषय है, न कि ज्ञान का। परन्तु मान भी लिया जाए कि विश्व की सृष्टि ज्ञान का विषय नही है तो भी इसके सम्बन्ध मे दो प्रश्न उठते हैं। क्या ईश्वर विश्व से अतीत है या विश्व में अन्तर्व्याप्त है? फिर ईश्वर के अतीतपन तथा अन्तर्वर्तिता से ईश्वरवाद में किम प्रकार अर्थ स्पष्ट किया जा सकता है।

अतीतपन तथा अन्तर्वर्तिता (†)

हमलोगों ने पहले ही 'अतीतपन' की व्याख्या तटस्थ-देववाद के प्रसंग मे और 'अन्तर्वर्तिता' की व्याख्या सर्वेश्वरवाद के प्रसंग में (अध्याय २) में कर दी है, पर यहाँ एकेश्वरवाद की दृष्टि से इन दोनों पदों की व्याख्या की जाएगी।

धर्मदर्शन में अतीतपन को तीन अर्थों में काम में लाया गया है :

१. वह जो मानव के सभी संज्ञानात्मक कोटिप्रत्यय से परे और स्वतंत्र हो, अर्थात् जिसे मानव किसी भी साधारण शब्दों के द्वारा स्पष्ट नहीं कर सकता है। शंकर, टामस अक्वाईनस तथा पॉल तीलिख ने ईश्वर को इसी अर्थ में अतीत माना है।

२. वह जो सम्पूर्णतया माया से परे और अनिर्वचनीय नहीं है, परन्तु जिसमें मानव की तुलना में सभी उदात्त गुण पूर्ण अंश में पाए जाते हैं। (ईयन रामसे)

---

* पी० ए० बर्टोक्सी, इंट्रोडक्सन टू दी फिलासफी आव रिलिजन—पृ० ४५१-४५५, विशेषकर पृ० ४५१। ई० एल० मैस्केल, एक्सिस्टेन्स ऐंड अनालाजी पृ० १२५।

† देखें लेख, ट्रान्सेंडेंस', डब्ल्यू. डी. हडसन; इमानेन्स, हेलेन ओपेनहाईमर, थेओलॉजी, मार्च १९६६।

३. ईश्वर अशरीरी होने के कारण मानवेतर और विश्वेतर रहकर मानव से अतिक्रांत है।

यदि हम ईश्वर को अनिर्वचनीय मानें तो ईश्वर रहस्यमय सत्ता बन जाता है और तब यह संज्ञानात्मक विषय नहीं रहता है। फिर यदि ईयन रामसे के अर्थ मे कहें कि ईश्वर के उदात्त गुण मानव गुणों से अतिक्रान्त हैं, अर्थात् वे पूर्ण हैं तो हम मानव ईश्वर के 'पूर्ण' गुणों को कैसे समझ सकते हैं ? ईश्वर इस अर्थ में भी रहस्यमय विषय बन जाता है। पुनः, एकेश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर अशरीरी है, लेकिन उसकी उपस्थिति मानव को उसके जीवन को मूल्यवान बनाने मे सहायक प्रतीत होती है। यह ठीक है कि मानव अपने को सीमित जानकर, अपने को सब भाँति दुश्चिन्ताओं से घिरे पाकर ईश्वर की सत्ता से ओतप्रोत होकर जीवन मे स्थिरता को प्राप्त करता है। परन्तु इस प्रकार मानव से अतिक्रान्त ईश्वर की उपस्थिति न तो अनिवार्य है, न अपरिहार्य है और न अकाट्य रूप से सिद्ध की जा सकती है। ईश्वर आस्था का विषय हो जाता है, न कि सज्ञान का। यही बात ईश्वर की अन्तर्वर्तिता के संबध मे लागू होती है।

अन्तर्वर्तिता : सर्वेश्वरवाद के संबंध में ईश्वर की अन्तर्वर्तिता की व्याख्या की गई है। परन्तु एकेश्वरवाद मे ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना जाता है। अब यदि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण हो तो वह अपने भक्तो के साथ किस प्रकार संगोष्ठी करे, किस प्रकार इतना समीप आ जाए कि भक्त कहे, 'रही पर्दे मे अब वह न पर्दनशो, जो पर्दा-सा बीच मे था सो न रहा' ? अतः, यहाँ ईश्वर की अन्तर्वर्तिता तत्त्वमीमासीय प्रत्यय नही है, वरन् यह धार्मिक अनुभूति के निकटतम की एक भावना है जो 'अन्तर्वर्तिता' प्रत्यय के द्वारा व्यक्त की जाती है।

ईश्वर का शुभत्व और प्रेम

ईश्वर के अतीतपन तथा उसकी अन्तर्वर्तिता की चर्चा ईश्वर के सृष्टि-कर्त्तृत्व के साथ जुडी हुई है। अब धार्मिक अनुभूति के अनुसार ईश्वर सर्जनात्मक कार्यशक्ति है जो अपने शुभत्व को इस विश्व मे अनायास, बिना किसी हिचकिचाहट के उडेलती रहती है ताकि अन्त में मानव भी शुभ जीव बन जाए। मानव प्रलोभनो में आकर, पाशविक वृत्तियों के वशीभूत होकर ईश्वर के इस शुभत्व की अवहेलना करता है, उसका निरादर करता है और उसका हनन

भी करता है। परन्तु ईश्वर का शुभ गुण इतना महान, इतना उदात्त, इतना गहरा और विशाल है कि ठुकराये जाने पर भी, अपमानित होने पर भी उसके शुभत्व मे आंच नहीं आती है। इसे ईसाई एकेश्वरवादी 'प्रेम' की संज्ञा देता है।

ईश्वर अपने प्रेम से विह्वल हो, अर्थात् सर्जनात्मक शुभ शक्ति से आक्रान्त होकर विश्व मे अपने को उड़ेलता रहता है। काल-परिपाक होने पर ईश्वर स्वयं ईसा में अवतरित हुआ ताकि मानव के साथ उसकी पूर्ण संगोष्ठी एवं सभाषण हो सके। यह है विश्व में ईश्वर की अन्तर्वर्तिता, क्योकि ईसा स्वयं ईसाइयो के लिए ईश्वर है, और वह इस विश्व में रहा और अपनी उपस्थिति से मानव को स्थिरता प्रदान करता रहा। परन्तु अनेक व्यक्तियों ने ईश्वर के इस प्रेम, इस महात्याग को, जिसमें ईश्वर अपने को इस भूतल तक ले आता है, नही समझा। उन्होंने प्रेममय ईसा को, (जो पापियों को भी मानव समझता आया और उनके पापों से अछूता रहा और अपवित्र नही हो पाया,) मार डाला। ईसा जो स्वय ईश्वर था, वह प्रेम था जो सभी पापों का प्रक्षालन कर सकता है, उसने क्रूस पर मरते समय ईश्वर से प्रार्थना की कि ईश्वर इन अज्ञों को उनके पापों को क्षमा करे। लोगों ने इस क्षमा देने वाले शुद्ध प्रेम को नहीं पहचाना। परन्तु जो भी इस ईश्वर के प्रेम का समझते हैं, और उसके इस प्रेम से पुनीत होते हैं, वे संसार मे अविचलित होकर ईश्वर की संतान मे गिने जाते है।

पर क्या इस ईसाई देवकथा को सज्ञानात्मक समझा जाए? देवकथा (मिथ) को कोई संज्ञानात्मक नही मानेगा, परन्तु धर्मभाषा देवकथात्मक होती है। पॉल तीलिख इस भाषा को प्रतीकात्मक कहते हैं और टामस अक्वाईनस ने इसे साम्यानुमानिक (अनालॉजिकल) कहा है। इन बातों की चर्चा बाद में की जाएगी। यहाँ एक बात निश्चित है कि देवकथा का संबंध मानव के अचेतन, उसके संस्कार और उसकी सस्कृति से है। ईसाई धर्म की देवकथा हिन्दू को नही आकर्षित करती है और हिन्दू देवी-देवता मुसलमान को नही भाते है। आगे चलकर हम देखेंगे कि देवकथा की भाषा को परिशुद्ध करने के बाद ही विविध धर्मों की संगोष्ठी सभव हो सकती है। अब जो बात ईश्वर के गुण के सबंध मे कही गई है, वह बात धर्मदर्शन के गम्भीर विषय अशुभ की समस्या के सबंध में भी पाई जाएगी। हमलोग ईश्वर के गुण के संबध में कम-से-कम तीन बातों को पाते हैं:

१. इस विश्व का चरम उद्देश्य है कि सत्संकल्पी जीव का विकास हो।
२. ईश्वर अपरिमित रूप से शुभ है।
३ ईश्वर सर्वशक्तिमान है।

अब यदि ये बातें हैं तो विश्व में अशुभ क्यों? यहाँ युगों का उभयतः पाश है।

"यदि ईश्वर अशुभ को नही हटा सकता है, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान नही है; और यदि ईश्वर अशुभ का प्रतिकार कर सकता है, पर उसका प्रतिकार नहीं करता है, तो वह शुभ नही है।"

दूसरे प्रकरण मे इसी अशुभ की समस्या की व्याख्या की जाएगी।

प्रश्न

१. उपास्यता की व्याख्या कीजिये और बताइये कि क्या उपास्य ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण होना चाहिये।
   (उपास्यता की व्याख्या अध्याय २ में की गयी है)।
२ ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
३ सवज्ञता की व्याख्या कीजिये और बताइये कि क्या ईश्वर स्वतंत्र इच्छात्मक प्रक्रियाओं का पूर्वज्ञान रख सकता है?
४. नित्यता के स्वरूप पर प्रकाश डालिये और बताइये कि ईश्वर किस प्रकार काल में निहित रहकर भी कालनिरपेक्ष हो सकता है।
५ ईश्वर के सृष्टिकर्त्तृत्व को स्पष्ट कीजिये। क्या सृष्टिकर्त्तृत्व की संज्ञानात्मक व्याख्या हो सकती है?
६. क्या ईश्वर में गुणों के रहने से ईश्वर सगुणी नही होता है और क्या सगुणीकरण से ईश्वर सीमित नही हो जाता है?

★

अशुभ की समस्या

अध्याय—५

अशुभ की समस्या

ईश्वरवादी के लिए ईश्वर शुभ, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है और ऐसी अवस्था मे उसके लिए अशुभ के समाधान करने के लिए बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अशुभ की समस्या के सदर्भ में निम्नलिखित प्रतिज्ञप्तियाँ (सवाक्य) उल्लेखनीय हैं :

१ ईश्वर वास्तविक है (यदि ईश्वर वास्तविक न हो, तो अशुभ की समस्या उठेगी ही नही) ।

२. ईश्वर सर्वज्ञ है (यदि ईश्वर को पूर्वज्ञान था कि विश्व में मानव द्वारा अनीति होगी, तो उसने ऐसे मानव की क्यों रचना की ?) ।

३ विश्व मे अशुभ वास्तविक है (यदि अशुभ होता ही नही, तो अशुभ संबधी समस्या उठती ही क्यो ?) ।

४. ईश्वर परम शुभ है (तो अशुभ क्यो ?) ।

५ ईश्वर सर्वशक्तिमान है (तो अशुभ को क्यो नही दूर करता ?) ।

अशुभ का स्वरूप : यदि हम अन्तिम तीनों सवाक्यों पर ध्यान दें, तो हम पाएँगे कि ये तीनो एक साथ सत्य नही हो सकते हैं। हमलोगों ने पहले ही चौथे अध्याय के अन्त में उभयत:पाश के रूप में देखा है कि यदि अशुभ वास्तविक हो तो ईश्वर को परम शुभ और सर्वशक्तिमान मानना कठिन है। अब यदि अशुभ के रहने पर ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता तथा शुभ में कमी हो जाती है तो ईश्वर की उपास्यता मे कमी आ जाती है। परन्तु यदि ईश्वर के शुभत्व और सर्वशक्तिमत्ता में से किसी एक को छोड़ना हो तो सर्वशक्तिमत्ता को ही छोड़ा जा सकता है, क्योंकि बिना शुभत्व के ईश्वर की उपास्यता संरक्षित नही रह पाती है। यही कारण है कि जॉन स्टूअर्ट मिल, विलियम जेम्स, जे. एम ई. मेक्टगार्ट तथा ई. एस. ब्राइटमैन ने ईश्वर को परम शुभ मानकर ईश्वर को सीमित स्वीकार किया है। परन्तु एकेश्वरवादी ईश्वर को किसी स्थिति में भी सीमित नही मानते हैं, क्योंकि उसके लिए सीमित ईश्वर उपास्य नहीं हो सकता है। अतः, ईश्वरवादी ईश्वर के शुभत्व और उसकी सर्वशक्तिमत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए अशुभ के संबंध में ही पैतरा

बदलते दीखते हैं। उन्होंने अशुभ के संबंध मे निम्नलिखित विचारों को प्रस्तुत किया है।

(क) जिसे हम अशुभ कहते हैं, वह वास्तव मे अशुभ नही है। चूँकि हमारा ज्ञान अधूरा है, इसलिए विश्व की कुछ घटनाओं को हम अशुभ कहते हैं।

इस उपयुक्त अशुभ-संबंधी मत मे कई प्रचलित सिद्धान्त दिए हुए हैं। कुछ विचारक इस मत को ईश्वर को रहस्यमय जानकर बताते है कि ईश्वर के रहस्य को कौन जान सकता है। इसलिए वे ईश्वर को शुभ मानकर सभी घटनाओं को शुभ मानते हैं इस मत पर विचार करने से स्पष्ट हो जाएगा कि यह मत, आस्था पर आधारित है और इसलिए इसे संज्ञानात्मक नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

फिर कुछ भारतीय ईश्वरवादी कहते हैं कि मानव अज्ञानवश नही जानता है कि जो अशुभ दीखता है, वह केवल आभास-मात्र है। वस्तुत, न विश्व का, न व्यावहारिक जगत् का और न नैतिक अशुभ की ही अन्तिम रूप मे कोई वास्तविकता है।

भारतीय दर्शन प्रगाढ है और भारतीय अज्ञानवाद की आलोचना उतना आसान नही है। किन्तु अनुभववादी दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि मायावाद वैज्ञानिक अनुभववाद से मेल नहीं खाता है। अनुभववाद के अनुसार पारमार्थिक ज्ञान और उसकी रहस्यानुभूति को सत्यता की कसौटी नही बनाया जा सकता है। साधारण अनुभव के आधार पर यही कहा जा सकता है कि इसी व्यावहारिक क्षेत्र मे हम कुछ घटनाओ को शुभ और अन्य कुछ घटनाओ को अशुभ कहते हैं। मायावादी दृष्टि से वास्तव मे शुभ और अशुभ दोनों ही अज्ञान से उत्पन्न होते हैं और पारमार्थिक आनन्द इन दोनों से परे, स्वतंत्र एव अतीत है। परन्तु मुक्तिदायिनी पारमार्थिक दृष्टि इस साधारण जीवन की साधारण अनुभूति नही है। साधारण सार्वजनिक अनुभूति के आधार पर जिस प्रकार हमें अशुभ का ज्ञान होता है, उसी प्रकार हमे शुभ का भी ज्ञान होता है। यदि अशुभ के ज्ञान को मिथ्या सिद्ध कर दिया जाए, तो फिर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि मानव शुभ का ज्ञान प्राप्त करने में भी असमर्थ होता है। अतः, यदि अशुभ के ज्ञान को नकार दिया जाए तो शुभ का भी ज्ञान इसी कसौटी के द्वारा असंभव हो जायगा। इसलिये इस अज्ञानवादी दृष्टि से नैतिक

संदेहवाद को अपनाना पड़ेगा। परन्तु जनसाधारण के लिए शुभ-अशुभ दोनों वास्तविक हैं और इसलिए अशुभ को स्वीकार करना पड़ेगा।

इस उपर्युक्त प्रत्याख्यान को भारतीय मायावाद का खंडन नही कहा जाएगा, परन्तु जो कोई शुभ के ज्ञान को सही मानते हैं और अशुभ को अवास्तविक मानते हैं, उन्ही के मत का खंडन किया गया है। इस सिद्धान्त से मिलता-जुलता सिद्धान्त प्रत्ययवादियो का है, जिनके अनुसार अशुभ वास्तव में शुभ है, यदि हम अशुभ को सम्पूर्णात्मक दृष्टि से देखें।

(ख) प्रत्ययवादी के अनुसार सम्पूर्ण विश्व सर्वग्राही सामंजस्यपूर्ण व्यवस्थित अनुभूति है और इसलिए कोई भी घटना अशुभ नही हो सकती, क्योंकि अशुभ मे सामंजस्यपूर्णता मे आघात पहुँचना है। उदाहरणार्थ, गोबर पैर में लगने से बुरा लगना है, पर खाद के रूप में, या लीपने की वस्तु के रूप मे गोबर को शुभ माना जाएगा। इसी प्रकार कोई भी घटना क्यो न हो, जैसे, बाढ़ सूखा, भूकम्प इत्यादि सभी विश्व के सम्पूर्णत्व मे अशुभ नही पाए जाएँगे।

प्रत्ययवादी अशुभ के संबंध मे दो आपत्तियाँ उठाई गई है। प्रथम यह अशुभ संबंधी सिद्धान्त तत्वमीमासात्मक है और परम सत् को भला कौन जान सकता है ? जब किसी भी प्रत्ययवादी दार्शनिक को ही विश्व के सम्पूर्णत्व का ज्ञान नही हो सकता है, तब इसकी दुहाई देने की आवश्यकता ही कहाँ उठती है ? द्वितीय, अशुभ का ज्ञान साधारण अनुभूति के द्वारा सिद्ध-असिद्ध होता है। अत., असाधारण अप्राप्य सम्पूर्णत्व के आधार पर अशुभ के साधारण ज्ञान को खडित नही किया जा सकता है। अगर मान भी लिया जाए कि समष्टिपूर्ण दृष्टि के हो जाने पर अशुभ हमे अशुभ न होकर शुभ दिखेगा, परन्तु जहाँ तक सर्वसाधारण की अनुभूति का संबंध है, वहाँ आशिक ही दृष्टि रह जाती है और इस आशिक दृष्टि के आधार पर अशुभ शुभ नही मालुम देता है। अब यदि अशुभ वास्तव मे अशुभ न हो, तोभी शुभ का अशुभ दीखना तो मानव के लिए अशुभ ही माना जाएगा। अतः, यदि अशुभ घटनाएँ हों या न हो, तोभी आशिक दृष्टि (अर्थात् अशुभ का ज्ञान) को अशुभ माना ही जाएगा।

इसी प्रकार यदि मान भी लिया जाए कि मानव अज्ञानवश शुभ को अशुभ मानता है, तो यह अज्ञान ही घोर अशुभ माना जाएगा। इसलिए अशुभ की वास्तविकता को नहीं नकारा जा सकता है। परन्तु इस स्थल पर एकेश्वरवादी

अशुभ को भावात्मक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार अशुभ वैकल्य पद (पर्युदासक) है, अर्थात् जिसमें किसी अमुक गुणविशेष का वर्त्तमान अभाव है, परन्तु जिसके होने की आकांक्षा की जाती है। उदाहरणार्थ, अंधा होना वैकल्य है। इस समय किसी व्यक्ति विशेष में देखने की शक्ति का अभाव है, परन्तु साधारणतया व्यक्ति मे आँखें पाई जाती है। फिर भविष्य में भी आँखों की प्राप्ति की सम्भावना हो सकती है। भारतीय दर्शन में अशुभ की मूल जड अज्ञान और अज्ञान वैकल्यात्मक है, क्योंकि अज्ञान का स्वरूप ही है कि ज्ञान के हो जाने पर जिसका बिलयन हो जाता है। इसी प्रकार ईश्वरवादी मानते हैं कि पाप, स्वार्थ, लालच इत्यादि ऐसे वैकल्यात्मक अशुभ हैं कि ईश्वर की सत्संगति और उसके अनुपम अनुग्रह के द्वारा दिव्यगति प्राप्त कर लेने के बाद ये नैतिक बुराइयाँ अपने आप विलीन हो जाएँगी। इस अर्थ मे अशुभ न भावात्मक है और न इसका अन्तिम अस्तित्व जाना जा सकता है। हम देखेंगे कि प्रमुख अनुभववादी अशुभ के इस वैकल्यात्मक स्वरूप को ध्यान मे नहीं रखते हैं, जो उनकी भूल है। तोभी स्वीकार करना पडेगा कि अशुभ को अन्तिम रूप से वैकल्यात्मक मानना आस्था का विषय है, न कि सज्ञान का। इसका कारण है कि बाढ़-सूखा, युद्ध-विनाश, भूकम्प इत्यादि ऐसे अशुभ है कि इनके विलयन को साधारणतया कोई नही देखेगा। फिर ऐसा शुद्ध व्यक्ति जिसमे नैतिक पतन की संभावना न हो, नही दिखाई पड़ता है। वास्तव मे धार्मिक संवाक्य आस्थामय ही हुआ करते हैं, पर वे संज्ञानात्मक नही कहे जा सकते हैं। परन्तु अधिकाश एकेश्वरवादी धार्मिक संवाक्यों को सज्ञानात्मक मानते हैं। इसलिए यदि अशुभ की वास्तविकता किसी भी प्रकार नही नकारी जा सकती है, तो ईश्वर के परम शुभत्व, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता को ध्यान मे रखकर इस समस्या का समाधान करना चाहिए।

ईश्वरवादी ने अनेक प्रकार से ईश्वर के शुभत्व और उसकी सर्वशक्तिमत्ता को ध्यान में रखकर अशुभ की समस्या का समाधान करना चाहा है। इन समाधानों में से दो को प्रमुख मानना चाहिए, अर्थात्

१ अशुभ केवल एक साधन मात्र है, जिसके द्वारा मानव की प्रवृत्तियो का संशोधन तथा शिक्षण होता है। इसे करणवाद की संज्ञा दी जाती है।

२. इसी करणवाद का विशेष रूप इच्छा-स्वातंत्र्यमूलक समाधान है, जिसे ईश्वरवादी अशुभ के समाधान में विशेष स्थान प्रदान करते हैं।

अशुभ की साधनता (करणवाद)

ईश्वरवादी कहते आए हैं कि वास्तव मे अशुभ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही है। यह शुभ के विकास तथा उन्नयन में केवल साधन है। यदि आग छूने से फफोले की पीड़ा न होती तो मानव जलकर मरना अच्छा समझता, यदि साँप-बिच्छू का डँक कष्टप्रद न होता तो मानव इनके चगुल मे पडकर जीवन-संग्राम मे सफल होने में असमर्थ हो जाता। यदि बीमारी की पीड़ा न होती, तो मानव स्वास्थ्य की कद्र नही करता। अत:, शारीरिक पीड़ा तथा प्राकृतिक दुर्घटनाएँ मानव के विकास और शिक्षण के साधन कहे जा सकते हैं। परन्तु शारीरिक एव प्राकृतिक कष्टो को केवल व्यापक रूप मे लेने से ही उनकी साधनता सिद्ध हो सकती है। यदि सभी स्थलो पर घटनाविशेषो की व्याख्या करने में हम करणवाद को अपनाएँगे तो हम असफल हो जाएँगे। हमलोगो ने उद्देश्यमूलक प्रमाण के सदर्भ मे देखा है कि व्यापक दृष्टि के अपनाने पर ही सिद्ध होता है कि सामान्य रूप से सभी घटनाओं के पीछे ऐसी सत्ता है जो विश्व का सचालन करती है। इसी प्रकार यदि हम दुःख और कष्ट को व्यापक रूप मे ध्यान मे रखें तो मानव विकास मे इन्हे साधन माना जा सकता है।

समष्टिपूर्ण दृष्टि से देखने मे लगता है कि सम्पूर्ण विश्व विकासात्मक और श्रेणिक व्यवस्था है। अत., किसी एक युग मे जो कुछ होता है उसका मूल्याकन भूत और भविष्य को ध्यान मे रखकर ही पूरा हो सकता है। इसी प्रकार निम्नतर श्रेणी के जीवो मे त्रुटियो का रहना अनिवार्य है। फिर चूँकि सभी श्रेणियो मे क्रमिक विकास होता रहता है, इसलिए किसी भी स्तर के जीवो मे पूर्णता सम्भव नही हो सकती है। अत:, इस क्रमिक विकासात्मक व्यवस्था मे शारीरिक और मानसिक कष्ट का होना अनिवार्यत: आपातिक रहेगा। यदि विकास जारी रहेगा तो विकास-प्रक्रिया में कष्ट और दु.ख उन्नयन-पीडा तथा उसके उपफल के रूप मे सभव होना आवश्यक प्रतीत होता है। कौन बच्चा बिना गिरे चलना सीखता है, बिना पानी की घूँट पीये तैरना सीखता है, बिना तुतलाये बोलना सीखता है, इत्यादि ? इसी प्रकार बिना कष्ट वहन के कौन शिक्षा प्राप्त कर सकता है, कौन वीर बिना त्याग के गौरव प्राप्त कर सकता है, कौन बिना जीवन के प्रलोभनों को छोडे सन्त हो सकता है इत्यादि ? अत:, कष्ट और दु.ख उच्चतर विकास का अनुपम साधन माना जा सकता है। इस रूप में अर्थात् विकास-प्रक्रिया के उपफल तथा साधन के रूप

में दुःख और आपत्तियाँ अनिवार्यतः आकस्मिक रहेंगी। 'अनिवार्यतः आकस्मिकता' से ध्वनित होता है कि ईश्वर चाहता तो नहीं है कि किसी को भी आपत्तियों का सामना करना पड़े, परन्तु स्वयं विश्व आपातिक है और इसका विधान भी उसी प्रकार है। इसलिए दुःख को भी आपातिक ही मानना चाहिए। अतः, उच्चतर विकास के लिए दुःख को अनिवार्य तो नहीं, परन्तु आपातिक रूप से आवश्यक मानना चाहिए। इसलिए इस विकासात्मक अनुक्रमिक विश्व-व्यवस्था में ईश्वर को दुःख-विधान को अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना पड़ता है। निम्नलिखित रूप से इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

मानव जीवन में अधिकांश दुःख प्रकृति-नियमितता से उत्पन्न होता है। आग एकरूप से काम करती है, सूर्य नित्य दिन एकरूप से स्थित रहता है, जीव-जगत् तथा वनस्पति-जगत् के व्यवहार मे एकरूपता है। उनके नियमों के उल्लंघन करने से दुःख अधिकांश रीति से उत्पन्न होते हैं। भोजन नियमानुकूल न करने से अनपच, असावधानी से दाह, शारीरिक कार्यवाहियों की अवहेलना से बीमारी, इत्यादि दुःख उत्पन्न होते रहते हैं। परन्तु यदि प्रकृति नियमित रूप से काम न करती तो हम प्रकृति के नियमों को कैसे जानते और बिना प्रकृति-ज्ञान के कैसे प्राकृतिक प्रक्रियाओं पर नियन्त्रण करके मानव अपना विकास करता ? प्रकृति-नियमितता के आधार पर अपनी अनुभूतियों को व्यवस्थित कर अपनी स्मरण-शक्ति के द्वारा प्रकृति के नियमों को स्थापित कर मानव अपनी बुद्धि का विकास कर पाया है और समाज की व्यवस्था स्थिर करने में समर्थ हो पाया है। पुनः, समाज-व्यवस्था के द्वारा मानव अपना नैतिक विकास कर पाया है। इसलिए दुःख मानव के लिए चुनौती है, जिसके रहने से मानव उससे होड़ लेकर अपनी सुषुप्त शक्तियों का विकास करता है। अतः, दुःख मानव के लिए :

(क) चेतावनी है, उदाहरणार्थ, आग की जलन;
(ख) शिक्षण-व्यवस्था (उदा०, प्रकृति-नियमितता);
(ग) शोधन (उदा०, बीमारी से स्वास्थ्य का आदर)
(घ) चुनौती (उदा, बाढ़, असाध्य रोग इत्यादि मानसिक खुजलाहट को बनाए रखते हुए मानव को दुस्साध्य कार्य-दिशा में ललकारते रहते हैं)।

अतः, विकासात्मक अनुक्रमिक विश्व-व्यवस्था में दुःख को अनिवार्यतः आकस्मिक स्वीकार करना चाहिए।

करणवाद की आलोचना

मिल, मैकी, मैक्लोस्के इत्यादि विचारको ने अशुभ की साधनता के संबंध में अनेक आलोचनाएँ की हैं। कुछ अलोचनाएँ सर्वथा निराधार हैं। उदाहरणार्थ, मिल का कहना है कि प्रकृति मे हिंसा, नृशंसता और अनैतिकता पाई जाती है। इसलिए विश्व मे नैतिक विधान नही मानना चाहिए। अब ईश्वरवादी यह नही कहते हैं कि स्वयं प्रकृति में अच्छे-बुरे की चेतना है और वह नैतिक है। ईश्वरवादी का कहना है कि प्रकृति का ऐसा विधान है कि इसके द्वारा विकास-क्रम में नैतिकता का विकास हो और फिर नैतिकता की सरक्षा हो। ईश्वरवादी के लिए स्वयं प्रकृति नैतिकता-निरपेक्ष रहनी है और नैतिकता के विकास और सरक्षा के लिए प्रकृति को केवल आश्रयमात्र माना जा सकता है। परन्तु सामान्य रूप से मिल की आलोचना उल्लेखनीय है।

मिल का प्रश्न है : क्या यह सत्य है कि सामान्य रूप से अशुभ के रहने से शुभ का विकास होता है ? जब किसी विधवा का एकलौता पुत्र भरी जवानी मे मर जाता है तो इस अकाल मृत्यु से किसका शुभ सभव होता है ? यहाँ ईश्वरवादी प्रायः मूक हो जाता है। वह इतना ही भर कह सकता है कि वह पूरी बात नही जानता है : वह न तो यह जानता है कि मरणोत्तर जीवन मे मृत का क्या होता है और न वह यह जानता है कि मृत व्यक्ति की अन्तरात्मा की क्या गति होती है। वह इतना ही जानता है कि ईश्वर ने विधवा को पुत्र का दान दिया था और जब ईश्वर को भाता है कि वह दान उससे ले लिया जाए, तो ईश्वर के प्रेम को जानते हुए यही कहा जा सकता है : 'ईश्वर ने ही दिया और ईश्वर ने ही ले लिया : उसका नाम धन्य हो'। परन्तु ईश्वरवादी के इस प्रत्युत्तर को संज्ञानात्मक नही माना जाएगा। यह केवल ईश्वरवादी की आस्था का अभिव्यक्ति मात्र है। यह ठीक है कि लेखक के लिए धार्मिक सवाक्य आस्थामय ही हुआ करते है, परन्तु जो ईश्वरवादी धार्मिक सवाक्यों को संज्ञानात्मक मानते है, वे आस्था की शरण लेकर अनुभववाद की आपत्तियों का समाधान नहीं कर सकते हैं। ईश्वरवादी के संज्ञानात्मकवाद को ध्यान में रखकर मिल ने अशुभ के करणवाद के सम्बन्ध मे कई आपत्तियाँ उठाई है।

मिल का कहना है कि यदि मान भी लिया जाए कि शारीरिक एव मानसिक कष्टो के रहने पर मानव मे बुद्धि, ज्ञान, नैतिकता तथा सभ्यता का अनुक्रमिक विकास भी हुआ है तो यह भी बात अस्वीकार नही की जा सकती है कि बाढ़,

बीमारी, मृत्यु, हिंसा, इत्यादि दोष हैं। तब ये दोष विश्व मे क्यों हुए ? ये अशोभन घटनाएँ ईश्वर के शुभ-विधान मे क्यों स्थान पाती हैं ? फिर यदि कुछ स्थलो पर बुराइयों से अच्छाई को चुनौती मिलकर शुभ का विकास हुआ है तो अनेक स्थितियो मे देखा गया है कि अच्छाई से बुराई भी उत्पन्न होती है (उदा० सीधे के मुँह पर कुत्ता मूते) और फिर बुराई से अन्य बुराइयाँ भी उत्पन्न होती है (न कि सर्वदा अच्छाई होती है)। बहुधा देखा गया है कि शारीरिक दुर्बलता और बीमारी के कारण व्यक्ति को रोग पकड़ता रहता है जिसके कारण बेकारी आ जाती है और बेकारी से क्या-क्या सामाजिक अवगुण नही उत्पन्न होता है ? पुन., क्या यह सत्य है कि बुरे को बुरा होता है और भले को भला ?

जो तोहि काटा बुवै, ताहि बो तू फूल।
ताहि फूल को फूल है, वाको है त्रिशूल।।

क्या यह सत्य है कि जो जैसा करता है, वैसा ही वह पाता है ? प्राय देखा जाता है कि अपराधी और पापी दीर्घायु होते और उनकी सतानें फूलती फलती और बढती रहती है और धार्मिक व्यक्ति को दुख झेलना पडता है। इसी वास्तविकता को देखकर कान्त ने कहा है कि सुख कर्त्तव्यपरायणता के साथ नही पाया जाता है। तो न्यायी ईश्वर का विधान कैसे सत्य और न्यायपूर्ण माना जाए ? फ्ल् भी मिल की इस आपत्ति का समर्थन करते हैं[1]। मिल का कहना है कि अशुभ से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नही देखी जाती है। वास्तव मे, मिल के अनुसार, सुख-दुःख अवेबुन और आकस्मिक रूप से प्राप्त होते हैं। नही तो, क्या कोई इस बात को निर्धारित कर सकता है कि कितने दुःख के परिमाण से कितना शुभ प्राप्त किया जा सकता है ?

अशुभ के करणत्व की कमी इस बात मे है कि इस मत के अनुसार अशुभ शुभप्राप्ति का आवश्यक साधन माना जाता है। इस दृष्टि से, मैक्लॉस्के के अनुसार जितना अधिक शुभ हमे प्राप्त करना हो, हमे उसी अनुपात से अशुभ को भी उत्पन्न करना चाहिए[2] फिर यदि बिना साधन की सहायता लिए हुए ईश्वर शुभ को नही उत्पन्न कर सकता है तो मैकी[3] का कहना है कि ईश्वर साधन से सीमित होकर शिल्पकार हो जाता है, न कि अपरिमित सृष्टिकर्त्ता।

१. ए० फ्लू, न्यू एसेज पृ० १४७
२. हेच० जे० मैक्लॉस्के, गॉड ऐंड इविल पृ०७२,७४,५५।
३. जे० एल० मैकी, माइंड १९५५—पृ०२०५।

मैकी और मैक्लॉस्के, दोनों अशुभ को भावात्मक मानते हैं जो भ्रान्तिपूर्ण मत है, क्योंकि ईश्वरवादी के अनुसार अशुभ कैवल्यात्मक कहा जा सकता है। फिर यदि कोई मूल्य ऐसा हो जिसे युक्तिपूर्णतया बिना साधन के नही प्राप्त किया जा सकता है तो ईश्वरवादी इस स्थिति मे ईश्वर को सीमित नही मानेगा, क्योकि ईश्वरवादी के लिए ईश्वर उन्ही बातों को कर सकता है जो सगतिपूर्ण कही जाएँगी। परन्तु इन दोनो आपत्तियो का बल करणवाद के उस विशिष्ट रूप में दिखाई देता है जिसे इच्छा-स्वातन्त्र्यमूलक करणवाद कहा जा सकता है। इस मत के अनुसार बिना नैतिक अशुभ को अपने विधान मे स्थान दिये हुए ईश्वर मानव को सत्संकल्पी जीव नही बना सकता है और मानव को सत्सकल्पी जीव बनाना ही इस विश्व का चरम लक्ष्य है। इस इच्छा-स्वातन्त्र्य-मूलक करणवाद मे अशुभ को विशेषतया अनैतिक अशुभ माना जाता है। इसके अनुसार प्राकृतिक एवं शारीरिक दुःख को स्थान इसलिए दिया जाता है कि अन्त मे इसका प्रभाव मानव की नैतिकता बरतने मे कठिनाई आ जाती है। बगलादेशवासियो पर इस समय* अनेक शारीरिक कष्ट आ रहे है, किन्तु अन्त में इन कष्टों को इसलिए अशुभ समझा जाता है कि इनके रहने से बगलादेशवासियो में हिंसा भाव, प्रतिशोध भावना, सभ्यताविरोधी प्रवृत्तियो के उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है। अतः, अन्त में देखा जाए तो सभी प्रकार के अशुभ को (बुराइयो को) इसलिए बुरा माना जाता है कि इनसे अनैतिकता उत्पन्न होती है। अतः, अनैतिकता ही वास्तव मे अन्तिम रूप मे जीवन का अशुभ है और इस बात को इच्छा-स्वातन्त्र्यमूलक करणवाद में बलपूर्वक रूप से स्पष्ट किया जाता है।

अशुभ का इच्छा-स्वातंत्र्यमूलक विवेचन

ईश्वरवादी के अनुसार ईश्वर ने इस सृष्टि की ऐसी रचना की है कि अन्त मे पीढियों के संघर्ष के बाद सत्सकल्पी जीवो का उदय और विकास हो। अब सत्सकल्पी सच्चे रूप मे भी हो सकते है और मिथ्या रूप मे भी। मिथ्या सत्सकल्पी जीव वे है, जिन्हे आद्यन्त ऐसा नियंत्रित किया जाए कि वे सभी स्थितियों मे सही विकल्प को अपनाएँ और बुरे अथवा अनुचित विकल्पो का त्याग करें। ऐसे सत्संकल्पी ऊपर से देखने में इच्छापरक जीव दिखेंगे, परन्तु वे अनुबंधित जीवो के समान यन्त्रवत् रहेंगे। सच्चा सत्संकल्पी जीव वह है, जिसने

* मई १९७१।

निरन्तर उचित विकल्पों के चुनने के आधार पर अपने चरित्र का ऐसा निर्माण किया है कि अन्तिम स्थिति में अनेकों प्रलोभनमय विकल्पों को ठुकरा कर प्रत्येक स्थिति मे उचित विकल्प को ही अपनाता है। मिथ्या और सच्चे सत्संकल्पी जीव मे अन्तर यह है कि मिथ्या सत्संकल्पी जीव मे वस्तुतः स्वतंत्र इच्छा नही रहती है और सत्संकल्पी जीव मे इच्छा-स्वातंत्र्य पाया जाता है। यद्यपि यह अनिवार्य नही है कि प्रत्येक सत्संकल्पी जीव अपने इच्छा-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करके उसका सही उपयोग करना सीखे। परन्तु अनिवार्यतः बिना दुरुपयोग के कोई भी प्रारम्भ से एकरूप सत्संकल्पी बना हुआ नही पाया गया है। सत्संकल्पी जीव होना सच्चरित्रबल के आधार पर ही सभव हो सकता है और चरित्र अनेकों धक्कों तथा विफलताओं पर विजय प्राप्त करके बनता है और सच्चरित्रता-प्राप्ति के बाद भी अनवरत, निरन्तर प्रयास के बाद ही इसकी सरक्षा की जा सकती है। अतः, सत्संकल्पी जीव का होना बिरले ही सभव होता है और जीवन की सभी प्राप्तियों की तुलना मे इसे श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिए सत्सकल्पी जीव के बनने मे अनिवार्यतः इच्छा-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग अपरिहार्य होता है। ईश्वरवादी के अनुसार ईश्वर नही चाहता है कि व्यक्ति अपने इच्छा-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करे और अनैतिकता को उत्पन्न करे। परन्तु जहाँ पूरी छूट है, पूरी स्वतंत्रता है, वहाँ इसके सदुपयोग की भी पूरी आशा है। अत, ईश्वर अनिच्छापूर्वक इच्छा-स्वातंत्र्य के दुरुपयोग को स्वीकार कर लेता है। ईश्वर यह जानता है कि अनेक मानव अपनी स्वतंत्रता का अनेको स्थल पर दुरुपयोग करेंगे, परन्तु कुछ ऐसे भी सत्संकल्पी जीव होगे जो अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा से मिला देंगे और सभी प्रलोभनो एव परीक्षाओ मे विजयी होकर वे ईश्वर की सहभागिता तथा महापवित्र जीवन के सम्भागी होंगे। विश्व की चरम उद्देश्यपूर्त्ति के लिए कोई भी त्याग और आहुति दी जा सकती है। अत, अनैतिकता, अनाचार, कृतघ्नता, स्वार्थलोलुपता इत्यादि अशुभ के फल-स्वरूप ही सत्संकल्पी उनसे होड़ लेकर और जीवन की चुनौती समझकर अन्तिम विजय प्राप्त करते है। इसलिए ईश्वर सत्संकल्पी जीवो की प्राप्ति के लिए अपरिहार्य नैतिक अशुभ को स्वीकार कर लेता है। ईश्वरवादी का यह भी विश्वास है कि अन्त मे धर्म की (नैतिकता की) ही विजय होगी और अधर्म, अनैतिकता इत्यादि अज्ञान के समान अनायास ही उसी प्रकार विलीन हो जाएँगे जिस प्रकार किरणों के फूटने के साथ अंधकार का विलयन हो जाता है।

ईश्वरवादी के लिए नैतिक अशुभ केवल कैवल्यात्मक है और शुभ के उदय के साथ इसका अपने आप विलयन हो जाता है।

ईश्वरवाद के अनुभववादी आलोचक मैकी, फ्लू इत्यादि का कहना है कि इच्छा-स्वातंत्र्य का सम्पूर्ण नियन्त्रण सम्भव है और ईश्वरवादी के अनुसार स्वतंत्रता का स्वरूप ही ऐसा है कि इसका पूर्ण नियंत्रण आत्मविरोधी माना जाएगा। फिर मैकी और फ्लू ने शुभ के विकास के लिए अशुभ की साधनता की आलोचना भी की है। इनका कहना है कि यदि शुभ के विकास के लिए अशुभ का रहना आवश्यक है तो जितना उच्चतर श्रेणी का शुभ होगा, उतना ही निम्नतर श्रेणी के अशुभ की आवश्यकता पड़ जाएगी। उदाहरणार्थ, जबतक कृतघ्नता न हो तबतक क्षमा-प्रदान करने का शुभ नहीं होगा, और जबतक क्रूरता, द्वेष न हो तबतक करुणा, निःस्वार्थता इत्यादि के शुभ का उदय नहीं होगा। इस बात को निम्नलिखित आरेखीय रीति से स्पष्ट किया जा सकता है :

प्रथम श्रेणी शुभ	प्रथम श्रेणी अशुभ
१ स्वास्थ्य का आनन्द	१. शारीरिक व्याधि एवं कष्ट
द्वितीय श्रेणी शुभ	**द्वितीय श्रेणी अशुभ**
२ सहानुभूति, परोपकार, चिकित्सकों की कार्यदक्षता, इत्यादि जो बीमारी के प्रति शुभ उत्पन्न होते हैं।	२ कृतघ्नता, क्रूरता, निर्दयता, इत्यादि।
तृतीय श्रेणी शुभ	
३ अधिक परोपकार, अतिकरुणा, सौहार्द्रता, इत्यादि।	

अतः, फ्लू और मैकी का कहना है कि इस नीति-विधानक्रम में अशुभ अनिवार्य है और यदि अशुभ अनिवार्य है तो इस विधान में दो दोष चले आते हैं (क) अशुभ उतना ही बली हो जाता है जितना शुभ, (ख) अशुभ शुभ का विपरीत है। अतः, यदि अशुभ को शुभ के लिए अनिवार्य माना जाए—तो अन्त में इसे आत्मविरोधी सिद्धान्त माना जाएगा। यह ठीक है कि फ्लू-मैकी

की आलोचना सही नहीं है। अशुभ को शुभ के लिए अनिवार्य नहीं, वरन् अपरिहार्य कहा गया है, अर्थात् शुभ विकास में प्रायः अशुभ साथ-साथ पाया जाता है। परन्तु तार्किक रूप में अशुभ को शुभ के लिए अनिवार्य नहीं माना जाएगा। ईश्वरवादी के लिए ईश्वर में बिना किसी कालिमा के शुद्ध रूप से शुभत्व पाया जाता है। अतः, शुभ के लिए अशुभ अनिवार्य नहीं है। परन्तु विश्व की विकासात्मक अनुक्रमिक व्यवस्था में नैतिक अशुभ आपातिक रीति से अपरिहार्य मालूम देता है। अब मैकी-फ्लू का मत अशुभ के संदर्भ मे सही नहीं मालूम देता है, परन्तु इच्छा-स्वतंत्रता के विश्लेषण पर आधारित उनकी आपत्ति उल्लेखनीय है। ईश्वरवादी के अनुसार ईश्वर मानव को इच्छा-स्वातन्त्र्य के साथ कभी ऐसा उत्पन्न नहीं कर सकता है कि प्रत्येक मानव प्रत्येक स्थिति मे केवल उचित विकल्प को अपनाएँ और कभी भी अनीति नहीं करें। अनुभववादी के अनुसार स्वतंत्र मानव की ऐसी सृष्टि की जा सकती है कि वह कभी भी बुरा कार्य न करे और यदि ईश्वर ऐसे मानव की सृष्टि नहीं करता है तो या तो वह शुभ नहीं, या सर्वशक्तिमान नहीं। अनुभववादी की यह आपत्ति इच्छा-स्वातन्त्र्य पर आधारित है। अत., इच्छा-स्वातन्त्र्य की अनुभववादी व्याख्या प्रस्तुत की जाएगी।

इच्छा-स्वातंत्र्य का विश्लेषण

स्वतन्त्र इच्छा का नियन्त्रण ईश्वर तर्कसंगत रूप से कर सकता है या नहीं, यह इच्छा-स्वातंत्र्य के विश्लेषण पर निर्भर करता है। ईश्वरवादी का विश्लेषण अनुभववादीय विश्लेषण से भिन्न है। इसलिए ईश्वरवादी के अनुसार ईश्वर स्वतन्त्र प्रक्रिया का नियन्त्रण नहीं कर सकता है, और अनुभववादी अपने विश्लेषण के अनुसार समझते हैं कि स्वतंत्र प्रक्रिया का नियंत्रण हो सकता है। स्वतन्त्र प्रक्रिया का अनुभववादी विश्लेषण निम्नलिखित रूप से किया गया है :

१. किसी भी स्वतन्त्र प्रक्रिया के लिए आवश्यक है कि कम-से-कम दो या दो से अधिक विकल्पों का रहना चाहिए। यदि किसी स्थिति मे विकल्प ही नहीं हों, तो वहाँ इच्छा-स्वातन्त्र्य की सम्भावना ही नहीं रहेगी।

२. किसी प्रक्रिया को 'स्वतन्त्र' संज्ञा देने के लिए आन्तरिक तथा बाह्य दबाव का अभाव होना चाहिए। 'आन्तरिक दबाव' से अर्थ होता है मानसिक वृत्त्यात्मक बाध्यता एवं विवशता, उदाहरणार्थ, क्रोध के आवेश में आकर किसी

प्रक्रिया को सम्पादित करने मे आन्तरिक दबाव कहा जाएगा। इसी प्रकार मनोव्याधियों मे दमित प्रक्रियाओं से प्रभावित होकर काम करने में आन्तरिक दबाव कहा जाता है। इसी प्रकार सम्मोहन मे पड़कर संसूचित काम करने मे आन्तरिक दबाव देखा जाता है। बाह्य दबाव वह है, जिसमे व्यक्ति को, विशेषकर उसके शरीर पर नियत्रण करके उसे किसी काम को करने से असमर्थ कर दिया जाता है; उदाहरणार्थ, यदि बेड़ी डालकर या जेल मे रखकर व्यक्ति को काम करने से रोका जाता है तो इसे बाह्य दबाव की सज्ञा दी जाती है।

३. किन्तु इन दो शर्तों के साथ अनुभववादी स्वतंत्र प्रक्रिया के तीसरे लक्षण पर बहुत बल देते हैं। अनुभववादी के अनुसार कोई भी प्रक्रिया बिना कारणिक निर्धारको के सभव नही होती है और सिद्धात: इन कारको का नियंत्रण एवं पूर्वकथन हो सकता है। उदाहरण र्थ, जब राम सीता को अपनी पत्नी बनाना चाहता है तो उसके इस निर्णय मे अनेक कारक अवश्य ही छिपे होगे—राम की दबी और दमित प्रवृत्तियाँ, राम की आर्थिक अवस्था तथा उसका सामाजिक स्थान, इत्यादि। जो व्यक्ति राम मे जितना ही नजदीक होगे, वे उतनी ही आसानी से सही-सही बता सकेंगे कि वास्तव मे राम सीता से विवाह करेगा या नही। मित्रों की तुलना मे सिद्धान्तत· यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि मनोवैज्ञानिक राम की मानसिक स्थिति का और भी अधिक परिशुद्ध प्रागुक्ति कर सकता है, क्योकि मनोवैज्ञानिक को राम की मानसिक अवस्था को निर्धारित करनेवाले कारको का ज्ञान होता है। इसी अनुपात से अनुमान किया जा सकता है कि सर्वज्ञ ईश्वर राम के और अन्य सभी व्यक्तियो की स्वतन्त्र प्रक्रियाओ का प्राग्ज्ञान रखता है और यदि वह सर्वशक्तिमान ईश्वर चाहे तो मानव के सभी कारको का ऐसा नियंत्रण करे कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक स्थिति मे केवल अच्छे ही काम को करे और बुरे काम को कभी भी नहीं करे*।

अतः, फ्लू तथा मैकी आदि अनुभववादियो का कहना है कि स्वतंत्र प्रक्रिया कारणिक कारको से पूर्णतया नियंत्रित रह सकती है और नियन्त्रित तथा स्वतत्र दोनों बाते बिना किसी आत्मविरोध के एकसाथ हो सकती है। इसलिए यदि ईश्वर सभी व्यक्तियों का ऐसा विधान नही करता है कि उनकी इच्छात्मक स्वतत्र प्रक्रियाएँ सभी स्थितियों मे प्रत्येक अवसर पर शुभ को ही अपनाएँ तो ईश्वर या तो सर्वशक्तिमान नही है, या वह शुभ नही है। फ्लू का कहना है कि

* न्यू एसेज—पृ० १४९-१५३

यदि वास्तव में ईश्वर मानव की इच्छात्मक स्वतंत्र प्रक्रियाओं का नियंत्रण नही कर सकता है तो ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है। परन्तु, फ्लू का कहना है कि ईश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और उसने मानव की सृष्टि की है। परन्तु ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता तथा उसके सृष्टिकर्तृत्व से यही ध्वनित होता है कि कोई भी मानव-प्रक्रिया ईश्वर के नियन्त्रण से बाहर नही हो सकती है। इसलिए मानव-प्रक्रिया स्वतंत्र रहकर केवल पूर्णतया नियन्त्रित ही नही होती, परन्तु वास्तव मे मानव की सभी प्रक्रियाएँ पूर्वनियमति से आबद्ध रहती हैं और इसलिए मानव के अनैतिक कार्य भी ईश्वर ही के द्वारा निर्धारित होते है। अतः, ईश्वर मानव के सभी अशुभ कार्यों के लिए उत्तरदायी है यदि हम इच्छा-स्वातंत्र्य के साथ ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व को मानते है। इसलिए यदि ईश्वर चाहता तो वह ऐसा विधान कर सकता है कि मानव सभी स्थलो पर सदा केवल अच्छा ही काम करें*।

ईश्वरवादी का कहना है कि इच्छास्वातंत्र्य की अनुभववादी व्याख्या सही नही है। ईश्वरवादी के अनुसार स्वतंत्र प्रक्रिया को नियंत्रित मानना आत्म-विरोधी कथन है। अनुभवादी विश्लेषण के अनुसार जिस व्यक्ति ने जो भी काम किया है वह उस काम के अतिरिक्त कोई अन्य काम कर ही नही सकता था। यदि व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा, वशानुक्रम, व्यक्तित्व-घटन, शारीरिक रचना इत्यादि सभी कारको को ध्यान मे रखा जाए तो किसी निश्चित स्थिति मे प्रत्येक व्यक्ति वही करेगा जो उसने वास्तव मे किया है। परन्तु यदि ऐसी बात होती तो क्या व्यक्ति के काम को अच्छा-बुरा कहा जा सकता है? हम चोरी को इसलिए बुरा कहते हैं कि चोर के सामने विकल्प था कि वह चोरी न करके ईमानदार रहना। इसी प्रकार वीर पुरुष की हम इसलिए प्रशसा करते हैं कि वह कायर भी हो सकता था। परन्तु कायरता के विकल्प को न अपनाकर वह वीर बना रहता है। अतः, स्वतंत्र प्रक्रिया वही है, जिसमे एक से अधिक विकल्पो मे से किसी भी विकल्प को अपनाने की संभावना प्रतिक्षण बनी रहती है। इसलिए न तो स्वतंत्र प्रक्रिया को ऐसा नियंत्रित किया जा सकता है कि व्यक्ति प्रत्येक स्थिति मे केवल अच्छे ही काम को अपनाये और न स्वतंत्र प्रक्रिया का पूर्वज्ञान ही हो सकता है। इसलिए ईश्वर मानव को कभी भी ऐसा नही सृष्ट कर सकता है कि वह प्रत्येक स्थिति में सदा अच्छाई को अपनाए और बुराई का परित्याग करे। मानव को पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह किसी परिस्थितिविशेष में

* ए० फ्लू-वही पृ० १६१-१६६

किसी विकल्प को अपनाए और किसी विकल्प को नहीं अपनाए। इसलिए उन सभी अनैतिक कार्यों के लिए मानव स्वयं उत्तरदायी होता है जिसे वह इच्छा-स्वातंत्र्य के दुरुपयोग से उत्पन्न करता है, ईश्वर उन कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं है।

इच्छा-स्वातंत्र्य की ईश्वरवादी व्याख्या

इच्छा-स्वातंत्र्य के संबंध में ईश्वरवादी तीनों बातों को रखना चाहते है।

१. इच्छा-स्वातंत्र्य का अर्थ ही है कि इसमे अनियन्त्रित प्रक्रिया उत्पन्न हो।

२. इच्छा-स्वातंत्र्य प्रक्रिया को अंधाधुन प्रक्रिया नही कहा जा सकता है, क्योंकि किसी विकल्प को चुनने और अपनाने मे व्यक्ति अवश्य स्वतंत्र रहता है, पर उस विकल्प के चुनाव मे व्यक्ति अपने चरित्र और पूर्व कारणिक कारकों की मदद लेता है। अतः, स्वतत्र प्रक्रिया सिद्धान्तपूर्ण होती है, न कि अधाधुन। इस स्वतंत्र प्रकिया को नियंत्रित न कहकर इसे आत्मनियंत्रित प्रक्रिया कहना चाहिए।

३. यह ठीक है कि मानव के इच्छा-स्वातत्र्य से ईश्वर अपने-आप को अपनी इच्छा से सीमित कर लेता है, पर मानव ईश्वर की अपरिमितता मे कोई भेद नही ला सकता है। दूसरे शब्दो मे, स्वतत्र मानव की स्वतंत्रता से ईश्वर की विश्व-योजना मे कोई अन्तर नही पड़ सकता है।

बर्गसाँ और शामुएल अलेक्जैण्डर दोनो सर्जनात्मक विकासवादी है। इनके अनुसार सर्जनात्मकता का अर्थ ही है कि कोई भी दो घटनाएँ पूर्ववत् नही हो सकती हैं। विकास के क्रम मे नवीन घटनाएँ घटती रहती है और नवीनता मे अर्थ है उन्मज्जन, अर्थात् ऐसी घटनाएँ, जो पूर्व कारको के आधार पर नहीं प्राक्कथित हो सकती है। अब ईश्वरवादी का कहना है कि स्वतंत्र प्रक्रिया भी नवीन प्रक्रिया है और इसलिए इस इच्छात्मक प्रक्रिया को पूर्वकथित नही किया जा सकता है। यह ठीक है कि स्वतंत्र प्रक्रिया के संबंध में भी लोग अटकल लगाते है और बहुत अवसरों पर यह अटकल सही हो जाता है। उदाहरणार्थ, बहुत लोग पहले से जानते हैं कि राम सीता का वरण करेगा या नहीं; अगले चुनाव में इन्दिरावादी समाजवादी पार्टी जीतेगी या नहीं। अब यदि स्वतत्र इच्छात्मक प्रक्रिया का पूर्वज्ञान संभव नहो है तो इन सब उपर्युक्त स्थितियो मे पूर्वकथन कैसे सत्य हो जाते है ?

यहाँ ईश्वरवादी का कहना है कि इच्छा-स्वातंत्र्य का सार है विकल्पों में से किसी एक का चुनाव-निर्णय। यह चुनाव स्वतंत्र कहा जाता है और इस अंश के स्वतंत्र रहने पर ही सम्पूर्ण इच्छात्मक प्रक्रिया को स्वतंत्र कहा जाता है। परन्तु इच्छात्मक प्रक्रियाओ में कारक अवश्य होते हैं, जिनके आधार पर स्वतंत्र चुनाव होता है। उदाहरणार्थ, मोहन के सामने दो पक्ष है : वह एम० ए० में उत्तीर्ण होकर या तो व्याख्याता हो जाए या वह किसी शोधकार्य में लग जाए। वह दोनों पक्षों में किस पक्ष को कैसे अपनाएगा ? उधेडबुन की प्रक्रिया में वह इस विषय से सबंध रखनेवाले सभी कारको को अपने ध्यान मे रखेगा और तब वह अपने जीवन के आदर्श को रखकर इन दोनों पक्षों मे से किसी एक को अपनायेगा। अन्त मे वह देखता है कि उसके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, परिवार के अन्य बच्चो को भी आगे पढना है, नौकरी की स्थिति भी अच्छी नही हैं। अतः, वह निर्णय करता है कि वह व्याख्याता के पद को भाग्येन एतत् भवति समझकर ग्रहण कर ले। चूँकि अनुभववादी केवल पूर्व घटनाओं और कारको पर ही ध्यान देते हैं, इसलिए वे समझते है कि इच्छात्मक प्रक्रियाएँ भी पूर्व कारको से पूर्णतया निर्धारित होने के कारण नियंत्रित कही जाएँगी। वे भूल जाते हैं कि विकल्पो मे से किसी एक पक्ष का अपनाने का कार्य स्वतंत्र होता है और इच्छात्मक प्रक्रिया के उधेडबुन मे अन्तिम निर्णय किसी सिद्धान्त के आधार पर होता है, न कि पूर्व कारकों के आधार पर। मोहन की समस्या एकदम उसके लिए नयी थी। उसने अपने लोगों से तथा अन्य अभिभावकों से सलाह अवश्य ली होगी। परन्तु निर्णय मोहन को अपने आदर्श के आधार पर करना होता है। इस चुनाव मे चूँकि आदर्श की मदद ली जाती है, इसलिए इच्छात्मक प्रक्रिया को प्रज्ञात्मक (रैशनल) कहा जाता है, न कि कारणिक। अतः, ईश्वरवादी के अनुसार, कारकों के रहते हुए भी इच्छात्मक प्रक्रिया को नियन्त्रित नही कहा जा सकता है। हमलोगो ने पहले ही देखा है कि स्वतन्त्र प्रक्रिया वही है जिसमे जो कुछ भी अपनाया जाता है, वहाँ उसमे किसी अन्य पक्ष के अपनाने की संभावना बनी रहती है। उदाहरणार्थ, राम ने वास्तव मे समय आने पर सीता से विवाह किया। परन्तु इस स्वतंत्र चुनाव के संबंध मे बराबर कहा जा सकता है कि राम सीता को छोड़कर लक्ष्मी या विमला से भी विवाह कर सकता था। अतः, चूँकि ईश्वरवादी के अनुसार स्वतंत्र प्रक्रिया कभी भी पूर्णतया नहीं नियंत्रित हो सकती है, इसलिए ईश्वर स्वतंत्र मानव की इस प्रकार नही सृष्ट कर सकता है कि वह

प्रत्येक स्थिति में सभी अवसरो पर केवल सही पक्ष को अपनाए। इच्छा-स्वातंत्र्य का स्वरूप ही ऐसा है कि इसके दुरुपयोग की संभावना बनी रहती है। इसलिए स्वतंत्र मानव के द्वारा अनैतिक कार्य के लिये स्वयं मानव ही उत्तरदायी है, ईश्वर नही।

अब यदि ईश्वर को भी इसका ज्ञान न हो कि स्वतंत्र मानव किस प्रकार से अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करेगा तो क्या मानव को इच्छा-स्वतंत्र्य देकर ईश्वर ने अपने को सीमित नही कर लिया है ? ईश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर ने अपने से ही सर्जनात्मक प्रेमोन्माद से प्रभावित होकर मानव को स्वतंत्र रखकर आत्मसीमितपन को अपनाया है। परन्तु मानव ईश्वर की विश्वयोजना को बिगाड नही सकता है। इसके दो कारण हैं: एक तो मानव शक्तियाँ अति सीमित हैं और दूसरे ईश्वर मानव के तीनो कालो को एक साथ ही अपने एक क्षण मे रखकर मानव की सभी प्रक्रियाओ की देखरेख कर सकता है। मानव शक्ति इसलिये सीमित समझी जाती है कि उसकी स्वतंत्रता पघा तक ही सीमित है। यदि हम गाय को पघा मे बाँध दे तो गाय पघा की रस्सी तक स्वच्छन्द विचरण कर सकती है, पर उसके बाहर नही। इसी प्रकार मानव की स्वतंत्रता का भी पघा है जिसके बाहर वह नही जा सकता है। अतः, मानव का इच्छा-स्वातंत्र्य इतना सीमित है कि वह ईश्वर की विश्वयोजना को नही बिगाड सकता है।

फिर हमलोगो ने देखा है (*) कि रॉयस तथा सोर्ले के अनुसार मानव के भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनो काल ईश्वर के एक क्षण के वितान मे एक साथ ही पाए जाते हैं। अतः, ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का लेखा अपने एक ही विद्यमान क्षण मे करके उसके सम्पूर्ण कार्यों की देखरेख कर सकता है। अतः ईश्वरवादी के लिए मानव के इच्छा-स्वातंत्र्य से ईश्वर बहुत दूर तक सीमित नही हो सकता है।

अशुभ-संबंधी कथनो की संज्ञानात्मकता : हमलोगों ने ईश्वर के अस्तित्व तथा ईश्वर के गुण के सबंध मे किए गए कथनों की जाँच की है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ईश्वर-सबंधी कथन संज्ञानात्मक नही कहे जा सकते हैं। यही बात अशुभ के सबंध मे भी लागू होती है। अशुभ की समस्या के संबंध मे तीन कुंजी-पद देखने मे आते हैं, अशुभ, सर्वशक्तिमत्ता

* पहले, अध्याय ४—पृ० १७०, पूर्वज्ञान और इच्छा-स्वातंत्र्य।

तथा इच्छा-स्वातंत्र्य; और तीनों में से किसी भी पद को संज्ञानात्मक मानकर स्पष्ट नही किया जा सकता है। अशुभ को ईश्वरवादी वैकल्य (पर्युदासक) पद मानते हैं और अनुभववादी इसे शुभ के समान भावात्मक पद मानते हैं। अब इन दो विरोधी अर्थों मे से किस अर्थ को प्रामाणिक माना जाए ? मेरी समझ में इसका कोई निपटारा नही हो सकता है। फिर सर्वशक्तिमत्ता के संबंध में भी इसी प्रकार का परस्पर-विरोधी मतभेद देखने में आता है। अनुभववादी के के अनुसार सर्वशक्तिमत्ता से अभिप्राय होता है कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है, चाहे वह तर्कसंगत हो या न हो। फ्लू और मैकी का कहना है कि सर्वशक्तिमत्ता आत्मविरोधी पद है। मान लिया जाए कि मानव स्वतंत्र जीव है। यदि ईश्वर स्वतंत्र जीव को पूर्णतया नियंत्रित नही कर सकता है, तो वह सर्वशक्तिमान नही हुआ। इसी प्रकार मान लिया जाए कि व्यक्ति नियतिवाद से जकड़ा हुआ है। अब यदि ईश्वर पूर्णतया नियतता से नियंत्रित जीव को स्वतंत्र नही कर सकता है तो वह सर्वशक्तिमान नही हो सकता है। अब मानव या तो स्वतंत्र जीव है या नियंत्रित। दोनो ही अवस्था में ईश्वर सर्वशक्तिमान नही हो सकता है, क्योंकि या तो वह स्वतन्त्र जीव को नियंत्रित नहीं कर सकता है या वह नियंत्रित जीव को स्वतन्त्र नही बना सकता है। ईश्वरवादी के लिए सर्वशक्तिमत्ता से अभिप्राय है कि ईश्वर वही कर सकता है जो ईश्वर के अन्य गुणो से तथा तार्किक नियमों से मेल खाए। ईश्वर आत्मविरोधी कार्य सम्पन्न नही कर सकता है। वह स्वतंत्र जीव को पूर्णतया नियंत्रित नही कर सकता है, क्योंकि इन दोनों में परस्पर विरोध है। अब सर्वशक्तिमत्ता के इन दो अर्थों में कौन-सा अर्थ स्वीकार किया जाए ? ये दो अपनी-अपनी परम्पराएँ हैं और किसी भी परम्परागत अर्थ को ठुकराना ठीक नही है। जो बात अशुभ तथा सर्वशक्तिमत्ता के सम्बन्ध मे कही गई है, वही बात इच्छा-स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अनुभववादी के अनुसार इच्छा-स्वातंत्र्य पूर्ण नियंत्रण के साथ संभव हो सकता है। परन्तु ईश्वरवादी के अनुसार यह आत्मविरोधी बात है कि स्वतंत्र प्रक्रिया को पूर्णतया नियंत्रित माना जाए। ईश्वरवादी के अनुसार प्रत्येक स्वतंत्र प्रक्रिया में किसी एक विकल्प का स्वतंत्र चुनाव होता है और यह स्वतंत्र चुनाव स्वतंत्र अहं अथवा प्रत्येक मानव की स्वतंत्र आत्मा के द्वारा सम्पादित होता है। टी० एच० ग्रीन (प्रसिद्ध प्रत्ययवादी), मेक्डूगल, वूलेस, शैंड इत्यादि मनोवैज्ञानिक भी इच्छा-स्वातंत्र्य का यही विश्लेषण करते हैं और अन्तिम रूप में इसी विश्लेषण के समान मूर का भी मत है। अतः, इच्छा-स्वातंत्र्य के विश्लेषण

के सम्बन्ध में ईश्वरवादी का मत अधिक मान्य मालूम देता है और अनुभववादी का विश्लेषण केवल प्रस्तावमूलक मालूम देता है।

परन्तु न तो अनुभववादी और न ईश्वरवादी की व्याख्या को सही समझा जाएगा। इसका कारण है कि धार्मिक कथन वैज्ञानिक कथन के समान संज्ञानात्मक नही होते है। ईश्वरवादी के लिए ईश्वर मूल सत्ता है, पर क्या यह वास्तविक सत्ता है? ईश्वरवादी भ्रमपूर्ण रूप से ईश्वर को टेबुल-कुर्सी के समान वास्तविक समझते हैं। जब उन्हे बताया जाता है कि यदि ईश्वर वास्तविक हो तो वह आपातिक होगा, अनिवार्य नही; सीमित होगा, अपरिमित नही; कालगत होगा, सर्वकालीन नही इत्यादि; तब इस आपत्ति के उठाए जाने पर ईश्वरवादी पैंतरा बदलने लगते हैं और साधारण शब्दो के सरल अर्थ को अनेक प्रतिबन्धो से जोडकर उन शब्दों को विचित्र अर्थों मे काम मे लाने लगते हैं। उदाहरणार्थ, ईश्वरवादी ईश्वर को अगाध प्रेम मानते है और मानव को ईश्वर की संतान समझते हैं। अब ईश्वर की अपेक्षा मानव प्रेम छिछला तथा स्वार्थपूर्ण होता है। परन्तु स्वार्थी पिता भी अपने पुत्र का कष्ट सहन नही कर सकता है। परन्तु यदि ईश्वर का अगाध प्रेम हो तो वह सर्वशक्तिमान होने के कारण बाढ, सूखा, बगलादेश की महामारी इत्यादि को क्यों नही दूर करता है? यहाँ ईश्वरवादी ईश्वर के अगाध प्रेम मे अनेक विशेषणो से तथा दुरूह विचारों के द्वारा कतर ब्योत करने लगते है। परिणामतः अन्त मे यह बात कही जाती है कि ईश्वर का प्रेम समझ से बाहर है। तो क्यो नही इसी बात को पहले ही मान लिया जाए? क्यो रहस्यपूर्ण ईश्वर को वास्तविक सत्ता माना जाए?

वास्तव मे परम पदार्थ अथवा पारमार्थिक सत्ता वैज्ञानिक ज्ञान का विषय नही है। धर्म-भाषा मे ईश्वर को परम तत्त्व का प्रतीक कहा जाएगा। राम-रहीम, ईसा, कृष्ण इत्यादि सभी प्रतीक है। चूँकि मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रतीक उसी प्रकार भक्त को यथार्थ दिखता है, जिस प्रकार अन्य वस्तुएँ, इसलिए भक्त ईश्वर सम्बन्धी प्रतीकात्मक कथन को वर्णनात्मक कथन मानकर उसे संज्ञानात्मक समझता है। भाषा-विश्लेषण तथा अनुभव-परिशोधन के साथ इस बात का भान होता जा रहा है कि ईश्वर प्रतीक है और प्रतीक की सत्यता भक्त की गति से सिद्ध की जाती है। जिस देवता से भक्त की अन्तिम गति होती है वही उस भक्त का भगवान होता है। ईश्वर न भीतर है और न बाहर; वह शक्ति है जो मूक को वाचाल और पंगु को गिरिवर-गहन पर चढ़ने में सशक्त

बनाती है। ऐसी स्थिति मे यदि डाकू बाल्मीकि मे इतना परिवर्तन हो कि वह भक्त हो जाए और कामुक तुलसीदास अगाध ईश्वर की प्रेम-गंगा मे पुनीत हो जाए तो ऐसे भक्त राम के संबंध मे यह अवश्य ही कहेगे कि जो उनके ऐसे पापियो का निस्तार कर सकता है, वह सब कुछ कर सकता है। अत., राम सर्वशक्तिमान है। फिर, जो उनके पापों को दूर कर सकता है, वह अति शुभ है। किन्तु क्या उन भक्तो के जीवन के लिए पाप अन्तिम रूप से अशुभ कहा जा सकता है? अब वह राम, जो पापियो का उद्धार करता है, क्या स्वयं अशुभ की रचना कर सकता है? नही। भक्त बराबर कहेगा कि मानव स्वयं अपने पाप का उत्तरदायी है और इसे स्पष्ट करने के लिए इच्छा-स्वातंत्र्य की स्थापना करता है।

अतः, अशुभ, सर्वशक्तिमत्ता तथा इच्छा-स्वातंत्र्य के कुंजी-पद आस्थामय भाषा से उत्पन्न हुए हैं और उन्हें हम उद्बोधात्मक कह सकते हैं। इसलिए इनकी व्याख्या भी प्रतीक, उद्बोधन, आस्था, अन्तर्ग्रसन, आत्मबंधन इत्यादि के द्वारा की जानी चाहिए। इनका उल्लेख बाद मे धर्मज्ञान के प्रकरण मे किया जाएगा। यहाँ इतना ही भर दिखाया गया है कि अशुभ-संबंधी कथन संज्ञानात्मक नही है और इस प्रसग मे अनुभववादी तथा ईश्वरवादी दोनो प्राय भूल करते आ रहे हैं। अब इस समकालीन युग मे कुछ ईश्वरवादी ऐसे हैं जो मरणोत्तर अनुभव के आधार पर ईश्वर-सम्बन्धी कथनो को संज्ञानात्मक मानते हैं। शायद जॉन हिक तथा आई० एम० क्रोम्बी द्वारा मरणोत्तर अनुभव के आधार पर ईश्वर-संबंधी कथनो को संज्ञानात्मक नही माना जा सकता है। परन्तु जबतक मरणोत्तर अनुभव का अर्थ नही स्पष्ट किया जाए तबतक जॉन हिक तथा क्रोम्बी के मतों की सही आलोचना नही की जा सकती है। इसलिए अब ईश्वरवादी के अमरत्व की समस्या पर विचार किया जाएगा।

प्रश्न

१. अशुभ के स्वरूप का विवेचन कीजिए। क्या अशुभ को अन्तिम रूप से सत्य माना जा सकता है?

२. अशुभ-सम्बन्धी करणवाद की समीक्षा कीजिए।

३. क्या इच्छा-स्वातंत्र्य के आधार पर अशुभ की व्याख्या की जा सकती है?

४. यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो वह क्यों नहीं ऐसे स्वतंत्र मानव की रचना करता है जो प्रत्येक अवसर पर केवल शुद्ध शुभ को ही अपनाया करें ?

५. क्या अशुभ का उत्तरदायित्व मानव पर है या ईश्वर पर भी ? समीक्षापूर्ण उत्तर दीजिए।

६. क्या अशुभ के रहने से ईश्वर का अनस्तित्व सिद्ध होता है ?

७. क्या अशुभ की समस्या को वैज्ञानिक समस्या माना जा सकता है ? विमर्शपूर्वक उत्तर दीजिए।

अमरता की समस्या

अध्याय—६

अमरता की समस्या

अमरता के विभिन्न अर्थ : पाश्चात्य ईश्वरवाद में अमरता का प्रश्न विशेष से रूप से उठता है। परन्तु अमरता का अर्थ निश्चित रूप से निरुपित नहीं रहने पर विचार में गड़बड़ी हो सकती है। इसलिए अमरता के अर्थ को सुनिश्चित करने के लिये निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की जा सकती है।
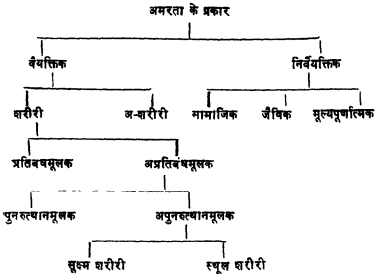
इस तालिका मे वर्णित अमरता के विभिन्न अर्थ को अतिसक्षेप में स्पष्ट करना अभीष्ट है। अधिकांश ईश्वरवादी मानते हैं कि मानव अपने पूर्ण व्यक्तित्व के साथ उत्तरजीवित रहेगा। इनमें से कुछ विचारक समझते हैं कि प्रत्येक मानव में शरीर और आत्मा का योग रहता है। मृत्यु के अवसर पर शरीर पंचतत्व में मिल जाता है, परन्तु उसकी आत्मा ही अमर रहती है। यह विचार सांख्य और गीता में बडे सुन्दर रूप से बताया गया है। गीता के अनुसार मानव की आत्मा नित्य है और यह न जन्म लेती है और न मरता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(अध्याय २:२०)

शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नही होता है । आत्मा केवल एक शरीर को छोड़कर दूसरे जन्म मे दूसरे शरीर को ग्रहण करती है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(अध्याय २ २२)

प्लेटो के दर्शन में भी आत्मा को अमर कहा गया है, न कि शरीर को । परन्तु अधिकांश ईश्वरवादी अशरीरी आत्मा की उत्तरजीविता को महत्त्वपूर्ण नही मानते हैं । सर्वप्रथम, बिना देह के शुद्ध आत्मा का अनुभव मानव को साधरणतया नही होता है । अत , शुद्ध आत्मा के अस्तित्व को ऊँची कल्पना तथा तत्त्वमीमासात्मक सत्ता माना जाता है । फिर दुःख-सुख शरीर द्वारा अनुभूत होता है और यदि भाव के आश्रय शरीर को छोड़ दिया जाए तो मानव की व्यक्तित्वपूर्णता मे इतनी कमी चली आती है कि शायद मानव की उत्तरजीविता का कोई अर्थ ही नही रहे । व्यक्तित्वपूर्णता का तात्पर्य ही है मनोदैहिक एकत्व-भाव । अत , बिना देह के व्यक्तित्वपूर्ण उत्तरजीवन का अर्थ स्पष्ट नही हो पाता है । पुनः, शरीर और आत्मा के द्वैतवाद की व्याख्या इतनी जटिल है कि जनसाधरण के लिए इसे धार्मिक आस्था का विषय मानना कठिन है । इसलिए अधिकाश ईश्वरवादी उत्तरजीवन को शरीरी मानते है । पर क्या सभी व्यक्तियो को उत्तरजीवन लाभ होगा ?

यहाँ पहले समझा जाता था कि सभी व्यक्तियो को शरीरी उत्तरजीवन लाभ होगा । जो सुकर्म करेंगे,—ईश्वर की आज्ञाओ का पालन करेंगे, उन्हे स्वर्ग-सुख प्राप्त होगा और जो ईश्वर की आज्ञाओ का उल्लघन करेंगे, उन्हे नरक-यातना भोगना पड़ेगा । परन्तु चूंकि ईसाई धर्म मे ईश्वर को अगाध प्रेम माना गया है, इसलिए अनेक ईश्वरवादी मानते है कि प्रेमी ईश्वर के लिए अपनी संतान को नरक-यातना मे डालना असगत है । अत, ऐसे ईश्वरवादी मानते है कि केवल आज्ञाकारी तथा पुण्यात्मा व्यक्ति ही उत्तरजीवित रहेगा । फिर ईसाई और मुसलमान मानते हैं कि अन्त मे न्याय-दिवस भी आएगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उनके किये अनुसार जज़ा और सजा, आनन्द और दंडभोग

निर्णीत होगा। तो प्रश्न उठता है कि क्या मानव न्याय-दिवस तक किसी-न-किसी रूप मे अनुजीवित रहेगा या प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु के साथ विनष्ट हो जाएगा और उसे न्याय-दिवस के दिन फिर से जिलाया जाएगा। प्रायः इस्लाम मे पुनरुत्थानमूलक उत्तरजीवन की कल्पना की गयी है और शायद सन्त पॉल का भी यही मत था। परन्तु प्लेटो के दर्शन से प्रभावित होकर शोधन-स्थान मे वास की भी कल्पना ईसाई ईश्वरवाद मे देखने मे आती है।

अन्त में कुछ विचारक भारतीय दर्शन की भाँति मानते हैं कि उत्तरजीवन सूक्ष्मशरीरी होता है और कुछ मानते हैं कि इसी नश्वर देह के साथ मानव उत्तरजीवित रहेगा। परन्तु स्वयं सन्त पॉल मानते हैं कि मानव शरीर अन्त में एकदम बदल जाएगा।

वैयक्तिक अमरता के साथ निर्वैयक्तिक अमरता की भी कल्पना की गयी है और इसके भी विभिन्न प्रकार होते हैं। अनेक अनुभववादियो का कहना है कि भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः। परन्तु वे मानते है कि पुण्यात्मा के नही रहने पर भी उनकी कीर्त्ति रह जाती है। उदाहरणार्थ, शकर, महात्मा बुद्ध, न्यूटन इत्यादि व्यक्ति अब इस भूतल पर नही है। परन्तु जबतक सभ्य मानव जीवन रहेगा, समाज मे इनकी देनो की चर्चा बनी रहेगी। अतः, व्यक्ति को सामाजिक अमरता प्राप्त हो सकती है। परन्तु इस सामाजिक अमरता से कुछ लोगो को छोड अधिकाश व्यक्तियो को कोई आत्मसतोष नही प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के ही अन्दर अपने व्यक्तित्व का उत्तरजीवन प्रिय मालूम देता है। जब उसकी ही संभावना नही स्वीकार की जाएगी तो सामाजिक अमरता उसे उच्छिष्ट-सा मालूम देता है। फिर सामाजिक अमरता करोड़ो मे से शायद ही एक-दो को ही प्राप्त हो सकता है और उनमे से भी केवल प्रातिभ व्यक्तियो को ही यश प्राप्त हो सकता है। असंख्य व्यक्तियो को यह सामाजिक अमरता प्राप्त न होती है और न हो सकती है। तब भला व्यक्ति को इस प्रकार की अमरता से किस प्रकार का संतोष हो सकता है? पुन., सामाजिक अमरता का मानदड युग के आदर्श पर निर्भर करता है। अतः, इस प्रकार की अमरता भी नित्य नहीं मानी जा सकती है।

शायद सामाजिक अमरता की तुलना में जैविक अमरता जनसाधारण व्यक्तियो मे अधिक उत्प्रेरक सिद्ध हो। सभव है कि व्यष्टिपूर्ण उत्तरजीवन सभव न हो, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपनी संतान मे अनुजीवित रहता है। जो काम

व्यक्ति स्वयं नही पूरा कर पाता है वह समझता है कि उस अपूर्ण आदर्श की पूर्ति उसकी भावी सतानों के द्वारा हो जाएगी। निस्संदेह पिता अपना कार्यभार अपनी सतान को सौंपकर विश्राम लेता है। तोभी जैविक अमरता से अधिकाश व्यक्तियो को परितोष न हो। संतान माता-पिता के सदृश अवश्य होती है। परन्तु उसमे भी विभिन्नता पाई जाती है। भावी सतान का आदर्श बीती पीढ़ी के लोगो के आदर्श की तुलना मे विभिन्न होता है। ऐसी दशा मे भावी सतान पूर्व पीढी से भिन्न होती है और सतान के द्वारा माता-पिता का आदर्श अनुजीवित नहीं रहता है। फिर जैविक एव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सतान की सफलता एव सुख-लाभ स्वयं व्यक्ति को मरणोत्तर जीवन के अभाव मे क्या सतोष दे सकता है ? अन्त मे, निःसतान व्यक्ति को तो जैविक अमरता से किसी भी प्रकार की उत्प्रेरणा नही मिल सकती है। तो क्या अमरता की आशा माया-मरीचिका बन कर मानव को कोई भी उत्प्रेरणा नहीं दे सकेगी ? शायद इसका आंशिक उत्तर मूल्यपूर्ण अमरता की व्याख्या से प्राप्त हो सकता है।

मूल्यपूर्ण अमरता वर्षों मे नहीं, वरन् जीवन मे मूल्यप्राप्ति से उत्पन्न होती है। लाखों वर्ष के पुराने बजर पर्वत की तुलना मे एक दिवसीय पुष्प को अमर कहा गया है, क्योकि जब वह अशुमाली की किरणो से चुम्बित होकर खिलखिला उठता है तो इसके मधुर मुस्कान मे सौन्दर्य निखर उठता है और सौन्दर्य एक मूल्य है जो मानव जीवन को सतत् आलोड़ित करता रहता है। अतः, शिवम्, सुन्दरम् तथा सत्यम् के आदर्श को साकार कर व्यक्ति आदर्श की नित्यता के साथ स्वयं नित्य एवं शाश्वत हो जाता है। शायद अमरता के खोजियो को इस मूल्यपूर्ण अमरता से उत्प्रेरणा प्राप्त हो। परन्तु इसकी व्याख्या ईश्वरवादी की व्यक्तित्वपूर्ण अमरता के बाद ही सभव होगी। अतः, अब व्यक्तित्वपूर्ण अमरता की व्याख्या की जाएगी।

व्यक्तित्वपूर्ण अमरता

व्यक्तित्व से अभिव्यंजित होता है किसी व्यष्टि विशेष का मनोदैहिक एकता जिसमे उसकी स्मृति, प्रत्यक्षीकरण, भाव तथा सभी प्रक्रियाओ का व्यवस्थित संगठन जीवन के आद्यन्त बना रहे। इसलिए व्यक्तित्वपूर्ण अमरता वह है जिसमे व्यक्तिविशेष के इस पार्थिव जीवन की अनुभूति, स्मृति, आदर्श इत्यादि का संगठन उत्तरजीवन मे भी बना रहे। द्वितीय, ईश्वरवादी आशा रखता है कि इस जीवन की अपेक्षा मरणोत्तर जीवन में उसे अपने जीवन के

आदर्श को परिपूर्ण बनाने का अधिक सुअवसर मिलेगा। अतः, ईश्वरवादी केवल अपने जीवन को अनन्तकालीन ही नही समझता है, बल्कि आशा करता है कि उसका मरणोत्तर जीवन क्रमशः श्रेष्ठतर होता जाएगा। वास्तव मे देखा जाए तो ईश्वरवादी की अमरता मे अनंत जीवन की अपेक्षा व्यक्तित्व की परिपूर्णता तथा उसकी श्रेष्ठता का भाव ही विशेष मालूम देता है। अन्तिम रूप मे अमरता से अभिप्राय है जीवन की उत्तमता एवं उसकी मूल्यपूर्णता। ईश्वरवादी के लिए वही अनंत जीवन का भागी होता है जो ईश्वर की आज्ञा का पालन करता है और मरणपर्यन्त अपने जीवन को ईश्वर को अर्पित कर देता है। ईसा ने कहा कि जो उसकी बात सुनता और उस पर विश्वास रखता है, वह अनत जीवन को प्राप्त करता है (सन्त जॉन ५: २४-२५)। परन्तु युग के बीतने पर ईश्वरवादी विशेषकर व्यक्तित्वपूर्णता पर मूल्याश्रिता की अपेक्षा अधिक बल देने लगे है। पर क्या उत्तरजीवन की भावना मे व्यक्तित्वपूर्णता की सरक्षा हो सकती है?

किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करता है और यदि विद्यमान व्यक्तित्व की सरक्षा की बात की जाएगी तो इससे ध्वनित होगा कि उस परिस्थिति को भी जारी रखा जाए जिसमे विद्यमान व्यक्तित्व का विकास होता रहता है। उदाहरणार्थ, भौतिक का वैज्ञानिक अपनी शोध को तभी जारी रखेगा जब उसकी प्रयोगशाला बनी रहे और ऐहिक जीवन की उत्प्रेरणाएँ भी उसे प्रभावित करती रहे। पर इस प्रकार की परिस्थिति के जारी रहने का क्या तात्पर्य होगा? यही न कि इस जीवन की पुनरावृत्ति उस जीवन मे भी होती रहे। पर क्या इस जीवन-चक्र की पुनरावृत्ति से मानव को शांति मिलेगी? भारतीय विचारको के लिए जन्म-जन्मान्तर का चक्र दुःख का विषय माना गया है, न कि सुख की आशा का। यहाँ शकर की कुछ पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं:

> अंग गलितं पलितं मुडं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
> वृद्धो याति गृहीत्वा दंडं तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्॥
> × × ×
> पुनरपि जननं पुनरपि मरण पुनरपि जननी जठरे शयनम्।
> इह संसारे खलु दुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे॥
> पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः।
> पुनरप्ययणं पुनरपि वर्ष तदपि न मुञ्चत्याशामर्षम्॥

(अंग गल गया, केश पक गए, दन्तविहीन हो गए बुढ़ापा आ गया, बूढा लाठी टेककर चलता है, फिर भी आशा (पुनः जीने की) पिंड नही छोडती है।

पुनः पुनः जन्म, पुन. पुनः मरण, बारंबार माता के गर्भ में पड़ना । हे मुरारे ! कृपया मुझे इस दुस्तर संसार से पार कर दो, अर्थात् जन्म-जन्मान्तर के संस्कार से छुड़ाकर मोक्ष प्रदान करो । कितनी बार वही रात्रि, वही दिन, वही पक्ष, वही मास, वही अयन और वर्ष आते रहते हैं, तोभी (पुनः जीने की) आशा पिंड नहीं छोडती है और न ईर्ष्या ।) शंकर के अनुसार जीवन-चक्र के चलते रहने से कोई तात्विक प्रगति नही होती है । परन्तु यदि अनंत जीवन को प्राप्त कर भी इसमे प्रगति, उन्नति, उन्मुखी विकास न हो तो इस प्रकार के जीवन से क्या लाभ हो सकता है ? इस जीवन की समस्याएँ उत्तरजीवन मे भी बनी रहेंगी,—वही शोषण, वही अशाति, वही चिन्ता और बेचैनी । वास्तव में ईश्वरवादी उत्तरजीवन मे स्वर्ग-सुख की कामना रखता है जिसमे उसे पूर्ण विश्राम और शाति मिलेगी । परन्तु जहाँ विश्राम है और सघर्ष एव संग्राम का अन्त हो जाता है, वहाँ उर्ध्वमुखी विकास भी समाप्त हो जाता है । अतः, यदि यही ऐहिक जीवन उत्तरजीवन मे भी बना रहता है तो सुख-कामना काफूर हो जाएगी, और, यदि सघर्षहीन विश्राम प्राप्त हो जाता है तो जीवन का विकास भी समाप्त हो जाता है । इसलिए उत्तरजीवन की आशा रखना व्यर्थ है और इस भावना से ईश्वरवादी की आकाक्षा पूरी नही हो सकती है । बार-बार ईश्वरवादी व्यक्तित्वपूर्ण उत्तरजीवन की कल्पना करते रहे है और फिर बार-बार उन्हे व्यक्तित्वपूर्ण मरणोत्तर जीवन की आशा छोड कर उन्हे मूल्याश्रित जीवन की नित्यता की शरण लेनी पडती है (*) । पर क्या मूल्याश्रित जीवन मे व्यष्टि की सरक्षा होती है ? इस संबंध मे प्रिंगिल-पैटिसन और बोमकेट के परस्परविरोधी मत है जिनका यहाँ उल्लेख करना अभीष्ट मालूम देता है ।

व्यष्टि का वैशेषिक तथा संज्ञात्मक सिद्धान्त

अध्याय ४ मे मूल्याश्रित नित्यता की बात कही गई है । यहाँ भी उसी बात को व्यष्टि के सबंध में दुहरायी जाएगी । प्रिंगिल पैटिसन और बोमकेट दोनों प्रसिद्ध प्रत्ययवादी हैं और दोनों की युक्तियाँ लगभग एक समान हैं । तो

*डी० एम० मैकीनोन, न्यू एसेज की पृष्ठ संख्या २९५ पर एक ओर व्यक्तित्वपूर्ण मरणोत्तर जीवन की ओर आशाभरी नेत्रों से देखते हैं और फिर कहते हैं कि बाइबिल में व्यक्तित्वपूर्ण जीवन की अपेक्षा पुनरुत्थान की बात कही गई है, और व्यष्टिपूर्ण सुरक्षा के स्थान पर भावी ससार के जीवन की चर्चा कही गई है । इसी प्रकार बर्डौक्सी, फिलासफी ऑफ रिलिजन के पृष्ठ ५२७ पर व्यष्टि की संरक्षा की बात कहते हैं और फिर पृष्ठ ५४९ पर लिखते हैं कि क्रान्तिक बिन्दु के पहुँचने पर उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति के लिए आत्मा-हुति करनी पड़ती है ।

भी दोनों के निष्कर्ष परस्परविरोधी हैं। दोनों प्रत्ययवादी मानते हैं कि इस विश्व का चरम उद्देश्य है कि मूल्य स्थापित हो और प्रत्येक व्यक्ति परम्परागत मानवजाति की मूल्यराशि से लाभान्वित होकर वह स्वयं मूल्य-स्रष्टा बने। इस निष्कर्ष को इन दोनों ने निम्नलिखित रीति से स्पष्ट किया है।

परम सत्ता निरपेक्ष सत्ता है जिसमे असंख्य और अपरिमित सभावनाएँ अन्तर्निहित हैं और जो कालक्रम मे क्रमशः व्यवस्थित रूप मे साकार होती रहती हैं। प्रारंभ में क्या था, कहना कठिन है। परन्तु कालक्रम मे समय की, अनुकूलता के साथ निर्जीव भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति हुई और धीरे-धीरे सूर्य-मडल के ग्रह पृथ्वी मे वायुमडल, जल इत्यादि का विकास हुआ। तब किसी कालविशेष मे निर्जीव पदार्थ मे से जीवाणु की उत्पत्ति हुई। कब, कैसे और क्यो जीवाणु की उत्पत्ति हुई, अतीत के गर्भ मे अभी भी निहित है। परन्तु एक बात निश्चित है। जीवाणुओं की संख्यावृद्धि होने लगी और इस वृद्धि के साथ विविधता भी बढ़ने लगी। कालगति मे विविधता के साथ सख्यावृद्धि के कारण अनेक उपजातियों का विकास हुआ। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। यह ठीक है कि जीव और निर्जीव प्रकृति मे विरोध देखा जाता है। निर्जीव पदार्थ अपने आप गुणित नही होते हैं, परन्तु जीव प्रजनन द्वारा गुणित होते रहते है। फिर निर्जीव पदार्थ, उदाहरणार्थ घड़ी, बिगड जाने पर अपने आप ठीक नही हो जाती है। परन्तु जीव मे बहुत दूर तक अपने मे उत्पन्न विकार को सुधारने की शक्ति होती है। हमारे शरीर के अनेक घाव-चोट अपने आप अच्छे हो जाते हैं। इसी प्रकार छिपकिली की दुम कट जाने पर फिर से उत्पन्न हो जाती है। पुन, जीव मे स्वत. प्रवर्तिता पायी जाती है। उदाहरणार्थ, कुत्ता या चिडिया बिना किसी बाह्य उत्तेजना के अपनी प्रक्रियाओ को अपने से प्रवर्तित करते दिखाई देते है। परन्तु यदि निर्जीव पदार्थ मे बाह्य उत्तेजन न हो तो उसमे कोई गति नही उत्पन्न होती है। जब तक घड़ी मे चाभी न दी जाए तब तक घडी अपने आप नही चलेगी।

परन्तु जीव और निर्जीव प्रकृति के बीच उपर्युक्त भेद के बावजूद भी मानना पड़ेगा कि इन दोनों के बीच पारस्परिक सहयोग भी घनिष्ट रूप मे देखा जाता है। जब निर्जीव भौतिक-रसायन तत्त्वों के योग का परिपाक हुआ तभी इसी परिपाक से जीव की उत्पत्ति हुई। फिर जब जीव किसी प्रकार उन्मज्जित हुए तो निर्जीव रसायन, प्रकाश, ताप इत्यादि के ही सहारे जीव की प्राणशक्ति बनी रहती है। अतः, निर्जीव पदार्थ जीव को संवहन करता रहता है। इसलिए

निर्जीव पदार्थ और जीवों के बीच गहरा सहयोग है और कहा जा सकता है कि निर्जीव प्रकृति ने ही समय के पूरा हो जाने पर जीव की उत्पत्ति की और अभी तक उसे बनाए हुए है।

जीवो के उन्मुखी विकास मे फिर एक नयी शक्ति, अर्थात् चेतना का उन्मज्जन हुआ। कब और कैसे और किस जीव में सर्वप्रथम चेतना का विकास हुआ, यह भी अतीत के गर्भ मे अटकल का विषय बना हुआ है। पर यह निर्विवाद है कि कुछ जीव मे चेतना है और इन्हीं चेतनमय जीवो के बीच विकास-धारा मे आत्मचेतन जीव, अर्थात् मानव का इस वसुन्धरा पर आगमन हुआ। मानव चेतना के प्रादुर्भाव के साथ दो बातें स्पष्ट होती दीखती हैं। सर्वप्रथम, मानव की मानसिक खुजलाहट के कारण विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ और विज्ञान के द्वारा जीव और निर्जीव जगत् की छिपी हुई गुत्थियाँ दिनोदिन सुलझती जाती है। मानव चेतना के द्वारा प्रकृति मे अन्तर्निहित गर्भित विचार स्पष्ट होते जाते है। अत, प्रकृति भी विचार है, हाँ सुषुप्तावस्था मे है और मानव चेतना मे झकृत होकर प्रकृति वाचाल हो उठी है। इसलिए प्रकृति और चेतन मानव मे पारस्परिक सहयोग है और दोनो ही एक ही परम सत्ता के क्रमश मूक और वाचाल प्रत्यय-व्यवस्थाएँ है।

मानव चेतना के प्रादुर्भाव से दूसरी बात यह हुई की आदर्शो एवं मूल्यों का उद्विकास हुआ है। आदिकाल मे आदिम जातियाँ आपस मे झगडती रहती थी और उनके हाथ खून से लथपथ रहा करते थे। पर धीरे-धीरे सभ्यता का विकास हुआ, आदर्शों का उदय हुआ और वे जातियाँ ही जिनमे आदर्शों का समादर हुआ, जीवन-संग्राम मे विजयी होकर अन्य सभी जातियों का नेतृत्व करती आयी है। जिन जातियो मे जितना ही अधिक त्याग, आदर्शों के प्रति आत्म-निवेदन रहा है वे ही जातियाँ सभ्यता के उत्तु ग शिखर पर रही है। अब भी जिन जातियो मे संगठन, अनुशासन, विज्ञान तकनीकी, शिल्पविज्ञान इत्यादि का समादार होता है, वे ही वसुन्धरा पर आधिपत्य जमाए बैठी हैं। इससे क्या निष्कर्ष निकलता है ?

मानव इस विश्व की कुंजी है। उसके जीवन मे जैविक विकास की सभी मुख्य अवस्थाएँ पुनरावृत्ति होती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक उद्विकास मे प्रारंभिक अवस्थाएँ संरक्षित होकर पुनरावृत्त होती हैं। अतः, मानव मे विश्व का सुषुप्त इतिहास संरक्षित बना हुआ है और उसकी कहानी अतीत को अपने

में संरक्षित किए हुए हैं। परन्तु इतिहास के साथ मानव जीवन के उत्पीडन मे, उसकी महान आकांक्षाओं में, उसके द्वारा मूल्यों के साकारीकरण में परम सत्ता मे अन्तर्निहित अर्घ्यों का आभास भी मिलता है। आदर्शों के प्रतिपालन-मात्र से तथा जातियों की ऐतिहासिक सफलता से सिद्ध होता है कि मानव के आदर्श कपोल-कल्पनाएँ ही नहीं हैं, वरन् परम सत्ता में गर्भित मूल्यो के उद्घाटन भी हैं। अतः, मूल्य ही परम सत् है। इसलिए स्पष्ट हो जाता है कि विश्व मूल्य-केन्द्रित है और मूल्यो का उत्पादन इसका परम लक्ष्य है।

इतनी दूर तक प्रिंगिल पैंटिसन और बोसकेट में कोई अन्तर नही आता है। पर प्रश्न उठता है. यदि मूल्यों का उत्पादन इस विश्व का चरम लक्ष्य है तो मूल्यो का साकारीकरण केवल व्यष्टियो के ही द्वारा सभव होता है। क्या बिना देहधारी न्यूटन के विज्ञान मभव हो सकता था, क्या बिना शरीरी गौतम बुद्ध के बोधि-कथा प्रस्तुत की जा सकती थी, क्या बिना हाड़-मॉस के देहधारी ईसा के क्रूश पर अपने प्राणो की आहुति दिए हुए ईश्वरीय प्रेम का उद्घाटन हो सकता था? अब यदि व्यक्ति इतना प्रमुख स्थान रखता है तो क्या मूल्यो के आकाश मे एकबार प्रज्वलित होकर, सभ्यता को आलोकित कर व्यक्ति सर्वदा के लिए विनष्ट हो जाएगा? यहाँ बोसंकेट व्यक्ति को अन्तिम रूप से अमर नही मानते है और बोसकेट के मत को वैशेषणिक कहते है। इसके विपरीत प्रिंगिल पैंटिसन के मत को द्रव्यमूलक अथवा सज्ञात्मक कहते हैं जिसके अनुसार मूल्यो का स्रष्टा व्यष्टि अवश्य ही नित्य रूप से संरक्षित माना जाएगा।

प्रिंगिल पैंटिसन का कहना है कि यदि मानव के उद्विकास पर दृष्टिपात किया जाए तो स्पष्ट होता है कि इस उद्विकास मे असंख्य युग लगे है। फिर मानव का उद्विकास अनेको विफल प्रयत्नो के फलस्वरूप, बड़ं कष्ट तथा श्रम के परिणाम के रूप मे हुआ है। पुनः, मूल्य-स्रष्टा जीव भी अनेको संतो और वीरो की आहुति के फलस्वरूप ही सभव हो पाए हैं। अब यदि न्यूटन-डार्विन, मूसा-ईसा, शंकर-बुद्ध, सिकन्दर-नेपोलियन इत्यादि लाखों वर्षों के अनवरत प्रयोगो के फलस्वरूप उत्पन्न हों, तो क्या विश्व उन्हे विनष्ट होने देगा? क्या मूल्य-स्रष्टाओं की उत्पत्ति ही विश्व का चरम उद्देश्य नही है? यदि ये महान विचारक, वैज्ञानिक, समाज-सुधारक, सूरवीर नायक, नेता और प्रणेता सदा के लिए विलुप्त हों तो प्रिंगिल पैंटिसन का कहना है कि संपूर्ण विश्व-प्रक्रिया बाल-क्रीड़ा की तरह निरुद्देश्य और अर्थहीन होगी। इस विश्व का न कोई उद्देश्य होगा और न अर्थ। संपूर्ण विश्व उसी प्रकार का बच्चों का खेल होगा जिस प्रकार

बच्चे बड़े परिश्रम से बालू का घर बनाते, उसमे सड़कें, पुल इत्यादि बनाते हैं और जब उनकी इमारत खड़ी हो जाती है तो फिर इस इमारत को लातो से ठुकरा कर धराशायी कर देते हैं। इसी प्रकार यदि वास्तव मे मूल्य-स्रष्टा का अन्तिम संरक्षण नही होता है तो इससे स्पष्ट होता है कि विश्व जिन हाथों से बड़े परिश्रम के साथ इनका निर्माण करता है, वही विश्व फिर इन्हे अपने हाथो से विनष्ट करता है। बिना किसी उद्देश्य के बनाना और बिगाडना यही इस विश्व का विधान हो जाता है। अत., प्रिंगिल पैंटिसन का कहना है कि विश्व के सर्वांगपूर्ण इतिहास पर दृष्टिपात करने से सिद्ध हो जाता है कि विश्व-प्रक्रिया नियोजित, व्यवस्थित तथा अनुक्रमिक है और फिर इसमे सभी मूल्यो की सरक्षा होती है। अत, इस विश्व को उद्देश्यपूर्ण और तर्कसगत समझना चाहिए। इसलिए इस उद्देश्यपूर्ण विश्व मे मूल्य-स्रष्टा कभी भी विलुप्त नही हो सकते हैं। वे अमर द्रव्य के रूप मे विश्व की शाश्वत निधि बन जाते है। चूंकि प्रत्येक मूल्य-स्रष्टा व्यष्टि को प्रिंगिल पैंटिसन शाश्वत मानते है, इसलिए इनके मत को संज्ञान्मक या द्रव्यमूलक पुकारा जाता है।

बोसंकेट मानते है कि विश्व का चरम उद्देश्य है कि मूल्य-स्रष्टाओ का उन्मज्जन हो। परन्तु बोसंकेट के अनुसार मूल्य-सृष्टि के लिए आवश्यक है कि व्यष्टि का विलयन हो ताकि उसके द्वारा स्थिर किए गए मूल्यों की संवृद्धि और उनका उत्तरोत्तर विकास हो। बोसकेट का कहना है कि देहधारी व्यक्तियो के ही द्वारा मूल्यों को साकार किया जा सकता है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति, संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक व्यवस्था तथा युग-धर्म से सीमित होता है। जो भी मूल्य उसके द्वारा साकार किया जाता है, वह सीमित होता है और फिर उसका कुछ अंश युग और रूढियो से ढका हुआ होता है। उदाहरणार्थ, न्यूटन ने विज्ञान की प्रगति मे अनुपम देन दी है। परन्तु यदि उनके पूर्व विज्ञान मे प्रगति न होती, विशेषतया गैलेलिओ का अनुसधान न होता तो शायद न्यूटन गुरुत्वाकर्षण के प्रनियम को स्थापित नही कर पाते। इसी प्रकार यदि न्यूटन की देन नही होती तो आइन्स्टाईन भी अपने सापेक्षता-नियम को नही स्थापित कर पाते। साथ-ही-साथ प्रत्येक वैज्ञानिक अपने युग की वैज्ञानिक परिस्थिति में काम करता है और उसके अन्तर्गत ही वह अपनी देन दे सकता है। भारत मे रहकर भारतीय वैज्ञानिक अवसर के अभाव मे, शासन के सकीर्ण चक्कर मे पड कर अपनी खोजों में उतना अधिक सफल नहीं हो पाते हैं जितना वे विदेशों की प्रयोगशाला में रहकर सफल दीखते हैं।

परन्तु यदि यह बात सत्य हो कि प्रत्येक वैज्ञानिक, साहित्यकार, चित्रकार, दार्शनिक इत्यादि अपनी संपूर्ण परिस्थिति से नियन्त्रित होते हैं तो इससे यही झलकता है कि कोई भी मूल्य केवल सापेक्षतया साकार होता है। कोई भी वास्तविक मूल्य ऐसा नही है जिसके संबध मे यह नही कहा जा सकता है कि अमुक मूल्य मे अब कोई संवृद्धि नही हो सकती है। न्यूटन की देन अनुपम थी, परन्तु विज्ञान-प्रगति के साथ गुरुत्वाकर्षण की परिपूर्णता आइन्स्टाईन की सापेक्षता मे सभव हुई है। इसी प्रकार कारणिक और अनिर्धार्यता नियमो को एक साथ मिलाकर अभी तक किसी सामान्य नियम की स्थापना नही हुई है। सभव है कि न्यूटन तथा आइन्स्टाईन से भी बढकर एक तीसरा वैज्ञानिक निकल आए जो इनकी खोजो को सम्मिलित करता हुआ अधिक व्यापकनियम की स्थापना करे। अत., किसी भी व्यक्ति की खोज तथा उसके द्वारा मूल्यों के साकारीकरण को निरपेक्ष नही माना जा सकता है। इसलिए बोसंकेट का कहना है कि व्यष्टि नही, वरन् व्यष्टि मे उत्पन्न मूल्य ही सरक्षित रहेगे। यहाँ बोसकेट के निरपेक्ष प्रत्ययवाद के आधार पर व्यष्टि के सबध मे उनके मत को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है।

बोसंकेट के अनुसार परम सत्ता अपार सभावनाओ का आगार है जिसे वह प्रकृति, जीव तथा मानव के द्वारा क्रमश. वास्तविक करता रहता है। सभावनाओ के वास्तविकीकरण मे प्रत्येक व्यक्ति बोध कराते हैं कि निरपेक्ष सत्ता का क्या स्वरूप है। साधु-सन्त, वैज्ञानिक-साहित्यिक, खेलाडी-मदारी, इत्यादि सभी एक-एक करके परिचय कराते हैं कि निरपेक्ष सत्ता मे निहित सभावनाएँ उनके जीवन के द्वारा किस प्रकार वास्तविक हो रही है। जितने भी मूल्य है वे सभी निरपेक्ष सत्ता मे सभावनाओ के रूप मे अन्तर्निहित रहते है और वे क्रमश. व्यक्तिविशेषो के ही द्वारा साकार किए जा सकते हैं। अत, सामान्यत: व्यक्तिविशेष केवल साधनमात्र है जिनके द्वारा मूल्यो का वास्तविकीकरण होता है और मूल्यपूर्ण वे व्यक्ति है जिनके द्वारा निरपेक्ष सत्ता के स्वरूप पर प्रकाश पडता है। मूल्यपूर्ण व्यक्ति निरपेक्ष सत्ता के आभास है, परन्तु आभास से निरपेक्ष सत्ता का स्वरूप और उसका गुण आशिक रूप से ही सही स्पष्ट होता है। परन्तु जो निरपेक्ष सत्ता का स्वरूप आभासित करे उसे निरपेक्ष सत्ता का विशेषण ही कहा जा सकता है, क्योंकि विशेषण की परिभाषा है कि वह पदार्थ को प्रकाशित करे। उदाहरणार्थ, 'राम लम्बा है।' इसमे इसका विधेय राम का विशेषण है और 'लम्बा' बोध कराता है कि राम का क्या डील-डौल है। जिस प्रकार किसी भी

उद्देश्य-विधेय के कथन मे विधेय उद्देश्य के गुण का बोध कराता है, उसी प्रकार बोसंकेट के निरपेक्ष प्रत्ययवाद के अनुसार, सभी व्यष्टि इसी निरपेक्ष सत्ता के विधेय-मात्र हैं। प्रत्येक वस्तु की यथार्थता अन्त मे निरपेक्ष सत्ता के द्वारा निरूपित की जाती है और निरपेक्ष सत्ता को सर्वसमावेशी माना जाता है। अतः, किसी भी वस्तु की सत्ता अन्त में अन्य सभी सत्यताओं के मेल से निर्धारित होती है। चूँकि सभी सत्यताएँ सभी घटनाएँ, सभी मूल्य निरपेक्ष सत्ता मे समाविष्ट हैं और कुछ भी इस सर्वसमावेशी सत्ता से परे और बाहर नही हो सकता है, इसलिए अन्त मे किसी भी व्यष्टि की सत्ता इसी निरपेक्ष सत्ता से निर्धारित समझी जाएगी। इसलिए कहा जा सकता है, 'निरपेक्ष सत्ता वह है जिसमे न्यूटन उत्पन्न होता है, 'निरपेक्ष सत्ता वह है जिसमे कान्त उत्पन्न होता है,' निरपेक्ष सत्ता वह है जिसमे महात्मा गाधी उत्पन्न होते है,' इत्यादि। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति परम सत्ता के विशेषण-मात्र हैं जो निरपेक्ष सत्ता मे अन्तर्निहित सभावनाओ को अपने जीवन मे साकार करते हैं।

अत, प्रत्येक विचारक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, चित्रकार, देशसुधारक, नेता एव प्रणेता इस विश्व के रगमच पर आकर अभिनय करके मूल्यों को साकार करते हैं। परन्तु जब उनके अभिनय की फिर आवश्यकता नही होती तो उन्हे रंगमच को छोड देना पडता है ताकि अन्य अभिनेता-अभिनेत्री इस रगमंच पर अपना पार्ट अदा कर सके। प्रत्येक व्यक्ति तभी तक वास्तविक रहता है जब तक वह इस विश्व के रगमच पर अपना पार्ट अदा करता है। रगमच से हट जाने पर व्यष्टि के रूप मे उसका विलयन हो जाता है, परन्तु उसकी कीर्ति रह जाती है। उसके जीवन की अमरता इसी मे थी कि इस निरपेक्ष सत्ता की महत्ता का परिचय देने मे यह नश्वर शरीर काम आया। व्यष्टि नही सरक्षित रह सकती है, परन्तु, बोसकेट के अनुसार, व्यष्टि की अमरता अमर मूल्यों के संदेश को साकार करना है।

अतः, निष्कर्ष स्थापित किया जा सकता है कि व्यष्टि नही, वरन् व्यष्टि के द्वारा वास्तविकीकृत मूल्य ही अमर रहेंगे। बोसंकेट के वैशेषणिक सिद्धान्त में बहुत बल है और इसके मूल संदेश को हम मूल्यपूर्ण अमरता में समाविष्ट करेंगे।

मूल्यपूर्ण अमरता

सुकरात की जब मृत्यु घडी आ पहुँची तो उन्होने अपनी अन्तिम गोष्ठी में अपने उद्‌गार को व्यक्त किया। उन्होंने कहा,

'मित्रो ! मृत्यु से बचना उतना कठिन नही है जितना अधर्म से बचना, क्योंकि मृत्यु की अपेक्षा अधर्म की गति तीव्रतर है।'

सुकरात के कहने का तात्पर्य है कि अधर्म मृत्यु से भी अशुभतर है। अतः, उनके कथनानुसार धर्म ही एकमात्र अमरता का सोपान है। पर क्या अमरता मृन्यूत्तर जीवन मे प्राप्त होती है ? इस स्थल पर श्लाईमाखर की उक्ति उल्लेखनीय है। उन्होने कहा है कि अमरता का वह अर्थ नही है जिसे अनेक विश्वासी व्यक्ति सही मानते है। अमरता काल से परे, पीछे और बाद मे नही प्राप्त होती है। यह इसी जीवन मे इसी वर्तमान काल मे ही प्राप्त हो सकती है। इसी सीमित दशा मे अपरिमित सत्ता के साथ आत्मसात् कर तथा प्रत्येक क्षण को नित्य बनाकर धार्मिक जीवन की अमरता को प्राप्त किया जाता है। दूसरे शब्दो मे धार्मिक जीवन की अमरता आयु के दिनो से नही, वरन् सुकर्मो से आँकी और जानी जाती है। डेढ सौ वर्ष जीने पर भी कोई इस जीवन मे ज्यो का त्यो नवजात शिशु के समान रह जाता है और कोई ३०-३२ वर्षों के अल्प जीवन मे ही अमर हो जाता है। यही कारण है कि बेन जॉनसन ने अपनी कविता मे कहा है कि एक दिन का सुकुमार लिली फूल ३०० वर्ष पुराने ओक वृक्ष की अपेक्षा कही अधिक अमरत्व का भान कराता है। यह कैसे ? क्योकि एक दिन के लिली मे सौन्दर्य भरा होता है जो ३०० वर्ष पुराने ओक वृक्ष मे नहीं रहता है। और कीट्स ने कहा है कि कोई भी सौन्दर्यपूर्ण वस्तु शाश्वत् आनन्द की वस्तु है और यह कभी भी विलीन नही होगी। ठीक है, कीट्स ने हजारो वर्ष के पहले यूनानी कला को देखकर अनुभव किया कि सौन्दर्यपूर्ण वस्तु जब तक मानव चेतना है तबतक वह मानव के लिए आनन्ददायिनी रहेगी। इसमे सदेह नही कि सौन्दर्य मानव के लिए शाश्वत् मूल्य है और जिस व्यक्ति ने अपने जीवन को किसी-न-किसी रूप मे सुन्दर बनाया है, वह वास्तव मे अमर है। कीट्स की उक्ति की मार्मिकता भारतीय दर्शन के मोक्ष-सिद्धान्त से पूर्णतया स्पष्ट होती है।

भारतीय मोक्ष-सिद्धान्त के अनुसार जबतक मूढमति मानव को परम सत्ता का सही ज्ञान नही हो जाता तबतक वह अपनी शाश्वत् परम गति को नही प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्गुण ब्रह्म परम सत्ता है, जो शाश्वत् और नित्य है। परन्तु ब्रह्म-ज्ञान कोरा उद्देश्य-विधेय, ज्ञाता-ज्ञेय के भेद पर आधारित नही होता है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म प्राप्तकर,

अर्थात् स्वय ब्रह्म होकर ही इस ज्ञान को प्राप्त करता है। इसलिए ब्रह्म-ज्ञानी स्वय ब्रह्म हो जाता है। इसी प्रकार निर्वाण को जाननेवाला स्वय बुद्धत्व को प्राप्त करता है। चूँकि ब्रह्म और निर्वाण नित्य और शाश्वत् है, इसलिए ब्रह्म-ज्ञानी भी नित्य और शाश्वत् हो जाता है।

अत:, जिस व्यक्ति ने इस जीवन मे परम मूल्यो को साकार किया है वह उसी मूल्य के समान स्वय नित्य और शाश्वत् हो जाता है। इसलिए वे व्यक्ति, जिन्होंने सभ्यता का युग-युगान्तरो की संरक्षित मूल्यराशि से लाभ उठाकर उस मूल्य-परम्परा को संवर्द्धित किया है, वास्तव मे सभी अन्य मानवो के लिए प्रज्वलित दीप के समान हैं। जबतक ये जीवन्मुक्त जीवित रहते वे इसी शरीर मे अनंत मूल्यो के समान शाश्वत् होते हैं और मरने के बाद भी उनकी जीवन-कथा अन्य सभी व्यक्तियो को अपने पद-चिह्नों पर चलने के लिए आलोडित एवं उत्प्रेरित करती है। वे जीवन्मुक्त स्वयं नित्य हो जाते हे, क्योंकि वे जीवन की सभी विडम्बनाओ से परे और अविचलित रहकर दिखा देते है कि वे ससार की क्षणभगुरता और नश्वरता से अछूते और अप्रवाहित रहते हैं। भारतीय परम्परा तथा स्पिनोजीय मत के अनुसार वे सभी मोह-माया दुःख-सुख से परे उपेक्षाभाव को अपनाए, हर्ष-विषाद बिखेरे होकर, स्थितप्रज्ञ शैल-तुल्य स्थिर हो जाते है। उनका न कोई मित्र है और न कोई शत्रु। स्पिनोजा के अनुसार सभी घटनाओ को उनके शाश्वत् आधार के सन्दर्भ मे परिलक्षित कर ऐसे व्यक्ति सभी घटनाओ को ईश्वरीय दृष्टि मे देखते है। इस ईश्वरीय दृष्टि मे न स्वार्थ है और न परार्थ है· इसमे आत्मभाव (अह-भाव) का त्याग होता है और व्यक्तित्व अपनी सीमा को पारकर अपरिमितता का पान करता है।

अत: ऐसा ज्ञानी क्षणभंगुरता की नि:सारता को परखते हुए अविचलित होकर, उसकी भ्रमोत्पादनी शक्ति से बचते हुए, नित्यता को प्राप्त करता है। फिर ऐसे व्यक्ति दीप बनकर अन्य सभी मानवो का सतत् आह्वानकर उनका पथदर्शन करते रहते है। जबतक मानव सभ्यता रहेगी तबतक वे मानव जीवन के लिए ध्रुव तारा की तरह दिग्दर्शन करते रहेगे। यही है सच्ची अमरता।

सारांश · मनोदैहिक व्यक्तित्व की अमरता सभव नही है, क्योकि यातो इस प्रकार की अमरता से व्यर्थ जीवन-चक्र की पुनरावत्ति झलकती है, या इसमे ऐसे विश्राम की कल्पना की जाती है जिसमे जीवन की उत्तमता को बढाने का कोई अवकाश नही मिलती है (उदा० प्रचलित स्वर्ग-सुख की कल्पना)।

प्रिंगिल पैटिसन का व्यक्तित्ववादी प्रत्ययवाद सही नहीं मालूम देता है, क्योंकि इसमें भी असाक्षात् रूप से मनोदैहिक व्यक्तित्व की संरक्षा की बात बतायी जाती है। हमे भूल नही जाना चाहिए कि अच्छे से अच्छे मानव भी सीमित और अपूर्ण जीव होते हैं। प्रत्येक नेता एवं विचारक अपने युग की छाया मे पलते है। अपनी उदात्त वृत्तियो के कारण वे युग-पुरुष होते हैं, परन्तु युग के संस्कार से वे अपना पिंड नही छुडा सकते है। उनके अन्दर भी रुढ़िवाद होता है, हठवाद होता है, जिनके कारण उनके अन्दर अपनी देन को छोड़कर दूसरी दिशा मे प्रगति करना कठिन हो जाता है। अतः, समय पूरा होने पर प्रत्येक व्यक्ति को (वह कितना ही महान क्यो न हो औरउसकी देन कितनी ही अधिक अनुपम क्यों न हो) विश्व के रंगमंच को छोडना पडता है ताकि मानव जीवन के विविध पट और पक्ष पर प्रकाश पड़े और विभिन्न प्रतिभाओं के साथ सभ्यता अनेक उत्तुंग शिखरो पर चढ़ पाए। मनोदैहिक व्यक्तित्व की अमरता का कोई विशेष महत्त्व नही दीखता है। प्रिंगिल पौटिसन की अपेक्षा बोसंकेट के निरपेक्ष प्रत्ययवाद मे बहुत बल है, परन्तु इसे भी पूर्णतया नही स्वीकारा जा सकता है, क्योकि यह तत्त्वमीमासात्मक मत है और तत्त्वमीमासात्मक सत्ता को सज्ञानात्मक नही कहा जा सकता है। निरपेक्ष सत्ता मानव चेतना की अपेक्षा नही रखती और इसलिए यह हमारे ज्ञान का विषय नही हो सकता है।

अतः, हमलोगो ने निर्वाण तथा मोक्ष-विचार को ध्यान मे रखकर मूल्यपूर्ण जीवन को ही अमर माना है।

परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर हमारे ज्ञान का विषय न हो तो इसके स्वरूप को हम कैसे अपने चिन्तन का विषय बना सकते हैं? क्या ईश्वर मानव मन की काल्पनिक उपज है? इसका निर्णय करने के लिए हमे मनोवैज्ञानिक चिन्तन का अवलंब लेना चाहिए।

प्रश्न

१. विभिन्न प्रकार की अमरता का उल्लेख कीजिए।

२. मनोदैहिक व्यक्तित्वपूर्ण अमरता की समीक्षापूर्ण व्याख्या कीजिए।

३. प्रिंगिल पैटिसन द्वारा व्यष्टि के संज्ञात्मक मत का विवेचन कीजिए।

४. बर्नार्ड बोसंकेट द्वारा व्यष्टि के वैशेषणिक मत की समीक्षा कीजिए।

५. व्यष्टि-संबंधी संज्ञात्मक और वैशेषणिक मतों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

६. व्यष्टि-संबंधी वैशेषणिक मत की व्याख्या कीजिए। क्या इसमें ईश्वरवादी मत की पुष्टि होती है ?

७. मूल्यपूर्ण अमरता की व्याख्या कीजिए। क्या यह मत शांकर और बौद्ध विचारों से मेल खाता है ?

८. अशरीरी अमरता की व्याख्या करके इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।

अध्याय—७

धर्म का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

परिचय : धर्म का मनोवैज्ञानिक अध्ययन हेनरी बर्ग्सों (सन् १८५९-१९४१), विलियम जेम्स (सन् १८४२-१९१०), सिगमुंद फायड (सन् १८५६-१९३९) और कार्ल० जी 'युंग (सन् १८७५-१९६१) ने किया है और यहाँ इन्ही चारो की देनो का उल्लेख किया जाएगा। बर्ग्सों फ्रांसिसी यहूदी थे और प्राणशक्ति इनकी तत्त्वमीमासा का कुंजीपद था। इसलिए बर्ग्सों को शुद्ध मनोवैज्ञानिक मानना कठिन है। परन्तु इनकी लेखनी में अनेक स्थल पर मार्मिक मनोवैज्ञानिक अध्ययन देखने में आता है और फिर धर्म-सबधी रहस्यवाद में भी आप की देन को विशेष स्थान प्रदान किया जाता है।

बर्ग्सों की तुलना मे विलियम जेम्स को अमेरिकी मनोविज्ञान और दर्शन का प्रमुख नेता माना जायगा। विलियम जेम्स बहुमुखी प्रतिभा संपन्न विचारक थे। यहाँ विलियम जेम्स के धर्मसबधी मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दोनो पक्षो को स्थान दिया जाएगा।

यह ठीक है कि जेम्स ने फायड की प्रारभिक देन के आधार पर विशेषकर धार्मिक रहस्यवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की थी और आज भी इनकी देन को स्मरणीय माना जाता है। परन्तु मानना पडेगा कि आस्ट्रिया-निवासी यहूदी फायड का मनोवैज्ञानिक अध्ययन क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। अत:, धर्म की विशेषकर ईश्वरवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के लिए फ्रायड की देन अनुपम मानी जाएगी।

फ्रायड यहूदी थे और ईसाइयों के द्वारा त्रस्त होकर ईसाई धर्म के विरोधी बन गये थे। युंग ईसाई परम्परा के थे और इन्होने ईसाई धर्म की तो नही, वरन् सामान्य रूप से भारतीय परम्परा को (विशेषकर शाकर अद्वैतवाद को) अपनाकर आत्मविकास को धार्मिक लक्ष्य का आदर्श माना है।

हेनरी बर्ग्सों द्वारा प्राणशक्तिमूलक धर्म की व्याख्या

बर्ग्सों तत्त्वमीमासी हैं, परन्तु आप न तो जड़ को और न प्रत्यय को अन्तिम तत्त्व मानते हैं। जड़ को अन्तिम तत्व मान लेने मे विचार, आदर्श, चेतना इत्यादि की संतोषजनक व्याख्या नही हो पाती है और प्रत्यय को परम सत्ता

मान लेने से जड़ तथा निर्जीव की पूर्ण व्याख्या नही हो पाती है। परन्तु प्राण-शक्ति जड़ और अध्यात्म विचार की मध्य कड़ी है और प्राणशक्ति को परम तत्त्व मान लेने पर जड और चेतन, विचार एवं आदर्श दोनो के बीच संतोषजनक मध्यस्थता करने मे शायद सफल माना जायगा। जैसे-जैसे बर्गसाँ के विचार मे प्रौढ़ता आती गई, वैसे-वैसे वे अधिक प्रत्ययवाद की ओर झुकते गए। परन्तु अब अधिक भूमिका न देकर यहाँ बर्गसाँ द्वारा धर्मदर्शन की व्याख्या की जाएगी।

बर्गसाँ के लिए प्राणशक्ति परम तत्त्व है और गतिशीलता प्राणशक्ति का स्वरूप है। सर्वप्रथम, प्राणशक्ति मे उत्क्रमिक और प्रतिक्रमिक परस्पर दो विरोधी धाराएँ पाई जाती हैं। जिसे 'जड' सज्ञा दी जाती है, वह भी प्राणतत्त्व है, किन्तु इसे प्रतिक्रमिक (उलटी) धारा कहा जा सकता है। स्वय प्राणतत्त्व सर्जनात्मक प्रक्रिया है, जिसे अनेकदिशी अथवा बहुमार्गी कहा जा सकता है। इसी बहुमार्गी धारा-प्रवाह मे प्राणशक्ति ने दो प्रकार के जीव जगत् की सृष्टि की है एक जीव जगत् सहजप्रवृत्तियो से सचालित होना है जिसमे कीट-पतग गिने जा सकते हैं और दूसरे जीव जगत् मे बुद्धि की मदद ली जानी है। चूँकि सहजप्रवृत्ति और बुद्धि दोनो एक ही प्राणतत्त्व से निकले हैं, इसलिए दोनो मे कुछ समता भी पाई जाती है। अत, बुद्धि के चारो ओर उसके उपान्त मे सहजप्रवृत्ति का अश सरक्षित रहता है जो परिस्थिति-विशेष में सक्रिय होकर मिथ* (पौराणिक कथा) उत्पन्न करता है और यही साधारणतया सामान्य धर्म के लिए आवश्यक होता है।

एक ओर प्राणतत्त्व सहजप्रवृत्ति-प्रधान जीवो का एक समाज उत्पन्न करता है और दूसरी ओर फिर इससे भिन्न बुद्धिप्रधान जीवो का समाज। दोनो प्रकार के समाज सर्जनात्मक प्राणतत्त्व से ही उत्पन्न होते हैं और दोनो ही सर्जनात्मक प्रक्रिया के बहुमार्गी विकास मे दो विराम स्थल हैं। अत, प्राणतत्त्व के अनुसार इन दोनो प्रकार के समाज को बने रहना चाहिए। मूलप्रवृत्तियो से सचालित जीवो के समाज को जन्मजात अगो की समुचित कार्यवाही द्वारा सरक्षित रखा जाता है। इसका प्रमुख उदाहरण चोटी तथा मधुमक्खियो की टुकडियो मे देखा जाता है। मधुमक्खियाँ जन्मजात मूलप्रवृत्तियो और प्राकृतिक अंगो की

---

* 'मिथ' शब्द का परिशुद्ध पारिभाषिक शब्द नहीं मिल रहा है। मिथ से तात्पर्य होता है उस काल्पनिक सत्ता से जो अतिप्राकृतिक शक्तियों के आत्मसात् करने के बाद उत्पन्न होती है। चेतना-विकास के साथ मिथ का विकास प्रतीक में हो जाता है।

समुचित कार्यवाही द्वारा अपने छत्ते को संरक्षित रखती हैं। यद्यपि सहज-प्रवृत्तियों से संचालित मधुमक्खियों की टोली साधारणतया संरक्षित रहती है तो भी असाधारण परिस्थिति में मूलप्रवृत्तिमूलक जीव न अपनी सरक्षा कर सकते हैं और न अपनी टोली की। उनकी प्रक्रियाएँ अभियोजित परिस्थिति में ही उपयुक्त और उपयोगी होती हैं।

मूलप्रवृत्तिमूलक जीवों से भिन्न बुद्धि-प्रधान जीवों का समाज भिन्न रूप से संचालित और संरक्षित होता है। समाज को बनाए रखने के लिए यहाँ सहज-प्रवृत्तियाँ नही पाई जाती हैं। अग-प्रत्यंग की कार्यवाही भी यान्त्रिक नही होती है। परन्तु बुद्धि के द्वारा बनावटी साधन अथवा उपकरण परिस्थिति मे नित्य नूतन परिवर्त्तनों के प्रति अभियोजन-कार्य संपन्न किया जा सकता है। परन्तु यदि सहजप्रवृत्ति न हो, जिसके द्वारा समाज-सरक्षा की जाती है, तो क्या बुद्धि के द्वारा समाज की संरक्षा की जा सकती है? यहाँ बर्गसाँ का कहना है कि यदि कोरी बुद्धि को अपना कार्य संपन्न करने के लिए छोड दिया जाए तो बुद्धि समाज-संरक्षा के लक्ष्य को पूरा नही कर पाएगी। बुद्धि मे अपने स्वार्थ को छोडकर दूसरे के हित की बात उठती ही नही है। बुद्धि कभी भी अपने हित को छोडकर सर्वहिताय, सर्वसुखाय की बात कर ही नही सकती है। बर्गसाँ का कहना है कि यही कारण है कि मिल, बेन्थम से लेकर सिज्विक तक यह नही स्थिर कर पाए है कि प्रत्येक जीव क्यों सर्वहित तथा सर्वसुख की बात सोचे[1]। परन्तु समाज को उत्पन्न कर उसे सुरक्षित रखना प्राणतत्व का लक्ष्य है। इसलिए प्राणतत्व स्वार्थरत बुद्धि को समाज को छिन्न-भिन्न करने के लिए पूरी छूट नही दे सकता है। उसने बुद्धि के चारों ओर उसके उपान्त मे मूलप्रवृत्ति का अंश रख छोडा है। जब-जब बुद्धि स्वार्थ की बात रखकर समाज-विरोधी कार्य करने लगती है तब-तब उपान्त मे स्थित मूलप्रवृत्ति मिथ के रूप मे सक्रिय हो जाती है। समाज को स्थिर रखने के लिए ईश्वर की कल्पना (मिथ) उत्पन्न होकर बुद्धिप्रधान मानव को अनुप्रेरित करती है। वह सोचता है कि परहित एवं परोपकार करना ईश्वर की आज्ञा है। वह समाज मे परहित करे ताकि ईश्वर अप्रसन्न न हो। ईश्वर का मिथ उत्पन्न होकर बुद्धि से संचालित मानव को स्वार्थ मे निरत रहने का निषेध करता है[2] और इस प्रकार ईश्वर-सबंधी-

---

१. हेनरी बर्गसाँ, टू सोर्सेज़ आव मोरलिटी ऐंड रिलिजन, पृ० १७९।
२. वही पृ० १०३-१०७।

मिथ बुद्धि-प्रधान मानव को समाज-विरोधी कार्य करने से रोक देता है। इस बात पर हम ध्यान दें तो स्पष्ट होता है कि धर्म पौराणिक कथा (मिथ) है जो समाज की संरक्षा निमित्त उत्पन्न हुआ है ताकि इसके द्वारा बुद्धि समाज को विनष्ट न कर पाए। अतः, अति सामान्य रूप से बर्ग्सों ने कहा है कि धर्म बुद्धि की समाज-विध्वसकारी प्रक्रिया के विरुद्ध समाज-सरक्षा के निमित्त प्रतिरक्षात्मक क्रिया-विधि है। बर्ग्सों ने अपने इस निष्कर्ष को एक-दो मूल बातों की ओर निर्देश कर पुष्ट किया है[1]। बर्ग्सों का कहना है कि देवकथा (मिथ) कला, विज्ञान और साहित्य मे भी पाई जाती है, परन्तु इसका विशेष स्थान धर्म मे देखा जाता है[2]। मिथ को बर्ग्सों मानव की उचित और रचनात्मक प्रक्रिया मानते हैं।

बर्ग्सों के अनुसार धर्म का संबध समाज के सरक्षण से है और इसीलिए धर्म को सामाजिक व्यापार माना जाता है[3]। इसका कारण है कि मानव मे बुद्धि विशेष रूप से पाई जाती है और जब मानव अपनी अन्तिम स्थिति के संबंध मे सोचने लगता है तो उसे निश्चित हो जाता है कि जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु ध्रुव है।

आए हैं सो जाएँगे, राजा रक फकीर।
एक सिंहासन चढि चले, एक बधे जंजीर।।

जब व्यक्ति को अपनी मृत्यु ध्रुव मालूम देने लगती है तो बुद्धि का यही आदेश होता है . क्यो पसीना चुलाओ, क्यो समाज के लिए अपने सुख का त्याग करो ? आओ ! थोडे दिन के जीवन मे भोग किया जाए, ऋण कृत्वा घृत पीबेत्। परन्तु प्राणतत्व स्वार्थ-केन्द्रित बुद्धि के बहकावे मे पडे व्यक्तियो को समाज-विरोधी प्रक्रियाओ से रोकता है। यहाँ फिर एक देवकथा मानव के सामने चली आती है। उन्हे अमरता का मिथ भान होने लगता है जो व्यक्तियों को सामाजिक कार्य संपन्न करने के लिए उत्प्रेरित करता है। इस दृष्टि से बुद्धि के द्वारा मृत्यु की अनिवार्यता की शिक्षा के विरुद्ध धर्म को समाज-सरक्षण के लिए प्रतिरक्षात्मक क्रिया-विधि माना जा सकता है[4]।

---

१. टू सोर्सेज़—पृ० ९८-९९, १७४,१९९।
२ वही—पृ० ८९, १९५-१९६
३. बर्ग्सों का यह मत ह्वाईटहेड के मत से एकदम भिन्न है। परन्तु गतिशील धर्म में आन्तरिक परिवर्तन को भी स्थान दिया गया है।
४. टू सोर्सेज़—पृ० १०९।

फिर मानव की प्रक्रियाएँ वर्तमान तक ही सीमित नहीं रह पाती हैं। वह आज अपने खेत मे बीज बोता है और फसल की आशा भविष्य पर टिकी होती है। परन्तु भविष्य की गारंटी ? सूखा, बाढ़, कीड़े तथा अन्य रोग फसल को नष्ट करते रहते हैं। ठीक है, विज्ञान के आधार पर भविष्य का पूर्वकथन किया जा सकता है। तोभी विज्ञान और अनुभूति के फलस्वरूप हमें मालूम है कि भविष्य सदा अनिश्चित रहता है। बुद्धि जानती है कि इस अनिश्चितता को कम किया जा सकता है, परन्तु इसे दूर नहीं किया जा सकता है। यदि बुद्धि का यह निष्कर्ष मान लिया जाए तो कौन व्यक्ति भविष्य के लिए काम करेगा ? और यदि भविष्य के लिए काम न किया जाए तो व्यक्ति को अपनी और उसके समाज की स्थिरता कैसे प्राप्त होगी ? अतः, व्यक्ति और समाज को स्थिर रखने के लिए देवकथा उत्पन्न हो जाती है कि देवता को रिझाकर हम अपने भविष्य को स्थिर कर सकते है। देवता की पूजा करके व्यक्ति देवता को प्रसन्न कर सकता है और उससे वरदान प्राप्त कर भविष्य के कार्य की सफलता प्राप्त कर सकता है। अतः, बुद्धि द्वारा भविष्य की अनिश्चितता के विरुद्ध पूजा से प्रसन्न होने वाले देवता के मिथ के आधार पर समाज-सरक्षा के हेतु धर्म को प्राणतत्व की प्रतिरक्षात्मक क्रिया-विधि कहा जा सकता है*।

देवकथामूलक धर्म समाज-सगठन के संरक्षण के लिए होता है और इसे बुरा नही कहा जा सकता है। परन्तु बर्ग्सों के अनुसार इस प्रकार के धर्म को स्थैतिक कहा जा सकता है, क्योकि इसके द्वारा सामाजिक स्थिति को बनाए रखने का लक्ष्य सपादित होता है। बिना स्थैतिक धर्म के भावी प्रगति सभव नही होती है, परन्तु स्थैतिक धर्म को धर्म का चरम विकास नहीं कहा जा सकता है। देवकथामूलक स्थैतिक धर्म के साथ गतिशील धर्म को उच्चतर अवस्था मानना चाहिए। गतिशील धर्म का विषय संपूर्ण विश्व-समाज होता है। इसकी उत्पत्ति प्राणतत्व की सर्जन शक्ति की रचनात्मक प्रक्रिया से है और यह प्राणतत्व को आत्मसात् करता है। इसमे न जातीयता होती है और न कोई संकीर्ण वर्णविचार। समस्त मानव-समाज को विश्वबंधुत्व मे सूत्रबद्धकर विश्व के संपूर्ण सामग्रियो के आधार पर मानव-कल्याण को चरम लक्ष्य बनाया जाता है। गतिशील धर्म में विश्व-बन्धुत्व तथा अदम्य रचनात्मकता दोनों कैसे उत्पन्न होते हैं ? प्राणतत्व के साथ आत्मसात् कर रहस्यवादी इन दोनों को प्राप्त कर लेते हैं। चूँकि

* टू सोर्सेज—पृ० ११७, १७५।

प्राणतत्व स्वयं गतिशील और सर्जनात्मक शक्ति है, इसलिए रहस्यवादी प्राण-तत्व के साथ आत्मसात् कर स्वयं प्राणतत्व के समान सक्रिय और गतिशील हो जाते हैं। रहस्यवाद की बात थोड़ी देर के लिए स्थगित कर हम स्थैतिक और गतिशील धर्मों के भेद को स्पष्ट कर सकते हैं।

स्थैतिक धर्म	गतिशील धम
१. स्थैतिक धर्म धर्म की आदि अवस्था है, जिसका मुख्य उद्देश्य समाज की संरक्षा है। इसमे ईश्वर देवकथा मूलक होता है जो व्यक्तियों को सामाजिक प्रक्रियाओ मे प्रोत्साहित करता रहता है। चूंकि देवकथा प्रत्येक व्यक्ति से बाह्य होती है, इसलिए स्थैतिक धर्म मे व्यक्ति के बाह्य आचरण पर ही देवकथा से प्रभाव पडता है।	१. गतिशील धर्म धर्म-विकास का अंतिम परिणाम होता है और समाज के उन्नत होने पर ही गतिशील धर्म की संभावना बढ सकती है। गतिशील धर्म से व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है और स्वय व्यक्ति ही गतिशील धर्म के द्वारा बदल जाता है और व्यक्ति मे नवीन सर्जनात्मक शक्तियों का उन्मज्जन होता है। (वही-पृष्ठ १५१)।
२ स्थैतिक धर्म कुछ ही जातियों तथा सम्प्रदाय मे सीमित रहता है। परन्तु जो अन्य जातियां या सम्प्रदाय इस स्थैतिक धर्म से बाहर रहते हैं, उनसे सघर्ष की संभावना बराबर बनी रहती है। सभव है कि स्थैतिक धर्म मे भी ऊपर से देखने मे सर्वव्यापकता दिखाई दे। परन्तु यह प्रत्ययों की ही सर्वव्यापकता होती है, न कि व्यवहार और आचार की। उदाहरणार्थ, प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्ध मे अधिकतर जातियां ईसाई थी तोभी ये सब एक ही ईश्वर की दुहाई देकर आपस मे लड़ती हुई दिखाई दी। इनके बीच संकीर्णता, वैमनस्य रहा, न कि विश्व-बन्धुत्व।	२ गतिशील धर्म के द्वारा विश्व-बन्धुत्व का स्वप्न साकार होता है, क्योकि सर्वप्रथम प्रत्येक अनुयायी का आन्तरिक परिवर्तन हो जाता है और उसके अन्दर अन्य जातियों के प्रति वैरभाव का अभाव होता है। द्वितीय, गनिशील धर्म का ईईवर शुद्ध प्रेम होता है। अत, इस प्रकार के शुद्ध प्रेम के प्रति आस्था हो जाने से व्यक्तियों के बीच संघर्ष की संभावना दूर हो जाती है (वही-पृष्ठ १८३)।

स्थैतिक धर्म	गतिशील धर्म
३. स्थैतिक धर्म को अवबौद्धिक कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें देवकथा का हाथ रहता है। स्थैतिक धर्म के अन्तर्गत सर्वजीवात्मवाद, तंत्रवाद, बहुदेवत्ववाद इत्यादि आदिम धर्म गिने जा सकते हैं।	३. गतिशील धर्म को अतिबौद्धिक अथवा अतिप्राज्ञ कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें मानव को उर्ध्वगतिक अथवा प्रगतिशील कर दिया जाता है। इसमे रहस्यवादी प्राणतत्त्व से आत्मसात् कर सर्जनात्मक हो जाते हैं (पृ० १६९)। यहाँ वैचारिक प्रक्रिया मन्द पड़ जाती है और व्यक्ति की इच्छा ईश्वरीय इच्छा का रूप धारण करके रचनात्मक हो जाती है (पृ० १८८, १९५)। चूँकि यहाँ ईश्वर को प्राणतत्त्व माना जाता है जो रचनात्मक शुद्ध गति है, इसलिए ईश्वरीय इच्छा से संचालित रहस्यवादी स्वयं गति तथा सर्जनात्मक प्रेम बन जाता है (१९२)।

बर्गसों के अनुसार स्थैतिक और गतिशील धर्मों के बीच प्राकारिक अन्तर है, यद्यपि छिछले रूप मे इनके बीच केवल अंश का ही अन्तर दिखाई देता है। इस भ्रमपूर्ण दृष्टि का मुख्य कारण यह है कि इन दोनो प्रकार के धर्मों के बीच अन्तर्मिश्रण और अन्तर्व्याप्ति पाई जाती है। बीच-बीच मे रहस्यवादियों की सूझ के फलस्वरूप स्थैतिक धर्मों की संकीर्णता वैचारिक स्तर पर कम होती जाती है। परन्तु स्थैतिक धर्म मे विद्वेष, कलह और संघर्ष का स्थान रहता है, परन्तु इसके विपरीत गतिशील धर्मों मे करुणा, मैत्री तथा शुद्ध प्रेम का स्थान रहता है, जिसके कारण कलह का स्थान इसमें नही रहना चाहिए। फिर स्थैतिक धर्म मे जाति, सम्प्रदाय इत्यादि की संकीर्णता रह जाती है, परन्तु गतिशील धर्म में विश्व-बन्धुत्व का विषय रहता है। परन्तु इन दोनों में विशेष अन्तर यह है कि स्थैतिक धर्म में यान्त्रिक अनुबाध्यता पाई जाती है। सामूहिक प्रभाव मे आकर व्यक्ति को सामाजिक आचार से प्रभावित होना पड़ता है। परन्तु गतिशील धर्म मे रहस्यवादी के जीवन से उत्प्रेरित होकर विश्वबंधुत्व का आकर्षण रहता है। इसमें वैयक्तिक आकर्षण को आवश्यक माना जाता है, जो

आदर्श जीवन से प्राप्त होता है। यह आदर्श जीवन प्राणतत्त्व से आत्मसात् करने पर प्राप्त होता है और इसे बर्ग्सों रहस्यवाद कहते हैं।

रहस्यवाद वह है जिसमें व्यक्ति आंशिक रूप से* प्राणतत्त्व के साथ आत्मसात् करके उसी प्रकार गतिशील हो जाते हैं जिस प्रकार स्वयं प्राणतत्त्व गतिशील है। यहाँ धधकती आग में लोहे की उपमा बर्ग्सों ने काम में लायी है। जैसे लोहे को धधकती आग में रखने से लोहा भी आग बन जाता है, उसी प्रकार प्राणतत्त्व मे रहकर रहस्यवादी भी प्राणतत्त्व के समान रचनात्मक रीति से गतिशील हो जाता है। यह ठीक है कि रहस्यवादी अनुभव केवल कुछ ही क्षण तक रहता है, पर इसका स्थायी प्रभाव व्यक्ति पर पडता है। उसमे आनंद और उल्लास भर जाता है। वह अपनी मूक और अनिर्वचनीय अनुभूति के प्रति आत्मनिवेदित ही नही होता, वरन् उसका प्रेम छलककर अन्य व्यक्तियो को भी अपनी मादकता की लपेट मे ले आना चाहता है। यह रचनात्मक प्रेम ईश्वर के प्रति मानव प्रेम नही है, वरन् यह मानव के लिए ईश्वर का प्रेम है*। इस प्रकार का सर्वव्यापी सर्जनात्मक प्रेम स्थैतिक धर्मों में संभव नही हो सकता है।

रहस्यवादी जानता है कि वह सम्पूर्ण विश्व मे अपने सदेश के द्वारा विश्व-सौहार्द और विश्वबधुत्व को आसानी से साकार नहीं कर सकता है। साधारणतया मानव को भौतिक जगत् मे रहकर खाने-पीने, वस्त्र, आवास इत्यादि की समस्याओ के प्रति अभियोजन-कार्य करने मे ही उनका पूरा समय निकल जाता है। तब उनको अवकाश कहाँ मिलता है कि वे प्राणतत्त्व के साथ आत्मसात् कर अदम्य स्फूर्ति से लैस होकर विश्व-समाज के संबध मे विचारें और उसे साकार करें। ऐसी अवस्था मे बर्ग्सों ने बताया है कि दो विधियों की सहायता से विश्व-बधुत्व और विश्व-प्रेम की उत्प्रेरणा जारी रखी जा सकती है।

(क) सर्वप्रथम, जबतक व्यक्तियों को पर्याप्त अवकाश नही मिलेगा तबतक उन्हें साधना, समाधि तथा आध्यात्मिक चिन्तन का अवसर ही नही मिलेगा। इसलिए आवश्यक यह है कि सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को स्थिर

---

* पूर्ण तादात्म्य करने पर व्यक्तित्व का विलयन हो जाएगा, जिस प्रकार जल का बिन्दु नदी में विलीन हो जाता है। परन्तु बर्ग्सों के अनुसार व्यक्ति ही रचनात्मक कार्य करते हैं और इसलिए व्यक्तित्व संरक्षित रहना चाहिए। इसलिए बर्ग्सों व्यक्तित्व का प्राणतत्त्व के साथ आंशिक आत्मसात् को सही मानते हैं। फिर बर्ग्सों रहस्यवाद की स्थिति को क्षणिक मानते हैं। रहस्यवादी क्षण के बाद व्यक्ति में अन्तर अवश्य आ जाता है, पर उसका व्यक्तित्व संरक्षित रहता है।

(७) टू सोर्सेज पृ० १९९।

रखकर विशाल पैमाने पर औद्योगीकरण किया जाए ताकि अधिक-से-अधिक सामग्रियों का उत्पादन हो सके और व्यक्तियों को आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति मे कठिनाई का सामना न करना पड़े। तकनीकी, शिल्पकला तथा उद्योग का विकास बर्ग्सों दर्शन के अनुकूल है। पहले ही बताया है जा चुका कि बर्ग्सों के अनुसार भौतिक पदार्थ भी प्राणशक्ति ही है : केवल यह धारा उत्क्रमिक न होकर प्रतिक्रमिक दिखाई देती है। अतः, प्राणतत्त्व का यह भी उद्देश्य है कि जड पदार्थ में निहित प्रतिक्रमिक धारा को उसमे अन्तर्वेध कर उसे फिर से उत्क्रमिक बना दे। इसलिए जब तकनीकी, शिल्पकला तथा औद्योगीकरण के आधार पर जड मानव आत्मा के द्वारा नियंत्रित होकर मानव विकास मे हाथ बटाने लगेगा तो उसकी धारा प्रतिक्रमिक न होकर पुन. उत्क्रमिक हो जाएगी। अब यदि भौतिक पदार्थों का वैज्ञानिक रूप से औद्योगीकरण होगा, तब इतनी अधिक आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होने लगेगा कि मजदूर को २-३ घंटों से अधिक श्रम नही करना पड़ेगा। उत्पादन की इस अवस्था के आ जाने पर प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक चिंतन तथा आत्म-संवर्धन का इतना अवकाश मिलेगा कि वह अन्त मे प्राणतत्त्व से आत्मसात् करते हुए अपने को सर्जनात्मक प्रेम से अभिभूत करेगा और विश्व-बन्धुत्व संभव हो सकेगा।

यहाँ बर्ग्सों का मत है कि रहस्यवाद पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकार का होता है। अपूर्ण रहस्यवाद वह है जिसमे व्यक्ति प्राणतत्त्व से आत्मसात् कर आनन्द से आत्मविभोर हो जाता है, परन्तु वह समाज को सुधारने और विश्वक्रान्ति की बात नही करता है। बर्ग्सों के अनुसार भारतीय रहस्यवाद को अपूर्ण कहा जाएगा क्योंकि भारतीय रहस्यवादियों ने प्रकृति पर आधिपत्य जमाकर विश्व-क्रान्ति नही उत्पन्न की है। बर्ग्सों के अनुसार इसका मुख्य कारण यह था कि भारत मे विज्ञान, तकनीकी, शिल्पकला तथा औद्योगीकरण नहीं हुआ था और जब तक इनके माध्यम से उत्पादन न बढे, प्रकृति पर पूर्ण अधिपत्य नही जमाया जा सके तब तक अधिक से अधिक व्यक्तियों को आत्मविकास का अवसर नही मिलेगा। फिर जब तक बहुसंख्यक लोगों मे विश्वबंधुत्व को स्थापित करने की आग नहीं जलेगी, तब तक विश्वबधुत्व केवल स्वप्नमात्र रह जाएगा। परन्तु बर्ग्सों का विश्वास था कि भारत के औद्योगीकरण के बाद भारतीय रहस्यवाद, जो रामकृष्ण तथा विवेकानन्द में देखा गया है, विश्वबंधुत्व को स्थापित करने में सफल होगा*।

---

* टू सोर्सेज पृ० १८३।

अपूर्ण रहस्यवाद की तुलना मे पूर्ण रहस्यवाद वह है, जिसमें व्यक्ति मे अदम्य शक्ति का संचार होता है—जिसमे पर्वत को भी हटा देने की क्षमता मालूम देने लगती है। बर्ग्सों के अनुसार पूर्ण रहस्यवाद का उदाहरण सन्त पॉल, सन्त तेरेसा, सन्त फ्रांसिस, जोन आव आर्क इत्यादि ईसाई रहस्यवादियों मे देखा जाता है।

(ख) द्वितीय, विश्वबंधुत्व की क्रांति को जारी रखने का दूसरा उपाय यह है कि कुछ ही अधिकारी व्यक्तियों को चुनकर उनमें आध्यात्मिक क्रांति की भावना को कूट-कूटकर भर दिया जाए ताकि इस प्रकार के अनुप्राणित व्यक्ति एक संघ की स्थापना करके अपने विश्वबंधुत्व के सदेश को अधिक से अधिक लोगो तक पहुँचा दे, जिस प्रचार के फलस्वरूप सम्पूर्ण जगत् में विश्वबंधुत्व की आग फैल जाए[1]।

सब से महत्त्वपूर्ण बात यही है कि गतिशील धर्म की स्थापना और उसका विकास आदर्श उदाहरण के द्वारा ही सभव हो सकता है। केवल आदर्श व्यक्तियो की उत्प्रेरणा से ही मानव अन्त मे विश्वबंधुत्व के लिए अनुप्राणित किए जा सकते हैं। दूसरी बात यह है कि बर्ग्सों के अनुसार देवकथा अनावश्यक नही है। यह ठीक है कि गतिशील धर्म की जड रहस्यवाद में पाई जाती है। परन्तु इसे सजीव और साकार करने के लिए स्थैतिक धर्म की देवकथा के माध्यम को अपनाना पड़ता है। अतः, बर्ग्सों के अनुसार, दर्शन और गोष्ठी के लिए देवकथा आवश्यक होती है[2]। आगे चलकर जब प्रतीको की बात कही जाएगी तब हमे बर्ग्सों के देवकथा-सबधी विचार को भी याद रखना चाहिए।

आलोचना

बर्ग्सों का धर्म संबंधी विचार दार्शनिक एवं तत्त्वमीमांसात्मक समझा जाएगा और समकालीन धर्मचिन्तन मे तत्त्वमीमांसा को विशेष स्थान नही दिया जाता हैं। इस पुस्तक का दृष्टिकोण भी विश्लेषणात्मक है और बर्ग्सों की देन न तो वैज्ञानिक है और न विश्लेषणात्मक। परन्तु यदि बर्ग्सों के दार्शनिक चिंतन को दार्शनिक धरातल पर जाँचा जाए तो इसकी अपनी विशेषता स्पष्ट हो जाएगी।

१. धर्म के संबंध में दो पक्षो पर एकागी बल दिया जाता है। कोई इसके सामाजिक पक्ष पर और कोई वैयक्तिक पक्ष पर विशेष बल देते हैं। बर्ग्सों धर्म-

१ टू सोर्सेज—पृ० २०२।
२. टू सोर्सेज—पृ० २३१।

चिंतन के संदर्भ में दुर्खाइम और लेवी-ब्रूह्ल का उल्लेख करते हैं। इन दोनों ने सामाजिक पक्ष को धर्म का अधिक महत्त्वपूर्ण अंग माना है। परन्तु लेवी-ब्रूह्ल ने धर्म की सामाजिकता के साथ आदिम जातियों के रहस्यवाद पर भी बल दिया है। स्वयं बर्ग्सों रहस्यवादी थे और रहस्यवाद आत्मनिष्ठ अनुभूति है। अतः, बर्ग्सों धर्म के व्यक्तिनिष्ठ अथवा विषयीनिष्ठ पक्ष पर भी प्रकाश डालते हैं। इन दोनो पक्षों के बीच समन्वय करने के लिए उन्होने बताया है कि धर्म के दो प्रकार हैं स्थैतिक और गतिशील धर्म इन दोनो के बीच अन्तर्मिश्रण एवं अन्तर्व्याप्ति पाई जाती है। स्थैतिक धर्म मे सामाजिकता का पक्ष और गतिशील अथवा रहस्यवादी धर्म में आत्मनिष्ठा का अंग विशेष प्रबल मालूम देता है। अतः, धर्मों के दो प्रकारो की व्याख्या करके बर्ग्सों ने धर्म के सामाजिक तथा आत्मनिष्ठ दोनों अंगों पर प्रकाश डाला है और इसलिए इनकी धर्म की व्याख्या एकागी नही है।

२. फिर धर्म की जैविक एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने में कोई धर्म की व्याख्या भूत घटकों के आधार पर करता है (उदाहरणार्थ, फ्रायड) और कोई धर्म की व्याख्या आदर्शमूलक घटको के आधार पर करता है (उदाहरणार्थ, युंग)। इन दोनो पक्षो के बीच भी बर्ग्सों ने समन्वय करने का प्रयास किया है। बर्ग्सों के अनुसार आवद्ध नैतिकता तथा स्थैतिक धर्म मे यान्त्रिक अनुबद्धता विशेष रूप से दीखती है और गतिशील धर्म में उत्प्रेरण तथा सर्जनात्मक प्रक्रिया विशेष दीखती है। अतः, धर्म की व्याख्या मे भूत घटक के साथ उत्प्रेरक अश भी महत्त्वपूर्ण माने जाएंगे।

३. बर्ग्सों के अनुसार स्थैतिक धर्म मे देवकथा का विशेष स्थान देखने मे आता है और फिर गतिशील धर्म की उत्प्रेरणा भी स्थैतिक देवकथा मे परिशोधन लाकर काम करती है। इसलिए धर्म मे, असाक्षात् रूप से बर्ग्सों के लिए देवकथा धर्म का आवश्यक अंग मालूम देता है। देवकथामूलक सिद्धान्त बुल्तमान तथा पॉल तीलिख के विचारों मे विशेष स्थान रखता है और तीलिख-बुल्तमान की देनों को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अतः, बर्ग्सों का मत समकालीन धर्मदर्शन के लिए भी महत्त्वपूर्ण समझा जाएगा।

४. परन्तु बर्ग्सों ने स्पष्ट नहीं किया है कि वास्तव में ईश्वर है, या नहीं है। क्या ईश्वर भी देवकथा ही है? बर्ग्सों ईश्वर की अपेक्षा प्राणतत्त्व को ही विशेष मानते हैं। परन्तु वे अनेक स्थलों पर प्राणतत्त्व को ही 'ईश्वर' की संज्ञा

देते हैं। सर्जनात्मक प्रक्रिया के विषय में बर्ग्सों कहते हैं कि यदि यह ईश्वर नहीं है तो यह अवश्य ईश्वर से ही उत्पन्न होती है[1] और फिर रहस्यवादी के विषय में बर्ग्सों कहते हैं कि रहस्यवादी अपनी इच्छा को ईश्वर की रक्षामें परिणत कर देते हैं[2] और बर्ग्सों कहते हैं कि सम्पूर्ण विश्व का चरम उद्देश्य है कि अन्त में देवता अर्थात् मूल्य-स्रष्टा मानवों का उद्विकास हो। अन्त, में बर्ग्सों ने प्राणतत्त्व और ईश्वर को सर्जनात्मक 'प्रेम' की सज्ञा दी है[3]। बर्ग्सों के अनुसार यदि कोई ईश्वर के स्वरूप को वर्णित करना चाहता है तो वह बिना किसी सकोच के यह कह सकता है :

"ईश्वर प्रेम है और प्रेम का पात्र है··· ·

प्रेम ईश्वर के द्वारा उत्पन्न ही नही हुआ है, वरन् ईश्वर स्वयं प्रेम है[4]"

इन सब उक्तियों से स्पष्ट होता है कि बर्ग्सों अपने अन्तिम समय मे प्राण-तत्त्व को प्रेममय, व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर समझने लगे थे। यह ठीक है कि अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्रिएटिव इवोल्यूशन' मे निर्वैयक्तिक सर्जनात्मक प्राणतत्त्व को ही वे विशेष स्थान देते थे और उन्होंने कहा था कि ईश्वर सर्जनात्मक प्रक्रिया है जो अनवरत स्वच्छन्द रूप से परिवर्तनशील होती रहती है (पृ० २६२)। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त मे बर्ग्सों ने परिवर्तनशील सत्ता के स्थान पर ईश्वरवाद को अपनाया था। पर क्या हम प्रेमरूपी ईश्वर को रहस्यवाद के आधार पर जान सकते हैं ? क्या रहस्यवाद सज्ञानात्मक प्रक्रिया है या भाव-पूर्ण ? क्या धार्मिक अनुभूति असामान्य होने के कारण विश्वसनीय है या नही ? इन सब प्रश्नो का समाधान अगले प्रकरण (धार्मिक ज्ञान) मे किया जाएगा। परन्तु स्वयं बर्ग्सों ने बतलाया है कि स्थैतिक धर्म से बदलकर गतिशील धर्म के अपनाने मे तथा सर्जनात्मक प्राणतत्त्व के साथ आत्मसात् करने के बाद सर्जनात्मक बनने मे रहस्यवादी इतना बदल जाता है कि वह अन्य साधारण व्यक्तियों को असामान्य तथा मनस्तापी मालूम पडता है। क्या मनस्तापी व्यक्ति की अनुभूति इतनी विश्वसनीय मानी जा सकती है कि उसके आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारा जा सके ? इसका समाधान धार्मिक अनुभूति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के बाद ही निश्चित किया जा सकता है। चूँकि विलियम

१. टू सोर्सेज—पृ० १८६,१६५।
२. टू सोर्सेज—पृ० २०१, २०२, २७५।
३ टू सोर्सेज—पृ० १६८, २०१।
४. टू सोर्सेज—पृ० २१६।

जेम्स ने धार्मिक अनुभूति का प्रारंभिक एवं मौलिक अध्ययन किया हैं, इसलिए जेम्स द्वारा धर्म के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अब उल्लेख किया जायगा।

जेम्स द्वारा धर्म का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

विलियम जेम्स (सन् १८४२-१९१०) अमेरिका के प्रमुख मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक थे। आप प्रत्ययवाद के आलोचक थे और अपने धर्म को अर्थक्रियावादी[1], अनेकत्ववादी तथा वास्तववादी कहते थे। आपने धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही नही किया, वरन् उसका दार्शनिक अध्ययन भी किया है। आपकी पुस्तक 'वैराइटिज आव रिलिजस एक्स्पीरियन्स' अनेकों मनोवैज्ञानिकों तथा दार्शनिको का पथंदर्शक सिद्ध हुआ है और अपने क्षेत्र मे इस पुस्तक को युग-प्रवर्त्तक माना गया है। आप उदार प्रकृति के थे, परन्तु धर्म के प्रति आपके अन्दर श्रद्धा थी। अत, जेम्स को बर्गसों और युग के समकक्ष धर्म से सहानुभूति रखनेवाला समझा जाएगा। अनेक स्थलों पर जम्स के मत को युंग ने अपनाकर पुष्ट करना चाहा है। अत., युंग को जेम्स की परम्परा मे रखा जा सकता है। परन्तु फ्रायड अनीश्वरवादी थे और आपको धर्मविरोधी कहा गया है।

जेम्स जानते थे कि शुद्ध तर्क के आधार पर धर्म की स्थापना नही की जा सकती है और इसलिए उन्होने कहा है कि धार्मिक आस्था के पक्षसमर्थन मे उपदेश-प्रवचनों के ही द्वारा वे अपने को सतोष दे सके है[2]। परन्तु जिस धर्म की बात जेम्स ने की है, वह विश्व-धर्म के समान व्यापक है[3]। इसमे ईसाई धर्म, हिन्दुत्व, रहस्यवाद इत्यादि अनेक धर्मों के मूल निहित है। आप धार्मिक सापेक्षता के भी समर्थक थे[4]। इसका कारण है कि जेम्स वास्तववाद के साथ अनेकत्ववाद के भी प्रतिपोषक थे। यही कारण है कि इन्होने अनेक धर्मों, उनकी शाखाओं एव पथो को सही माना है। अत:, वे चाहते थे कि धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या की जाए और उनका धार्मिक व्याख्या से अभिप्राय था धर्म का मनोवैज्ञानिक अध्ययन।

---

१ अर्थक्रियावाद वह सिद्धान्त है, जिसके अनुसार किसी क्रिया की सफलता (अर्थ) ही उसकी सत्यता निर्धारित करती है। इसके लिए दूसरा शब्द है परिणामवाद (प्रेग्मैटिज्म)।

२ दि विल टू बिलीव ऐंड अदर एसेज्—पृ० १-२। (१८९६)।

३. राल्फ बर्टन पेरी, थॉट ऐंड कैरेक्टर आव विलियम जेम्स, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४८, पृ० २५७, २७०।

४. वैराइटिज—पृ० ३१५, ४८७; ए प्लुरलिस्टिक यूनिवर्स—पृ० ३१५-३१६, दि विल टू बिलीव—pp XII. XIII, ३०।

जेम्स के अनुसार धर्म का संबंध उच्चतर सत्ता के साथ होता है। इस सत्ता को असामान्य माना जाएगा और असामान्य, विलक्षण तथा असाधारण सत्ता के जानने के लिए भी मानव की असाधारण शक्तियों का उद्बोधन होना चाहिए। यही कारण है कि धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के लिए जेम्स ने धार्मिक अनुभूति के उग्र एव तीखे उदाहरणो को प्रस्तुत किया है ताकि धार्मिक लक्षणों को उनके विस्तारित (आवर्धित) रूप में स्पष्ट देखा जा सके। धार्मिक अनुभूति को स्वप्नों के समान जेम्स ने और आगे चलकर युंग ने भी असामान्य माना है, पर इसे चित्तरोग अथवा मनस्ताप नही स्वीकार किया है। असामान्यता के बिना, जेम्स के अनुसार उच्चतर सत्ता के प्रति अनुक्रियाशील होना कठिन है[1]। अत:, असामान्यता उच्चतर सत्ता को जानने की क्षमता को बढ़ाना है। युंग के समान जेम्स ने (युंग के पूर्व) कहा है कि जिस सत्ता के द्वारा व्यक्तियो में सघटन, पुनरुज्जीवन, समाकलन इत्यादि प्राप्त हो, क्या उसे कपोलकल्पना माना जाएगा? अत:, परिणामवाद की शरण लेकर जेम्स धर्म को मानव जीवन की बहुमूल्य निधि मानते हैं[2] और धार्मिक अनुभूति को भी स्वस्थ स्वीकार करते हैं। धर्म की अनुप्रेरणा से मानव की अपनी मलिनता दूर होती है, जीवन-सघर्ष मे साहस का सचार होता है, जीवन मे सार्थकता आ जाती है और जीवन मे आनद आने लगता है[3]। अत:, जेम्स धर्म को न तो अफीम की गोली समझते (मार्क्स)और न इसे मनस्ताप (फ्रायड) समझते है। पर यह धार्मिक अनुभूति है क्या और इसके सामान्य स्वरूप को कैसे निर्धारित किया जा सकता है?

जेम्स के अनुसार यदि अनेक और विविध धर्मों का विश्लेषण किया जाए तो उनमे ये दो निम्नलिखित अश देखने मे आएँगे[4]।

१. सर्वप्रथम, प्रत्येक मुमुक्षु और जिज्ञासु मे बेचैनी अथवा ईश्वरीय व्याकुलता मालूम देती है और आचारवान को मालूम देता है कि मानो उसने कोई नैतिक बुराई की है। समसामयिक अस्तित्ववादी भाषा मे कहा जाएगा कि मुमुक्षु को जीवन की निस्सारता तथा अर्थहीनता का भान होने लगता है (युंग, पॉल तीलिख)।

१. वैराइटिज—पृ० ५१६, ५१७; ए प्लुरलिस्टिक यूनिवर्स पृ० ३०७-३०८।

२. आर. बी. पेरी, थॉट ऐंड कैरेक्टर—पृ० २५७, दि विल टु बिलीव—पृ० XIII।

३. वैराइटिज—पृ० ५०५।

४. वैराइटिज—पृ० ५०८।

२. परन्तु फिर मुमुक्षु के जीवन में दूसरी घड़ी आती है जिसमें उच्चतर सत्ता के साथ संबंध जोड़ लेने के फलस्वरूप उसकी बेचैनी दूर हो जाती है और प्रोन्नत मानव में यह मुक्ति-भाव रहस्यवाद के रूप में अभिरंजित हो जाता है।

अतः, जेम्स महोदय के लिए धर्मों मे बेचैनी और त्राण, ये दोनों भावप्रधान मानसिक स्थितियाँ हैं और इसलिए जेम्स के अनुसार धर्म को भाव-प्रधान मानना चाहिए और भ व को ही धर्म का मूल स्रोत समझना चाहिए। भाव की तुलना में दर्शन तथा ईश्वर-विज्ञान को अप्राथमिक तथा गौण स्वीकार करना चाहिए[1]। परन्तु भाव को आत्मनिष्ठ माना ज ता है तो क्या धर्म मानव की केवल आत्मनिष्ठ मानसिक स्थिति है, जिसका संबंध किसी बाह्य सत्ता से नही है ? जेम्स के अनुसार धर्म को स्वप्न के समान आत्मनिष्ठ नहीं मानना चाहिए, क्योंकि शायद ही कोई ऐसा धार्मिक व्यक्ति होगा जो अपनी अनुभूति को आत्मनिष्ठ काल्पनिक रचना मानता है। प्रायः सभी धार्मिक व्यक्तियों को ऐसा भान होता है कि एक ऐसी अदृष्ट सत्ता है, जिसमे इस सपूर्ण विश्व का रहस्य छिपा हुआ है। अतः, जेम्स के अनुसार प्रत्येक मुक्तिप्राप्त व्यक्ति को आभासित होता है कि एक परम सत्ता है जो विश्व और उसके समसीमातिक है[2] और जिस सत्ता के साथ वह अपना संबंध स्थापित कर उर्द्धमुखी हो सकता है[3]। पर इसका क्या प्रमाण है कि वास्तव मे कोई उच्चतर सत्ता है जो विश्व और मानव के एक छोर मे समकक्ष दीखता है ? जबतक धार्मिक अनुभूति, जिसे रहस्यवाद कहा गया है, स्पष्ट न की जाए तबतक उच्चतर सत्ता के सबंध मे उसके अस्तित्व को स्पष्ट करना कठिन होगा। परन्तु चू कि 'रहस्यवाद' ऐसा पद है कि इसे अनेक अर्थों मे काम मे लाया गया है। इसलिए रहस्यवाद के अर्थनिरूपण के हेतु जेम्स ने इसके अन्तर्गत निम्नलिखित चार लक्षणो का उल्लेख किया है।

१. अकथनीयता अर्थात् गूंगे के समान गुड़ का आस्वादन किया जा सकता है, पर इस अनुभूति को व्यक्त नही किया जा सकता है[4]। तो क्या

---

१. वैराइटिज—पृ० ४३१, ४५५, ५०१, ५८४; दि विल टू बिलीव…पृ० ११६; थॉट ऐंड कैरेक्टर—पृ० २५३, २५५।

२. समसीमांतिक कहने से अर्थ है कि ईश्वर का एक छोर विश्व और व्यक्ति से स्पर्श रखता है और ईश्वर का दूसरा छोर ओझल और अदृश्य है।

३. वैराइटिज—५९८ और इसी बात को जेम्स ने फिर प्लुरलिस्टिक यूनिवर्स के पृ० ३०७ में दुहराया है।

४. वैराइटिज—पृ ३८०।

इस मूक अनुभूति को आत्मनिष्ठ भाव समझकर आत्मकथात्मक नहीं माना जा सकता है ? नहीं, रहस्यवाद की बौद्धिकता और रहस्यवादी की निश्चेष्टता बताती है कि उच्चतर सत्ता अनुभूति से परे और अतीत होकर आत्मनिष्ठ मन:स्थितिमात्र नहीं है ।

२. बौद्धिकता. अर्थात् जेम्स के अनुसार रहस्यवाद नोएटिक है, अर्थात् इसमे अन्य भाव से भिन्न संज्ञानात्मकता है, जिसके कारण उच्चतर सत्ता के सबध में ससूचना मिलती है । तोभी यह संसूचना अकथनीय कही जाएगी, क्योकि इसके द्वारा तर्कमूलक ज्ञान से परे सत्यता की गहराई की झलक मिलती है[1] । इस बात को विट्गिन्स्टाइन नही स्वीकार करेंगे, क्योकि विट्गिन्स्टाइन के अनुसार जो मूक अनुभूति तर्क और वचन से परे है, वह ज्ञान का भी विषय नही हो सकती है ।

३. रहस्यवाद की अकथनीयता तथा बौद्धिकता के साथ जेम्स ने रहस्यवाद के दो अन्य लक्षणों का भी उल्लेख किया है, अर्थात् उसकी क्षणभगुरता और निष्क्रियता । बर्ग्सों से लेकर प्राय: सभी दार्शनिकों ने माना है कि उच्चतर सत्ता का साक्षात्कार क्षणभगुर हुआ करता है ।

४. रहस्यवादी की निष्क्रियता के सबध मे जेम्स का कहना है कि रहस्यवादी प्राय: निश्चेष्ट रहता है और उसे ऐसा मालूम देता है कि उसे किसी अन्य सत्ता ने अपनी पकड़ मे ग्रसित कर लिया है[2] । इस निष्क्रियता के आधार पर जेम्स बोध कराना चाहते है कि उच्चतर सत्ता मानव से परे और स्वतत्र उसी प्रकार की सत्ता है जिस प्रकार बाह्य जगत् की सत्ता मानी जाती है । अत., उच्चतर सत्ता की अपनी बाध्यता है, जिससे विवश होकर रहस्यवादी को उच्चतर सत्ता की वास्तविकता मे विश्वास करना पड़ता है ।

जेम्स जानते थे कि रहस्यवाद को कितना ही बौद्धिक तथा रहस्यवादी की निश्चेष्ट प्रक्रिया क्यो न कहा जाए, इसके द्वारा उच्चतर सत्ता को स्वतंत्र अस्तित्व नही माना जाएगा । प्राय: अनेक प्रकार की भ्रान्तियो मे भी भूत-प्रेत तथा अन्य पात्र सजीव और मानव से परे स्वतत्र जीव मालूम देते है, पर उन्हे विक्षिप्त मानस की उपज ही कहा जाता है । इसी प्रकार रहस्यानुभूति को भी प्राय: दार्शनिक आत्मनिष्ठ अथवा विषयीगत समझते आए है । परन्तु जेम्स का

१ वही—पृ० ३८० ।
२ वेराइटिज—पृ० ३८१

कहना है कि रहस्यानुभूति से रहस्यवादी के जीवन में इतना बल चला आता है, इतनी शांति चली आती है और उसकी व्यक्तिनिष्ठ समस्याएँ ऐसी उन्मूलित हो जाती हैं कि उसके लिए उसकी अनुभूति स्वतः प्रमाणित मालूम देती है। रहस्यवादी को उसका जीवन इतना साथक मालूम देने लगता है कि उसे इसकी सुधि ही नही होती कि यह रहस्यानुभूति कहाँ से कैसे और क्यो हुई[1]। जेम्स रहस्यानुभूति को सही मानते हैं, परन्तु इसे वे सीमित भी मानते हैं। रहस्यानुभूति के संबध मे उन्होने तीन निष्कर्षों को स्थापित किया है[2] :

१ जिसे रहस्यानुभूति होती है, उसके लिए इस रहस्यानुभूति को प्रामाणिक मानना चाहिए।

२. परन्तु जिन व्यक्तियों को रहस्यानुभूति नही प्राप्त होती है, उनके लिए रहस्यानुभूति को स्वीकृत करने में किसी प्रकार की बाध्यता नही हो सकती है, अर्थात् अ-रहस्यवादियो के लिए रहस्यानुभूति को कोई मान्यता देने की आवश्यकता नही है।

३. परन्तु न तो अरहस्यवादियों को यह घोषित करने का अधिकार है कि रहस्यानुभूति सब के लिए अमान्य है और न उन्हे इसका अधिकार है कि वे सवेदन को ही एकमात्र ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग समझे। अ-रहस्यवादियो को स्वीकार करना चाहिए कि संवेदो के अतिरिक्त अन्य आध्यात्मिक विषय भी हैं, जिन्हे रहस्यानुभूति के द्वारा जाना जा सकता है। जेम्स के लिए उस अनुभूति को, जिससे मानव के जीवन में सार्थकता उत्पन्न हो, उचित और न्यायसंगत मानना चाहिए। परन्तु रहस्यवादी की न्यायसंगति केवल परिणामवादी है। इसलिए जेम्स को रहस्यवाद को उचित तथा न्यायसगत सिद्ध करने के लिए अन्य कसौटी को भी स्थापित करना पडा।

जेम्स मनोवैज्ञानिक थे और उन्होने प्रतिवर्त-क्रिया को, रहस्यवाद के संदर्भ मे कुंजीपद माना है। प्रत्येक प्रतिवर्त-प्रक्रिया में तीन अंग देखने मे आते हैं, अर्थात् (क) उद्दीपन (ख) तन्त्रिकीय केन्द्र, जिसमे प्रायः उद्दीप्त तंत्रिका आवेग उच्चतर तंत्रिकीय केन्द्रों के द्वारा बढाया-घटाया जाता है, और (ग) अन्त में गति उत्पन्न होती है। इन तीन अगों के अनुरूप रहस्यानुभूति में भी तीन कसौटियों को रहना चाहिए, अर्थात् स्वतःसिद्धि, दार्शनिक तर्कसंगति और नैतिक

१. दि विल टु बिलीव—पृ० १३६
२. वैराइटिज—पृ० ४२२-४२३

उपयोगिता[1]। पहले ही कहा जा चुका है कि जेम्स के अनुसार रहस्यवादी के लिए रहस्यानुभूति को स्वयं प्रकाशित माना जा सकता है। पर क्या दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर भी रहस्यानुभूति को उचित समझा जा सकता है? इसे दार्शनिक रूप से उचित समझाने के लिए, जेम्स के अनुसार, इसे विज्ञान और अन्य ज्ञानराशियों से भी मेल खाना चाहिए। जेम्स के लिए धार्मिक अनुभूति को वैज्ञानिक रूप से उचित मानने के लिए इसे मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के अनुरूप होना चाहिए और फिर मानव की समस्त अनुभूतियो से, विशेषकर भाव से, मेल खाना चाहिए। अन्त मे. जेम्स सुधारवादी थे और इसलिए रहस्यानुभूति को उचित समझने के लिए इस अनुभूति के द्वारा जीवन मे सुधार लाने के लिए, इसकी बुराइयों को दूर करने के लिए उत्प्रेरणा प्राप्त होनी चाहिए। इन तीनो कसौटियो को ध्यान मे रखकर रहस्यानुभूति को वैज्ञानिक रूप से उचित समझने के लिए इसका सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए।

जेम्स के अनुसार, रहस्यानुभूति को आत्मनिष्ठ नहीं मानना चाहिए, क्योकि रहस्यवादी को मालूम देता है कि यह अनुभूति किसी बाह्य-निष्ठ उच्चतर सत्ता से प्राप्त होती है। परन्तु इस प्रकार की रहस्यानुभूति व्यक्ति के अवचेतन के द्वारा प्राप्त होती है। जेम्स के द्वारा बाह्य जगत् को जानने के लिए जिस प्रकार चेतन मन की आवश्यकता होती है, ठीक इसी प्रकार अदृष्ट उच्चतर सत्ता को जानने के लिए केवल अवचेतन की ही मदद ली जाती है[2]। इसलिए जेम्स का कहना है कि मानव से परे उच्चतर सत्ता का जो भी स्वरूप हो, कम-से-कम मानव स्तर पर इस सत्ता का संबंध मानव के अवचेनन के साथ अवश्य है[3]। चूँकि अवचेतन[4] पर चेतन का कोई नियंत्रण नहीं होना, इसलिए रहस्यवादी को ऐसा मालूम देता है कि उसे रहस्यानुभूति बाह्य सत्ता से उत्पन्न हो रही है और उसे अपनी निश्चेष्टता मालूम पड़ती है। फिर चूँकि चेतन की तुलना मे अवचेतन का क्षेत्र अधिक व्यापक कहा जाता है, इसलिए रहस्यवादी को ऐसा बोध होता है मानो उसे रहस्यानुभूति किसी

---

१ वैराइटिज़—पृ० १८
२ वैराइटिज—पृ० २४२, २४३
३. वैराइटिज़— पृ० ५१२
४. जेम्स अवचेतन और अचेतन के बीच भेद नहीं करते हैं। इसलिए इसके लिए ये दोनों एक ही हैं।

उच्चतर सत्ता से प्राप्त हो रही है। फिर इसमें संदेह नहीं कि अनेक प्रातिभ रचनाएँ इसी अवचेतन से व्यक्तियों को प्राप्त होती हैं। इसलिए जेम्स का कहना है कि रहस्यवादी शब्दशः मानता है कि उसकी रहस्यानुभूति उच्चतर बाह्य सत्ता द्वारा उत्पन्न होती है[1]।

चूँकि जेम्स मानते हैं कि उच्चतर सत्ता, जिसका बोधन रहस्यानुभूति मे होता है मानव के अचेतन के साथ एकसीम (सलग्न) और अविच्छिन्न है, इसलिए जेम्स को यह भी मानना चाहिए कि उच्चतर सत्ता मानसिक या आध्यात्मिक है। जेम्स इस बात को स्वीकार करते हैं, परन्तु वे इसके अतिरिक्त इस उच्चतर सत्ता के स्वरूप के संबंध मे कहते हैं कि बस इतना ही भर कहा जा सकता है कि मानव मे परे उच्चतर आध्यात्मिक सत्ता है[2]। पर इससे अधिक कुछ कहना जेम्स के लिए अतिविश्वास (ओवर-बिलीफ कहा जाएगा। परन्तु जेम्स का कहना है कि मानव इतने से ही संतोष नही करता है कि कोई उच्चतर सत्ता है जिससे सबंध स्थापित कर व्यक्ति स्थिरता को प्राप्त करता है: वह ईश्वर के संबंध में बिना अन्य बौद्धिक प्रत्यय स्थापित किए उस उच्चतर सत्ता के साथ संबध नही स्थापित कर पाता है, इसलिए जेम्स के अनुसार उच्चतर सत्ता के संबंध मे बिना ओवर-बिलीफ (अति विश्वास) स्थापित किए मानव उसके साथ सयुक्ति नही प्राप्त कर सकता है[3]। इसलिए जेम्स ने धार्मिक अनुभूति के लिए अतिविश्वास को एकदम अनिवार्य माना है। जेम्स उच्चतर सत्ता को इसलिए वास्तविक मानते है कि इसके द्वारा मानव मे पुनरुज्जीवन प्राप्त होता है। चूंकि मानव को यथार्थ माना जाएगा, इसलिए वह सत्ता, जो अन्य यथार्थ जीवों पर यथार्थ प्रभाव डालती है, अवश्य वास्तविक मानी जाएगी[4]। यही तर्क आगे चलकर युंग ने भी आध्यात्मिक सत्ता के विषय प्रस्तुत किया है।

---

१. वैराइटिज्—पृ० ५१२, ५१३। जेम्स की देन को युंग ने भी स्वीकार किया है और बताया है कि अचेतन ही धार्मिक अनुभूति का स्थान है।

२. दि विल टु बिलीव—पृ० ४३-४४, १३१।

३. वैराइटिज—पृ० ५१४-५१५। जेम्स का यह मत पॉल तीलिख से बहुत मिलता है। पॉल तीलिख के अनुसार धार्मिक परम सत्ता निष्प्राधिक अतीत है, जिसके संबंध में बिना किसी प्रतीक की मदद के कुछ कहा नहीं जा सकता है। जेम्स की भाषा में निष्प्राधिक अतीत को उच्चतर सत्ता और प्रतीक को अतिविश्वास कहा गया है।

४. वैराइटिज्—पृ० ५१६-५१७।

जेम्स का कहना है कि धार्मिक लक्ष्य के लिए आवश्यक है कि जीवनोद्धार हो और व्यक्ति के अन्दर आध्यात्मिक उत्प्रेरणा प्राप्त हो, परन्तु बिना उच्चतर सत्ता के संबंध मे अतिविश्वास के पुनरुज्जीवन प्राप्त करना कठिन है। इसलिए जेम्स का कहना है कि ईसाइयों के लिए उच्चतर सत्ता को व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर मानना आवश्यक और उपयोगी अतिविश्वास है। परन्तु जेम्स बराबर मानते आए हैं कि अन्य धर्मपरम्पराओ की भी अवहेलना नही करनी चाहिए। फिर व्यक्ति अनेक वर्गों मे बँटे रहते हैं, इसलिए सभी व्यक्तियों के लिए किसी भी धर्म को सर्वव्यापक नही मानना चाहिए[1]। अत, ईसाइयो का ईश्वर-सबधी धर्म अनेक धर्मों में से एक है, परन्तु यह उनके लिए जीवन की अनुपम निधि है। पर क्या इस व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर को निरपेक्ष मानना चाहिए? प्रारंभ मे ही कहा जा चुका है कि जेम्स निरपेक्ष प्रत्ययवाद के विरोधी थे और इसलिए जेम्स के लिए ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण महान सत्ता है, पर उनका कहना है कि ईश्वर शक्ति या ज्ञान मे या दोनो में सीमित है[2]। परन्तु यदि हम ईश्वर को सीमित नही मानकर उसे निरपेक्ष मानें तो ईश्वर ही सभी बुराइयों के लिए उत्तरदायी माना जाएगा। फिर ईश्वर की उपास्यता कम हो जाएगी। दूसरी बात है कि यदि ईश्वर को अपरिमित मान लिया जाए तो व्यक्ति हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाएगा और किसी सुधार के कार्य मे हाथ नही बटाएगा। निरपेक्षवादी के अनुसार सभी प्रक्रियाएँ ईश्वर से ही संचालित होनी हैं, इसलिए ईश्वर ही समय के पूरा हो जाने पर सभी अशुभ को दूर कर देगा। अत:, निरपेक्षतावाद से अकर्मणयता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए नैतिक उपयोगिता की तीसरी कसौटी को ध्यान मे रखकर सुधारवाद को सही मानना चाहिए। इस सुधारवाद के अनुसार स्वीकार करना चाहिए कि इस विश्व मे अशुभ है। चूँकि ईश्वर स्वयं शुभ है, परन्तु चूँकि उसकी शक्ति सीमित है इसलिए वह चाहता है कि अशुभ दूर हो जाए, परन्तु सीमित होने के कारण अशुभ को दूर नही करसकता है। ऐसी दशा में यदि मानव ईश्वर से सयुक्ति स्थापित कर अशुभ को दूर करने में अनुप्रेरणा प्राप्त करे तो वह वास्तव मे अपनी दुर्बल भुजाओं के द्वारा अशुभ के हटाने में ईश्वर का सहयोगी सिद्ध होगा[3]।

---

१. वैराइटिज़—पृ० ७५, १३५, ३३३, ४८७।

२. ए प्लूरलिस्टिक यूनिवर्स—पृ० ३११

३. वैराइटिज़—पृ० ५१९, फिर देखें ए प्लूरलिस्टिक यूनिवर्स—१११, १२४, २९४-२९५।

जेम्स ने स्वीकार किया है कि धर्म को भावप्रधान मानना चाहिए और भाव को आत्मनिष्ठ प्रक्रिया कहा जाता है तो इसके आधार पर किस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है ? इस स्थल पर जेम्स का संकल्पात्मक विश्वास (विल टू बिलीव) का सिद्धान्त उल्लेखनीय है। जेम्स का कहना है कि बिना मानव की आत्मनिष्ठ अभिरुचि के कोई भी संज्ञान संभव नहीं है। केवल संवेदनों की प्राप्ति से ज्ञान संभव नही हो सकता है। सामान्य रूप मे विज्ञान को इसीलिए संस्थापित किया गया है कि इसके आधार पर घटनाओं का पूर्वकथन और नियंत्रण किया जा सके और यह पूर्वकथन तथा घटनाओं का नियंत्रण मानव का अपना लक्ष्य है[1]। इसी प्रकार लाघव-न्याय तथा आत्मसगति सिद्धान्त विज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण होता है, पर ये भी सिद्धान्त मानसिक श्रम को कम करने के लिए ही किया जाता है। क्या इन सिद्धान्तों मे मानव की भाव-अभिव्यक्ति नही छिपी है ? फिर विज्ञान में घटनाओ को व्यवस्थित किया जाता है और मिथ्या सिद्धान्तो को छोड़ा जाता है, क्या ये सब मानव के कल्याण हेतु नही प्राप्त किया जाता है[2] ? अब यदि विज्ञान और दर्शन की स्थापना के लिए मानव अभिरुचि को नही त्यागा जा सकता है तो धर्म के सबंध में कैसे इसकी अवहेलना की जा सकती है ?

परन्तु यहाँ एक आपत्ति की जा सकती है। यहाँ हमे कहा जा सकता है, 'धैर्य रखो ! जब कुछ अधिक तथ्यो का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाए तभी हम अदृष्ट परम सत्ता के सबंध मे कोई उचित प्राक्कल्पना रचेंगे'। जेम्स का कहना है कि ठहरने और धैर्य धारण करने मे संवेग का उतना ही हाथ है जितना उन्नतर सत्ता में विश्वास रखने में हमारी अभिरुचि का हाथ है। जेम्स के अनुसार सदेहवाद तथा अज्ञेयवाद मे उतना ही सवेग छिपा है जितना ईश्वर के प्रति श्रद्धा मे। संदेहवाद तथा अज्ञेयवाद मे भी तर्क के साथ भावपूर्णता पाई जाती है[3]। अतः, ईश्वर के प्रति आस्था तथा अनास्था, दोनों ही दशाओ मे दो विकल्प हैं और दोनो ही स्थितियों में भाव-संवेग समानरूप से देखने में आता है। ऐसी दशा में ईश्वर के प्रति आस्था के पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

---

१. दि विल टू बिलीव—पृ० ११७, ११८।
२. दि विल टू बिलीव—पृ० २२
३. दि विल टू बिलीव—पृ० २७

ईश्वर का हम मानें या न मानें, ये दो विकल्प हमारे सामने हैं। हमें इनके अपनाने या छोड़ने के पूर्व विकल्प के स्वरूप को भी निर्धारित कर लेना चाहिए। विकल्प या तो जीवित होते या मृत, बाध्य होते या परिहार्य, महत्त्व-पूर्ण होते या तुच्छ। जीवित विकल्प वह है, जिसके संबंध मे हमे कुछ-न-कुछ निर्णय लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि सबेरे नीद लगी हुई है तो अलार्म के बजने पर सोए रहें या जागें, यह विकल्प जीवित कहा जाएगा। मुँह-हाथ धो लेने के बाद सोए रहने के विकल्प को मृत माना जाएगा। छुरा दिखाने पर पैसे डाकू को दे देने का विकल्प बाध्य कहा जाएगा। इसके विपरीत विधवा-आश्रम मे चंदा देने के विकल्प को परिहार्य कहा जाएगा। अब नौकरी करें या शोध कार्य करें। इन विकल्पों को जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। परन्तु सिनेमा जाएँ या नही, इसे तुच्छ विकल्प कहा जाएगा। जीवित, बाध्य तथा महत्त्वपूर्ण विकल्प को सच्चा कहा जाएगा, क्योकि ऐसे विकल्प के सबंध मे हमे किसी-न-किसी पक्ष को अपनाना ही पडेगा। परन्तु यदि सच्चे विकल्प को हम अपनायें या उसे छोड़ें, अन्त मे हमे इन दोनो ही दशाओ मे भाव की सहायता लेनी ही पडेगी। ऐसे सच्चे विकल्प को जिसे ज्ञान और तर्क किसी प्रकार निर्णीत नही कर सकते है, अपनाने के लिए, जेम्स के अनुसार मानव को पूर्ण स्वतत्रता है[1]। जब ऐसा कोई सच्चा विकल्प चला आता है जिसके सबध मे बौद्धिक आधार पर कुछ भी निश्चित नही किया जा सकता है, तो ऐसी स्थिति मे, जेम्स के अनुसार, हमारी भावपूर्ण प्रकृति को पूर्ण अधिकार है कि वह उस विकल्प के संबध मे कोई-न-कोई निर्णय ले ले। जेम्स के अनुसार ऐसी दशा मे विकल्प को अपनाने तथा छोडने में एक खतरा बराबर छिपा रहता है। दोनों ही दशाओं में सत्यता को खो देने का समान भय बना रहता है[3]। परन्तु जेम्स के अनुसार, अकर्मण्यता की अपेक्षा साहसी कदम उठाना कही अधिक श्रेयस्कर है। शायद ही कोई विज्ञान का ऐसा नियम है या ऐसा तथ्य है, जिसे आन्तरिक उत्प्रेरणा के फलस्वरूप नहीं स्थापित किया गया है[3]। इसलिए जेम्स की उक्ति है कि अपनेजीवन को क्षण प्रति क्षण बिना जोखिम मे डाले हम किसी भी नयी खोज को नही स्थापित कर सकते हैं। इसी प्रकार अदृष्ट उच्चतर सत्ता में

१ दि विल—पृ० २८

२. दि विल—पृ० ११

३. दि विल—पृ० ५५

आस्था रखकर ही उसके प्रति हम अनुक्रियाशील हो सकते हैं और अपनी अनुक्रियाशीलता के फलस्वरूप ही उसके अस्तित्व का प्रमाणीकरण कर सकते हैं[1]।

अतः, जेम्स के अनुसार, ईश्वर मे विश्वास रखना सम्पूर्णतया युक्तिसंगत समझा जाएगा। हमें वास्तव मे उसी को युक्तिपूर्ण मानना चाहिए जिसका हमारे पूर्ण व्यक्तित्व से मेल खा जाय। अतः, वह विश्वास जिससे हमारे सम्पूर्ण भावपूर्ण व्यक्तित्व का मेल खा जाय अवश्य ही युक्तिपूर्ण समझा जायगा। इसलिए ईश्वरवाद को न्यायसंगत माना जाएगा। जेम्स के अनुसार ईश्वर से न्यूनतर किसी अन्य सत्ता को ग्रहण करना युक्तिपूर्ण नहीं कहा जायगा और अनीश्वरवाद को स्वीकार करना असंभव माना जाएगा[2]। भौतिकवाद तथा अज्ञेयवाद को जेम्स अवेश्वरवाद[3] मानते थे; क्योंकि इन वादों में ईश्वर की तुलना मे भौतिक तथा अज्ञेय सत्ताओं को न्यूनतर माना जाएगा। स्पष्ट तो नहीं किया है, परन्तु संभवतः अतीश्वरवाद से जेम्स निरपेक्ष प्रत्ययवाद की ओर निर्देश करते हैं; क्योंकि प्रत्ययवाद के अनुसार ईश्वर से परे निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार किया जाता है।

जेम्स के अनुसार, ईश्वर एक व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता है जो मानव से अतीत और स्वतंत्र है। इसलिए परम सत्ता मे विलयन की बात करना भ्रान्तिपूर्ण है। फिर निरपेक्ष प्रत्ययवाद के विरोध मे जेम्स का कहना है कि मानव के लिए ईश्वर की सत्ता भाव तथा व्यवहार की दृष्टि से वास्तविक मानी जाती है। परन्तु हमे मानना पड़ेगा कि धर्म की दृष्टि के अनुसार ईश्वर और मानव दो स्वतंत्र सत्ताएँ हैं, न कि एक। अतः, जेम्स प्रत्ययवाद के एकत्ववाद को नहीं स्वीकार करते हैं। एकत्ववाद के विरुद्ध जेम्स की निम्नलिखित युक्तियाँ हैं।

यदि ईश्वर अपरिमित तथा सर्वशक्तिमान सत्ता होता; तो ईश्वर के समान इस विश्व में भी पूर्णता रहती। परन्तु यह संभव नहीं हो सकता है कि अंशों में ईश्वर अपूर्ण हो और उनकी समष्टि अर्थात् ईश्वर पूर्ण हो। अतः, यदि ईश्वर पूर्ण होता तो विश्व में कभी भी अशुभ नहीं होता[4]। अतः, अपरिमित, सर्वशक्तिमान तथा शुद्ध शुभ ईश्वर के प्रत्यय में आत्मविरोध उत्पन्न हो जाता

---

१. दि विल—पृ० २४

२. दि विल—पृ० ११६, १३४।

३. अर्थात् जो ईश्वरवाद की तुलना में निम्नतर कोटि का हो (इन्फा-थीज्म)

४. ए प्लूरलिस्टिक यूनिवर्स—पृ० १२३-१२४

है। फिर यदि ईश्वर ही सम्पूर्ण सत्ता हो, तो ईश्वर विश्व की सभी बुराइयों के लिए उत्तरदायी हो जाएगा और उसे ईश्वरवाद मे नही स्वीकार किया जाता है[1]। फिर ईश्वर को ही पूर्ण सत्ता मान लेने से लोग भाग्य-भरोसे रहकर अकर्मण्य हो जाएंगे। इसलिए जेम्स के अनुसार ईश्वर सीमित है। उसने विश्व में अशुभ उत्पन्न नहीं किया है। उसे स्वयं अशुभ को दूर करना पड़ता है। ऐसा मानकर हम ईश्वर से संबंध जोडकर, ईश्वर के साथ मिलकर अशुभ को हटाने मे ईश्वर का सहयोगी अथवा सहकर्मी बन सकते हैं[2]। यदि हम मान लें कि ईश्वर अपरिमित नही है तो इसका मतलब है कि अशुभ के साथ मानव का संबध वास्तविक है; तब मानव को जोखिम उठाकर भी ऐसा प्रयास[3] करना होगा कि समाज और जीवन मे सुधार आता रहे।

जेम्स की धार्मिक व्याख्या की आलोचना

इसमे सदेह नही कि लूबा और जेम्स को धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के क्षेत्र मे पथप्रदर्शक माना जाएगा। चूँकि जेम्स की गवेषणा मौलिक है, इसलिए इस सदर्भ मे उनके द्वारा प्रस्तुत देन को भी प्रमुख माना जायगा। उन्होने धर्म के मनोवैज्ञानिक अध्ययन मे अनेक ऐसे निष्कर्षों को स्थापित किया है; जिन्हे उनके उत्तरवर्तियों ने अपने स्वतत्र शोधो के आधार पर पुष्ट किया है।

१. जेम्स ने धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने मे अचेतन को मुख्य स्थान प्रदान किया है और अभी तक जेम्स के इस निष्कर्ष को लोग स्वीकार करते है। उनके उत्तरवर्त्ती युग ने बताया है कि अचेतन ही धर्म का उद्गम-स्थान है जिसकी तथ्यता को सर्वप्रथम फ्रायड ने वैज्ञानिक रीति से स्थापित किया था। उसके बाद पॉल तीलिख प्रसिद्ध धर्मदार्शनिक हुए, जिन्होने कहा है कि बिना प्रतीकों की सहायता लिये हुए, परम सत्ता के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता है। परन्तु पॉल तीलिख के अनुसार भी प्रतीक विशेषतया अचेतन से उद्गमित होकर चेतन मे सर्वस्वीकृत होते हैं।

२. जेम्स ने बताया है कि धार्मिक अनुभूति शुद्ध रूप मे रहस्यानुभूति कही जा सकती है और रहस्यानुभूति के आधार पर यही कहा जा सकता हैं कि

---

१. वही—पृ० २८४
२. दि विल—पृ० ६१, वैराइटिज़—पृ०५१९
३. दि विल—पृ० ६१

उच्चतर सत्ता है। पर इसकी वास्तविकता को छोड़कर इसे किसी भी विशिष्ट रूप में मानना अतिविश्वास (ओवर-बिलीफ) कहा जाएगा। यह भी कहना कि यह उच्चतर सत्ता व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर है, जेम्स के अनुसार अतिविश्वास ही कहा जाएगा। और, यह कहना भी अतिविश्वास है कि उच्चतर सत्ता है और वह निर्गुण है; हालाँकि, ऐसा मानना प्रसिद्ध धर्मपरम्परा के अनुकूल है। शंकर और अक्वाइनस, दोनों ने ही कहा है कि परम सत्ता की वास्तविकता को छोडकर इसके विशिष्ट गुणों को अज्ञात, अज्ञेय तथा अकथनीय समझना चाहिए। इस युग के धर्मदार्शनिक पॉल तीलिख् ने भी परम सर्वातीत सत्ता के संबंध में यही बात कही है। पर क्या ओवर्-बिलीफ् व्यर्थ है ? नहीं। जेम्स का कहना है कि बिना अतिविश्वास के उच्चतर सत्ता के साथ संयुक्ति संभव नही हो सकती है। परन्तु जेम्स ने 'अति-विश्वास' के सबंध मे कुछ स्पष्ट नहीं किया है। क्या इस अतिविश्वास को 'बौद्धिक प्रत्यय' कहा जायगा ? जेम्स के दिए गए उदाहरण के अनुसार व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर, देवी-देवता, आदर्शपूर्ण सत्ता इत्यादि अतिविश्वास के नमूने हैं। क्यों इन्हे 'बौद्धिक प्रत्यय' कहा जा सकता है ? देवी-देवता, ईश्वर इत्यादि तर्कनापरक बुद्धि की उपज नहीं हैं। ये सब प्रत्ययों से उद्बोधित होकर अचेतन से उत्पन्न होते हैं। इन्हे देवकथा, मिथ, प्रतीक इत्यादि सज्ञाओ से पुकारा जाता है। अतः, जेम्स यदि 'बौद्धिक प्रत्यय' के उदाहरणों पर विचार करते तो उन्हे मानना पड़ता कि ईश्वर, देवी-देवता इत्यादि प्रतीक हैं। फिर यदि ये प्रतीक कहे जाएँ, तो इन्हे सज्ञानात्मक नही माना जाएगा और इनका औचित्य-प्रतिपादन भी वैज्ञानिक तथ्यों से भिन्न रूप मे स्पष्ट किया जाएगा। कहने का तात्पर्य है कि जेम्स के निष्कर्ष मे समसामयिक धार्मिक विचारधारा का स्पष्ट पूर्वाभास मिलता है।

३. फिर धर्म की मनोवैज्ञानिक स्थिति का विवरण देते हुए जेम्स ने बताया है कि धार्मिक स्थितिक्रम मे बेचैनी और स्थिरता के दो पूर्व और अपर पक्ष देखने मे आते हैं। यह भी समकालीन धार्मिक विचार का पूर्वाभास माना जायगा। समकालीन अस्तित्ववादी धर्मदर्शन में बताया जाता है कि सर्वप्रथम असत् का भाव, निरर्थकता का भाव तथा आत्मविमुखीकरण की भावना पायी जाती है और तब ईश्वर मे आस्था के आधार पर ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा व्यक्ति को जीवन स्थिर और सार्थक मालूम देने लगता है।

४. जेम्स के अनुसार धर्म आस्था का विषय है, न कि वैज्ञानिक संज्ञान का। उन्होंने यह भी बताया है कि यह आस्था संस्कृति तथा अचेतन के द्वारा

उत्पन्न होती है। उन्होंने 'आस्था' का विश्लेषण नहीं किया है, परन्तु जेम्स के अनुसार यह भाव-प्रधान मानसिक स्थिति है। आगे चलकर हम देखेंगे कि जेम्स के लिए इस आस्था को भरोसा तथा वफादारी की संज्ञा दी जा सकती है और इस रूप मे आस्था को भाव-प्रधान माना जायगा, न कि संज्ञानात्मक। जेम्स बार-बार कहते हैं कि आस्था में संज्ञानात्मकता नहीं है। उन्होंने आस्थासोपान का उल्लेख (ए प्लुरलिस्टिक यूनिवर्स पृ० ३२९) किया है, परन्तु पाँचो मे से किसी भी पग को तर्कसंगत नही कहा जा सकता है। तो भी जेम्स के अनुसार इस आस्था को सही समझा जाएगा क्योंकि, जीवन तर्कनियमो से अधिक व्यापक है और व्यावहारिक जीवन से इसे सिद्ध माना जायगा। तो क्या किसी भी प्रकार की आस्था से काम चल सकता है? हमे भूल नही जाना चाहिए कि विभिन्न प्रकार की आस्थाओं के कारण अनेक बुराइयाँ भी उत्पन्न हुई हैं। अत, जेम्स को बताना चाहिए था कि आस्था सत्य-असत्य नहीं होनी क्योंकि यह भाव का विषय है, न कि संज्ञान का। तोभी इसमे औचित्य-अनौचित्य का प्रश्न उठता है और इसकी भी अपनी कसौटी है। आस्था भी स्वस्थ और अस्वस्थ हो सकती है और जेम्स ने बताया है कि व्यक्ति मे अस्वस्थ और स्वस्थ धार्मिक भाव रह सकता है और असाक्षात् रूप मे उन्होने बताया है कि उसी धार्मिक भाव को स्वस्थ कहा जाएगा जिसके द्वारा व्यक्ति के अन्दर समाकलित और रचनात्मक प्रक्रियाओं का संचार होगा और जिससे अन्त मे अशुभ को दबाकर समाज मे सुधार लाया जाएगा। परन्तु ऐसी अवस्था मे उच्चतर सत्ता के प्रति आस्था वास्तव मे जीवन के प्रति अभिवृत्ति में बदल जाएगी और जिस अभिवृत्ति की व्याख्या आगे चलकर विस्डम और हेयर के ब्लिक-सिद्धान्त मे स्पष्ट की जाएगी।

५. जेम्स उस युग मे नही उत्पन्न हुए थे जिसमे ईश्वर को मृत कहा जा सकता था। उनके लिए कम-से-कम मनोवैज्ञानिक स्तर पर ईश्वर को अनुप्रेरक जीवित शक्ति के रूप मे माना जाता था। अत: जेम्स को उच्चतर सत्ता की वास्तविकता पर बल नहीं देना चाहिए था और वास्तव मे जेम्स ईश्वर की वास्तविकता पर बल भी नहीं देना चाहते थे। जेम्स के अनुसार धार्मिक अनुभूति की विशेषता इसी बात मे है कि व्यक्ति मे उदात्त वृत्तियों का संचार हो और ईश्वर के संबंध में तात्विक रूप से बहुत कम कहा जा सकता है। ईश्वर न जाना जाता है और न समझा जाता है,—उससे काम लिया जाता है[1]। अन्तिम रूप में

१. वेराइटिज्—पृ० ५०६

जेम्स के अनुसार, ईश्वर नहीं, वरन् जीवन, अधिक जीवन, अधिक व्यापक जीवन, अधिक समृद्ध तथा संतोषजनक जीवन ही धर्म का उद्देश्य है[१]। ऐसी अवस्था में जेम्स को कहना चाहिए था कि उच्चतर सत्ता के संबंध में केवल प्रतीकों के ही द्वारा कुछ कहा जा सकता है और सही प्रतीक किसी व्यक्ति के लिए वही है जो उसे अनुप्राणित करे और उसके जीवन में मूल्यों को संवर्द्धित करे। ऐसा न कहकर उन्होंने भ्रामिक रूप से बताया है कि ईश्वर में हमे सकल्पात्मक विश्वास का अधिकार है। यदि ईश्वर न तो तर्क और न ज्ञान का विषय है, तो उसके संबंध मे किस प्रकार का संज्ञानात्मक संवाक्य स्थापित किया जा सकता है? वास्तव में जेम्स ने ईश्वर के संबंध में कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व को किसी भी प्रकार की युक्ति के आधार पर स्थिर नही किया जा सकता है, परन्तु हमे अधिकार है कि हम इस प्रकार की सत्ता में विश्वास रखें या न रखें। इस छूट के संबंध में जॉन हिक ने भी चर्चा की है। परन्तु इस अधिकार को वैधिक माना जाएगा, न कि वैज्ञानिक। इस संकल्पात्मक विश्वास के अधिकार के प्रसंग में सान्तायना की उक्ति उल्लेखनीय है। सान्तायना के अनुसार जेम्स ने इतना ही भर माना है कि उन्हे विश्वास रखने का अधिकार है। परन्तु सान्तायना के अनुसार यदि यह कहा जाएगा कि किसी भी सत्ता मे चाहे वह सत्य हो या असत्य, विश्वास रखने से जीवन बेहतर हो जाता है, सर्वथा असत्य कथन है। यदि भ्रामक विश्वास से जीवन उत्तम भी हो जाए, तो भी सत्यता के अनुरूप जीवन की तुलना मे भ्रमपूर्ण उत्तम जीवन को अच्छा नही माना जाएगा। भ्रमपूर्ण विश्वास से न तो सुरक्षा हो सकती, न इसे इतना मधुर माना जा सकता है और न जीवन के लिए इसे इतना उपयोगी ही माना जा सकता है। वास्तव मे जीर्ण विश्वास को ढोए रहना मानसिक व्याधि ही है। विश्वास अवश्य रहना चाहिए, शायद बिना विश्वास के जीवन संभव नहीं है। परन्तु विश्वास को युक्तिपूर्ण होना चाहिए। यदि विश्वास का विषय निश्चित हो, तो इसे निश्चित कहना चाहिए, यदि यह संभाव्य हो, तो इसे सभाव्य समझना चाहिए, यदि यह इच्छापरक हो, तो इसे इच्छापरक मानना चाहिए और यदि यह असत्य हो, तो इसे असत्य कहना चाहिए[२]।

मैं नही समझता हूँ कि जेम्स ने संकल्पात्मक विश्वास में अधिकार के समर्थन मे किसी भ्रम का पक्ष लिया है। जेम्स बताना चाहते थे कि धार्मिक

१ वैराइटिज़—पृ० ५०६—५०७

२. वाल्टर कॉफमेन, क्रिटीक आव रिलिजन ऐंड फिलॉसफी, पृ० ८५—८६।

जीवन मे बौद्धिक प्रत्यय (जिसे प्रतीक कहा जाएगा) नितान्त आवश्यक हैं। इन प्रतीकों को सापेक्ष तथा विविध माना जाएगा। तोभी प्रत्येक व्यक्ति को अपने संस्कार तथा मनोवैज्ञानिक वर्ग के अनुरूप ऐसे प्रतीक को चुन लेना चाहिए जो उस व्यक्ति को जीवित, बाध्य तथा महत्त्वपूर्ण मालूम दे। उचित प्रतीक वही है जो व्यक्ति के जीवन का पथदर्शन करे और उसके जीवन में सहायक सिद्ध हो। साथ ही साथ प्रतीकों की सापेक्षता को स्वीकार करते हुए असाक्षात् रीति से जेम्स ने स्पष्ट किया है कि न तो कोई प्रतीक अन्तिम सत्ता है और न इसका अपना स्वतत्र अस्तित्व है। प्रतीक का सच्चा होना व्यक्ति के विश्वास पर निर्भर करता है। बिना भक्त के भगवान नही और बिना भगवान के भक्त नही। ईश्वर और भक्त दोनों अवियोज्य है और दोनो एक दूसरे की सार्थकता को पारस्परिक रूप से स्पष्ट करते है। अत., जेम्स के अनुसार जिस प्रकार किसी युवती विशेष के प्रति प्रेम और भरोसा दिखाकर उसे प्रेमिका में बदल दिया जाता है, उसी प्रकार किसी प्रतीक मे आस्था दिखाकर उसे ईश्वरत्व में परिणत कर दिया जाता है। अत, जेम्स ने संकल्पात्मक अधिकार-सिद्धान्त, धर्म की भावपरकता, रहस्यानुभूति की आत्मकथात्मकता के द्वारा स्पष्ट किया है कि मानव से परे किसी व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की स्वतत्र सत्ता को स्वीकार नही किया जा सकता है। जेम्स के इस मत को हम पॉल तीलिख् की विचारधारा में उग्र रूप मे देखेंगे।

परन्तु धर्म को अचेतन की उपज मान लेने मे धर्म को मनस्ताप तथा चित-विक्षेप भी माना जा सकता है। कम से कम ईश्वरवाद के सबंध में फ्रायड का विचार था कि यह मानव का सामूहिक मनस्ताप है। फ्रायड के मत को महत्त्व-पूर्ण माना गया है और अब धर्म की मनोवैश्लेषिक व्याख्या को स्पष्ट किया जाएगा।

धर्म की फ्रायडवादी व्याख्या*

फ्रायड (सन् १८५६-१९३९ विज्ञानवादी, अनुभववादी तथा मनोविश्लेषक थे। विज्ञानवादी वह है जो विज्ञान के निष्कर्ष और उसकी विधि को ज्ञान की अन्तिम कसौटी मानता है। फ्रायड ने स्वीकार किया है कि उनके लिए वही

* इन संदर्भ से लेखक की दो पुस्तके लिखी जा चुकी हैं, अथात 'मनोविश्लेषण और फायडवाद की रूपरेखा' (मोतीलाल, १९५४) और 'फ्रोयदियनीज़्म ऐंड रिलिजन' (बैकर स्पिक, १९६४)।

ज्ञान है जिसे प्रमाणित संवेदित प्रदत्तों को तर्कपूर्ण रीति से व्यवस्थित कर प्राप्त किया जाता है। उन्होने बताया है कि श्रुति, अन्तःप्रज्ञा तथा अन्तःप्रेरणा से किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है[1]। फिर उन्होंने बताया है कि ईश्वर का अस्तित्व न तो सिद्ध किया जा सकता है और न उसका अनस्तित्व ही प्रमाणित किया जाता है[2]। अतः, फ्रायड के लिए ईश्वर-संबंधी प्रश्न को अव्याकृत कहा जा सकता है। अतः, विज्ञानवादी होने के कारण ईश्वर-संबंधी फ्रायड के निष्कर्षों को नकारात्मक समझा जाएगा। परन्तु अन्त में हम देखेंगे कि वास्तव में धर्म के संदर्भ मे फ्रायड का विचार भावात्मक था।

यह ठीक है कि फ्रायड को विश्व-विख्यात तथा युगप्रवर्त्तक मनोविश्लेषक माना जाता है। परन्तु धर्म के संबंध मे उनकी खोज को शुद्ध मनोविश्लेषण की संज्ञा नही दी जा सकती है। ईश्वर-सबधी गवेषणा मे फ्रायड अधिक दार्शनिक थे और कम मात्रा मे मनोविश्लेषक थे। परन्तु उनका जो भी दर्शन था वह उनके मनोवैश्लेपिक निष्कर्षों और विधि से पूर्णतया प्रभावित था। अतः, धर्म की फ्रायडवादी व्याख्या मे मनोविश्लेपण, विज्ञानवाद तथा मानवतावाद का अवियोज्य सम्मिश्रण है।

धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या मे अचेतन को कुजीपद समझना चाहिए। बर्ग्सो के मिथ-सिद्धान्त और धर्म के जेम्सीय मनोवैज्ञानिक अध्ययन मे अचेतन को प्रमुख माना गया है। परन्तु बर्ग्सों और जेम्स ने अचेतन को दोषपूर्ण नही माना है। इसके विपरीत फ्रायड के अनुसार अचेतन कामनाओ और अभिलाषाओं से ही सचालित होना है। इसलिए अचेतन के द्वारा जो भी बात जानी जाएगी उसमे इच्छापूरकता पाई जाती है। अतः, अचेतन से उत्पन्न ईश्वरवाद, फ्रायड के लिए स्वप्न-तुल्य, इच्छा-पूरक, भ्रान्त मानसिक उत्पादन है। इसलिए इसकी अपनी कोई वास्तविकता नही। फिर उन्होने बताया है कि प्रागैतिहासिक युगों मे धर्म और ईश्वरवाद से सभ्यता-विकास मे लाभ अवश्य हुआ है। परन्तु विज्ञानवाद के प्रचार के बाद, फायड के अनुसार, ईश्वरवाद से बहुत अधिक हानि की संभावना हो सकती है। शायद दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक स्तर पर फ्रायड निश्चित रूप से निष्कर्ष नहीं स्थापित कर पाए है कि अनीश्वरवाद सही

---

१. एच. पिटर्सन, पसेज् इन फिलॉसफी—पृ. ३३९।
२. एस. फायड, फ्यूचर ऑव ऐन रिलिजन—पृ. १५।

है। किन्तु मानवतावाद के प्रसार के बाद फ्रायड के योगदान के द्वारा अनीश्वर-वाद के लोकप्रिय होने में पर्याप्त सहायता मिली है।

ईश्वरवाद के मनोविश्लेषिक अध्ययन की आवश्यकता : मनोविश्लेषण को स्थापित हुए बहुत अधिक दिन नहीं हुए हैं। इसके पूर्व बिना मनोवैज्ञानिक अध्ययन के ही धर्म की व्याख्या होती थी। इसलिए प्रश्न उठ सकता है कि अब क्या आवश्यकता हो गई है कि ईश्वरवाद की मनोविश्लेषिक व्याख्या की जाए? इसी समय ईश्वरवाद के मनोविश्लेषिक अध्ययन के कई कारण बताए जाते है। सर्वप्रथम, मनोविश्लेषण के प्रचार और प्रसार के बाद यह बात सर्वमान्य हो चुकी है कि मानव का कोई ऐसा व्यवहार नही है जहाँ उसके अचेतन का प्रभाव उस व्यवहार पर नही पड़ता है। परन्तु यह भी निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाएगा कि विज्ञान मे वैज्ञानिक का अचेतन उसकी दो बातो के लिए महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् ·

(क) वैज्ञानिक का अपने विषय का चुनाव उसके अचेतन से नियंत्रित होता हैं, अर्थात् अमुक वैज्ञानिक वनस्पतिशास्त्री होगा या अन्य किसी विषय को अपनाएगा, यह उसके अचेतन से निर्धारित होता है।

(ख) द्वितीय, वैज्ञानिक खोज में अनवरत लगे रहने के लिए मानसिक उत्प्रेरणा दमित गाँठो के उदात्तीकरण से प्राप्त की जाती है।

परन्तु वैज्ञानिक खोज और उसकी कथावस्तु की वास्तविकता इन अचेतन प्रक्रियाओं से नियन्त्रित नही होती हैं। वैज्ञानिक विषयवस्तु का मूल्याकन मान-सिक अनुप्रेरणाओ से परे विज्ञान-पद्धति पर निर्भर करता है। क्या यह बात धर्म के संबंध मे भी कही जा सकती है?

यहाँ फ्रायड का कहना है कि मानसिक अनुप्रेरणा-शक्ति और वैज्ञानिक परिणाम, दोनो एक दूसरे से भिन्न और स्वतन्त्र रहते हैं। परन्तु धर्म मे अनु-प्रेरणा इच्छापूरक होती और इसी इच्छापूर्त्ति के फलस्वरूप ईश्वर, देवी-देवता इत्यादि आराध्य सत्ताओ को प्राप्त किया जाता है। अतः, धार्मिक सत्ताओ को अचेतन अनुप्रेरणाओं से अलग नही किया जा सकता है। अतः, धर्म मे निहित मनोवैज्ञानिक अनुप्रेरणाओ को स्थापित करने के लिए धर्म के मनोविश्लेषिक अध्ययन की आवश्यकता पड़ जाती है। इसी बात को दूसरे रूप मे भी स्पष्ट किया जा सकता है।

यह ठीक है कि अपने मन को ताखे पर रखकर कोई भी व्यक्ति किसी भी विषय का अध्ययन नहीं कर सकता है। परन्तु विज्ञान और धर्म में मानसिक वृत्तियों का स्थान विभिन्न हुआ करता है। वैज्ञानिक, वैज्ञानिक विधि और परम्परा का अनुसरण करते हुए पूर्ण तटस्थतापूर्वक अपने विषय का अध्ययन करता है। वह चाहता है कि उसकी मानसिक कामनाएँ और अन्य इच्छाएँ उसकी खोज मे किसी भी अंश मे प्रभाव न डालें। वैज्ञानिक अपने व्यक्तित्व को आधारभूमि मे रखकर अपनी वैज्ञानिक खोज में अपने को पूर्णतया निर्वैयक्तिक कर लेता है। इस तटस्थता, निर्वैयक्तिकता तथा व्यक्तित्वरिक्तता के विरुद्ध ईश्वरवाद मे भक्त अपने पूर्ण व्यक्तित्व को लेकर पूर्ण संलग्नता के साथ ईश्वर को प्राप्त करने की धुन में लगा रहता है। ईश्वर प्राप्ति में तन्मयता, आत्म-समर्पण तथा आत्म-निवेदिता रहती है*। यही कारण है कि जेम्स ने धर्म को भावप्रधान माना है और समसामयिक अस्तित्ववाद मे अन्तर्ग्रसन तथा आत्मसमर्पण की बात कही जाती है। इसी बात को मार्टिन बुबेर ने जो यहूदी ईश्वर-वैज्ञानिक थे, कहा है कि विज्ञान में वैज्ञानिक और उसके विषय के सबंध को मैं-सत् का सबंध कहा जा सकता है। इसके विपरीत धर्म मे भक्त और भगवान के बीच के संबंध को मैं-तू का संबंध कहा जा सकता है। मैं-तू से तात्पर्य है कि धार्मिक विषय को व्यक्तित्वपूर्ण माना जाता है और केवल व्यक्ति ही व्यक्ति को समझ सकता है। अब यदि इस बात को मान लिया जाय कि धार्मिक अनुभूति मे भक्त का मुमुक्षुत्व, उसकी संलग्नता और व्यक्तित्वपूर्णता का रहना अनिवार्य है तो ऐसी अवस्था मे ईश्वरवादी की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना भी अभीष्ट माना जायगा। हमे जानना चाहिए कि भक्त के अन्दर कौन-सी मानसिक अनुप्रेरणाएँ हैं जिनके द्वारा ईश्वर के लिए उसकी पिपासा और जिज्ञासा लगी रहती है।

सभव है कि लोग कहे कि फ्रायड का निष्कर्ष उनके मनोविश्लेषिक दुराग्रह से ग्रसित था। फ्रायड सभी प्रक्रियाओं मे अचेतन के प्रभाव को दिखाना चाहते थे और यदि उन्होने ईश्वरवाद को भी अचेतन की उपज माना है, तो यह उनके दुराग्रह से प्रभावित आंशिक ही सत्यता मानी जायगी। शायद इस आपत्ति मे बहुत बल है। परन्तु समसामयिक दार्शनिक विश्लेषण का भी कुछ ऐसा निष्कर्ष है कि ईश्वरवाद के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता हो जाती है। हम-

* बेला के मिलमेड थेओरीज आव रिलिजस नॉलेज फ्रौम कान्त टू यास्पस, फिलौसफी, जुलाई १९५४—पृ० २०७।

लोगों ने अब तक ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण, उसके गुण और अशुभ की समस्या के प्रकरणों मे देखा है कि हम न तो ईश्वर का अस्तित्व ही सिद्ध कर सकते है, न उसके गुण के संदर्भ में संगत रूप से कथन कर सकते हैं और न ईश्वर को सर्वशक्तिमान तथा पूर्णतया शुभ मान सकते हैं। फिर आगे चलकर हम देखेंगे कि फिंडले ने दार्शनिक अनीश्वरवाद की भी चर्चा की है। यदि दार्शनिक विश्लेषण के निष्कर्षों को मान्यता दी जाय तो प्रश्न होता है कि यदि ईश्वर की भावना युक्तिपूर्ण न हो तो मानव फिर क्यों ईश्वर की उपासना करता आया है। इसका आधार यदि तथ्यात्मक विज्ञानों के द्वारा सुनिश्चित नहीं किया जा सकता है, तो इसे मानव की मनोवैज्ञानिक अनुप्रेरणाओं ही के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। अत., समसामयिक विचारधारा के अनुसार भी ईश्वर-धारणा की मनोवैज्ञानिक व्याख्या आवश्यक मालूम देती है।

मनोविश्लेषण मनोविज्ञान की एक विशिष्ट शाखा है जिसमे व्यक्ति का अध्ययन उसके अचेतन के द्वारा किया जाता है। अचेतन को व्यक्ति का आन्तरिक गहरा स्तर कहा जाता है जिससे साधारणतया स्वय व्यक्ति अनभिज्ञ रहता है। अतः, मनोवैश्लेषिक अध्ययन को गभीर अध्ययन कहा जाता है। मनोवैश्लेषिक विधि के ऊपर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि मनोविश्लेषण को पूर्णतया वैज्ञानिक नहो माना जा सकता है तोभी इसकी विधि और खोज को वैज्ञानिक परम्परा के अनुकूल ही माना जाएगा। कम से कम मनोवैश्लेषिक निष्कर्ष इतने अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं कि मनोविश्लेषण को मनोविज्ञान का प्रमुख अग माना ही जायगा। अत', फ्रायड के धर्म-सबधी मनोवैश्लेषिक निष्कर्ष को ठुकराया नहीं जा सकता है। सामान्य रूप से फ्रायड की मनो-वैश्लेषिक देन को इस प्रकार बताया जा सकता है।

फ्रायड के अनुसार मानव के अन्दर चेतन और अचेतन, दबी हुई और दमित अभिलाषाएँ है जिन्हे सतुष्ट करने के लिए मानव को सक्रिय रहना पड़ता है। व्यक्ति के अन्दर अनेक प्राचीनतम दमित गाँठें हैं जिन्हे वह किसी न किसी प्रकार संतुष्ट करना चाहता है। इन दमित गाँठो का ऐसा स्वरूप है कि इनकी वास्तविक तुष्टि नहीं हो सकती है। अतः, इनकी सतुष्टि आसाक्षात् तथा छद्‌म रूप से ही आरोपित सत्ताओं के द्वारा हो सकती है। ईश्वर, फ्रायड के अनुसार, उसी प्रकार से अचेतन गाँठो से प्रभावित होकर आरोपित सत्ता है जिस प्रकार स्वप्न में दमित गाँठों की संतुष्टि के लिए सत्ताएँ आरोपित होकर

स्वप्न में वास्तविक लगती है। जिस प्रकार पागल अचेतन से प्रभावित होकर काल्पनिक छुरे और अपने हत्यारे को देखता है, उसी प्रकार, फ्रायड के अनुसार, भक्त ईश्वर की काल्पनिक सत्ता को वास्तविक मानता है। फ्रायड के अनुसार ईश्वर को मानना और उसके प्रति कर्मकाण्डों को सम्पादित करना वास्तव मे सामूहिक मनस्ताप का उदाहरण है। ईश्वर को वास्तविक मानना उसी प्रकार का बचपना है जिस प्रकार की शैशवकाल की घटनाओ को प्रौढ़ावस्था मे वास्तविक मानना अयथार्थ और भ्रामक है। केवल मनस्ताप की ही स्थिति मे व्यक्ति शैशव घटनाओं और अनुप्रेरणाओ को वास्तविक मानता है। अत:, ईश्वर को वास्तविक मानना शैशवकाल की घटनाओ का आरोपनमात्र है और इसलिए ईश्वर को वास्तविक समझना केवल बाल-क्रीड़ा है। ईश्वर-संबंधी युक्तियाँ वास्तव मे मनगढ़त यौक्तिकीकरण के उदाहरण हैं और ईश्वर के प्रति अर्पित प्रार्थना, जप-तप, भजन, सकीर्त्तन इत्यादि का कर्मकाण्ड सामूहिक अन्तर्बाध्यता के उदाहरण हैं। अतः, सामान्य रूप से फ्रायड के अनुसार ईश्वरोपासना मनो-व्याधि है और ईश्वर की सत्ता काल्पनिक आरोपन मात्र है। यदि ईश्वरवाद का अन्त अतिशीघ्र नही होता है, तो फ्रायड के अनुसार, मानव की भावी वैज्ञानिक प्रगति मे भारी ठेंस पहुँचेगी। क्या फ्रायड के इस निष्कर्ष को जिसे अति सामान्य रूप मे प्रस्तुत किया गया है, स्वीकार किया गया है ?

यह ठीक है कि असाक्षात् रूप से फ्रायडवादी व्याख्या का समादर अवश्य हुआ है और अनीश्वरवादी मानवता में फ्रायडवादी देन से बडा प्रभाव पड़ा है। फिर, विशेषकर अमेरिका मे ईश्वर-सबंधी-मृत्युवाद के प्रचार और प्रसार में काम-स्वच्छंदता को ध्यान में रखकर, फ्रायडवादी देन को महत्त्वपूर्ण माना जायगा। परन्तु सैद्धान्तिक रूप से मनोविश्लेषण का संबंध धार्मिक अनुप्रेरणा और उसके उद्गम के प्रश्न से है, न कि धार्मिक सत्ता के दार्शनिक मूल्यांकन से। इसलिए धर्म की मनोवैश्लेषिक व्याख्या को धर्म का दार्शनिक अध्ययन नही समझना चाहिए। परन्तु धर्म की फ्रायडवादी व्याख्या की आलोचना बाद में की जायगी। यहाँ हमे धर्म की फ्रायडवादी की व्याख्या को प्रस्तुत करना है।

ईश्वरवाद की मनोवैश्लेषिक व्याख्या

फ्रायड ने ईश्वरोपासना को सामूहिक मनोग्रस्ति मनस्ताप कहा है। मनो-ग्रस्ति में व्यक्ति के अन्दर व्यर्थ अथवा निरर्थक प्रक्रियाओं को दुहराते रहने के

लिए अन्तर्बाध्यता देखी जाती है। उदाहरणार्थ, सोने के पूर्व मुँह-हाथ धोना, दरवाजे को बन्द करना, घड़ी को किसी विशेष स्थान पर रखकर उसको किसी एक विशेष दिशा में रखना, तकिए को तिर्छा रखना, इत्यादि। इस प्रकार के क्रियाकलाप को न करने पर बेचैनी का अनुभव होता है। फिर मनोग्रस्ति मे संदेह और अनिश्चितता का अनुभव होता है। यदि ताले को दरवाजे में लगाना होता है, तो मनोग्रस्ति मनस्तापी को बार-बार संदेह होता है कि शायद उसने ताले को नही बन्द किया है। फिर प्रिय जनों के प्रति अनिष्ट होने की आशंका उसको घेरे रहती है। उदाहरणार्थ, उसे आशंका होती रहती है कि उसका पिता दुर्घटना में पड गया है, अथवा उसकी प्रेयसी को घातक बीमारी हो गई है, इत्यादि। अपितु, मनोग्रस्ति में सफाई रखनेवाली प्रक्रिया विशेष रूप से देखी जाती है। उदाहरणार्थ, हाथ धोते रहना, स्नान करना, कपड़े पर गिरे धब्बे को छुड़ाते रहना, इत्यादि। प्रायः, उसमे स्पृश्यता का भय रहता है, अर्थात् उसे आशंका बनी रहती है कि कही उसे छूत की बीमारी तो नही लग गई है, या कहीं उसने अशुद्ध वस्तु का स्पर्श तो नहीं कर लिया है, इत्यादि। मनोग्रस्ति मनस्तापी प्राय: नीतिवान व्यक्ति होते हैं, परन्तु उनमे आशंका बनी रहती है कि उन्होंने कुछ कुकर्म किया है जिसका उन्हें प्रक्षालन करना चाहिए।

इस प्रकार सोचने और व्यवहार की अन्तर्बाध्यता क्यों? फ्रायड के अनुसार, अन्तर्बाध्यता का मूल कारण है माँ-बाप के प्रति उभयभाविता की अभिवृत्ति। क्या मनस्तापी माँ को प्यार करे और पिता से विद्रोह करे? फिर क्या पिता के प्रति प्रेम करे और मातृ-लिप्सा के कारण पितृ-विद्वेष से व्यक्ति अपने को मुक्त करे? इसी उधेडबुन मे रहने के कारण मनोग्रस्ति में संदेह और अनिश्चितता आ जाती है। फिर मातृ-लिप्सा से अनुप्रेरित होने पर पितृ-द्रोह की भावना चली आती है। पर पिता प्रारंभ से ही प्रेम का विषय होता है। ऐसी अवस्था में मनस्तापी पितृ-विद्वेष को दबाए रखने के लिए विविध कर्मकाण्ड रचता है ताकि इन क्रियाकलापों मे वह ऐसा बझ जाए कि उसमें किसी भी प्रकार की पितृ-विद्वेष की मनोभावनाएँ आने ही नहीं पाएँ। अन्त में मातृ-लिप्सा के ही कारण पितृ-द्रोह होता है और मातृ-लिप्सा लिङ्गोत्थान के कारण उद्दीप्त होती है। तो समस्या होती है कि कैसे लिङ्गोत्थान न हो। सहज उपाय तो यही है कि इसका हस्त से स्पर्श न हो। यही कारण है कि मनोग्रस्ति मनस्तापी में अस्पृश्यता की बात उठती है और अपने मन को शुद्ध रखने के लिए उसे जप-तप के साथ स्नान करने, अपनी शारीरिक सफाई इत्यादि की धुन लगी रहती है।

मनोग्रस्ति मनस्ताप के लक्षणों को ध्यान मे रखकर फ्रायड ने बताया है कि धर्म को भी सामूहिक मनोग्रस्ति मनस्ताप कहना चाहिए। फ्रायड के लिए धर्म से तात्पर्य था एकेश्वरवाद से। इसलिए फ्रायड के अनुसार ईश्वर वास्तव मे शैशव काल के पिता की दमित ग्रन्थि का आरोपन-मात्र है। बाद मे चलकर हम देखेंगे कि फ्रायड के अनुसार, अन्तिम रूप में व्यक्तिविशेष के शैशवकाल के पिता की जातीय दमित ग्रन्थि मानव के प्रागैतिहासिक आदिपिता की दमित ग्रन्थि का ही व्यक्तिविकासीय द्वितीय संस्करण होता है। इस शैशव काल की दमित प्रतिमा एक एकाधिकारी, प्रभुतासम्पन्न, शक्तिशाली, प्रतिपोषक और सहायक पिता का आदरूप होता है। वास्तव मे देखा जाए तो ईश्वर भी मानव के लिए सर्वशक्तिमान, मानवप्रेमी, भक्तवत्सल पिता के रूप में समझा जाता है। जिस प्रकार आदिपिता एकाधिकारी हुआ करता था और उसकी आज्ञाओ का कोई भी उल्लघन नहीं कर सकता था, उसी प्रकार भक्त भी प्रायः ईश्वर के सबध में विचार रखते हैं। अतः, चूंकि शैशवकाल का प्रिय पिता मातृ-लिप्सा के कारण शिशु के विद्वेष का पात्र हो जाता है, इसलिए ईश्वर भी अचेतन रूप से विद्वेष और निन्दा का विषय हो जाता है। इसी ईश्वर-निंदा से बचने के लिए भक्त कर्मकाण्ड का ढोग रचे रहता है, ताकि उसका मन जप-तप, प्रार्थना, व्रत इत्यादि मे फँसा रहे और ईश्वर के प्रति संदेह करने या उसके विरुद्ध उसे सोचने का अवसर ही नही मिले। फिर जन्म, विवाह और मृत्यु जीवन की वे मौलिक घटनाएँ हैं जिनमें व्यक्ति के अन्दर उसकी मूल-प्रवृत्तियाँ उद्दीप्त हो जाती है और मातृ-लिप्सा तथा पितृ-द्रोह की आग भभक उठने की आशंका रहती है। ऐसे अवसर के लिए प्रायः सभी धर्मों में विस्तारपूर्वक कर्मकाण्डों की व्यवस्था की गई है ताकि ईश्वर के प्रति निंदा और संदेह का मौका ही नहीं मिले।

मनोग्रस्ति मनस्तापी के क्रियाकलापों के समान धार्मिक कर्मकाण्डों को भी शायद युक्तिपूर्ण नहीं समझा जा सकता है। ये सब कर्मकाण्ड, फ्रायड के अनुसार, वास्तव में अन्तर्बाध्यता के ही कारण होते हैं। यदि ईसाई गिरजाघर मे न जाए, नित्य दिन सुबह-साँझ प्रार्थना न करे, चंदा न दे, इत्यादि तो उसे आत्मग्लानि घेरे रहती है। अतः, फ्रायड ने धर्म को सर्वव्यापक मनोग्रस्ति मनस्ताप कहा है और मनोग्रस्ति मनस्ताप को वैयक्तिक धर्म की संज्ञा दी है[1]। ये दोनों एक ही हैं, इसे स्पष्ट करने के लिए फेरेंक्टसी ने एक ऐसी

१. कलक्टेड पेपर्स, द्वितीय भाग—पृ० ३४, ऐन ऑटोबायोग्राफिक स्टडी—पृ० १२१, मोजेज ऐंड मोनोथीज्म—पृ० ९१, ९४, १२९।

महिला का उदाहरण प्रस्तुत किया है जो जब तक धार्मिक कर्मकाण्ड करती रहती थी, तब तक वह मनोग्रस्ति से मुक्त हो जाती थी और जब वह धार्मिक कर्मकाण्ड करना छोड़ देती थी तब वह मनोग्रस्ति मनस्ताप का शिकार बन जाती थी[१]। पर धर्म और मनोग्रस्ति मनस्ताप में निम्नलिखित भेद भी है।

मनोग्रस्ति मनस्ताप	धार्मिक कर्मकाण्ड
१. मनोग्रस्ति मनस्ताप मे व्यक्ति-विशेषों में विभिन्न प्रकार की अन्त-र्बाध्यकारी प्रक्रियाएँ होती हैं।	१. धर्म मे धर्मकाण्ड प्रायः एक समान रूप मे पाए जाते हैं। रोमन कैथलिक विश्वभर मे लगभग एक रूप से अपने धार्मिक कर्मकाण्डो को संपन्न करते हैं।
२. मनोग्रस्ति मे बाध्यकारी प्रक्रियाओ को व्यक्तिनिष्ठ कहा जाता है, क्योंकि ये प्रक्रियाएँ विभिन्न रूप से व्यक्तिविशेषो मे पाई जाती हैं।	२. धार्मिक कर्मकाण्डो को सार्व-जनिक कहा गया है, क्योकि किसी सम्प्रादाय-विशेष के सभी व्यक्ति इन्हे एक रूप से सम्पादित करते है।
३. बाध्यकारी प्रक्रियाएँ प्रायः स्वयं मनस्तापी को निरर्थक मालूम देती है।	३. परन्तु कर्मकाण्ड प्रायः पुजा-रियों और धार्मिकों को संपूर्णतया निरर्थक नही मालूम देते हैं।

अन्त मे, देखा जाए तो धार्मिक कर्मकाण्डो को भी निरर्थक मानना चाहिए; क्योंकि फ्रायड के अनुसार, ये अचेतन गाँठों से संचालित होते हैं परन्तु इन गाँठों का ज्ञान धार्मिक व्यक्तियों को नही प्राप्त होता है। अतः, फ्रायड के अनुसार धर्म मानव का सामूहिक अथवा सर्वव्यापक मनोव्याधि है। चूँकि इस मनो-ग्रस्ति मनस्ताप मे शैशवकाल के पिता की दमित ग्रन्थि मूल केन्द्र है, इसलिए पिता की दमित ग्रन्थि का भी उल्लेख होना चाहिए।

आद्यपिता की आद्यप्रतिमा की व्याख्या

फ्रायड की मनोवैश्लेषिक व्याख्या अवव्याख्यावादी है, अर्थात् वर्तमान मनस्ताप की व्याख्या भूत घटनाओं के आधार पर की जाती है और इन भूत घटनाओं की व्याख्या व्यक्ति की शैशवावस्था की घटनाओं के आधार पर की जाती हैं और अन्त मे व्यक्ति की शैशव अनुभूति मानव के जातिविकास की

१. एस. फेरेंक्सी, थ्योरी ऐंड टेकनीक आव साईको-अनालिसिस पृ. ४२०, टी. राईक, फ्रोम थर्टी यीयर्स विथ फ्रोम पृ. १२७,१२८, १३५।

घटनाओं के द्वारा की जाती हैं। अतः, फ्रायड ने धर्म की व्याख्या मानव की प्रागैतिहासिक घटनाओं के द्वारा प्रस्तुत की है।

डार्विन का ऐसा अनुमान था कि आदिकाल में मानव छोटी-छोटी टुकड़ियों मे उसी प्रकार रहा करता था जिस प्रकार आज भी बनमानुष छोटे-छोटे गुट में रहा करते हैं। फिर प्रत्येक टुकड़ी में एक ही पुरुष अनेक स्त्रियों के साथ रहा करता था। यह पुरुष अपनी टुकड़ी का एकाधिकारी, शक्तिशाली, नृशंस नेता हुआ करता था। यह अपनी टुकड़ी के सभी बाल-बच्चों का लालन-पालन करता और उनका संरक्षक हुआ करता था। यही कारण है कि उस टुकड़ी के सभी पुत्र अपने पिता से प्रेम रखते, उसकी आज्ञाओं का पालन करते, अपने पिता को अपना आदर्श मानते और पिता-तुल्य बनने का प्रयास करते थे। परन्तु, वयस्क हो जाने पर पिता अपने पुत्रों को अपनी टुकड़ी से निर्वासित कर देता था, ताकि ये नवयुवक पुत्र जवान माताओं के साथ सहवास न करने लग जाएँ। निर्वासित पुत्रों को अपना निर्वासन कभी भी अच्छा नहीं लगता था। वे अपनी युवती माताओं के प्रति काम-लिप्सा से आतुर रहते और इसकी तृप्ति मे अपने पिता को मार्ग का रोड़ा समझकर उसके प्रति विद्वेष भाव रखते थे। फ्रायड का अटकल है कि यह प्रागैतिहासिक सत्यता है कि निर्वासित पुत्र बार-बार आपस में मिलकर टुकड़ी के आदिपिता का वध कर देते थे, ताकि अपनी युवती माताओं को प्राप्त करें और फिर इस आदिपिता के बल को प्राप्त करने के लिए उसे खा जाते थे। पर पितृ-वध के बाद उनकी मानसिक स्थिति मे परिवर्तन आ जाया करता था। प्रेम और विद्वेष के द्वय मे से एक की (विद्वेष-भाव) संतुष्टि हो जाने पर दूसरी वृत्ति सक्रिय हो उठती है। अतः, पितृ-वध के बाद विजयी पुत्रों में पितृ-प्रेम की भावना उभड़ पड़ती थी और प्रायः वे आपस मे यह शपथ लिया करते थे :

१. वे अब फिर पिता का कभी भी वध नहीं करेंगे।
२. वे अपनी माता के साथ विवाह नहीं करेंगे।

इस शपथ के फलस्वरूप वे किसी पशु को अपनी टुकड़ी का पिता मानकर उसकी पूजा करने लगे और इस पशु को वे अपनी टुकड़ी के सभी सदस्य का टोटम-देवता मानने लगे। अतः, इस टोटमवाद के अनुसार न तो वे टोटम-पशु का वध करते थे और न अपने टोटमधारियों के बीच विवाह-संबंध स्थापित

करते थे। पर क्या टोटम को पिता का प्रतिनिधि मान लेने पर पितृ-विद्वेष की भावना समाप्त हो गई ? नहीं।

पितृ-प्रेम और पितृ-विद्वेष के द्वय में मानव दोलायमान होता रहता है। इस पितृ-विद्वेष की वृत्ति को सतुष्ट करने के लिए निर्धारित समयों पर टोटम-पशु का बध हुआ करता था और सभी टोटमधारी एक साथ मिलकर उस टोटम-पशु का भक्षण करते थे ताकि उसके मांस से उन्हे बल प्रदान हो। फिर टोटम-पशु के बध होने पर बध करने के पाप से बचने के लिए टोटमधारी पश्चात्ताप किया करते और मातम मानते थे और शोक मना लेने के बाद ही टोटम के मांस का प्रीति-भोज हुआ करता था। अतः, पशु-बलि, फ्रायड के अनुसार अति प्राचीन धार्मिक अनुष्ठान है जो पाप-मोचन तथा आत्मग्लानि के प्रक्षालन हेतु मनाया जाता था। अन्तिम रूप मे देखा जाए, तो पशु-बलि आदि-पिता से क्षमायाचना, उससे सायुज्य स्थापित करने तथा आत्मग्लानि को प्रशान्त करने के हेतु किया जाता था। अतः, मानव का आदिम धर्म टोटम-धर्म है जो अन्तिम रूप मे आद्यपिता के प्रेम-विद्वेष पर आधारित माना जा सकता है। टोटमवाद में भी विकास-क्रम बना रहा और अनेक चरणों को पारकर अन्त में एकेश्वरवाद की स्थापना हुई है जिसकी व्याख्या फ्रायड ने निम्नलिखित रूप से की है।

एकेश्वरवाद की फ्रायडवादी व्याख्या

फ्रायड के अनुसार सभी धर्मों के मूल मे टोटमवाद छिपा हुआ है और टोटमवाद का पशु वास्तव मे आद्यपिता का ही प्रतीक है। इसलिए अन्त में जिसे हम ईश्वर कहते हैं वह इस आद्यपिता की आरोपित आद्यप्रतिमा है। एकेश्वरवाद में यह आद्यपिता की आद्यप्रतिमा एकदम स्पष्ट दिखती है। एकेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, नित्य, अनुपम तथा शुभ सत्ता है जिसने इस विश्व की सृष्टि की है और जो सभी मानवों का सृष्टिकर्त्ता संचालक और संहारक है। उस एकेश्वर की आज्ञा पालन करना सभी मनुष्यों का सर्वोच्च धर्म है और उसकी आज्ञाओं की अवज्ञा करना बड़ा पाप है। इसी एकेश्वरवाद में ईश्वर का स्वरूप एकसत्ताधारी, नृशंस, प्रतापी, संचालक तथा संहारक आद्यपिता के समान दिखाई देता है जो इस बात का साक्षी है कि वास्तव में ईश्वर इसी आद्यपिता का प्रतीक है। इस एकेश्वरवाद के विकास में कुछ उल्लेखनीय घटनाओं का होना अनिवार्य है; क्योंकि फ्रायड के अनुसार

एकेश्वरवाद सर्वप्रथम यहूदियों मे ही देखा जाता है और यहूदियों से ही ईसाई धर्म मे एकेश्वरवाद का प्रचार और प्रसार हुआ।

आद्यपिता के संबंध में फ्रायड ने दिखाया है कि प्रारंभ में यह आद्यपिता पुत्रों का आदर्श था जिसके साथ आत्मसात्‌कर वे अपने को पिता-तुल्य बनना चाहते थे और आद्यपिता अपने पुत्रों का प्रेम का विषय था। परन्तु बाद मे मातृ-लिप्सा मे पड़कर पुत्रों ने पिता से बैर रखना सीखा और अन्त मे उसका घात भी किया। चूंकि पुत्र आद्यपिता से प्रेम रखते थे, इसलिए पितृ-बध के फलस्वरूप उन पुत्रों में आत्मग्लानि उत्पन्न हुई। अत, कहा जा सकता है कि उन पुत्रों की अथवा मानव की मातृ-लिप्सा ही आद्य पाप है जिसके कारण उनमे आत्मग्लानि उत्पन्न होती है। जितने भी यज्ञादि कर्मकाण्ड हैं उनका एक ही परम उद्देश्य है कि किस प्रकार इस आद्य पाप का प्रक्षालन किया जाए, क्योंकि प्रागैतिहासिक काल में पितृ-बध की घटनाएँ इतनी अधिक बार प्रचंड रूप मे घटती रही हैं कि इनकी अमिट छाप मानव मन मे दमित रूप में पीढ़ियों से संक्रान्त होती जा रही है और अनंत काल से होकर मानव आद्यपिता-संबंधी ग्रन्थि के कारण इस आद्य पाप से मुक्त होना चाहता है, पितृ-बध के कारण वह पिता से क्षमायाचना करता है और पितृ-प्रेम की कामना करता रहता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि फ्रायड ने धर्म-प्रवृत्ति को जारी रखने के लिए दो आकांक्षाओं को विशेष महत्त्व दिया है।

(क) आद्य-पाप (मातृ-लिप्सा के हेतु पितृ-बध) से छुटकारे की भावना।

(ख) प्रकृति और समाज के प्रकोप से त्रस्त होकर तथा निस्सहायता के भाव से पीड़ित होकर ईश्वर के द्वारा संरक्षा की भावना।

इन दोनों भावनाओं में आद्यपिता की आद्यप्रतिमा छिपी हुई है। जितनी ही प्रबलता के साथ मानव इन दो उपर्युक्त भावनाओं से उत्पीड़ित होगा, उतना ही अधिक उसके मन मे आद्यपिता के लिए आकांक्षा बढ़ेगी। परन्तु देवी-देवता, वीर-उपासना इत्यादि को छोड़कर एकेश्वरवाद के लिए आवश्यक है कि ऐसी परिस्थिति जाति-विशेष में उत्पन्न होती रहे जिसमें आद्यपिता की दमित ग्रन्थि उभड़ती रहे। आद्यपिता-संबंधी दमित ग्रन्थि प्रायः तीन परिस्थितियों में उभड़ सकती हैं।

१ सर्वप्रथम, दमित मनोग्रन्थि को दमित रखने के लिए दमनकारी शक्तियाँ रहती हैं। यह बात निद्रा, थकावट तथा बीमारी में पाई जाती है जब दमन-

कारी शक्ति शिथिल पड जाती है और तब अवसर पाकर दमित ग्रन्थि सक्रिय हो उठती है। स्वप्न के विषय मे फ्रायड ने इस बात को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है।

२. फिर प्रत्येक दमित मनोग्रन्थि में मानसिक शक्ति लगी रहती है। यदि इन मानसिक शक्तियों में संवृद्धि हो जाए तो मनोग्रन्थि दमनकारी शक्तियों को हराकर सक्रिय हो जाएँगी और मानव के चेतन और अचेतन व्यवहार में आ धमकेंगी। यह बात यौवनारंभ मे देखी जाती है जब युवकों में मातृ-लिप्सा बढ जाती है।

३. एक तीसरी परिस्थिति वह होती है जो दमन काल की परिस्थिति के समान होती है और ऐसी परिस्थिति के आ जाने पर दमित मनोग्रन्थि उभड पडती है। यहूदियो के जीवन मे यह तीसरी शर्त बार-बार घटती आई है। उनके इतिहास में बारंबार उनका प्रिय नेता उन्ही के हाथों से बध होता आया है। यह बात दमनकाल की परिस्थिति से मिलती-जुलती है जिसमें आदिपिता अपने ही निर्वासित पुत्रों के द्वारा बध हुआ करता था। चूंकि यहूदी जाति के प्रिय नेता यहूदियों के द्वारा बध होता आया है, इसलिए यहूदियों में ही आदि-पिता बध-संबंधी दमित ग्रन्थि उभड़ती आई है जिसमे प्रिय आदिपिता से क्षमा-याचना उससे जीवन मे सहायता प्राप्त करना तथा उससे सायुज्य उत्पन्न करना उसकी आज्ञाओं का पालन करना आदि, यहूदियों के आचार-जीवन का मुख्य अंग बना रहा है। इसी ऐतिहासिक पितृ-बध की दमित ग्रन्थि यहूदियो में बारंबार उभड़कर उनमे एकेश्वरवाद के निमित्त विशेष परिस्थिति को उत्पन्न करती रही है और यही कारण है कि फ्रायड के अनुसार यहूदियों में ही एकेश्वर-वाद शुद्ध और उग्र रूप मे देखा जाता है। यहूदियो के इतिहास में घटित इस प्रकार की घटना को थोड़े विस्तार के साथ इस रीति से बताया जा सकता है।

यहूदी बहुत काल तक मिस्र देश की अधीनता में रहे थे जहाँ उन्हे कठिन शारीरिक श्रम करना पडता था। वे भी अन्य मिस्रियो के समान मूर्तिपूजक थे। परन्तु एक समय मिस्रदेश मे इख्नातन नामक राजा हुआ (ई० पू० १३७५-१३५८), जो सीरिया देश मे उत्पन्न ऐकेश्वरवाद को माननेवाला था और जिसने मिस्री पुजारियों को मूर्तिपूजा करने से मना किया। परन्तु इख्नातन राजा के मरने के बाद मूर्तिपूजा फिर भड़क उठी और मूर्तिपूजा के पुनरुद्धार के कारण इखनातन राजा के चलाये हुए एकेश्वरवादियों को मिस्र देश छोड़कर

भाग निकलना पड़ा। फायड के अनुसार मिस्रदेश में मिस्र के दासत्व में रहने वाले यहूदियों में से मूसा नामक नेता उत्पन्न हुआ। फायड के अनुसार मूसा या तो यहूदियों का शासक था या वह उनका मुख्य पुजारी था जो उन्हें एकेश्वरवाद की शिक्षा देता था। मिस्र देश मे मूर्त्तिपूजा के पुन. स्थापित हो जाने पर मूसा यहूदियो को लेकर मिस्र देश से निकलकर कनान देश की ओर चला गया और वहाँ उसने यहूदियों को शुद्ध एकेश्वरवाद का पाठ सिखाया और इसी एकेश्वरवाद को स्वीकार करने के लिए उन्हे बाध्य किया। मूसा यहूदियों का प्रिय नेता था क्योंकि उसने यहूदियो को उनकी दासता से मुक्त किया था और उसने उन्हें जीवन का मुख्य आचार सिखाया था। परन्तु, चूँकि अधिकांश यहूदी मिस्र देश की मूर्त्तिपूजा को मानते थे, इसलिए मूर्त्तिपूजा को रोकने के हेतु अनेक यहूदी मूसा को नहीं मानते थे। एकबार मूसा की अनुपस्थिति मे यहूदी आपस मे मिलकर वृषभ-पूजा करने लगे तो जब मूसा लौटकर आया और यहूदियो को मूर्तिपूजा करते पाया तो वह बहुत कुप्त हुआ और उसने उनकी मूर्त्ति ध्वस्त कर दी और उसने उनकी मूर्त्ति के पुजारियो की भर्त्सना के साथ ताडना भी दी। संभवत: यहूदियो मे से कुछ लोगों ने रहस्यपूर्ण परिस्थिति में मूसा की हत्या कर दी। इस हत्या के कारण यहूदियो मे वही परिस्थिति उत्पन्न हो गयी जिसमे आदिपिता का बध निर्वासित पुत्र किया करते थे। मूसा-बध के बाद मूसा के प्रति यहूदियों का प्रेम उमड पड़ा। उन्होंने मूसा के चलाए याहवे के एकेश्वरवाद को स्वीकार करने की शपथ खाई और याहवे की पूजा सभी को मान्य हुई। फिर मूसा के लिए उनकी आकाक्षा प्रबल रूप धारण करने लगी तो उनके अन्दर धारणा बन गई कि याहवे* का मूसा के समान ईशदूत (नबी) फिर उत्पन्न होगा जो यहूदियों को समस्त विश्व का साम्राज्य समर्पित करेगा। यहूदियो के इतिहास मे बारंबार प्रिय नेता की यहूदियो के ही द्वारा हत्या होती आई है। अनेक ईशदूत हुए जिन्होने ईश्वर के संदेश को यहूदियों को सिखाया और यहूदी भी उनसे प्रसन्न हुए। तो भी कुछ यहूदियो ने बार-बार ईशदूतों की अपने स्वार्थ के लिए, सभवतः मूर्त्तिपूजा के पक्ष मे, हत्या करते रहे हैं जिसके फलस्वरूप उनके प्रति प्रेम के उभड़ने पर याहवे की पूजा बनी रही,

---

* याहवे यहूदियों का एक जाति-देवता था जिसका सिंहासन पर्वत था और जिसे भूकम्प और बादल का देवता कह सकते हैं। इस देवता की पूजा भेड़ों की बलि चढ़ाकर होती थी। नबियों की शिक्षा के फलस्वरूप अन्त में याहवे को सर्वव्यापक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और एकमात्र ईश्वर माना जाने लगा।

अर्थात् प्रत्येक नबी की हत्या से आदिपिता की मनोग्रंथि उमड़ पड़ने पर उसके प्रति दमित प्रेम उमड़ता गया और याह्वे-संबंधी एकेश्वरवाद की जड़ मजबूत होती गयी। फिर प्रिय नेता का अपनी ही यहूदी-जाति के द्वारा ईसा बध देखने में आता है जिसके हेतु यहूदियों में, और तब यहूदियो से प्राप्त, अन्त में ईसाइयों मे एकेश्वरवाद की जड जमी।

ईसा भी यहूदियों का प्रिय नेता था। वह उन्हें एकेश्वर के प्रेम की बात सिखाता, दरिद्रों की सहायता करता, बीमारियो की सेवा करता और वह सामान्यत: लोकोपकार के हेतु यहूदियो का लोकप्रिय नेता था। तोभी अपने स्वार्थ मे आकर यहूदी पुजारियो के द्वारा उसे क्रूश का प्राणदंड दिया गया। यहूदियो के अन्दर ईसा की मृत्यु से आदिपिता के बध की मनोग्रंथि फिर उमड़ पड़ी और फिर उन्हें आदिपिता के प्रतीक ईश्वर के प्रति प्रेम, भक्ति तथा आस्था दृढ हो गई। अत., यहूदियों मे एकेश्वरवाद की जड पकड़ने का मुख्य कारण यही हुआ कि उनके बीच आदिपिता-तुल्य उनका प्रिय नेता बारबार उन्ही के हाथ बध होता रहा और इन घटनाओं की बारबार पुनरावृत्ति के कारण आदि-पिता की मनोग्रंथि उमडती रही और इसके फलस्वरूप आदिपिता के आरोपित प्रतीक ईश्वर मे यहूदियो की आस्था दृढ होती गयी। ईसा के बध हो जाने पर एकेश्वरवाद की कुछ अन्य विलक्षणताएँ भी इसके अन्तर्गत आ गईं जिसके हेतु ईसाई एकेश्वरवाद यहूदी एकेश्वरवाद से अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ।

आद्य पाप यही था कि पुत्रो ने मिलकर अपने आदिपिता का बध किया था और इस पाप का प्रायश्चित करने के लिए तथा हतपिता से क्षमायाचना के लिए मानवपुत्र पशुबलि के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने का प्रयास करते आ रहे थे। परन्तु ईसा की मृत्यु से मानव-पुत्रो को अच्छा मनोवैज्ञानिक आधार मिल गया जिसके द्वारा वे अपने को आद्य पाप से मुक्त समझ ले सकें। यहाँ स्वयं ईसा ने जो ईश्वर का पुत्र था अपनी बलि दी ताकि ईश्वर प्रसन्न होकर उसके माध्यम से उस पर विश्वास रखनेवाले सभी पुत्रों को आद्य पाप से छुटकारा दे। स्वयं पुत्र ही ने, अर्थात् ईसा ने पुत्र की हैसियत से पुत्रों के पाप के प्रायश्चित के रूप मे अपनी बलि दी ताकि आद्यपिता इस बलि के आधार पर आद्यपितृबध की बात क्षमा कर दे। चूँकि पुत्रों के ऋण को स्वयं पुत्र ही अपनी बलि के द्वारा चुका सकता था, इसलिए ईसाइयों को अब ईश्वर-कोप (पितृ-बध के कारण) का भय न रहा। अतः, ईसा की मृत्यु के साथ आत्मसात्

करके ईसाई को पूर्ण शांति मिलने में बहुत अधिक लाभ पहुँचा और यही कारण हैं कि ईसाई एकेश्वरवाद का प्रचार और प्रसार पाश्चात्य जगत् में संभव हुआ। ईसा की मृत्यु से निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक बातें हुई।

१ यहूदियो के प्रिय नेता के रूप मे यहूदियों के द्वारा मारे जाने पर आदिपिता तुल्य ईश्वर मे यहूदियो की आस्था अटल हो गई।

२. चूंकि सभी पुत्रो के बदले मे (ईश्वर के) पुत्र ईसा ने अपनी बलि ईश्वर की इच्छा से समस्त पुत्रो के आद्य पाप के मोचन मे अर्पित की इसलिए उस पर विश्वास करनेवाले उस आहुति से आत्मसात् कर अपने आद्य पाप से मुक्त होकर शाति प्राप्त करने लगे।

३. अब सर्वप्रथम ईसाई अपना आत्मसात् ईसा के साथ करता है और तब इस माध्यम से वह अपना आत्मसात् आदिपिता के आरोपित प्रतीक ईश्वर के साथ करता है। अतः, ईश्वर से जो आरंभ मे पार्थक्य हो गया था, अब ईसा के माध्यम से फिर ईश्वर के साथ सायुज्य प्राप्त कर सकता है।

परन्तु, जो भी मनोवैज्ञानिक लाभ ईसाई और यहूदी एकेश्वरवाद से प्राप्त हो, वह अन्त मे भ्रम मात्र है। ईश्वर आदिपिता का प्रतीक है और आदिपिता ऐतिहासिक सत्ता है। अतः, ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान समझकर वास्तविक मानना भ्रममात्र है। आदिपिता जीवित तो है नहीं, जो मानव को प्राचीनतम पितृबध के कारण कुप्त होकर उन्हे दडित करेगा। अतः, ईश्वर-कोप मनगढ़न्त है और वास्तविकता की दृष्टि से संपूर्णतया मिथ्या आलाप है। परन्तु ईश्वर में विश्वास के बने रहने का एक और मूल कारण है जिसका उल्लेख करना चाहिए।

आदिपिता उस सत्ता का प्रतीक है जो अपनी टुकडी के पुत्रो को अभय दान देकर उनका प्रेमपूर्वक प्रतिपालन करता था। अब मानव प्रकृति के प्रकोप तथा समाज के अन्याय के कारण अपने को दुर्बल तथा असहाय पाता है। विज्ञान, कला, मादकद्रव्य तथा सामाजिक संगठन के आधार पर मानव अपनी दुर्बलताओं को हटाना चाहता है, पर इन उपायो मे से किसी से भी उसे पूर्ण संतोष नही मिलता है। अतः, मानव उस प्रतीक को वास्तविक मान लेता है जिसके द्वारा उसे अपनी असहाय की स्थिति में उसे मानसिक बल प्राप्त हो।

वह आद्यपिता के प्रतीक ईश्वर को वास्तविक मानने लगता है और उसकी आराधना कर मानसिक संतोष प्राप्त करता है। आद्यपिता का प्रतीक प्रत्येक मानव को अपने शैशवकाल के पिता के प्रसंग में पुनरुज्जीवित हो जाता है और जब-जब मानव अपने को असहाय पाता है तब-तब वह अपने शैशवकाल के पिता की दमित प्रतिमा को ईश्वर के रूप में आरोपित पाकर उससे सायुज्य स्थापित कर अपने मे बल का संचार करता है। पर फ्रायड का कहना है कि न तो आद्यपिता और न शैशवकाल का पिता ही हमारी समस्याओं का समाधान कर सकता है। उन्हें वास्तविक मानने का तात्पर्य है कि हम अज्ञ बच्चों के समान कपोल-कल्पना को वास्तविक मान रहे हैं। फ्रायड का इस प्रसंग में उद्‌गार भी उल्लेखनीय है :

'धर्म स्पष्ट रूप मे बचपना है और वास्तविकता के साथ इसका इतना कम सामंजस्य है कि मानवता-प्रेमी को यह सोचकर बडा दुःख होता है कि अधिकाश मरणशील मानव इस (धर्म के) स्तर से कभी भी ऊपर नही उठ पाएँगे'[१]

पर क्या धर्म-विश्वास से सभ्यता-विकास मे योगदान नही मिला है ? हाँ, फ्रायड मानते हैं कि आदिकाल मे धर्म-विश्वास से लोगों को अवश्य ही लाभ पहुँचा है।

धर्म-विश्वास से हानि-लाभ

राईक ने बताया है कि फ्रायड ने बातचीत में स्वीकार किया था कि धर्म इच्छापूरक भ्रम अवश्य है, परन्तु सभ्यता के प्रारंभ मे धर्म से मानव को लाभ अवश्य पहुँचा है। लेकिन विज्ञान प्रचार के बाद धर्म से शिक्षा और प्रगति में धक्का पहुँच रहा है।[२] सभ्यता-विकास मे धर्म से मूलप्रवृत्तियों को सामाजिक और नैतिक बनाने में विशेष रूप से योगदान प्राप्त हुआ है। हिंसात्मक तथा काम प्रवृत्तियाँ बडी प्रबल होती हैं और इनके कारण मानव के बीच कलह रहा करता था। इनकी रोक-थाम और शिक्षण में धर्म से बडी सहायता मिली है। फ्रायड के अनुसार धर्म के प्रथम चरण में, जिसे टोटम धर्म कहते हैं, कम-से-कम दो व्रतों की स्थापना हुई जिससे समाज और काम-जीवन में लाभ पहुँचा, अर्थात्

(क) पितृ-वध निषेध

(ख) मातृ के साथ विवाह-निषेध।

---

१. सिविलाइजेशन ऐंड इट्स डिस्कन्टेंट—पृ. २३

२. फ्रॉम थर्टी यीयर्स विथ फ्रॉयड—पृ १२६

फिर प्रारंभ में जब पकड़ाने का भय नही होता था, तब व्यक्ति नैतिक नियमों का उल्लंघन करते थे। इस बात से समाज को बचाने के लिए ईश्वर-विश्वास से बड़ा लाभ हुआ। ईश्वर-संबंधी देवकथा से यह लोगों को विश्वास हो गया कि ईश्वर सर्वद्रष्टा है और सभी देश-काल मे विराजमान रहता है। अतः, उसकी आँख बचाकर कोई कुकर्म नही किया जा सकता है। ईश्वर में विश्वास के जम जाने पर व्यक्ति के अन्दर नैतिक मानदड बाह्य से आन्तरीकृत हो गया जिसके कारण मानव में नैतिकता का अच्छा प्रसार हुआ।

पुनः, पिता आदिकाल से ही शिशु के लिए महाबली दिखाई देता है और मातृ-लिप्सा से सचालित होकर बच्चा कभी भी अपने पूर्ण व्यक्तित्व को नही प्राप्त कर सकता है। उसे शिश्नलोप भय तथा पितृ-विद्वेष की भावना सताकर उसके व्यक्तित्व के विकास में रोड़ा अटकाती रहती है। परन्तु ईश्वर को पिता मान लेने से पितृ-ग्रंथि से मानव मुक्त हो जाता है और पितृ-पूजा से मुक्त होकर सर्वशक्तिमान ईश्वर-पिता की पूजा के आधार पर उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास होने लगता है।

किसी भी मूलप्रवृत्ति का शिक्षण, उसका त्याग तथा उदात्तन केवल माता-पिता की प्रेम-भावना से सभव होता है। ईश्वर को पिता मान लेने पर ईश्वर प्रेम, भरोसा और आस्था का विषय हो जाता है और प्रेम के नाम पर मानव अपनी कामवृत्ति का त्याग करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि कामवृत्ति उदात्तन-प्रक्रिया मे परिणत होकर समाज, शिक्षा और सभ्यता की सभी रचनात्मक प्रक्रियाओं को प्रोत्साहन देने लगती है। बिना कामवृत्ति के उदात्तन संभव नही हो सकता है और इस कामवृत्ति को उदात्त करने मे ईश्वर के प्रेम का बहुत बड़ा हाथ है।

चूंकि ईश्वर प्रेम है। अतः, प्रेम का भूखा मानव प्रेम की वेदी पर किसी भी त्याग को तुच्छ समझता है और किसी भी आज्ञा-पालन करने में नही हिचकता है। इसलिए ईश्वर के प्रेम के नाम पर यहूदियो मे नैतिकता का विकास हुआ। अन्त में यहूदियों के ईशदूतों ने उन्हे सिखाया कि ईश्वर पशु-बलि नहीं, वरन् वह चाहता है कि मानव दयालु हो, अपने पापों से घृणा करे और ईश्वर की बताई नैतिक आज्ञाओं का पालन करे। इसलिए एकेश्वरवाद से विशेषकर यहूदियों में नैतिक आचरण का प्रचार और प्रसार हुआ।

केवल यहूदियों में नैतिकता का ही प्रसार नहीं हुआ, परन्तु यहूदियों को भी अपने ईश्वर याहवे को नैतिक आदर्श का चरम रूप मानना पड़ा। ईश्वर को नैतिक मान लेने पर यहूदियों में, फ्रायड के अनुसार जादू-टोना नही फैल पाया और फिर उनमे रहस्यानुभूति के स्थान पर बौद्धिकता का ही विकास हुआ। मूसा ने आदेश दिया था कि याहवे अदृश्य सत्ता है और उसकी मूर्त्ति नहीं बनाई जा सकती है। इस प्रकार के ईश्वर की भावना और उसकी उपासना स्थूल-रूप में नही की जा सकती है। अतः, ईश्वर के संबंध मे विचार करने के लिए यहूदियों को अपनी बुद्धि और अमूर्त्त प्रत्ययों की आवश्यकता पड़ी और ऐसा होने पर यहूदियों के बीच बौद्धिकता तथा तर्कबुद्धि का विकास हुआ।

अन्त मे, स्वीकार करना पड़ेगा कि वास्तविकता कटु है और जीवन प्रायः असह्य मालूम देता है। परन्तु ईश्वर मे अटल विश्वास के रहने से व्यक्ति मे आत्म-संतोष और जीवन मे शान्ति, सुरक्षा-भाव तथा स्थिरता का भाव रहता है। इसलिए फ्रायड ने माना है कि धर्म मे आस्था रहने से व्यक्ति को मनस्ताप से बचाव हो जाता है और आज भी अनेक मनस्तापियो को धार्मिक आस्था हो जाने पर उनमे आत्मबल, आत्मविश्वास और जीवन की उलझनो के प्रति अभि-योजन-क्षमता आ जाती है।

परन्तु, फ्रायड और फ्रायडवादियों के अनुसार जो भी धर्म से लाभ प्राग्वैज्ञानिक युग में संभव हुआ हो, अब इस वैज्ञानिक काल मे धर्म-विश्वास से हानि छोड़कर लाभ नही हो सकता है।

सर्वप्रथम, विज्ञान के युग में बचपने को अपनाना तर्कसंगत नही माना जाएगा। ईश्वर के अस्तित्व को वास्तविक मानना तर्क और बुद्धि के विरुद्ध व्यापार है। फिर धर्म बराबर विज्ञान का विरोध करता आया है। कुछ यह बात इतिहास की पुरानी कथा नही है। अभी भी धर्म विज्ञान-प्रसार मे बाधक दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, फ्रायड के मनोविश्लेषण के विरोध में धर्म झंडा ऊँचा करता चला आया है। परन्तु फ्रायड के अनुसार विज्ञान ही मानव का सच्चा मित्र है और जो विज्ञान के द्वारा नही प्राप्त हो सकता है उसे श्रुति तथा धार्मिक विश्वास के आधार पर नही प्राप्त किया जा सकता है। प्रायः धर्म में इच्छा'पूर्त्ति के हेतु काल्पनिक सत्ता की रचना की जाती है जिसे वास्तविक मानकर यथार्थ जगत् की अवहेलना की जाती है। हमें स्वीकार करना चाहिए

कि वास्तविक जगत् कटु है और इसके बदले मधुर काल्पनिक रचना में विश्वास रखना मानवता को धोखा देना है।

फिर विज्ञान उदात्तन-प्रक्रिया के द्वारा ही संभव होता है और यह उदात्तन प्रक्रिया कामवृत्ति के शिक्षण और परिमार्जन से उत्पन्न होती है। परन्तु धर्म कामवृत्ति के प्रकाशन और शिक्षण में अवरोध उत्पन्न करता रहा है। धर्म कामवृत्ति के उदात्तन की बात छोड़कर कामवृत्ति की संतुष्टि मे अन्तर्बाधा उत्पन्न कर देता है। इसका उदाहरण स्त्रियो की धार्मिकता से स्पष्ट हो जाता है। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक धर्मपरायण होती हैं और धार्मिक विश्वास के कारण उनकी काम-वासनाओ का उदात्तन नही हो पाता : उनकी कामवृत्ति अन्तर्बाधा के कारण कुंठित हो जाती और इसलिए उदात्तन न होने के कारण स्त्रियो मे बौद्धिकता का विकास नही हो पाता है।

यह ठीक है कि सभ्यता के विकास में धर्म के द्वारा मानव मे नीति और आचार का विकास हुआ। परन्तु धर्म के अब जारी रहने पर इससे आचार पर आघात हो जाने की आशंका हो गई है। इसका कारण है कि धर्म में आचार को ईश्वर की आज्ञा माना जाता है और ईश्वर स्वप्न-सत्ता होने के कारण अवश्य ही निकट भविष्य मे समाप्त हो जायगा और तब ईश्वर पर निर्भर और आधारित (ईश्वर के विलयन के साथ) आचार के भी विनष्ट हो जाने का भय हो जाता है। अत, आचार को ईश्वर की सत्ता और ईश्वर-विश्वास से एकदम पृथक् कर देना चाहिए। पुनः, धर्म पर आश्रित आचार जीर्ण और अपरिवर्तनशील रहता है। उदाहरणार्थ, धार्मिक आचार कामवासना से अत्यधिक सबद्ध रहता है और आचार का संबंध काम-जीवन से बहुत कम होना चाहिए। दूसरी बात है कि ईश्वर की आज्ञा मानकर आचार-सिद्धान्त नकारात्मक होगा और अपरिवर्तनशील। उदाहरणार्थ, धार्मिक आचार में आदेश रहता है कि मानव को क्या नहीं करना चाहिए, न कि क्या करना चाहिए। इसमें टबू और निषेध ही बहुधा पाए जाते हैं। अब चूंकि ईश्वर-विश्वास सामूहिक मनोग्रस्ति मनस्ताप है, इसलिए इसका विलयन कालगति के साथ अवश्यंभावी है। इसलिए अब आचार में विकास और उसके उचित अनुष्ठान के लिए आचार को धर्म से एकदम पृथक कर देना चाहिए। अतः, धर्म-विश्वास के बने रहने पर आचार पर भारी धक्के की आशका बनी रहेगी।

यह भी ठीक है कि धर्म के द्वारा समाज का संगठन हुआ और मानव की मूलप्रवृत्तियों का समाजीकरण हुआ है। परन्तु ईश्वरवाद के हो जाने पर

अन्तर्राष्ट्रीय कलह की संभावना बराबर बनी रहेगी। इसका कारण है कि ईश्वर आदिपिता तथा शैशवकाल के पिता का प्रतीक है और पिता के प्रति मानव का उभयभाव बना रहता है। इसलिए यदि कोई जाति सहानुभूति का पात्र होगी तो अन्य सभी जातियाँ घृणा, विद्वेष और कलह का विषय बन जाएँगी। फिर ईश्वरवादी धर्म के नाम पर आपस मे लड़ते आए हैं, उदाहरणार्थ, ईसाई और मुस्लिम, रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेंट। इसलिए फ्रायड के अनुसार समसामयिक विज्ञान के युग मे धर्म से लाभ होने की अपेक्षा हानि की ही बहुत अधिक समावना है। फ्रायड समझते थे कि मानव बिना किसी परम्परागत धर्म के रह सकता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'फ्यूचर आव ऐन इल्यूजन' में लिखा है कि मानव तर्कबुद्धि का सहारा लेकर जी सकता है। फ्रायड स्वयं अपनी ही देन से विस्मृत हो गए थे। उन्होंने बताया है कि मानव अचेतन से बराबर संचालित होता रहेगा और वह संपूर्णतया दमित ग्रन्थियो से कभी भी पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता है। ऐसी अवस्था में तर्कबुद्धि के सहारे जीवन-यापन का फ्रायड ने केवल एक भ्रम उत्पन्न कर दिया है। मानव बिना धर्म के नहीं रह सकता है और आगे चलकर हम देखेंगे कि स्वयं फ्रायड ने भी मानवतावाद को धर्म के रूप में अपनाया है। पर हमें देखना है कि क्या फ्रायड की धर्म की मनोवैश्लेषिक व्याख्या संतोषप्रद तथा वैज्ञानिक है।

धर्म की फ्रायडवादी व्याख्या की आलोचना

यदि जेम्स और फ्रायड का मिलान किया जाए तो हम पाएँगे कि जेम्स ने धर्म को, विशेषकर ईश्वरवाद को स्वस्थ व्यापार माना है और ठीक इसके विपरीत फ्रायड ने ईश्वरवाद को मनस्ताप माना है। फ्रायड ने अपने को वैज्ञानिक कहा है। तो क्या उन्होंने सामान्यता की कसौटी रखकर ईश्वरवाद को मनस्ताप कहा है ? या कोई ऐसा भी धार्मिक व्यक्ति उनके पास आया जो अपनी धार्मिक आस्था के कारण आतंकित होकर फ्रायड से धार्मिक आस्था से अपने को मुक्त करने के लिए अपना इलाज करवाया ? फिर क्या किसी धार्मिक व्यक्ति ने अपने को कभी मनस्तापी स्वीकार किया है ? जब कभी किसी ईश्वरवादी ने ईश्वरवाद को मनस्ताप नहीं कहा, तो फ्रायड को क्या अधिकार था कि आप ईश्वर की उपासना को मनस्ताप कहते ? शायद फ्रायड का और फ्रायडवादियों का यह तर्क है कि मनोग्रस्ति मनस्ताप में और धार्मिक व्यापार में इतनी अधिक समानता है कि दोनों को समकक्ष मनोव्याधि माना जा सकता है। परन्तु स्वयं

फ्रायड ने स्वीकार किया है कि धर्म और मनोग्रस्ति मनस्ताप में एक बड़ा भेद है और वह अन्तर है सामाजिकता का। परन्तु यदि सामान्यता और असामान्यता का कहीं भेद है तो वह सामाजिकता का भेद है। सामान्य वे व्यक्ति हैं जो सामाजिक व्यापार करते हुए अपने समाज और सामाजिक मांगों के प्रति अभियोजित रहते हैं; और असामान्य व्यक्ति वे है जो समाज के प्रति अभियोजित रहकर सामाजिक व्यापारों को प्रतिपादित करने में असमर्थ हो जाते हैं। इसलिए यदि धर्म को सामाजिक व्यापार माना जाए और यदि किसी अमुक समाज के अधिकांश व्यक्ति धर्म को उचित मानते हैं तो धार्मिक व्यापार को सामान्य कहा जाएगा, न कि असामान्य और मनस्तापी। इसलिए शुद्ध अनुभव और मनोवैज्ञानिक दृष्टि की अवहेलना करके फ्रायड ने धर्म को सामूहिक अथवा अतिव्यापक मनोग्रस्ति मनस्ताप कहा है। ईश्वरवाद को मनस्ताप कहकर फ्रायड ने केवल अपने पूर्वाग्रह का परिचय दिया है।

फ्रायड ने अपनी गवेषण को धम की मनोविश्लेषिक व्याख्या कहा है। परन्तु क्या उन्होंने वास्तव मे धर्म की व्याख्या की है? फ्रायड केवल ईश्वरवाद को ही धर्म मानते थे और धर्म के उसी रूप को उन्होने ध्यान मे रखा है जिसके द्वारा ईश्वरवाद पर प्रकाश पड सके। इसलिए फ्रायड ने अनेक धर्मों को छोड़कर टोटमवाद का अध्ययन किया है। परन्तु न तो फ्रायड ने मानावाद, सर्वजीवात्मवाद (एनिमीज्म) और न सर्वोच्च सत्तावाद (मोस्ट हाई) का ही अध्ययन किया है। फिर क्या अनेकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद तथा विकल्पेश्वरवाद धर्म के प्रमुख भेद नही हैं? तो फ्रायड ने इनका क्यो अध्ययन नही किया है? संभव है कि वे यदि ईश्वरवाद को मनस्ताप समझते हैं तो वे सर्वेश्वरवाद, बौद्ध मत तथा शांकर धर्मदर्शन को युक्तिसंगत पाते। भारतीय धर्म-परम्परा को एक वाक्य में इसे 'पूर्वजों की पूजा' कहकर ठुकरा दिया*। अतः धर्म की फ्रायडवादी व्याख्या एकागी, पूर्वाग्रही और अवैज्ञानिक है।

फ्रायड ने आदि धर्मों मे से केवल टोटम-धर्म पर ही विचार किया है और बताया है कि यही मानव का आदि-धर्म है जिससे सभी अन्य धर्म निकले है। परन्तु उन्हें यहाँ युक्तियो और तथ्यों के आधार पर सिद्ध करना चाहिए था कि टोटम-धर्म ही प्राचीनतम धर्म है। यह बात इसलिए उल्लेखनीय मानी

* मोजेज ऐंड मोनोथीज्म—पृ. १४९।

जाएगी कि मैरेट ने मानावाद को, टाईलर ने सर्वजीवात्मवाद को और लैंग ने सर्वोच्च सत्तावाद को प्राचीनतम माना था। केवल फ्रेजर ने टोटमवाद को प्राचीनतम कहा है। इसलिए फ्रायड को चाहिए था कि टोटम-धर्म को प्राचीनतम मानने के लिए तर्क प्रस्तुत करते जिसे उन्होंने नहीं किया है। फिर उन्हें चाहिए था कि वे धर्मों का विकास-क्रम दिखलाते और बताते कि अनेक अवस्थाओं को पार करता हुआ किस प्रकार ईश्वरवाद का विकास हुआ। फ्रायड ने हठवादी तथा पूर्वाग्रही के रूप में एक मनमानी रूपरेखा प्रस्तुत की है। परन्तु इसे अधूरा काम कहा जाएगा क्योंकि न तो इस रूपरेखा को तथ्यों के द्वारा विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया गया है और न इस विकास-क्रम को तार्किक एवं ऐतिहासिक आधार पर स्पष्ट किया है। अतः, टोटम-धर्म को प्राचीनतम मानने में फ्रायड ने किसी वैज्ञानिकता का परिचय नहीं दिया है।

फ्रायड ने टोटम-धर्म को प्राचीनतम और मौलिक धर्म मानने में केवल मनमानी ही नहीं की, परन्तु उसकी उत्पत्ति को अटकल पर आधारित किया है। फ्रायड ने डार्विन के इस अटकल को मान लिया है कि आदिम मानव बनमानुषों के समान टुकड़ियों में रहता था और प्रत्येक टुकड़ी का पुरुष-नेता अपने जवान पुत्रों को निर्वासित कर देता था तथा निर्वासित पुत्र अपने पिता का बध किया करते थे। पितृ-बध की कथा अप्रामाणिक है और इसे किसी आदितत्वविद्या-विशारद ने पुष्ट नहीं किया है। स्वयं फ्रायड ने स्वीकार किया है कि मानव-टुकड़ी और पितृ-बध की कथाएँ अनुभव-सिद्ध नहीं हैं*। यदि ऐसी बात है तो अनुभववादी तथा विज्ञानपोषी होने के निमित्त उन्हें पितृ-बध के मानमानी अटकल पर धर्म की संपूर्ण व्याख्या को आधारित नहीं रखना चाहिए था। यह ठीक है कि फ्रायड ने टोटम-धर्म और पितृ-बध की कथाओं को अन्य व्यक्तियों की खोज से पुष्ट करने की कोशिश की है, परन्तु राबर्ट स्मिथ तथा फ्रेजर की खोज भी डार्विन के मानव-टुकड़ी के सिद्धान्त के समान अटकल मात्र है।

पितृ-बध की आवर्त्तक कथा के साथ फ्रायड ने स्वीकार किया है कि पितृ-बध-संबंधी स्मृति मानव मन में दमित होकर अभी तक संक्रान्त होती जा रही है। इस सामूहिक स्मृति का संक्रमण वंशागति के नियमों के सर्वथा प्रतिकूल है।

---

* टोटम ऐंड टबू—पृ. २१७,
मोजेज ऐंड मोनोथीज्म—पृ. १३०।

फ्रायड पूर्णतया इस बात से अवगत थे कि अर्जित गुणों की वंशागति नहीं होती है और दमित स्मृति का संक्रमण मानना तो किसी भी वैज्ञानिक के लिए दुस्साहस का काम है। परन्तु यदि पितृ-वध की दमित मनोग्रंथि को मानव में संक्रान्त नही माना जाए, तो फ्रायड के द्वारा एकेश्वरवाद की व्याख्या नही हो सकती है और फ्रायड ने स्वय इस बात को स्वीकार किया है*। ऐसी अवस्था मे फ्रायड की धर्म की मनोवैश्लेषिक व्याख्या को वैज्ञानिक नही गिना जाएगा।

फिर एकेश्वरवाद के विकास के लिए फ्रायड ने बताया है कि उसी जाति मे एकेश्वरवाद का विकास हो सकता है जिस जाति में उसके जनप्रिय नेता अपनी ही जाति के लोगों से बध होते है। इस प्रसंग में उन्होने मूसा का दृष्टान्त लिया है। यह ठीक है कि मूसा के संबंध मे अनेक अटकल लगाए गए हैं और फ्रायड ने बिना किसी स्वतंत्र जाँच किए हुए निम्नलिखित अटकलो को मान लिया है :

(क) *मूसा यहूदी नहीं थे : वे वास्तव में मिस्री थे।*

(ख) फिर यहूदियों के बीच जो एकेश्वरवाद पाया जाता है उसे उन्होने अन्य जातियों से प्राप्त किया था।

(ग) वास्तव मे मूसा अपने से नहीं मरा, परन्तु यहूदियों ने मूसा की हत्या की थी।

(घ) अपितु, खतना की प्रथा भी यहूदियों ने मिस्रियों से ही प्राप्त की है।

उपर्युक्त चारों बातों को ऊँची कल्पनाएँ कही जाएंगी। तो क्या अटकलों के आधार पर की गई व्याख्या को वैज्ञानिक माना जाएगा ?

प्रश्न बार-बार उठाया जाता है कि वैज्ञानिक फ्रायड ने क्यों धर्म की अवैज्ञानिक व्याख्या की है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। फ्रायड स्वयं पितृ-ग्रंथि से ग्रस्त थे और इसी मनोग्रंथि से प्रभावित होकर असाक्षात् रूप से आपने पितृ-द्रोह का प्रकाशन किया है। ईश्वर को आदिपिता तथा शैशवकाल का पिता समझकर आपने ईश्वर के अस्तित्व को खंडित करने का प्रयास किया है। फिर यहूदी जाति के पिता मूसा को मिस्री बताकर अपने पितृ-द्रोह का परिचय दिया। याहवे को अन्य जातियों का ईश्वर बताकर याहवे से भी अपने को मुक्त करने

* मोजेज ऐंड मोनोथीज्म—पृ० १६१।

का प्रयास किया है। चूंकि ईसा ने अपनी प्राण-बलि देकर ईश्वर के स्थान पर पूज्य सिद्ध हुआ, इसलिए ईसाई धर्म को पिता का नहीं, वरन् पुत्र का धर्म बताकर अपने पिता जेकब को परास्त करने का मनोवैज्ञानिक प्रयत्न किया है। पर क्या फ्रायड का ईश्वरवाद की मनोवैश्लेषिक आलोचना व्यर्थ है ? नही। अनेक ईसाई एकेश्वरवाद को मनस्तापी की भाँति स्वीकार करते है। ऐसे लोगों का एकेश्वरवाद मनाव्याधि है और इस रूप मे फ्रायड की आलोचना सही है।

फ्रायड को सबसे बड़ी कमी यही है कि उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि मानव बिना किसी प्रतीक के अपने जीवन में स्थिरता नही प्राप्त कर सकता है। परन्तु फ्रायड का विश्वास था कि मानव अपनी तर्कबुद्धि के ही द्वारा वास्तविकता के प्रति अभियोजित होकर सुदूर भविष्य में जीवन यापन कर पाएगा। फ्रायड जानते थे कि मानव का अभी पूर्ण विकास नही हुआ है। अधिकांश व्यक्तियों का अधिकाश जीवन-व्यापार उनकी अचेतन मनोग्रंथियो से ही संचालित होता है। परन्तु फायड का अपना विश्वास था कि मानव अपने अचेतन को समझने और उस पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास करेगा और तब वह अचेतन ग्रंथियों से विमुक्त होकर न किसी से अकारण विद्वेष रखेगा और न किसी अकारण भय से त्रस्त रहेगा। मानव ऐसी स्थिति में एक-दूसरे के साथ भाईचारे का व्यवहार करेगा और पारस्परिक सहयोग के आधार पर विज्ञान पर आस्था रखकर जीवन की अनेक बुराइयो को दूर कर पाएगा। यह है फ्रायड का मानवतावाद। ठीक है कि विज्ञान के द्वारा सभी प्रकार के अशुभ को संभवतः दूर न किया जा सके। उदाहरणार्थ, शायद मृत्यु और बुढ़ापा और इसी प्रकार के अन्य अशुभ भी विज्ञान के द्वारा दूर नही किये जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में वास्तविकता के प्रति अभियोजित होकर, विज्ञानो के द्वारा पूर्णतया शिक्षित होकर, मानव अवश्यंभावी को अपरिहार्य समझकर, उसके प्रति आत्मसमर्पण कर देगा। फ्रायड के इस अन्तिम सदेश मे स्पिनोजावाद तथा प्राच्य के स्थितप्रज्ञ के आदर्श की प्रतिध्वनि दिखाई देती है। अतः, फ्रायड अनीश्वरवादी अवश्य थे, पर साथ ही, मानवतावादी भी थे और उन्होंने स्पष्ट बताया है कि :

१. मानव को विज्ञान को अपने जीवन का शंबल और साधन स्वीकार करना चाहिए।

२. मनोविज्ञान के द्वारा काल्पनिक भय तथा आकर्षण से मुक्त होकर मानव को निर्भीक और स्वतंत्र होना चाहिए।

३. विज्ञान के आधार पर प्रकृति पर आधिपत्य जमाना चाहिए और फिर सामाजिक समस्याओं का समाधान करना चाहिए।

४. यदि जीवन के सभी अनिष्टों का समाधान विज्ञान के द्वारा नही हो पाए, तो मानव को चाहिए कि अवश्यभावी के प्रति बिना किसी शोक और दया की भीख के पूर्ण आत्मसमर्पण कर दे*।

मानवतावाद भी समकालीन धर्मदर्शन मे धर्म ही माना जाएगा। इसलिए फ्रायड भी मानवतावादी होने के कारण धर्मवादी थे। परन्तु मानवतावाद में आध्यात्मिकतावाद नहीं है और यही कारण है कि फ्रायड को लोगों ने धर्म-विरोधी ही माना है। परन्तु फ्रायड की तुलना मे युंग की मनोवैज्ञानिक व्याख्या मे आध्यात्मिकतावाद है। अत., युंग को भी अनीश्वरवादी होते हुए, धर्मप्रेमी बताया गया है। फिर युंग ने धर्म को मनस्ताप नही कहा, वरन् धर्म को आत्म-संतुलन तथा आत्मपूर्णता का मार्ग बताया है। पुनः, सापेक्षतावादी होने के कारण युंग ने सभी धर्मों को अपने संस्कार और मनोवैज्ञानिक वर्ग के अनु-रूप मानने पर एक बराबर रूप से कल्याणकारी बताया है। अब युंग के संबंध मे उनके द्वारा धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के ही आधार पर इन सब बातों को स्पष्ट किया जाएगा।

युंग के द्वारा धर्म का विश्लेषण

युंग (सन् १८७५-१९६१) भी फ्रायड के समान गहन मनोवैज्ञानिक थे और मानव-मन की गहराई का आपने आजीवन अध्ययन किया था। परन्तु फ्रायड की तुलना मे आपको प्रत्ययवादी और बुद्धिवादी कहा जायगा। युंग के अनुसार मानव में गर्भित प्रवृत्तियाँ हैं जो अवसर प्राप्त हो जाने पर निखरित होती जाती हैं। अतः, जीवन के अनुभव से केवल अवसर मिलता है, या मूलप्रवृत्तियो को उद्दीपन प्राप्त होता है कि वे प्रस्फुटित हो जायँ। अनुभूति किसी नवीन प्रवृत्ति को उत्पन्न नही कर सकती है। फिर अनेक मूल प्रवृत्तियों के साथ, युंग के अनुसार, प्रत्येक मानव में सम्पूर्ण होने की महान वृत्ति अन्तर्निहित पायी जाती है जिसके कारण ही मानव का विकास

* फ्यूचर आव पैन इल्यूजन—पृ ८४-८५, ९३-९४।

समाकलित होता है। इस सम्पूर्ण होने की अन्तर्निहित वृत्ति को पूर्ण होने में पूरा जीवन लग जाता है। चूंकि 'धर्म' का अर्थ ही है कि जो प्रत्येक व्यक्ति को समाज के अन्य व्यक्तियों से संयुक्त करे और प्रत्येक व्यक्ति की अन्तर्निहित सभी मूलप्रवृत्तियों का समाकलन करे, इसलिए युंग के अनुसार इस सम्पूर्णत्व वृत्ति के सफल होने को धार्मिकता की संज्ञा दी गयी है। फिर चूंकि युंग ने बुद्धिवादी होने की हैसियत से अन्तर्निहित गर्भित उत्प्रेरणाओं पर अधिक बल दिया है, इसलिये वे इस सम्पूर्णत्व की भावना की सक्रियता को 'व्यष्टीकरण' या 'व्यष्टीयन' संज्ञा दी है। व्यष्टीयन क्रमशः क्रमिक रूप से सम्पन्न होता है। जीवन के पूर्वार्ध का व्यष्टीयन, जीवन के उत्तरार्ध से भिन्न होता है।

जीवन के पूर्वार्ध में प्रत्येक व्यक्ति चेतन रूप से अपनी बाह्य परिस्थिति के साथ अभियोजन-कार्य करता है और इस चेतन समाहरण की समष्टि को 'पर्सोना'* संज्ञा दी गयी है। जो समाज मे रहकर जिस कुर्सी को व्यक्ति सुशोभित करता है, वह अपने को उसी कुर्सी से आत्मसात् कर लेता है। वकील, न्यायाधीश, शिक्षक, अध्यापक, दंडाधिकारी इत्यादि समाज की अनेक कुर्सियां हैं, जिन्हे प्राप्त कर प्रत्येक व्यक्ति अपने को जज, वकील, प्राध्यापक, लेखक, नेता इत्यादि समझता है और उसी पदवी अथवा पेशे के अनुसार अपने सभी कार्यभारो को सम्हालता है। चूंकि सामाजिक संगठन बहुत जटिल हो गया है, इसलिए व्यक्ति को बहुपटी और अनेकपक्षी होना पड़ता है। अतः व्यक्ति का पर्सोना ऐसा होना चाहिए कि वह विविध और अनेक आयामों, पक्षों, और दिशाओ के प्रति अपने को अभियोजित करे। उदाहरणार्थ, प्राध्यापक को सभी पर वैसा ही रोब नही गाँठना चाहिए, जैसा वह अपने क्लास में अपने छात्रो पर रोब गाँठता है। परिस्थिति की विभिन्नता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का पर्सोना लचीला होना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति का पर्सोना और उसकी व्यष्टीयन-प्रक्रिया भी अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा विभिन्न होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि व्यक्ति सर्वथा एकदूसरे से व्यष्टिप्ररूप, अभिवृत्ति तथा मनोवृत्ति में भिन्न होते हैं। इसलिए उनका मानसिक गठन और विकास भी भिन्न-भिन्न होता है। युंग की

* 'पर्सोना' नकाब-पोश को कहते हैं जिसे पहन कर अभिनय में अभिनेता अपना रूप बदलते रहते हैं। यह प्रायः कागज़ या कुठ का होता है।

मनोवैज्ञानिक व्याख्या को समझने के लिए उनके प्ररूप-सिद्धान्त (थेओरी आव टाइप्स) को जानना आवश्यक है। इसलिए प्ररूप-सिद्धान्त की भी संक्षेप में व्याख्या करना आवश्यक मालूम देता है।

प्ररूप-सिद्धान्त

युंग के अनुसार सर्वप्रथम एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से मानसिक प्रकार्य (फङ्शन) के कारण भिन्न होता है। व्यक्ति अपनी परिस्थिति का अनुभव अवश्य करता है, पर सभी व्यक्ति एक ही प्रकार की अनुभूत सामग्री नहीं प्राप्त करता है। इसका कारण है कि व्यक्ति अपने अन्दर अनुभूत प्रदत्त की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार्य करते है और प्रायः प्रत्येक व्यक्ति का अपना मानसिक प्रकार्य सभी स्थितियों में एक रूप से सक्रिय रहता है और इसलिए व्यक्ति की प्रकार्य-शक्ति उसकी वांशिक विशेषता समझनी चाहिए। चार प्रकार के प्रकार्य पाए जाते हैं, अर्थात् विचार-भाव, संवेदन-अन्तःप्रज्ञा। इसे निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है।
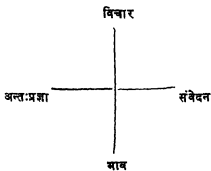
विचार और भाव परस्पर-विरोधी और परस्पर-प्रतिपूरक भी होता है। इसी प्रकार संवेदन और अन्तःप्रज्ञा परस्पर-विरोधी और परस्पर प्रतिपूरक भी होता है। चेतन रूप में जो व्यक्ति विचारवान होता है, वह फिर चेतन व्यवहार में भावपूर्ण नहीं होता है। इस रूप में विचार और भाव में परस्पर-विरोध देखने में आता है। परन्तु जो व्यक्ति चेतन में विचारवान होता है, वह अचेतन में भावपूर्ण व्यक्ति रहता है। इस अर्थ में विचार और भाव परस्पर-प्रतिपूरक भी होता है। इसी प्रकार की बात संवेदन और अन्तःप्रज्ञा में पाई जाती है। किसी एक प्रकार्य की प्राथमिकता के साथ किसी एक अन्य प्रकार्य की सहायक प्रक्रिया भी पाई जाती है, अर्थात् विचारवान की सहायक

प्रक्रिया संवेदन की होगी या अन्तःप्रज्ञा की। जिस विचारवान व्यक्ति में संवेदन की सहायक प्रक्रिया होगी, वह अपने सिद्धान्तों को संवेदन के द्वारा पुष्ट करेगा। एर, हिलबू इत्यादि विचारवान-संवेदनशील व्यक्ति हैं; क्योंकि सर्वप्रथम ये विचारक हैं और फिर अपने विचारों में ये संवेदन को विशेष मानते हैं। इसी प्रकार विचारवान अन्तःप्रज्ञाशील वे हैं, जो अपने सिद्धान्तों को ऊँची कल्पना द्वारा पुष्ट करते हैं। प्लेटो, स्पिनोजा, कान्त तथा हेगेल को विचारवान-अन्तःप्रज्ञाशील व्यक्ति-वर्ग में रखना चाहिए।

यदि हम प्राथमिक और सहायक प्रकार्यों को ध्यान में रखें तो व्यक्तियों को आठ प्ररूपों में रखा जा सकता है। जिस प्रकार विचारवान में दो व्यक्ति-वर्ग पाये जाते हैं, उसी प्रकार संवेदनशील में भी संवेदनशील-विचारवान तथा संवेदनशील-भावपूर्ण के दो व्यक्तिवर्ग संभव होते हैं। फिर भाव और अन्तः-प्रज्ञा के भी प्रत्येक के दो व्यक्ति-वर्ग संभव होते हैं।

प्रकार्य के समान व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति में भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं, अर्थात् बहिर्मुखी और अन्तःमुखी। अभिवृत्ति भी शैशवकाल से ही व्यक्ति में लगभग स्थायी रूप से पाई जाती है। अपनी प्रकार्य-विशेषता के कारण एक व्यक्ति की जीवन-सामग्री अन्य व्यक्तियों की आधारभूत सामग्री से भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, कोई विचार को प्रधानता देता है, तो कोई भाव को; और फिर कोई अन्तःप्रज्ञा को या कोई संवेदन को। परन्तु प्रश्न उठता है कि क्या ये अनुभूत सामग्रियाँ बाह्य-जगत की प्रधान रूप से होती हैं कि आन्तरिक जगत की। बाह्यमुखी वे हैं जो बाह्य जगत की ओर अभिमुख रहते हैं और जो अन्य व्यक्ति, समाज, सामाजिक आदर्श, सामूहिक मानदंड तथा उपयोगितावाद को अपनाते हैं। इसके विपरीत अन्तःमुखी व्यक्ति वे हैं जो आन्तरिक जगत् अर्थात् अपनी मानसिक दुनिया से उलझे रहकर काल्पनिक सत्ताओं, आत्मनिष्ठ आदर्श तथा ऊँची कल्पनाओं को ही विशेष प्रश्रय देते हैं। बहिर्मुखी प्रायः नेता, तथ्यात्मक वैज्ञानिक, समाज-सुधारक, व्यवसायी इत्यादि होते हैं। वे आसानी से अन्य व्यक्तियों की ओर ध्यानस्थ होकर उनकी मित्रता से लाभ उठाते हैं। इसके विपरीत अन्तःमुखी कवि, दार्शनिक तथा रुटिन क्लर्क हुआ करते हैं। ये अन्य व्यक्तियों को देखकर सशंकित हो जाते हैं और सामाजिक मानदंड की अपेक्षा बौद्धिक तथा अन्तःप्रज्ञात्मक सिद्धान्त को प्राथमिकता देते हैं।

यदि प्रक्रिया के आधार पर पूर्व के आठ व्यक्तिवर्ग को मान लिया जाए और फिर प्रत्येक व्यक्तिवर्ग को बहिर्मुखी और अन्तःमुखी में बाँट दिया जाय तो सोलह (१६) व्यक्तिवर्ग हो जाते हैं। इतना ही नहीं युंग के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की मनोवृत्ति एकरूप नहीं होती है। कोई व्यक्ति मध्ययुगी होते हैं, तो कोई प्रागैतिहासिक। कोई समकालीन युगी होते हैं, तो कोई भविष्ययुगी। अतः, १६ व्यक्तिवर्ग के साथ मनोवृत्ति को भी आधार मान लिया जाए तो व्यक्तियों का प्ररूप बहुत अधिक हो जाता है। इसलिए युंग व्यक्तियों की विभिन्नता में विश्वास रखते हैं और वे इसलिए अनेक और विभिन्न धर्मों की सार्थकता और फिर उनकी सापेक्षता स्वीकार करते हैं। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि अपनी वर्ग-विशिष्टता को ध्यान मे रखकर अपने सम्पूर्णत्व को प्राप्त करे।

संपूर्णत्व-वृत्ति से संचालित होकर सर्वप्रथम प्रत्येक व्यक्ति अपनी परिस्थिति के प्रति चेतनरूप से अभियोजित होकर लचीले और स्वस्थ पर्सोना को प्राप्त करता है। इस काम को पूरा करने मे प्रत्येक व्यक्ति को लगभग ४० वर्ष बीत चुके रहते हैं। जब व्यक्ति अपनी परिस्थिति के प्रति सपूर्णतया और सफलतापूर्वक अभियोजित हो जाता है तो कुछ व्यक्तियों को एकाएक ऐसा मालूम देने लगता है कि उनका जीवन निरर्थक हो गया है,—उनकी सफलता बहुत ही छिछली और विशेष रूप से मूल्यवान् नहीं है इसी को प्रायः ईश्वरीय बेचैनी और व्याकुलता की संज्ञा दी जाती है। व्यक्ति अपनी गहराई तक पहुँचने के लिए जिज्ञासु हो जाता है। इसी व्याकुलता से, युंग के अनुसार, सफल पर्सोनावाले को समझना चाहिए कि उसका अभियोजन-कार्य अधूरा ही हुआ है। जीवन की दो प्रकार की वास्तविकताएँ हैं, अर्थात् बाह्य जगत्, समाज, मैत्री इत्यादि और फिर व्यक्ति का अपना आन्तरिक जगत्। इसलिए सफलपर्सोनावाले अभी तक केवल आंशिक रूप से बाह्य सत्ता के साथ ही अभियोजित हो पाए थे। उनकी समस्या अब यह है कि संपूर्ण रूप से सपूर्णत्व-प्राप्ति के हेतु उन्हें अपने अचेतन मानस के साथ अभियोजित होना चाहिए। यहाँ अचेतन मानस के प्रति अनुकूलन से तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को यथाशक्ति अपने अचेतन की शक्तियों से अवगत होकर उनकी शक्तियो को अपने वश में करके आत्मप्राप्ति का लाभ करे। इसी आत्मप्राप्ति को युंग के मनोविज्ञान मे 'व्यष्टीयन' संज्ञा दी गई है। अतः, हमें युंग के सिद्धान्त के अनुसार इस अचेतन के स्वरूप और उसके गठन को जानना चाहिए।

युंग के अनुसार अचेतन के तीन स्तर मुख्य हैं, अर्थात् उपचेतन, दमित मनोग्रंथि से रचित वैयक्तिक अचेतन और सामूहिक अचेतन।
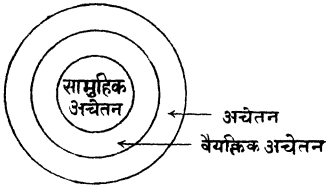
१. उपचेतन वह है, जिससे व्यक्ति अभी अवगत नहीं है, परन्तु जिससे वह अवगत हो सकता है। फ्रायड के अनुसार वही अचेतन है, जिसे चेष्टा करने पर भी व्यक्ति नहीं जान सकते हैं। अतः, युंग के उपचेतन को फ्रायड अचेतन नहीं मानते है। इस उपचेतन को फ्रायड ने पूर्वचेतन की संज्ञा दी है।

२. परन्तु उपचेतन की अपेक्षा युंग के अनुसार वैयक्तिक अचेतन महत्त्वपूर्ण है। वैयक्तिक अचेतन वह है जो किसी व्यक्तिविशेष के जीवन के अनुभूत होकर दमित हो जाता है। इसी प्रकार की दमित मनोग्रंथि के ही कारण, फ्रायड का अनुसरण करते हुए, युंग मानते हैं कि मनस्ताप उत्पन्न होता है। फिर फ्रायड के इस सिद्धान्त को युंग मानते है कि इस प्रकार के मनस्ताप का उपचार मनोवैश्लेषिक विधि की अवव्याख्यावाद के अनुसार ही होता है। परन्तु युंग का फ्रायड के साथ सबसे बड़ा मतभेद तीसरे स्तर के अचेतन को लेकर है।

३. वैयक्तिक अचेतन की तुलना मे तीसरे अचेतन का परत सबसे गहरा हैं और युंग ने इसे जातीय तथा सामूहिक अचेतन कहा है। इस प्रकार का सामूहिक अचेतन मानव जाति की असंख्य वर्षों की अनुभूति के फलस्वरूप उत्पन्न होता है और तब यह वंशागत होता चला आ रहा है। किस रूप में जातीय अचेतन वंशागत होता चला आ रहा है ? मानसिक प्रक्रिया का कायिक आधार मस्तिष्क है। इसलिए मस्तिष्कीय

रचना मे अन्तर्निहित सुषुप्त अथवा गर्भित क्षमता के रूप में सामूहिक अचेतन संवहित होता जा रहा है। अतः, सभी व्यक्तियों में जातीय अचेतन एक रूप से सक्रिय नहीं होता है। केवल उन्ही व्यक्तियों मे जातीय अचेतन के विभिन्न रूप व्यक्त होते हैं, जिनमे इन गर्भित शक्तियों को निखरने का अवसर मिलता है। फ्रायड ने भी अन्त में सामूहिक अचेतन की सत्ता मानी है। परन्तु फ्रायड और युंग में निम्नलिखित भेद है :

(क) फ्रायड के अनुसार मस्तिष्कीय रचना के रूप में नही, वरन् दमित प्रत्यय या भावना के रूप मे आद्यपिता की दमित मनोग्रंथि वंशागत होती चली आती है। परन्तु युग के अनुसार जबतक मस्तिष्कीय रचना सक्रिय न हो, तबतक सामूहिक अचेतन की बात उठती ही नही है। वैज्ञानिक रूप से वंशागत सामूहिक अचेतन को मान्य नही समझा जाएगा। परन्तु मस्तिष्कीय रचना को, दमित प्रत्यय की तुलना मे, वंशागत मानना अधिक सुगम और सगत समझा जाता है।

(ख) फ्रायड सामूहिक अचेतन को वैसा ही बाधक समझते हैं जैसा वैयक्तिक अचेतन होता है। परन्तु युंग के अनुसार, जातीय अचेतन मे मानव का भावी विकास अन्तर्निहित रहता है। अतः, युग जातीय अचेतन को धर्म का और वैयक्तिक विकास का मुख्य साधन समझते है। युंग के अनुसार जातीय अचेतन में मानव का भूत इतिहास ही नही, वरन् मानव का भविष्योन्मुखी विकास भी छिपा हुआ है।

युग मानते है कि जीवन के पूर्वार्ध मे व्यक्ति का मनस्ताप वैयक्तिक अचेतन से सचालित होता है। परन्तु व्यक्ति के सपूर्णत्व-प्राप्ति के लिए, युग के अनुसार, जातीय अचेतन प्रमुख स्थान रखता है। इसी जातीय अचेतन के साथ अनुकूलित हो जाने पर व्यक्ति संपूर्ण और स्वस्थ हो जाता और इसी संपूर्णता-प्राप्ति को ही धार्मिक अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है। इस अर्थ मे युंग के अनुसार जातीय अचेतन धर्म के लिए प्रमुख है। परन्तु चूंकि सपूर्णता-प्राप्ति मानव का जैविक और मनोवैज्ञानिक लक्ष्य है, इसलिए संपूर्णता-प्राप्ति, अर्थात् धर्म को युग स्वस्थ मानसिक स्थिति मानते हैं। अब फ्रायड भी एकेश्वरवाद की व्याख्या करने में जातीय अचेतन को मानते हैं। परन्तु चूंकि फ्रायड के लिए जातीय अचेतन दमित होने के कारण अब अस्वस्थ माना जाएगा, इसलिए

जातीय अचेतन पर निर्भर एकेश्वरवाद को भी अस्वस्थ एवं सामूहिक मनोग्रस्ति मनस्ताप माना जाएगा।

आद्यप्रतिमा और प्रतीक

व्यक्ति को अपनी संपूर्णता-प्राप्ति के निमित्त बाह्य और आन्तरिक, दोनों प्रकार की सत्ताओं के प्रति, अपने को अनुकूलित करना पड़ता है। जब अपने जीवन के पूर्वार्ध में व्यक्ति संपूर्णतया सफल हो जाता है* और तब उसके बाद उस सफल व्यक्ति को अपनी सफलता निरर्थक मालूम होने लगती है तब ऐसे व्यक्ति को संपूर्णता-प्राप्ति के लिए अपने अचेतन मानस को समझने के लिए अग्रसर होना चाहिए। अचेतन के प्रति अनुक्रियाशील होने पर व्यक्ति-विकास अर्थात् व्यष्टीयन में अनुक्रमिक अवस्थाएँ देखने में आती हैं। युंग ने चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है— शैडो, एनिमा-एनिमस, माना प्रतिमाएँ तथा मंडल-प्रतीक। परन्तु प्रत्येक अवस्था में दो उल्लेखनीय बातों की चर्चा करनी चाहिए। प्रत्येक अवस्था मे आद्यप्रतिमा और फिर प्रतीक पाए जाते हैं और इनके स्वरूप को स्पष्ट करना चाहिए।

आद्यप्रतिमा किसी प्रतिमा की संज्ञा नहो है, वरन् विशिष्ट अथवा अभिलक्षक प्रतिमाओं के उमड़ पड़ने की प्रवृत्ति का बोधक है। युंग के अनुसार व्यक्ति मे अन्तर्निहित मूल प्रवृत्तियाँ हैं जो अवसर पाकर वास्तविक हो जाती हैं। यदि इन्हें साकार होने का अवसर न मिले तो ये प्रवृत्तियाँ गर्भित की गर्भित ही रह जाएँगी। उदाहरणार्थ, फ्रायड के अनुसार प्रत्येक स्थिति मे ईश्वर शैशव काल के पिता का आरोपित रूप है। इसे युंग ने इस प्रकार स्पष्ट किया है। युंग के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति मे आदर्श रूप प्राप्त करने की अन्तर्निहित प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रारंभ में मानव अपने पिता को ही आदर्श रूप मानकर संभवतः उसकी पूजा करता हो और फिर पिता के स्थान पर टोटम और टोटम धर्म के विकास के बाद एकेश्वरवाद की बारी आई हो। परन्तु युंग के अनुसार, क्यों मानव आदिपिता की पूजा अभी तक नहीं करता आया है? इसका कारण है कि मानव के अन्दर आदर्श रूप प्राप्त करने की प्रवृत्ति सक्रिय रहती है और

* यदि व्यक्ति अपने पूर्वार्ध ही में असफल होता है तो उसे अपने को मनस्तापी समझकर डाक्टर की सलाह लेना चाहिए, अर्थात् जो व्यक्ति अपने पेशे विवाह और सामाजिक अनुकूलन में असफल हो जाता है, उसकी असफलता मनस्ताप के कारण हो सकती है। मनस्तापी उच्च धार्मिक स्थिरता को नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

जब मानव को बोध होने लगता है कि अन्य प्रकार के भी उच्चतर आदर्श रूप हैं तो व्यक्ति अपनी चेतना की गहराई और शिक्षण के साथ पिता, टोटम, देवता इत्यादि को छोड़कर इसी उच्चतर आदर्श रूप की पूजा करने लगता है। एकेश्वरवाद की पूजा भी इसी प्रवृत्ति से संचालित आदर्श रूप की खोज में ज्ञानवृद्धि तथा चेतना की गहराई के फलस्वरूप होती है और युंग के अनुसार समय आ गया है कि मानव एकेश्वरवाद से भी उच्चतर आदर्श स्थिति का बोध कर रहा है और ऐसे मानव को एकेश्वरवाद भी फीका और क्षीण मालूम देगा। अतः, प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित उसके विकास-क्रम की अवस्था के अनुसार साकार रूप में अभिलक्षक अथवा विशिष्ट प्रतिमा को पूजित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस अन्तर्निहित प्रवृत्ति को आद्यप्रतिमा कहते हैं। आद्य-प्रतिमा के सक्रिय हो जाने पर ही कोई-न-कोई अपनी अवस्था के अनुरूप (उदाहरणार्थ, शैडो, एनिमा-एनिमस इत्यादि के अनुरूप) प्रतिमा झलक उठती है। इस प्रतिमा को ही प्रतीक कहा जाता है। अतः, आद्यप्रतिमा प्रतीकों का गर्भित रूप और प्रतीक आद्यप्रतिमा का व्यक्त रूप है। आद्यप्रतिमा केवल अन्तर्निहित प्रवृत्ति-मात्र है और इसके सक्रिय होने पर ही किसी विकास-क्रम का एक व्यवस्था-विशेष में अनेक प्रतीक सभव हैं। उदाहरणार्थ, युंग के अनुसार व्यष्टीयन की प्रथम अवस्था शैडो (छाया) की है और इसमे आद्यप्रतिमा शैतान, फॉस्ट, राक्षस, रावण, महिषासुर इत्यादि के प्रतीक में प्रस्फुटित हो पड़ती है।

आद्यप्रतिमा के सिद्धान्त के अवलोकन मात्र से स्पष्ट हो जाता है कि युंग प्लेटोवादी, बुद्धिवादी तथा कान्त के प्रागनुर्भाविक रूपो के समर्थक माने जा सकते हैं। युंग के अनुसार यदि मानव मे आद्यप्रतिमा की भावना प्रारभ से ही अन्तर्निहित नही होती, तो न कोई प्रतीक होता और न प्रतीक-पूजा ही संभव होती। ईश्वर-पूजा पितृ-पूजा नही, वरन् इसके विपरीत पितृ-भक्ति ईश्वर के लिए अन्तर्निहित उत्प्रेरणा के आधार पर ही संभव होती है। अतः, पितृ पूजा ईश्वर-पूजा का आदिरूप अथवा ईश्वर-पूजा का लघु रूप है। परन्तु जिस प्रकार कान्त के अनुसार बिना पूर्वानुभव अंश के ज्ञान संभव नहीं हो सकता है, उसी प्रकार युंग के अनुसार बिना अन्तर्निहित आद्यप्रतिमाओ के कोई भी धार्मिक पूजा या धार्मिक अनुभूति संभव नही हो सकती है।

यह ठीक है कि आद्यप्रतिमाएँ केवल प्रवृत्ति मात्र है, इसलिए इन्हे साक्षात् रीति से कोई नही अनुभूत कर सकता है। परन्तु इन्हें असाक्षात् रूप से इनके

द्वारा उत्पन्न प्रतीकों के माध्यम से जान सकता है। प्रतीकों को भी कोई तर्क-बुद्धि के द्वारा पूर्णतया समझ नही सकता है। शिक्षण-वृद्धि तथा चेतना की गहराई के साथ कुछ प्रतीक फीके पड़कर ओझल हो जाते हैं और कुछ अन्य प्रतीक प्रकाश में आने लगते हैं। अन्तर्निहित आदर्श रूप की खोज मे ये प्रतीक विकास-क्रम मे दिखाई देते हैं। मानव की सामूहिक अनुभूति के फलस्वरूप ही ये प्रतीक उत्पन्न होते हैं। यदि इनमे से किसी प्रतीक से व्यक्ति को अपने आदर्श रूप को समझने, मानने या अवबोध करने मे सहायता मिल जाए तो अमुक प्रतीकविशेष उस व्यक्ति के लिए उसकी अमूल्य निधि होती है। अतः, धार्मिक प्रतीक, उदाहरणार्थ ईश्वर इत्यादि, कभी भी पूर्णतया बुद्धिगम्य नही हो सकता है।

अभी तक आदिप्रतिमा और प्रतीक का उल्लेख इसलिए किया गया कि ये व्यष्टीयन के विकास-क्रम मे दिखाई देते है। इसलिए अब व्यष्टीयन की अवस्थाओं का उल्लेख करना चाहिए।

व्यष्टीकरण की अवस्थाएँ

आत्माभिमुखी होने पर व्यक्ति के अन्दर सर्वप्रथम चरण छाया की होनी है जिसे युंग ने प्रत्येक व्यक्ति का उसके अचेतन मे उसका तमोमय प्रनिरूप कहा है। प्राय हम अपने विकृत रूप को लोगो के जान लेने से छिपाते ही है, परन्तु हम अपने विकृत रूप को अपने से भी सामना करने मे हिचकते है। अतः, प्रत्येक व्यक्ति का उसका विकृत रूप, जिसे युग ने शैडो (तामस या तपोमय प्रतिरूप) कहा है, सर्वप्रथम हमारे सामने आ धमकता है। इस अवस्था की आद्यप्रतिमा शैतान, इबलीश, रावण, दुर्योधन, फॉस्ट, इयागो इत्यादि प्रतीक म साकार होती दिखाई देती है। साकार होने से अर्थ है कि तामस रूप व्यक्ति को उसके स्वप्न मे, उसके दिवास्वप्न मे, उसकी कल्पना मे और अन्य सभी समय मे घेरे रहते है और इसलिए आत्माभिमुखी व्यक्ति को इस तामस रूप के प्रति अपने को अनुकूलित करना पड़ना है। इम अनुकूलन मे प्रत्येक आद्यप्रतिमा से उत्पन्न प्रतीको के प्रसंग में तीन प्रकार की प्रक्रियाएँ सभव होती हैं, अर्थात् तादात्म्यी-करण, आरोपण और स्वांगीकरण (परिपाचन)।

तामसिक आद्यप्रतिमा के फलस्वरूप राक्षस, डाइन, शैतान इत्यादि के प्रतीक भयानक रूप में व्यक्ति को दिखाई देते हैं और व्यक्ति कभी डरकर उनके

वश में आ जाता है—वह उनके साथ तादात्म्य कर लेता है और ऐसी अवस्था मे वह राक्षस, दानव, भूत, शैतान इत्यादि के समान व्यवहार करने लगता है और ऐसा व्यक्ति वाममार्गी बन जाता है। जो व्यक्ति तामसिक प्रतीक से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं, उनकी व्यष्टीयन-प्रक्रिया विकृत हो जाती है और व्यक्ति अपनी ऊर्ध्वगति से स्खलित हो जाता है। बात यह है कि कोई भी ऊर्ध्वगामी प्रक्रिया बिना जोखिम के संभव नही होती है। यह बात जैन मत के गुणस्थान के प्रकरणों मे भी बतायी गई है।

तामसिक प्रतीको से बचने अथवा उनके प्रति अनुकूलन की दूसरी विधि आरोपण की है। इसमे व्यक्ति अपने मे नही, वरन् दूसरे व्यक्ति, दूसरी जाति, वस्तु इत्यादि मे ही कुत्सित भावना का रूप मानता है। प्राय: तामसिक प्रतीक को एक जाति दूसरी जाति पर आरोपित करती, या एक धर्म-सम्प्रदाय दूसरे धर्म-सम्प्रदाय पर आरोपित करता है। आरोपण करने के बाद व्यक्ति आरोपित प्रतीक से अपनी प्रतिरक्षा कर सकता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका और रूस एक दूसरे को अपना तामसिक प्रतीक आरोपित कर अपनी प्रतिरक्षा के लिए अनेक विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार कर रहे हैं। अतः, ऊपरी दृष्टि से आरोपण सफल मालूम दे सकता है। परन्तु तामसिक प्रतीकों के प्रति इस अनुकूलन-विधि को भी संतोषजनक नहीं माना जाएगा, क्योंकि आरोपित प्रतीक भी व्यक्ति की अपनी ही मानसिक शक्ति है और इस शक्ति से अपना बचाव करने का तात्पर्य है कि हम अपनी शक्ति का दो भाग कर रहे हैं। एक भाग को दूसरे भाग से लड़ा रहे हैं। अत: यह अन्तदर्लीय संघर्ष हुआ। इस आन्तरिक तनाव एवं सघर्ष से व्यक्ति की मानसिक शक्ति जीवन के अनुकूलन-कार्य के लिए क्षीण होगी, न की बढेगी। यदि रूस और अमेरिका अस्त्र-शस्त्र की तैयारी छोड़कर अपने को मानव कल्याण के हेतु रचनात्मक कार्य मे लगा दे तो विश्व का कल्याण होगा। परन्तु इसके विपरीत तामसिक प्रतोकों के पारस्परिक आरोपण के कारण वे विश्वशक्ति को विध्वंस-कारी कार्य मे बर्बाद कर रहे हैं। अत:, आरोपण-विधि को भी प्रतीकों के प्रति सफल अनुकूलन नही माना जाएगा।

अब परिपाचन-विधि ही ऐसी है जिसमें प्रतीकों का सामना करके प्रतीकों को समझ-बूझकर उसकी शक्ति को अपने अधिकार मे लाया जा सकता है। अत:, यहाँ प्रतीकों को पचाना या अपने अंग में सम्मिलित करना स्वांगीकरण

कहा गया है। परिपाचन-विधि से तात्पर्य होता है कि हम तामसिक प्रतीकों को भलीभांति समझें, उनका बोध करें और उनके सही महत्त्व को जानें। हम तामसिक प्रतीकों का सही परिपाचन तभी कर सकते हैं जब हमें बोध हो जाए कि तामसिक प्रतीक हमारे ही अचेतन में है। हम अभी तक दूसरों को बुरा समझते आए हैं, परन्तु वास्तव में हम में ही तामसिक अथवा राक्षसी वृत्ति पाई जाती है। हम इस अवस्था को प्राप्त कर अपनी तामसिक वृत्तियों से अवगत हो जाते हैं। इस प्रकार की अनुभूति हो जाने पर व्यक्ति अपनी कुत्सित भावनाओं से मुक्त हो जाता है, उन्हें जानकर वह उनसे न त्रस्त होता है और न अन्य पर उन्हें अरोपित कर अपने को और दूसरे को धोखा देता है। अब तामसिक प्रतोको को पूर्णतया समझ लेने पर, उनकी अनुभूति हो जाने पर व्यक्ति उन प्रतीकों मे छिपी शक्तियो को अपने अधिकार मे कर लेता है। व्यक्ति को अब अचेतन की शक्ति प्राप्त हो जाती है और विर्वाद्धत शक्ति के साथ व्यक्ति अपने व्यष्टीयन-कार्य मे अगली अवस्था के लिये अग्रसर हो सकता है।

तामसिक प्रतीकों पर विजय प्राप्त करना आसान नही है। सभी बुराइयो को अपने मे ही मानना और दूसरे के प्रति विद्वेष, घृणा तथा अन्य सभी बुराइयों से रिक्त समझना बहुत बडी उपलब्धि है। अनेक व्यक्ति इसी अवस्था को अपनी अन्तिम स्थिनि मान लेते हैं। उनको इसी आत्मानुभूति से पूर्ण संतोष मिल जाता है। परन्तु कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो व्यष्टीयन-प्रक्रिया के उच्चतर चरण की ओर भी प्रगति के लिए अग्रसर हो जाते हैं।

व्यष्टीयन की दूसरी अवस्था एनिमा-एनिमस की है, अर्थात् आदर्श नारी (एनिमा) और आदर्श नर (एनिमस) की पूर्ण अनुभूति की उत्प्रेरणा होने लगती है। पुरुष आदर्श नारी और नारी आदर्श पुरुष (शिव-पार्वती, आदम-हवा, नल-दमयन्ती) को प्राप्त करने के लिए दीवाना हो जाता है। अतः लैंगिक आद्यप्रतिमा आदर्श नर-नारी के प्रतीकों में व्यक्त होने लगती है, अर्थात् व्यष्टीयन के दूसरे चरण में पदार्पण करते ही व्यक्ति को उसके स्वप्न, उसके दिवा-स्वप्न में, उसकी कल्पना में और सम्पूर्ण विचार में पुरुष को आदर्श नारी का और स्त्रियो को आदर्श नर का प्रतीक दृष्टिगोचर होने लगता है। लैंगिक समस्या का समाधान करने में व्यक्ति के अन्दर, तादात्म्यीकरण, आरोपण और परिपाचन की तीन विधियाँ देखने में आती हैं। कुछ व्यक्ति नारी-प्रतीक से

तादात्म्य कर लेते हैं, उदाहरणार्थ – सखी-सम्प्रदाय में। फिर यदि व्यक्ति स्त्री को नारी-प्रतीक मान लेगा तो डोन जुअन के समान उसकी खोजकर कभी भी प्राप्त नहीं करेगा। अतः परिपाचन-विधि के द्वारा व्यक्ति को पूर्ण अनुभूति होनी चाहिए कि लैंगिक आकर्षण का आधार स्वयं व्यक्ति ही में है। अतः, ऐसा बोध हो जाने पर व्यक्ति फिर काम-मोह से विमुक्त हो जाता है। उसे फिर कोई नारी अपने प्रेम-पाश में नहीं फँसा सकती है, क्योंकि वह निर्मोही होकर सभी कामिनियो के खिचाकर्षण से स्वतंत्र हो जाता है और तब सम्पूर्ण कामशक्ति व्यक्ति के वश में चली आती है और व्यक्ति आन्तरिक रूप से सशक्त होकर व्यष्टीयन की उच्चतर अवस्थाओ की ओर अग्रसर हो सकता है। किन्तु इस अवस्था को प्राप्त करना बड़ा कठिन तप है और अधिकाश के जीवन का परम लक्ष्य इतनी ऊँचाई अथवा गहराई तक पहुँचना मात्र हो सकता है। इस अवस्था तक पहुँचने मे भी आधे जीवन की साधना देखने में आती है। जो दो-चार व्यक्ति इतनी अधिक प्राप्ति से भी सतुष्ट नहीं होते, वे व्यष्टीयन के तीसरे चरण की ओर अग्रसर होते है।

व्यष्टीयन की तीसरी अवस्था मे माना-प्रतीक देखने मे आता है। 'माना' आदिम धर्म मे आध्यात्मिक शक्ति को कहते हैं। इसलिए 'माना-प्रतीक' वह है, जिसमे इनके दर्शन से व्यक्ति मे विचित्र शक्ति का सचार होता है। यह वह अवस्था है, जिसमे पुरुषों को 'माना-प्रतीक' देवता, नबी, सिद्ध पुरुष इत्यादि के रूप मे दिखाई देता है, और स्त्रियो को 'माना-प्रतीक' देवी, मरियम, जगदम्बा इत्यादि के रूप मे दिखाई देता है। पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यदि उन्हे राम, कृष्ण या इष्टदेवता का दर्शन स्वप्न, दिवास्वप्न या उनकी कल्पना मे बार-बार दिखें तो उनके जीवन मे इनके दर्शन से कितना अधिक उत्प्रेरणा प्राप्त होगी। यहाँ भी व्यक्ति को तादात्म्यीकरण से बचना चाहिए। उसे स्वयं अपने को ईसा, नबी या जगत् का उद्धारकर्त्ता नहीं मान लेना चाहिए। जब व्यक्ति 'माना-प्रतीक' के संदर्भ मे तादात्म्यीकरण तथा आरोपण से बचकर इसका परिपाचन कर लेता है तो व्यक्ति को अपने अचेतन की अधिकांश शक्तियों पर अधिकार हो जाता है। पुरुष नारी-मोह तथा पितृ-ग्रंथि से एकदम निर्मुक्त हो जाता है। ऐसे ही व्यक्ति को संन्यासी कहते है।

व्यष्टीयन के अन्तिम चरण के प्रति अग्रसर होने वाले व्यक्तियो की संख्या लगभग नगण्य होती है। परन्तु यदि बिरला कोई ऐसा होता है तो 'माना

प्रतीक' से आगे बढ़ने का प्रयास करता है तो वह 'मंडल आद्यप्रतिमा' की ओर बढ़ता है। मंडल आद्यप्रतिमा का प्रतीक वृत्त या वर्ग के रूप मे दिखाई देता है। यह इस बात का द्योतक होता है कि व्यक्ति ने अपनी परिपूर्णता प्राप्त कर ली है। प्राचीन काल में, युंग के अनुसार, मंडल के बीच मे ईश्वर, देवी-देवता रहा करते थे। परन्तु युंग का कहना है कि समकालीन मंडल-द्रष्टाओ को कोई देवी-देवता नही दिखाई पड़ते है। उनके स्वप्न, दिवा-स्वप्न तथा कल्पनाओ में वृत्त के केन्द्र मे तारा, सूर्य, फूल, बराबर भुजाओं का क्रूश या कोई मानव भी रह सकता है, परन्तु कभी कोई देवी-देवता नही दिखाई देता है। तारा या क्रूश स्वयं इस बात का बोधक होता है कि व्यष्टीकरण अब पूर्ण हो गया है और व्यक्ति ने अपनी सपूर्णता प्राप्त कर ली है।

मंडल-दर्शन के बाद व्यक्ति में पूर्ण शाति आ जाती है, उसकी व्यक्तिगत सभी समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं और सभी शकाएँ काफूर हो जाती हैं।

धार्मिक अनुभूति

पहले ही कहा जा चुका है कि युंग के अनुसार सपूर्णता-प्राप्ति व्यक्ति के जीवन का चरम मनोवैज्ञानिक लक्ष्य है और धर्म को भी मानव का चरम लक्ष्य कहा जाता है। अत:, सपूर्णता प्राप्ति ही धार्मिक अनुभूति है। फिर व्यक्ति की सपूर्णता वास्तव मे उसकी ही अपनी पूर्णता है जो उसकी समस्त चेतन और अचेतन शक्तियो को अपने वश मे करने से प्राप्त होती है। इसलिए इस सपूर्णता प्राप्ति को आत्म-लाभ भी कहा जाता है। युंग का कहना है कि जिस प्रकार जीवन के पूर्वार्ध मे चेतन अनुकूलन-कार्य के केन्द्र को 'पर्सोना' कहते हैं, उसी प्रकार सपूर्ण अनुकूलन-कार्य के केन्द्र को जिसका सबध चेतन और अचेतन समस्त व्यवहार से होता है, आत्मा की संज्ञा दी जा सकती है। अत:, सपूर्णता-प्राप्ति को आत्मप्राप्ति भी कहा जा सकता है। इसलिए युंग के धर्मदर्शन को आत्म-सवर्धन का धर्म भी कहा जा सकता है। युंग ने सपूर्णता-प्राप्ति को धार्मिक-अनुभूति कहा है और यह कोई नई बात नही है, क्योकि धर्म को सपूर्णात्मक अभिवृत्ति की सज्ञा प्राय: दी ही जाती है। यदि संपूर्णता-प्राप्ति व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक लक्ष्य हो तो इस लक्ष्य की प्राप्ति के साथ व्यक्ति मे आनन्द और शाति का आ जाना स्वाभाविक ही है। इसलिए युंग का कहना है कि जितने व्यक्ति अपने जीवन के पूर्वार्ध में अपने पेशे, मैत्री तथा विवाह, समाज इत्यादि की प्रमुख समस्याओं मे सफल रहते हैं, उनके जीवन के उत्तरार्ध में मन-

स्तापी बेचैनी अथवा व्याकुलता उत्पन्न होती है। इस प्रकार की व्याकुलता का समाधान केवल धार्मिक अनुभूति के ही आधार पर प्रतिपादित होता है। इसलिए युंग का कहना है कि उपर्युक्त प्रकार का कोई भी मनस्तापी ऐसा नहीं मिला जिसके मनस्ताप का अन्तिम समाधान धार्मिक अनुभूति के बिना हुआ हो[1]।

यह ठीक है कि संपूर्णता-प्राप्ति को धार्मिक अनुभूति कहा जा सकता है। परन्तु इसके अतिरिक्त व्यष्टीयन-प्रक्रियाओं की विभिन्न अवस्थाओं में तामसिक प्रतीक, नर-नारी का आदर्श प्रतीक, मान-प्रतीक तथा मडल-प्रतीक देखने में आता है और युंग ने सभी प्रतीको को ईश्वर की विभिन्न प्रतिमाओ की संज्ञा दी है। इसलिए इन प्रतीकों के दर्शन और उस दर्शन से उत्पन्न अनुभूति को धार्मिक अनुभूति कहा जा सकता है। ये सब प्रतीक व्यक्ति के अचेतन से उन्मज्जित होते है। इसलिए युंग ने अचेतन को धार्मिक अनुभूति का स्रोत माना है।

युंग अचेतन को इसलिए धर्म का स्रोत समझते हैं कि स्वप्न, दिवा-स्वप्न, अन्तर्वाध्य कल्पना में ही ईश्वर-दर्शन प्राप्त होता है और इन सभी प्रक्रियाओं मे अचेतन का मुख्य स्थान रहता है। युंग के अनुसार मानव केवल अपने मनस् के द्वारा ईश्वर का बोध करता है और उसके लिए यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि ईश्वर से धार्मिक अनुभूति उत्पन्न होती है या अचेतन से। युंग के अनुसार अचेतन और ईश्वर दोनो अनुभवातीत सत्ताएँ हैं और दोनों में भेद करना कठिन है। अनुभूति के आधार पर, युंग के अनुसार, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मंडल-प्रतीक की अनुभूति अनायास होती है और व्यक्ति की इच्छा से स्वतंत्र रूप में देखी जाती है[2]। फिर, युंग के अनुसार, ईश्वर-प्रतीकों की अनुभूति के संदर्भ में व्यक्ति स्वयं निश्चेष्ट रहता है। परन्तु ईश्वर-प्रतीकों का प्रभाव गत्यात्मक होता और व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व को अपने प्रभाव में समाविष्ट कर लेता है। सर्वसंग्राही होने के साथ-साथ, युंग के अनुसार, धार्मिक अनुभूति आत्मप्रमाणित कही जा सकती है। ठीक जेम्स के समान युंग का कहना है कि धार्मिक अनुभूति निरपेक्ष होती है। इसके संबंध मे कोई तर्क नहीं

---

१. मॉडर्न मैन इन सर्च आव ए सोल—पृ० २५९. २६४, २७८।

२. साइकोलोजी ऐंड रिलिजन—पृ० २१, आन्सर टू जोब, कलक्टेड वर्क्स, भाग ११—पृ० ४५८, ४६८-४६९।

किया जा सकता है। धर्मविरोधी केवल यही कह सकते हैं कि उन्हें धार्मिक अनुभूति नहीं प्राप्त होती है। इसके प्रत्युत्तर मे खेद प्रकट करते हुए धार्मिक व्यक्ति कहेगा कि हमलोगों को इस प्रकार की अनुभूति होती है। ऐसी अवस्था में इसके आगे कोई और तर्क नही चल सकता है। अब धार्मिक अनुभूति के संबंध में लोग कुछ कहें, परन्तु यु ग के अनुसार धार्मिक अनुभूति के द्वारा जीवन को सार्थक, सुन्दर और शोभनीय बनाया जाता है। इस अनुभूति से व्यक्ति को स्थिरता और शांति मिलती है। ऐसी अवस्था मे इस प्रकार की अनुभूति को 'भ्रम' कहने का अधिकार किसे है[1] ?

यु ग धार्मिक सत्यता को सापेक्ष मानते है। क्योकि यु ग के अनुसार व्यक्ति विभिन्न वर्ग के हुआ करते है: उनके अनेक प्ररूप होते हैं। जो कुछ धार्मिक स्तर पर एक व्यक्तिवर्ग को सत्य मालूम देता है वह बात दूसरे व्यक्तिवर्गों के लिए सत्य नहीं मालूम देगी। प्रकार्य, अभिवृत्ति तथा मनोवृत्ति के कारण व्यक्तियो के अनेक प्ररूप होते हैं; वे बहुपक्षीय होते है और उनमे विविध दृष्टि-पट होते हैं। अतः, विभिन्न मानसिक वृत्तियो की संतुष्टि के लिए धार्मिक सत्यता भी बहुपटो, और अनेकपक्षीय होती है[2]। इसलिए यु ग के अनुसार जिस व्यक्ति को जो ईश्वर अच्छा लगे, वह उसी को अपना लें। याह्वे, अल्लाह, ज्यूस, शिव, विष्णु, ह्य ूइट्सिलोपोक्तली इत्यादि अनेक विकल्प है और इनमे प्रत्येक देवी-देवता अपने अनुयायियो के लिए समान रूप से सत्य है। अतः, यु ग का कहना है कि अनेक व्यक्तियो के लिए कैथलिक धम उचित है, फिर आदिम जातियो के लिए आदिम धर्म ही उपयुक्त है। पुनः, प्रोटेस्टेंट धर्म भी कुछ लोगो के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार प्रोटेस्टेंट-विरोधियो के लिए उनका धर्म सत्य है[3]। अतः, यु ग उस ईसाई मत को नही मानते हैं जिसके अनुसार केवल एक ही ईश्वर सत्य है। फिर यु ग के अनुसार धार्मिक अनुभूति के अन्तिम चरण मे (मडल-प्रतीक) कोई देवी-देवता नही पाए जाते है। अतः, धार्मिक अनुभूति की प्रारंभिक अवस्था मे ही ईश्वर या देवी-देवता सत्य होते हैं और अन्तिम अवस्था मे इनका विलयन हो जाता है। ऐसी स्थिति में धार्मिक

१. साइकोलोजी ऐंड रिलिजन—पृ० ११३, कलक्टेड वर्क्स—भाग ११—पृ० १०५।

२. कलक्टेड वर्क्स—भाग १६—पृ० ८, ७१।

३. एशेज ऑन कन्टेम्पोरैरी इवेन्टेस—पृ० २१।

अनुभूति में अन्तर्निहित बाह्य सत्ता का प्रश्न निरर्थक मालूम देता है तो भी इस सबंध में युंग के विचार को प्रस्तुत करना अभीष्ट मालूम देता है।

धार्मिक कथन में तथ्यता तथा बहिर्निष्ठता का प्रश्न

युंग धर्म को मनोवैज्ञानिक तथ्य मानते हैं। उदाहरणार्थ, स्वप्न, भ्रम इत्यादि मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं, क्योंकि मानव वास्तव मे स्वप्न देखते हैं और वास्तव मे मानव को सर्प-रज्जु, सीप-चांदी इत्यादि का भ्रम होता है। इस अर्थ मे ईसा-मूसा, राम-कृष्ण, ईश्वर-अल्लाह इत्यादि भी, युंग के अनुसार मनोवैज्ञानिक तथ्य है। परन्तु यदि ईश्वर उसी प्रकार की सत्ता हो जिस प्रकार का पात्र स्वप्नो मे दीखता है तो ईश्वर को आत्मनिष्ठ और भ्रम कहा जाएगा। युंग के अनुसार ईश्वर मानसिक सत्ता है, पर वह भ्रम तथा विषयिगत सत्ता नही है। इसके निम्नलिखित कारण हैं :

(क) क्योंकि मनस् भी उसी प्रकार वास्तविक सत्ता है जिस प्रकार बाह्य जगत् की सत्ता है। यदि कोई वस्तु बाह्य जगत् मे रहने के कारण भ्रम नही कही जा सकती है, तो उसी प्रकार मानसिक सत्ता होने से ईश्वर-अल्लाह, देवी-देवता को भी आत्मनिष्ठ नही माना जा सकता है। अनुभूति की दृष्टि से तो मानसिक सत्ता ही परम वास्तविकता है, क्योंकि बाह्य जगत् की सत्ता इसी मानसिक अनुभूति के आधार पर अनुमानित की जाती है। लेकिन मनस् को कैसे स्वतंत्र सत्ता माना जाए ? क्या मेरा मन मुझमे ही निहित नही समझा जाता है ?

(ख) सर्वप्रथम, युंग का कहना है कि वास्तव मे 'मन' किसी व्यक्ति-विशेष की आत्मनिष्ठ निजी वस्तु नही है। मन अन्तर्जातीय सत्ता है* और इसलिए इसे अतिव्यक्तिक मानना चाहिए। द्वितीय, मनस् का अधिकांश भाग अचेतन होता है और 'अचेतन' से तात्पर्य होना है कि यह व्यक्ति की अपनी चेतना से स्वतंत्र और अतीत है। केवल चेतन को ही आत्मनिष्ठ कहा जा सकता है, अचेतन को नही।

---

* युंग के अनुसार मूल अचेतन वंशागत होता है और इसमें जातीय अनुभूति का संस्कार प्राचीन भौगोलिक परत के समान सरक्षित रहता है (कलक्टेड वर्क्स—भाग ११ पृ० ३९।)

(ग) युंग बटन-खट[1] सिद्धान्त को मानते हुए बताते हैं कि ईश्वर-प्रतीक अचेतन से उत्पन्न अवश्य होता है, परन्तु वह मानव इच्छा पर निर्भर नहीं रहता है। व्यक्ति ईश्वर-दर्शन की घड़ी में पूर्णतया निश्चेष्ट रहता है और इस निश्चेष्टता की स्थिति में ईश्वर-प्रतीक हमे ज्ञात होता है। युग का कहना है कि व्यक्ति अपने ईश्वर की रचना नही करता है, परन्तु अनेक देवी-देवताओ मे से वह उसी देवता को अपना आराध्य ईश्वर मानता है जो उसके संस्कार से मेल खाता है। व्यक्ति को ऐसा बोध होता है मानो ईश्वर उसका आह्वान कर रहा है और जिसके चंगुल से भक्त नही निकल सकता है। इस अर्थ मे भक्त अपने भगवान् की पकड़ मे रहता है। मानव नही, वरन् ईश्वर ही मानव को ढूँढता रहता है। अतः, व्यक्ति के लिए ईश्वर पूर्णतया बहिर्निष्ठ होता है[2]।

(घ) फिर युंग के अनुसार धर्मविषयक ईश्वर किसी व्यक्तिविशेष के द्वारा स्थापित नही होता है। जबतक एक पूरा समाज किसी ईश्वर-विशेष को स्थापित न करे तबतक वह व्यक्ति के लिए भी वास्तविक नही होता है। अतः, ईश्वर अतिव्यक्तिक सत्ता कहा जा सकता है।

(ङ) अन्त में, युंग ईश्वर के अस्तित्व को ठीक जेम्स की उक्ति के अनुसार, परिणामवादी तर्क पर आधारित करते हैं। युंग के अनुसार किसी स्वप्न के अर्थनिरूपण मे हम उसी अर्थ को सही समझते हैं जिसके प्रस्तुत करने पर चित्तरोगी का लक्षण (सिम्पटम) दूर हो जाता है। इसी प्रकार उसी ईश्वर के अस्तित्व को वास्तविक मानना चाहिए जिसके द्वारा व्यक्ति के जीवन मे सार्थकता आ जाती है। इस सदर्भ मे युंग का कहना है कि यदि भ्रम से जीवन मे शक्ति का संचार हो तो भ्रम को ही अपनाना चाहिए, क्योंकि सत्यता को जान लेने में तो फिर व्यक्ति से शक्ति भी निकल जाएगी[3]।

---

१. बटन-खट अंग्रेजी के क्लिक-सिद्धान्त का अनुवाद है। जिस प्रकार बिजली-बटन के दबाते ही प्रकाश चला आता है, उसी प्रकार देवता के दर्शन होते ही व्यक्ति उस देवता को अपना ईश्वर मानने लगता है।

२. कलक्टेड वर्क्स भाग ११ पृ० ७।

३. मॉडर्न मैन इन सर्च आव ए सोल—पृ० ७२, ७४, २७७।

आलोचना

युंग के मनोवैज्ञानिक अध्ययन मे वेदान्त की बहुत अधिक झलक दिखाई देती है। जीवन के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के सिद्धान्त में आश्रम-विचार छिपा हुआ है। जबतक ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य जीवन (पूर्वार्ध) सफल नही होता है तबतक वानप्रस्थ और सन्यास (युंग का उत्तरार्ध, जिसमे आत्माभिमुखन की बात बताई गई है) भी सफल नही हो पाता है। फिर जिस प्रकार शांकर सिद्धान्त मे वही देवी-देवता किसी व्यक्ति के लिए सत्य होता है जिसके अनुसार उसकी योग्यता और सस्कार रहता है। युग के अनुसार भी जिसके प्ररूप के अनुसार जिस देवता-दर्शन से व्यक्ति के जीवन मे दिव्यदृष्टि हो जाए, आत्म-दीप जलने लगे, जीवन मे शाति और आनन्द आने लगे, वही देवता उस व्यक्ति के लिए सत्य होता है। इसलिए शांकर सिद्धान्त के समान युंग ईश्वर-प्रतीकों को सापेक्ष मानते हैं। पुन, शकर के अनुसार ईश्वर-पूजा निर्गुण-प्राप्ति का साधन मानी जाती है और अन्त मे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बाद सगुणोपासना की आवश्यकता नही होती है। प्रत्येक ब्रह्मज्ञानी को परमात्मलाभ हो जाता है जो जीवो मे अन्तर्निहित उसका अन्तिम सत् है। ठीक इसी प्रकार युंग के अनुसार व्यक्ति की अन्तिम व्यवस्था मे देवी-देवता का विलयन हो जाता है और उसकी अपनी संपूर्णता प्राप्त हो जाती है।

शाकर वेदान्त-दर्शन आत्म-संवर्धन का दर्शन है। जगत् से दूर और परे आत्मनिहित शक्तियों के उद्बोधन से व्यक्ति की अपनी पूर्णता प्राप्त होती है। यह साधना-दर्शन मानव की शाश्वत निधि है। जिस समय शंकर ने इस साधना की बात कही, उस युग के लिए यह उपयुक्त था और जब भविष्य में भी सामाजिक व्यवस्था की समस्या का समाधान हो जाएगा और जब व्यक्ति अपने जीवन की उलझनो से मुक्त हो जाएगा तब फिर इस साधना का दर्शन व्यक्तियो के जीवन में शक्ति और सार्थकता का संचार करेगा। परन्तु समसामयिक युग में आर्थिक, राजनीतिक शोषण के कारण समाज के विभिन्न वर्गों का अन्तर्संघर्ष इतना अधिक हो गया है कि साधना की बात करनी असंगत प्रतीत होती है। यही बात युंग के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के संबंध मे कही जा सकती है। धार्मिक कथन में ईश्वर-अल्लाह, देवी-देवता के स्वतंत्र अस्तित्व के विषय मे बात बतायी जाती है। समझा जाता है कि मानव मनस् से परे और स्वतंत्र ईश्वर है जिसकी कार्यशक्ति के फलस्वरूप मानव में

दिव्यदृष्टि, आत्म ज्योति अथवा दर्शन प्राप्त होता है। युंग ने ईश्वर की बहिर्निष्ठता का प्रश्न ही टाल दिया है। उनके अनुसार ईश्वर मानसिक सत्ता है। युंग का कहना है कि मनोवैज्ञानिक की हैसियत से वे ईश्वर का नही, वरन् ईश्वर की प्रतिमा का ही उल्लेख कर सकते हैं, क्योंकि यही मानसिक प्रतिमा ही अनुभूत होती है[1]। फिर युंग ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि धर्म का विषय भौतिक सत्ता नहीं, अपितु मानसिक सत्ता है। अतः, युंग के लिए धार्मिक कथन आत्मकथात्मक मनोवैज्ञानिक कथन है।

क्या कोई मानसिक सत्ता को यथार्थ सत्ता मान सकता है ? भौतिक जगत् के समान मानसिक सत्ता की स्वतंत्र वास्तविकता नहीं है। मनस् शरीरधारी में होता है और शरीरधारी भौतिक जगत् पर निर्भर रहता है। अत॰, भौतिक जगत् का अस्तित्व जीव और मन से युक्त मानव के अस्तित्व से स्वतंत्र है। परन्तु मनस् न तो बिना शरीर तथा मस्तिष्क के संभव हो सकता है और न इसे भौतिक जगत् से स्वतंत्र माना जा सकता है। अतः भौतिक जगत् के समान मनस् को स्वतत्र सत्ता और शुद्ध अस्तित्व नही माना जा सकता है। इसलिए यदि ईश्वर मानसिक प्रतीक हो तो इसे बहिर्निष्ठ वास्तविक सत्ता नही स्वीकारा जा सकता है। अन्त में ईश्वर को मानसिक अस्तित्व मान लेने पर ईश्वर व्यक्ति की आत्मनिष्ठ तथा अहंमात्रवादी अनुभूति में परिणत हो जाता है। परन्तु परम्परागत धर्मदर्शन के अनुसार ईश्वर मानव मन तथा विश्व, दोनो से परे और स्वतत्र माना जाता है। अतः, मार्टिन बूबेर ने ठीक ही कहा है कि युंग के अनुसार ईश्वर-संबंधी कथन सम्पूर्णतया मानवाश्रित कहा जाएगा और ईश्वर को मानव अनुभूति से बाहर एवं स्वतंत्र नही माना जाएगा[2]। क्योकि युंग के लिए ईश्वर से अभिप्राय होता है अचेतन से उन्मज्जित प्रतीक का और प्रतीक को मानसिक सत्ता माना गया है। इसलिए ईश्वरानुभूति अहंमात्रवादी अनुभूति हो जाती है और इसके संबंध मे आत्मकथात्मक कथन ही संभव हो सकता है। युंग ने अपनी व्याख्या को यथासंभव रहस्यानुभूति के अनुकूल बनाने का प्रयास किया था। पर क्या इनके प्रयास को सफल समझा जाएगा ?

रहस्यानुभूति को मूक तथा गूंगे के गुड की अनुभूति बताई गई है। परन्तु रहस्यानुभूति को भी अहंमात्रवादी अनुभूति नही माना जाता है। प्रायः

१. डी॰ व्हाईट, गॉड ऐंड दी अनकौन्सस—पृ॰ २१६-२१७।
२. मार्टिन बुबेर, दि एक्लिप्स आव गौड—पृ. १०७

रहस्यानुभूति में, विशेषकर सेश्वरवादी परम्परा में, बताया जाता है कि यह अनुभूति ईश्वर ही की सक्रियता से रहस्यवादी में उत्पन्न होती है। ईश्वरवादी रहस्यवाद मे धार्मिक अनुभूति को आत्मनिष्ठ नहीं कहा गया है। धार्मिक अनुभूति को युंग ने मानसिक बताकर ईश्वर की सत्ता को समाप्त कर दिया है। यह कोई आकस्मिक बात युंग के लिए नही है। उन्होंने मंडल-प्रतीकों की अनुभूति के प्रसग में बताया है कि धार्मिक अनुभूति की चरम अवस्था में ईश्वर का पूर्ण विलयन हो जाता है। अतः, मार्टिन बूबेर ने ठीक ही कहा है कि युंग की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार ईश्वर की अनुभवातीत वास्तविकता समाप्त ही नही हो जाती है, वरन् ईश्वर के अस्तित्व का ही विलयन हो जाता है[1]। तब ईश्वर की सत्यता के संबंध में, अर्थात् उसकी स्वतंत्र वास्तविकता के सबंध में क्या कहा जा सकता है ?

ईश्वर की वास्तविकता के प्रसग मे युंग की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार यही कहा जा सकता है कि मानसिक वास्तविकता को छोड़कर ईश्वर की अपनी कोई स्वतंत्र वास्तविकता नही है। युंग के अनुसार ईश्वर को इसलिए वास्तविक मानना चाहिए कि उसकी अनुभूति से व्यक्ति अभिभूत हो जाता है और इसलिए ईश्वरानुभूति को स्वतः प्रमाणित कहा जा सकता है[2]। पर क्या युंग की इस युक्ति को सही स्वीकारा जाएगा ? केवल व्यक्ति को अभिभूत करने तथा व्यक्ति के अन्दर उदात्तन-प्रवृत्तियों के उद्बोधन-मात्र से ईश्वर को वास्तविक नही कहा जाएगा। जॉन बनयन की 'पिल्ग्रिम प्रोग्रेस' काल्पनिक रचना है। पर इस रचना के द्वारा अनेक व्यक्तियों के जीवन मे अनुप्रेरणा प्राप्त हुई है। परन्तु कोई यह नही कहेगा कि इस काल्पनिक रचना के पात्र वास्तविक मानव हैं। शायद युंग की ईश्वरवादी व्याख्या के मंथन करने से ईश्वर की वास्तविकता की कोई नई बात नही निकल सकती हैं। उन्होंने कभी भी ईश्वर की वास्तविकता स्वीकार नहीं की है; तो क्यो फिर युंग के कथन का पिष्ट-पेशन किया जाए ? पिष्ट-पेशन से एक लाभ होगा कि युंग का कथन स्पष्ट हो जाएगा और धार्मिक कथन को मनोवैज्ञानिक कहने का सही विश्लेषण हो जाएगा।

ईश्वर-कथन को मनोवैज्ञानिक सत्य अथवा तथ्य कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार स्वप्न-सुन्दरी तथा पागल का छुरा कठोर और ठोस जगत की वस्तु

१. दि एक्लिप्स आव गॉड—पृ. ११२
२. कलक्टेड वर्क्स, भाग ११—पृ० १०५।

नही है, परन्तु उनकी मानसिक अनुभूति की वास्तविकता ठुकरायी नही जा सकती है। पागल को ठीक ही में दिखता है कि कोई छुरा लेकर उसे छुरा भोंकने आ रहा है। पर क्या छुरा वास्तविक है ? क्या इस पागल के अनुभूत छुरे से किसी की उँगली कट सकती है ? हाँ, पागल को इस अनुभूत छुरे से डर अवश्य लगता है और उसका भय एकदम सत्य है। इसी प्रकार ईश्वर की अनुभूति से भक्त को आनंद, शांति तथा सार्थकता प्राप्त होती है, पर पागल के छुरे के समान ही ईश्वर को वास्तविक नही माना जा सकता है। परन्तु ईश्वरानुभूति मनोवैज्ञानिक स्तर पर वास्तविक मानसिक स्थिति कही जाएगी। अब जब धार्मिक व्यक्ति कहते हैं कि ईश्वर वास्तविक है तो इस कथन के दो तात्पर्य हो सकते हैं :

१. मुझे ईश्वर दिखाई दे रहा है और यह मेरी मानसिक स्थिति है।

२. ईश्वर मुझे अपने से परे, स्वतन्त्र और अतीत दिखाई दे रहा है और यदि मुझे ईश्वरानुभूति नही भी होती तो भी ईश्वर की स्वतंत्र सत्ता रहती है।

अब ईश्वर-दर्शन मे (१) और (२) दोनो आते हैं। परन्तु जब ईश्वर-वादी कहता है कि ईश्वर वास्तविक है तो वह प्राथमिक रूप से (२) कहना चाहता है, अर्थात् ईश्वर मानव, मानव प्रक्रिया, मानव की मानसिक अनुभूति, भौतिक जगत् इत्यादि सभी वस्तुओं से परे, अतीत और स्वतंत्र सत्ता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए ईश्वरवादी कहता है कि ईश्वर सम्पूर्ण विश्व का रचयिता है। अत: ईश्वरवादी प्रकथन अनुभव के आधार पर ईश्वर की अतीत स्वतंत्र और स्वनिर्भर सत्ता की वास्तविकता बताई जाती है और ईश्वर को अतिव्यक्तिक, बहिर्निष्ठ तथा यथार्थ कहा जाता है। इसके विपरीत युंग के अनुसार ईश्वर की वास्तविकता से केवल मानसिक स्थिति का बोध कहा गया है। इस प्रकार के कथन को आत्मकथात्मक कहा जा सकता है। आत्म-कथात्मक कथन शुद्ध रूप से मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण ले लें। मान लिया जाए कि रात को आकाश की ओर उँगली दिखाकर कोई कहे (क) मुझे एक झाड़ तारा दीख रहा है और अन्य लोग कहें कि यहाँ कोई झाड़ तारा नहीं है। तो अन्य लोगों की आपत्ति करने पर पुनः वह कहता है कि (ख) मुझे एक झाड़ू तारा दीख रहा है। अगर इस बात पर लोग शान्त न हो और वे एक

दूरबीन ले आए और आकाश की ओर दूरबीन से देखने पर कोई भी झाड़ू तारा नहीं देख पाएँ तो वे कहेंगे कि कोई भी झाड़ू तारा आकाश मे नहीं है। ऐसी स्थिति से पहला व्यक्ति खीझ कर कह सकता है—

(ग) 'मुझे मालूम देता है कि आकाश मे झाड़ू तारा उगा हुआ है"।

यदि 'झाड़ू तारे' पर हमारा ध्यान न जाए और केवल व्यक्ति की ही मानसिक स्थिति का परिचय देना हो तो प्रायः हम उसमें शब्द या वाक्यांश जोड देते हैं 'मेरे लिए', 'मुझ ही', 'मुझे यह आभासित हो रहा है, इत्यादि। जब यह वाक्यांश जोड़ दिया जाता है कि "मुझे मालूम दे रहा है कि आकाश में झाड़ू तारा है" तो यहाँ वास्तव में लोग प्रवक्ता की मानसिक स्थिति के विषय में जानने की कोशिश करेंगे। लोगों को कहने पर भी कि कोई झाड़ू तारा नही दिख रहा है यदि कोई बार-बार कहने लग जाए कि 'मुझे, 'मुझे मालूम दे रहा है कि आकाश मे झाड़ू तारा है' तो लोग प्रवक्ता को भ्रान्त व्यक्ति मान सकते हैं। इसी प्रकार यदि धार्मिक व्यक्ति कहे, 'कोई माने या न माने, मेरे लिए यह सत्य है कि ईश्वर है—मैंने उसका दर्शन किया है', तो ऐसी स्थिति में इस कथन को आत्मकथात्मक कहा जाएगा क्योंकि यहाँ प्रवक्ता वास्तव मे ईश्वर के अस्तित्व के संबंध मे नही कह रहा है : वह अपनी मानसिक स्थिति का ही परिचय दे रहा है। अब युग के अनुसार धार्मिक कथन, विशेषतया ईश्वर-संबंधी कथन आत्मकथात्मक हैं। इन आत्मकथात्मक कथनो को युंग के अनुसार स्वतः प्रमाणित माना जाएगा। पर क्या आत्मकथात्मक कथन को अशोध्य, स्वतः प्रमाणित माना जा सकता है?

यहाँ भी युग की उक्ति सही नही मालूम देती है। वास्तव मे प्रवक्ता को ईश्वरानुभूति हो रही है या नही, इसकी भी कसौटी है। यदि किसी को ईश्वर-दर्शन हो तो जैसा स्वयं युंग ने कहा है, व्यक्ति में उदात्त प्रवृत्तियाँ चली आती हैं, उसमे शाति आ जाती है, सभी शकाएँ दूर हो जाती हैं, उसके जीवन मे स्थिरता हो जाती है, इत्यादि।

निष्कर्ष : मैं समझता हूँ कि युंग का निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण है, पर उनकी व्याख्या गलत है। शायद ईश्वर के संबंध मे कोई भी शब्दशः वर्णनात्मक सवाक्य प्रयुक्त नही हो सकता है और इस बात को स्पष्ट करने के लिए दार्शनिक विश्लेषण की आवश्यकता होती है, न कि मनोविश्लेषण की। फिर युग ने धर्म को व्यक्तिनिष्ठ रूप में लिया है। उनके अनुसार ईश्वर-दर्शन केवल आत्मनिष्ठ

व्यापार है, न कि सामाजिक भी। कम-से-कम पाश्चात्य ईश्वरवाद में धर्म को उतना ही सामाजिक माना गया है जितना व्यक्तिनिष्ठ। परन्तु जो कुछ भी सत्यता युंग के मत में हो, कम-से-कम युंग को ईश्वरवादी नहीं कहा जाएगा, क्योंकि :

(क) युंग मानव मन और मानव अनुभव से परे ईश्वर की सत्ता को नहीं स्वीकार करते हैं।

(ख) फिर युंग के अनुसार धर्म की अन्तिम अनुभूति में (मंडल-प्रतीक की अनुभूति) ईश्वर का विलयन भी हो जाता है।

युंग को एकेश्वरवादी तो स्वीकार ही नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वे देवीदेवता तथा ईश्वर की सापेक्षता स्वीकार करते है। तो ऐसी अवस्था मे क्यो युग को धर्म का पोषक और फ्रायड को धर्म का शत्रु कहा जाता है ? इसका कारण है कि फ्रायड धार्मिक अनुभूति विशेषकर ईश्वर की अनुभूति, को भ्रान्तिपूर्ण और मनस्तापी मानते है। परन्तु फ्रायड की तुलना मे युंग धार्मिक अनुभूति को स्वस्थ और व्यक्ति के लिए कल्याणकारी मानते है। परन्तु हमलोगों ने देखा है कि वास्तव मे फ्रायड भी सभी प्रकार के धर्मो का विरोध नही करते हैं। फ्रायड भी मानवतावादी थे, जिसे समकालीन धर्म मे गिना जाएगा। परन्तु युग रहस्यवादी थे और समाज से परे व्यक्तित्व विकास तथा आत्मसंवर्धन को धार्मिक लक्ष्य मानते थे। यदि युंग धर्मदर्शन की स्थापना करना चाहते तो उनका मत आध्यात्मिक मत होता जो बहुत कुछ शाकर मत से मेल खाता। समसामयिक दृष्टिकोण से फ्रायड के मत को अधिक समीचीन माना जाएगा, क्योंकि इसमे मानवतावाद निहित है। शांकर अध्यात्मवाद शाश्वत अवश्य है, पर वर्तमान युग के अनुकूल इसे नही कहा जाएगा। परन्तु दार्शनिक विश्लेषण की दृष्टि से युंग के विचार को महत्त्वपूर्ण माना जाएगा, क्योंकि इसमे ईश्वर के प्रतीक को स्पष्ट किया गया है और हम देखेंगे कि अन्तिम रूप मे ईश्वरवादी कथन संज्ञानात्मक नहीं, वरन् प्रतीकात्मक माने जाएँगे। युंग के प्रतीक-सिद्धांत का महत्त्व धार्मिक ज्ञान के प्रकरण मे स्पष्ट हो जाएगा जिसकी अन्न व्याख्या की जाएगी।

प्रश्न

१. बर्ग्सों के अनुसार धर्म की व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।

२. बर्ग्सों के अनुसार स्थैतिक और गतिशील धर्मों की व्याख्या कीजिए और धर्म मे देवकथा के स्थान को निर्धारित कीजिए।

३. बर्ग्सों के अनुसार धार्मिक रहस्यवाद का विवेचन कीजिए। इन्होंने क्यों भारतीय रहस्यवाद को अपूर्ण कहा है ?
४. जेम्स के अनुसार धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
५. जेम्स के अनुसार धार्मिक रहस्यवाद की समीक्षा कीजिए।
६. क्या जेम्स ईश्वर की वास्तविकता को सिद्ध कर पाए हैं ? जेम्स के सकल्पात्मक अधिकार का विवेचन कीजिए।
७ क्या जेम्स को एकेश्वरवादी माना जाएगा ? क्या वे ईश्वर-सबधी कथन को सज्ञानात्मक मानते है ?
८. क्या ईश्वर-दर्शन मे मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता है ?
९. ईश्वरवादी धर्म की मनोवैश्लेषिक व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
१०. एकेश्वरवाद की समीक्षापूर्ण फ्रायडवादी व्याख्या कीजिए।
११. फ्रायड के अनुसार ईश्वर-विश्वास के गुण-दोषो का उल्लेख कीजिए।
१२. क्या धर्म की फ्रायडवादी व्याख्या को वैज्ञानिक माना जाएगा ?
१३. धर्म की युगवादी व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
१४. आद्यप्रतिमा और प्रतीक के बीच भेद बताकर ईश्वर-प्रतीक की विस्तारपूवक व्याख्या कीजिए।
१५. युंग के अनुसार व्यष्टीयन-प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए। युग क्यों व्यष्टीयन को धार्मिक अनुभूति मानते है ?
१६. क्या युंग के अनुसार ईश्वरवाद तथा एकेश्वरवाद की सरक्षा होती है ?
१७ क्यो युग को धर्म का पोषक और फ्रायड को धर्म का शत्रु कहा जाता है ?

धार्मिक ज्ञान का स्वरूप

अध्याय—८

धार्मिक ज्ञान का स्वरूप

विषय-प्रवेश :—मानसिक प्रक्रियाओं को तीन वर्गों मे बाँटा जाता है, संज्ञानात्मक, संक्रियात्मक और भावमूलक। संज्ञानात्मक प्रक्रिया वह है जिसमें वस्तु, व्यक्ति, घटना, उनके गुण और क्रियाओं की ससूचना प्राप्त की जाती है। उदाहरणार्थ, यह किताब लाल है, घोडा सडक पर दौड़ रहा है, इत्यादि संज्ञानात्मक संवाक्य हैं, जिनमे किताब के गुण तथा घोड़े की क्रिया के संबंध मे हम संसूचना व्यक्त कर रहे हैं। सक्रियात्मक प्रक्रिया के द्वारा व्यवहार प्रतिपादित होता है। उदाहरणार्थ, दौड़ना-धूपना, खाना-पीना इत्यादि। नैतिक कार्यों को भी संक्रियात्मक कहा जाता है। भावमूलक प्रक्रिया वह है जिसमे सुख-दुख, भरोसा, विश्रभ, शांति इत्यादि प्रक्रियाएँ चली आती है। ये तीनों प्रक्रियाएँ मानव मे अवियोज्य होती है, क्योकि कोई मानसिक प्रक्रिया ऐसी नहीं है जो बिना अन्य दो प्रक्रियाओ के संभव हो। उदाहरणार्थ, जब हम किताब के संबंध मे यह संसूचना प्राप्त कर रहे हैं कि यह पुस्तक है और लाल है, तो पुस्तक को हाथ में लेने, पढ़ने, देखने की प्रक्रियाएँ भी चली आती हैं, जिन्हें हम संक्रियात्मक वर्ग मे रख सकते है। उसी प्रकार इस लाल पुस्तक को देखकर सुख भाव, विस्मय, हर्ष-विषाद इत्यादि संभव हो सकता है और इन सब प्रक्रियाओं को 'भाव' सज्ञा दी जाती है। यद्यपि ये तीनों मानसिक प्रक्रियाएँ अवियोज्य रहती है, तो भी प्रक्रिया उसी नाम से पुकारी जाती है जिसमें तत्संबधी अंश की अधिकता रहती है।

वैज्ञानिक ज्ञान को संज्ञानात्मकता का आदर्श रूप माना जाता है। इसलिए जब ईश्वर-संबंधी कथनों को संज्ञानात्मक कहा जाता है तो इससे तात्पर्य होता है कि ईश्वर के संबंध मे एक प्रकार का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। शायद इस समय कोई भी धर्मवैज्ञानिक यह कहने को तैयार नहीं होगा कि धार्मिक ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान, दोनो एक ही प्रकार के हैं। तो धार्मिक ज्ञान को 'ज्ञान' संज्ञा क्यों दी जाए? क्या वैज्ञानिक ज्ञान के अतिरिक्त भी अन्य प्रकार के ज्ञान की संभावना हो सकती है? इन सब प्रश्नों का उत्तर तभी दिया जा सकता है जब हम ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या करें।

ज्ञान का स्वरूप . प्रोफेसर ए० जे० एर ने ज्ञान के तीन लक्षणों का उल्लेख किया है, अर्थात् किसी तथ्य के ज्ञान को तभी 'ज्ञान' कहा जाए जब यह सत्य हो, फिर इस ज्ञान को विश्वसनीय होना चाहिये और विश्वसनीयता का प्रमाण होना चाहिए[1]। तथ्य वही है जो इन्द्रियों के द्वारा जाना जा सके और विश्वसनीयता का प्रमाण भी अन्त मे निरीक्षण पर ही आधारित होता है। पर ईश्वर इन्द्रियो के द्वारा नही जाना जा सकता है और इसलिए उसका ज्ञान भी निरीक्षण द्वारा नहीं प्रमाणित हो सकता है। ऐसी अवस्था मे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर का 'ज्ञान' संभव नही है। पर इस निष्कर्ष के प्रति आपत्ति की जा सकती है कि ईश्वर का ज्ञान श्रुति, आस्था (फेथ) तथा अन्त प्रज्ञा के द्वारा संभव हो सकता है। तो क्यो नहीं श्रुति, आस्था तथा अन्त प्रज्ञा पर आधारित ज्ञान को 'ज्ञान' की संज्ञा दी जाए? इन्द्रियानुभूति को इसलिए ज्ञान के लिए आवश्यक माना जाता है कि यह सार्वजनिक होती है और पुनरावृत्य होती है और फिर इसे अन्य सभी व्यक्तियो को बताया जा सकता है। ये सब लक्षण श्रुति, आस्था तथा अन्तः प्रज्ञा मे नही पाए जाते हैं। यही कारण है कि ईश्वर-संबंधी ज्ञान को 'ज्ञान' की संज्ञा नहीं दी जाती है।

हमलोगो ने संज्ञानात्मकता के आदर्श उदाहरण को विज्ञान की संज्ञा दी है और विज्ञान को आधार मानकर दो प्रकार के कथनों को सज्ञानात्मक माना जाता है, अर्थात् विश्लेषात्मक (अनालिटिक) और संश्लेषात्मक (सिंथेटिक) कथन। इन दोनों वाक्यों की व्याख्या अध्याय — २ के अन्त मे कर दी गई है। विश्लेषात्मक कथन में आत्मसगति होनी चाहिए, अर्थात् इसमे प्रयुक्त पदों को इनके परिभाषित अर्थ से मेल खाना चाहिए। हमलोगों ने यह भी देखा है कि विश्लेषात्मक कथन का सबध वास्तविकता से नही रहता है। इसके विपरीत संश्लेषात्मक कथन होते हैं, जिनमे तथ्यो का उल्लेख किया जाता है। इसलिए इन्हे वर्णनात्मक कथन भी कहा जाता है। अब यदि ईश्वर वास्तविक तथ्य हो तो ईश्वर-संबधी कथन को संश्लेषात्मक माना जाएगा।

फिर विश्लेषात्मक मे अनिवार्यता पाई जाती है, परन्तु संश्लेषात्मक कथन केवल प्रायिक अथवा सभाव्य कहे जा सकते हैं। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अनिवार्यता केवल शब्दों के संगत पारिभाषिक

(१) ए० जे० एर. दि प्रोब्लेम आव नौलेज—पृ० ३५

प्रयोग से उत्पन्न होती है, परन्तु इसका साक्षात् संबंध प्रत्ययों के स्पष्टीकरण-मात्र से रहता है। इसका संबंध तथ्यों से नही रहता, क्योंकि कोई भी ऐसा तथ्य नही है जिसके विपक्ष में कल्पना करने की संभावना नहीं हो सकती है। उदाहरणार्थ, मानव अनुभूति के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह घास हरी है। इसे अपने देखकर, दस आदमियों से पुष्टि कराकर, यंत्रों के द्वारा निर्धारित कर कहा जा सकता है कि यह घास हरी है। परन्तु आँख मूँदकर हम कल्पना कर सकते हैं कि घास हरी छोडकर दूसरे रंग की हो सकती है। इसलिए संश्लेषात्मक वाक्य निश्चित होता है, परन्तु तार्किक दृष्टि से प्रसभाव्य माना जाता है, न कि अनिवार्य। अतः, यदि ईश्वर वास्तविक होगा, तो ईश्वर-संबधी कथन कभी भी अनिवार्य नही हो सकता।

सश्लेषात्मक कथनों मे तथ्यों का उल्लेख किया जाता है और तथ्य इन्द्रिय अनुभव से प्राप्त होते हैं, इसलिए सश्लेषात्मक कथनो के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए बताना चाहिए कि किन-किन इन्द्रिय अनुभूतियो के द्वारा तथ्य को प्राप्त किया जा सकना है। इसे दार्शनिकों ने विश्लेषणवादी तथा अनुभववादी प्रमाणीकरण का सिद्धान्त कहा है*। अतः, यदि ईश्वर-सबंधी कथन संश्लेषात्मक होगा, तो ईश्वरवादी को स्पष्ट करना चाहिए कि वे कौन-सी अनुभूति है जिसके द्वारा ईश्वर प्राप्त किया जा सकता है।

प्रमाणीकरण के सिद्धान्त के अतिरिक्त अनुभवाश्रित कथन होने की दूसरी कसौटी कार्ल पॉपर ने स्थापित की है। इस दूसरी कसौटी को मिथ्याप्यता की कसौटी कहते हैं†। इस मिथ्याप्यता की कसौटी के अनुसार उसी कथन को तथ्यात्मक कहा जा सकता है जिसे अनुभवजन्य कथनो के द्वारा खंडनीय दिखाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, "यह काली शेफर पेन है"। इसे इसलिए संश्लेषात्मक अथवा अनुभवाश्रित माना जाएगा क्योंकि इस कथन को कई प्रकार से मिथ्यापित किया जा सकता है। यदि यह कलम काली न होकर नीली हो, या शेफर पेन न होकर बिल्सन हो, या कलम न होकर एक काली लकड़ी हो,

---

* इसके संबंध में ग्रंथसूची देखें। लेखक ने इसकी व्याख्या अपनी पुस्तक 'धर्मदर्शन: प्राच्य एवं पाश्चात्य' में कर दी है।

† इसकी भी व्याख्या 'धर्मदर्शन' में कर दी गई है। अतः, यहाँ इसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक मालूम देती है।

इत्यादि। अब यदि ईश्वर-संबंधी कथन संश्लेषात्मक कथन होगा तो इसे भी मिथ्याप्य होना चाहिए।

अतः, ईश्वर के संबंध में संज्ञानात्मक कथन संभव होगा तो वह संश्लेषात्मक होगा, और यदि ईश्वर-संबंधी कथन संश्लेषात्मक होगा तो उसे अवश्य ही अनुभूति के आधार पर प्रमाण्य तथा मिथ्याप्य होना चाहिए। चूँकि अनुभववादी ईश्वर-संबंधी कथन को संज्ञानात्मक नहीं मानते हैं और वे ईश्वर को वास्तविक अथवा यथार्थ नहीं स्वीकार करते हैं, इसलिए वे या तो ईश्वर-प्रत्यय को आत्मविरोधी मानते हैं (जे० एन० फिंडले) या वे ईश्वर-संबंधी कथन को सत्याप्य-मिथ्याप्य नहीं स्वीकार करते हैं (ए० फ्लू)। ईश्वर-संबंधी कथन की संज्ञानात्मकता के खंडन को दिखाने के लिए फिंडले-फ्लू ने अनीश्वरवाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है।

फिंडल-फ्लू के अनीश्वरवाद का सिद्धान्त

फिंडले की युक्ति का साराश*

१. यदि ईश्वर वास्तविक होगा तो वह उपास्य होगा।

२ उपास्य से अर्थ है कि भक्त ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पण कर देगा।

३. कोई भी भक्त अपना सर्वस्व-न्योछावर, पूर्ण आत्मनिवेदन केवल अपरिमित सत्ता के प्रति कर सकता है।

४ ईश्वर अपरिमित ही नहीं, वरन् वह अनिवार्यतः अपरिमित है।

५ ईश्वर केवल वास्तविक ही नही है, वरन् उसमे असंख्य उदात्त गुण है, उदाहरणार्थ, अपरिमित करुणा, प्रेम, ज्ञान, सर्वशक्तिमत्ता, शुद्धत्व शुभ इत्यादि।

६. ईश्वर मे ये सब अपरिमित गुण किसी आपातिक रूप से नही है, वरन् ये सब गुण ईश्वर मे अनिवार्यतः हैं।

७ अतः, उपास्य ईश्वर का प्रत्यय है कि वह अनिवार्य सत्ता है। परन्तु अनिवार्य सत्ता निम्नलिखित रूप से आत्मविरोधी प्रत्यय माना जाएगा।

८. 'अनिवार्यता' से तात्पर्य होता है विश्लेषात्मक अनिवार्यता जो भाषा के संगत व्यवहार से उत्पन्न होती है और भाषा के संगत प्रयोग को तार्किक

---

* विस्तार के लिए देखें, अध्याय—२ (पृ० ५१)

संगत कहा जा सकता है। अतः, फिंडले के अनुसार यदि ईश्वर को 'अनिवार्य' कहा जाएगा तो यह शब्द तार्किक तथा विश्लेषात्मक अनिवार्यता के अर्थ मे ही प्रयुक्त होना चाहिए। फिंडले के अनुसार, 'सत्ता' से वास्तविक तथ्य का अर्थ लिया गया।

अब यदि ईश्वर को 'अनिवार्य' कहा जाए तो इससे परिलक्षित होता है कि ईश्वर एक 'प्रत्यय-मात्र' है, जिसे हम संगत रूप से काम मे ला रहे हैं। उदाहरणार्थ, 'लाल गुलाब लाल है'। यहाँ विधेय में 'लाल' को अनिवार्यतः 'लाल गुलाब' के सबंध में स्वीकार किया जाएगा क्योकि यहाँ हम लाल गुलाब' को संगत रूप से काम मे ला रहे हैं। इसी प्रकार से ज्यामिति मे 'त्रिभुज' 'समकोण' इत्यादि प्रत्ययों को संगत रूप से काम में लाकर विभिन्न प्रमेय सिद्ध किए जाते है। अब 'लाल गुलाब' के लालपन को सिद्ध करने के लिए इन्द्रिय अनुभूति की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार किसी भी त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते है, इस प्रमेय को सिद्ध करने के लिए निरीक्षण की आवश्यकता नहीं होती हैं। यद्यपि विश्लेषात्मक कथन को अनिवार्य कहा जाएगा, तो भी इस कथन मे प्रयुक्त पदों के अनुरूप वास्तविक सत्ता का प्रश्न ही नही उठता है। वास्तविकता का प्रश्न वही उठता है जहाँ इन्द्रिय अनुभूति को काम मे लाया जाता है। परन्तु विश्लेषात्मक कथन मे अनिवार्यता केवल शब्द-विश्लेषण से ही प्राप्त होती है : यहाँ निरीक्षण की आवश्यकता होती ही नही है। अतः, यदि ईश्वर को 'अनिवार्य' कहा जाए तो इससे ध्वनित होता है कि ईश्वर वास्तविक तथ्य नही कहा जा सकता है। ईश्वर केवल 'त्रिभुज', 'समकोण' इत्यादि के समान प्रत्ययमात्र हो जाता है जिसके अनुरूप सत्ता होने की बात ही नहीं उठती है।

परन्तु यदि ईश्वर को वास्तविक मान लिया जाए और ईश्वरवादी को ईश्वर को वास्तविक मानना चाहिये, तो ईश्वर एक कुर्सी, टेबुल या किसी भी वास्तविक वस्तु के समान तथ्य हो जाएगा। परन्तु मानव अनुभूति के लिये कोई भी ऐसा तथ्य नही है जिसके विपक्ष में कल्पना नहीं की जा सकती है। यहाँ ज्ञान की 'निश्चितता' तथा उसकी विश्वसनीयता का प्रश्न नही है। यह एकदम निश्चित है कि घास हरी होती है। परन्तु इसके विपक्ष में विचार किया जा सकता है। हम कल्पना कर सकते हैं कि घास हरी न होकर नीली या काली हो। इसलिए यदि ईश्वर किसी-न-किसी रूप में तथ्य होगा, तो उसके

नहीं होने की कल्पना की जा सकती है। इस दशा में ईश्वर के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर वह है जिसके नहीं होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

अतः फिंडले के अनुसार, यदि ईश्वर तथ्य है तो वह अनिवार्य नहीं; और यदि ईश्वर अनिवार्य है अर्थात् जिसके नहीं—होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है) तो वह वास्तविक नहीं (अर्थात् केवल प्रत्ययमात्र हो जाता है जिसके अनुरूप वास्तविकता का प्रश्न ही नही उठता)। इसलिए, फिंडले के अनुसार ईश्वर को 'अनिवार्य सत्ता' (नेसिसरी बीइंग) समझना आत्मविरोधी प्रत्यय को स्वीकार करना है। फिंडले अपनी युक्ति को सत्तामूलक अनीश्वर-वाद कहते हैं, अर्थात् ईश्वर का ऐसा आत्मविरोधी प्रत्यय है कि उसके अनुरूप उसी प्रकार वास्तविकता नही हो सकते', जिस प्रकार वर्गाकार वृत्त के अनुरूप कोई सत्ता नही हो सकती है।

फ्लू का अनीश्वरवादी तर्क

फ्लू ने दो बातें प्रस्तुत की हैं, जिनके अनुसार स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर-संबंधी कथन को सज्ञानात्मक मान लेने पर आत्मविरोध उत्पन्न हो जाता है।

१. सर्वप्रथम, फ्लू का कहना है कि ईश्वर-संबंधी कथन संज्ञानात्मक होता है। फ्लू के अनुसार ईश्वरवादी वास्तव मे समझता है कि ईश्वर एक व्यक्तित्वपूर्ण वास्तविकता है जिसके साथ वह सयुक्ति अथवा सायुज्य स्थापित कर सकता है। यह ठीक है कि जब अन्य तथ्यो के समान ईश्वर की वास्त-विकता सिद्ध नही हो पाती है तब वह ईश्वर-संबंधी कथन को शुद्ध संज्ञानात्मक न मानकर उसमे अपनी प्रतिरक्षा के रूप मे संशोधन करने लगता है। परन्तु वस्तुतः ईश्वर-सबंधी कथन सज्ञानात्मक हैं, चाहे वे धोखे की टट्टी क्यों न हो।

२. दूसरी बात है कि यदि ईश्वर-सबंधी कथन सज्ञानात्मक हों तो वे तथ्यात्मक होंगे और यदि वे तथ्यात्मक हो तो उन्हें अवश्य ही मिथ्याप्य भी होना चाहिए। फ्लू, पोपर की मिथ्याप्यता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि यदि कोई तथ्यात्मक कथन मिथ्याप्य नही हो सकता है तो वह तथ्यात्मक भी नही हो सकता है। इसलिए फ्लू के अनुसार किसी कथन को तथ्यात्मक मानना और उसे मिथ्याप्य भी नही मानना आत्मविरोधी बात उसी प्रकार है जिस प्रकार वृत्ताकार वर्ग को माना जाता है। अतः, ईश्वर-संबंधी कथन वास्तव में आत्मविरोधी होते हैं।

फ्लू के अनुसार ईश्वर-संबंधी कथन को इसलिए मिथ्याप्य नहीं माना जाता है कि ईश्वर-संबंधी प्रत्ययों को शब्दशः अर्थ में प्रयुक्त न करके उनके अर्थ-निरूपण में अनेक प्रतिबंध जोड़ दिए जाते हैं। उदाहरणार्थ, ईश्वरवादी के लिए, ईश्वर प्रेम है। परन्तु जब अनीश्वरवादी इस कथन के विरोध मे कहता है कि ईश्वर यदि प्रेम होता, तो विश्व मे बाढ़, विप्लव, भूकम्प अनैतिकता इत्यादि क्यो होती हैं, तो यहाँ ईश्वरवादी बात बदल देता है। उसके अनुसार ईश्वर प्रेम अवश्य है, पर वह मानव प्रेम के समान नहीं है, वह पिता के प्रेम के समान नहीं है, उसका प्रेम पति के प्रेम के समान नही है, इत्यादि। इस प्रकार की शर्तों के जोडते रहने पर ईश्वर का प्रेम बुद्धिगम्य नही रह पाता है। कोई भी ईश्वरीय प्रेम का ऐसा अर्थ नही स्थिर हो पाता है, जिसे सत्यापित मिथ्यापित किया जा सकता है। परन्तु यदि ईश्वर-संबंधी कथन का सत्यापन-मिथ्यापन नही हो सकता है, तो ऐसे कथन वास्तव मे खोखले, अर्थहीन होते है।

इसी प्रसग मे दो और बातें बताई गई हैं, जिनके कारण भी ईश्वर-संबंधी कथनों को मिथ्यापित नही किया जा सकता है। मिचेल और मैकेंटायर का कहना है कि ईश्वर-संबंधी कथन को कामचलाऊ अथवा अन्तरिम प्राक्कल्पना नहीं कहा जा सकता है, क्योकि अन्तरिम प्राक्कल्पना वहीं बनाई जाती है, जहाँ कथन के मिथ्यापन का भी भय होता है। परन्तु भक्त के हृदय मे ईश्वर के प्रति अगाध आस्था होती है; वह ईश्वर के बिना एक क्षण भी नही रह सकता है। भक्त के लिए ईश्वर के अनस्तित्व की कल्पना भी संभव नही हो सकती है। ईश्वर के नहीं होने की बात उसके लिए नही उठती है। वह ऐसा नही कह सकता है : यदि मैं परीक्षा मे उत्तीर्ण हो गया तो मैं सोचूँगा कि ईश्वर है; और यदि परीक्षा में असफल हो गया तो मेरे लिये ईश्वर का अनस्तित्व सिद्ध हो जाएगा। भक्त को ईश्वर के प्रति दुविधा हो ही नहीं सकती है। वह ईश्वर के प्रति इतना आत्मग्रसित होता है और ईश्वर के प्रति अपने को इतना आत्मसमर्पित कर देता है कि उसके लिए कोई ऐसी घटना स्वीकार की ही नहीं जा सकती है जो ईश्वर के अस्तित्व को, या ईश्वर के प्रेम को, या उसकी सर्वशक्तिमत्ता इत्यादि को मिथ्यापित कर दे।। अतः, ईश्वर के प्रति आत्मग्रसन तथा आत्मनिवेदन के कारण ईश्वरवादी के लिये ईश्वर-संबंधी कथन मिथ्याप्य नहीं हो सकते हैं।

यदि ईश्वरवादी पर अधिक दबाव देकर पूछा जाए कि अन्त मे क्यों ईश्वर-संबंधी कथन मिथ्याप्य नही हो सकता है तो वह अपने बचाव के लिए तत्वमीमांसात्मक उत्तर देगा या सभव है, अन्त मे रहस्यवाद की शरण ले ले। प्राय: ईश्वरवादी ईश्वर के प्रेम, शुभत्व गुण इत्यादि को इसलिए मिथ्याप्य नहीं मानता है कि उसके लिए ईश्वर सम्पूर्ण विश्व को ध्यान मे रखकर कोई काम करता है। फिर व्यक्तिविशेष का मरणोत्तर जीवन भी रहता है और फिर उसमें उसकी गुह्य अन्तरात्मा भी पाई जाती है। परन्तु सम्पूर्ण व्यवस्था को हम नही जानते हैं। सभव है, गगा की बाढ, पूर्वी बंगाल की दुर्घटनाएं अन्त में समस्त मानव के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो। संभव है कि अमुक व्यक्ति-विशेष को अत्यधिक शारीरिक कष्ट हो। परन्तु इस यातना से उसकी अन्तरात्मा की शुद्धि हो सकती है, उसके उत्तर जीवन मे उस व्यक्तिविशेष को लाभ हो सकता है, इत्यादि। अत:, ईश्वरवादी सम्पूर्ण विश्व की अन्तिम दृष्टि को ध्यान मे रखकर किसी भी घटना को ईश्वर के प्रेम तथा उसके शुभत्व को मिथ्यापित करने के लिए युक्तिपूर्ण नही मानता है। फिर चूंकि सम्पूर्ण विश्व की अन्तिम व्यवस्था को किसी भी मानव की बुद्धि असख्य घटनाओं की श्रृंखला को विस्तारपूर्वक नही जान सकती है, इसलिए ईश्वरवादी ईश्वर के रहस्य मे अटल विश्वास रखकर किसी भी घटना को ईश्वर के अस्तित्व, उसके गुण इत्यादि को खडित करनेवाली घटना नही मान सकता है।

अब यदि ईश्वर-संबंधी कथन को संज्ञानात्मक होने के नाते तथ्यात्मक माना जाए तो उसे अवश्य ही मिथ्याप्य होना चाहिए। चूंकि फ्लू के अनुसार ईश्वर-संबंधी कथन को ईश्वरवादी तथ्यात्मक मानते हैं और फिर चूंकि ये उपर्युक्त कारणो से इस कथन को मिथ्याप्य नही मानते है, इसलिए फ्लू ईश्वर-संबधी कथनो को आत्मविरोधी तथा निरर्थक सिद्ध समझते हैं।

फिंडले और फ्लू के द्वारा ईश्वरवाद के खंडन करने तथा विश्लेषणवादी अनीश्वरवाद के प्रस्तुत करने के फलस्वरूप ईश्वरवादियों ने अपने पक्ष-समर्थन मे कई कदम उठाए है।

१. कुछ ईश्वरवादियों का कहना है कि ईश्वर-संबंधी कथनों को तथ्यात्मक समझा ही नही जा सकता है। (आर० एम० हेयर०, आर० बी० ब्रैथवेट, पॉल तीलिख इत्यादि)

२. कुछ ईश्वरवादियों का कहना है कि ईश्वर-संबंधी कथन तथ्यात्मक अवश्य है और यह मिथ्याप्य-सत्याप्य भी है, परन्तु साधारण अनुभूति के द्वारा

नहीं। इस ईश्वर-संबंधी कथन को मरणोत्तर जीवन की अनुभूति के द्वारा सत्याप्य-मिथ्याप्य किया जा सकता है (जॉनहिक, क्रोम्बी इत्यादि)।

३. कुछ ईश्वरवादियो का कहना है कि ईश्वर को 'अनिवार्य सत्ता' अवश्य कहा जा सकता है। परन्तु ईश्वर की अनिवार्यता विश्लेषात्मक अनिवार्यता नहीं है। इन ईश्वरवादियो के अनुसार ईश्वर की अनिवार्यता को विश्लेषात्मक मानना फिंडले, सी० बी० मार्टिन इत्यादि की भूल है। ईश्वर की अनिवार्यता अस्तित्ववाची है (ए० केनी, पैटर्सन ब्राऊन इत्यादि)।

अत, ईश्वर-संबधी कथनो को

१ तथ्यात्मक समझा जा सकता है।

२ अर्धसंज्ञानात्मक समझा जा सकता है।

३ अ-सज्ञात्मक माना जा सकता है।

इसके पहले कि ईश्वर-संबंधी कथनो के संबंध मे सज्ञानात्मक, अर्धसज्ञानात्मक तथा अ-संज्ञानात्मक सिद्धान्तो की व्याख्या की जाए, ईश्वर की अनिवार्यता की व्याख्या कर देनी चाहिए ताकि कम-से-कम ईश्वरवादी पक्ष का समझने मे कुछ कमी न रह जाए।

ईश्वर की अनिवार्य सत्ता

समसामयिक दार्शनिक भाषा में अनिवार्यता से अर्थ विश्लेषात्मक अनिवार्यता का होता है। परन्तु इस अनिवार्यता का संबध पद के संगत व्यवहार से होता है और पद के अनुरूप सत्ता या वास्तविकता की बात इसमे नहीं उठती है। भाषा-संगति को तार्किकता की संज्ञा दी जा सकती है। अत, समसामयिक दार्शनिक विचार के अनुसार अनिवार्यता तर्कनिष्ठ हुआ करती है और तर्कनिष्ठता कालातीत होती है। तार्किक दृष्टि के अनुसार यदि कहा जाए कि यह सत्य है कि राम पुस्तकालय में बैठा है, तो यह बात यदि एक बार सत्य होगी तो इसे बराबर सत्य मान लेना पड़ेगा। यदि राम पुस्तकालय से उठकर कहीं चला भी जाए तो भी यह प्रतिज्ञप्ति की 'राम पुस्तकालय में बैठा है' असत्य नहीं होगी। तार्किक सत्यता एक बार सत्य होने पर शाश्वत सत्य मानी जाएगी। राम रहे या न रहे, लेकिन यह बात कि वह पुस्तकालय में अमुक तिथि को अमुक समय पर बैठा था, गलत नहीं हो सकती है। अतः, तार्किक अनिवार्यता शाश्वत और कालातीत समझी जाती है। परन्तु अरस्तू ने कथनों के कालिक

महत्त्व पर ध्यान दिया है और इस रूप मे ही अस्तित्ववाची अनिवार्यता की बात कही गई है।

कथनों की कालिक सत्यता के सबध में अरस्तू का मत था कि जब राम वास्तव में पुस्तकालय मे बैठा हुआ है तो यह सत्य होगा कि 'राम पुस्तकालय मे बैठा है'। परन्तु यदि राम पुस्तकालय से बाहर निकल जाए तो यह असत्य हो जाएगा कि 'राम पुस्तकालय मे बैठा है'। इस कालिक सत्यता के सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर की अनिवार्य सत्ता वास्तविकता की दृष्टि से तर्कसंगत हो सकती है। कथनो की कालिक सत्यता के अनुसार आपातित कथन वे हैं जो कभी सत्य रहते हैं, परन्तु जो दूसरे समय मे सत्य न हो। उदाहरणार्थ, 'राम पुस्तकालय मे बैठा है'। जब वास्तव मे राम पुस्तकालय मे बैठा रहता है तो यह कथन आपातिक रूप से सत्य होगा और जब राम पुस्तकालय से बाहर हो जाता है तो यह सत्य नही होगा। प्राय वे सब कथन जो साधारण वस्तुओ के लिए वर्णनात्मक रूप मे प्रयुक्त होते हैं, आपातिक कहे जाएँगे। परन्तु ईश्वर सभी कालो मे रहता है और ईश्वरवादी के लिए ईश्वर की कालातीत सत्यता नही है। इसलिए ईश्वर वह सत्ता है जो भूत वर्तमान और भविष्य मे समरूप रहता है। ऐसा कभी नही था कि ईश्वर प्रेम नही था और न ऐसा होगा कि वह प्रेम नही रहेगा। अत ईश्वर की वास्तविकता और उसके सभी गुण सर्व-कालीन तथा त्रिकालिक रहते है। पुनः चूँकि ईश्वर ऐसा नही है कि कभी हो और अन्य समय में न हो, या कभी करुणामय हो और फिर अन्य कालो मे करुणामय न रहे, इसलिए ईश्वर-सबधी कथनो को आपातिक नही कहा कहा जा सकता है। इस बात को बताने के लिए कि ईश्वर का अपना तत्व ही ऐसा है कि वह सर्वकालीन है और उसके सभी गुण उसमे समरूप सर्वकालीन रहते हैं, कहा जाता है कि ईश्वर अनिवार्य सत्ता है। इस कालिक प्रयोग के अनुसार ईश्वर की अनिवार्यता अस्तित्ववाची कहलाएगी। अक्वाइनस अरस्तूवादी थे और अरस्तू के कथनों की कालिक सत्यता को ध्यान में रखकर उन्होंने ईश्वर को अनिवार्य सत्ता की संज्ञा दी थी। वास्तव में अक्वाइनस ने सत्ताओं को तीन वर्गों में बाँटा है।

(क) आपातिक सत्ताएँ जो परिवर्तनशील हैं और नश्वर भी हैं। इसके अन्तर्गत साधारण जीवन की अनुभूत वस्तुएँ आती हैं, उदाहरणार्थ, टेबुल-कुर्सी नदी-पहाड़ इत्यादि।

(ख) अनिवार्य सृष्ट रचनाएँ जो परिवर्तनशील हैं, परन्तु जिनका सारतत्व नित्य एकरूप बना रहता है। ये सृष्ट रचनाएँ अपने आप विनष्ट नहीं होती हैं। अक्वाइनस ने स्वर्गदूतों, आत्माओं, आकाश की विभूतियों तथा प्राथमिक भौतिक द्रव्य को सृष्ट अनिवार्य सत्ता कहा है। इनकी उत्पत्ति ईश्वर की सृष्टिकर्तृत्व-शक्ति से होती है और इनका विनाश भी ईश्वर की संहारशक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है। अतः, सृष्ट अनिवार्य सत्ताएँ ईश्वर पर निर्भर रहती हैं।

(ग) ईश्वर की सत्ता को अक्वाइनस ने सृष्टिकर्ता के रूप मे माना है। न तो ईश्वर को किसी ने रचा है, न ईश्वर किसी भी काल में विनष्ट हो सकता है। ईश्वर न तो स्वर्गदूतों इत्यादि के समान किसी काल में नहीं था और न वह ऐसा है कि वह किसी काल मे नहो रहेगा। फिर ईश्वर केवल नश्वर ही नही है, वरन् वह परिवर्तनशील भी नही है। ईश्वर का अस्तित्व और उसके सभी सारगुण (एसेन्स) अवियोज्य रूप से एकसाथ नित्य रहते हैं। इसीलिए अक्वाइनस ने ईश्वर को अनिवार्य सत्ता की संज्ञा दी है।

इन तीनो प्रकार की सत्ताओं को अनुक्रमिक रूप मे व्यवस्थित किया जा सकता है :

१ ईश्वर जो अनिवार्य सत्ता है और जिसमे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही होता है। यह सर्वकालीन सत्ता है जिसका अस्तित्व और सारगुण अवियोज्य रीति से एकसाथ पाया जाता है।

२. ईश्वर ने कुछ अनिवार्य सत्ताओं की सृष्टि की है। उदाहरणार्थ, मानव मानव की आत्माएँ, स्वर्गदूत इत्यादि। ये सृष्ट अनिवार्य सत्ताएँ सृष्टि के पहले नही थी। इनके सारतत्व मे कोई परिवर्तन नही होता है, परन्तु इनके आकस्मिक गुण में परिवर्तन होता है। अत:, इनका सारतत्व और अस्तित्व एकसाथ रूप में अवियोज्य नहीं रहता है। निर्भर रहने के कारण इनकी अनिवार्य सत्ता सापेक्ष ही कही जाएगी।

३ अन्त में वे अनुभूत आपातिक वस्तुएँ चली आती हैं जिनका सारतत्व नश्वर है और जिनके गुण परिवर्तनशील हैं।

अतः, अक्वाइनस तथा ईश्वरवादी के अनुसार ईश्वर की सत्ता की अनिवार्यता विश्लेषात्मक नहीं, वरन् अस्तित्ववाची बनाई जाती है। इस अस्तित्ववाची अनिवार्यता को ए० एन० प्रायार ने स्पष्ट किया है। जी० ई०

मूर ने बताया है कि कुछ प्रत्यय ऐसे हैं जिनके अनुरूप वास्तविकताएँ हैं और कुछ ऐसे प्रत्यय हैं जिनके अनुरूप वास्तविकताए नहीं हैं। उदाहरणार्थ. बोध कराने के लिए कि 'कुत्ता' प्रत्यय के अनुरूप वास्तविकताए हैं, कहा जाता है 'कुत्ते होते हैं'। इसी प्रकार बोध कराने के लिए कि एकसीगवाला पशु नही होता है, कहा जाता है 'एक-शृंगी पशु नही होता है'। यहाँ प्रत्ययो के अनुरूप वास्तविकताएँ आपातिक रूप से होती हैं, या नही होती हैं। फिर प्रत्ययो के अनुरूप वास्तविकताएँ अनिवार्य रूप से अनुदाहरणीत हो सकती हैं अथवा आपातिक रूप से अनुदाहरणीत हो सकती हैं (*)। जैसे, वर्गाकार वृत्त का उदाहरण हो ही नही सकता है। इसलिए 'वर्गाकार वृत्त' के प्रत्यय को अनिवार्यतः अनुदाहरणीय कहा जाएगा। परन्तु एक शृंगी पशु को आपाततः अनुदाहरणीत कहा जाएगा। इसी प्रकार क्या किसी प्रत्यय को अनिवार्यतः उदाहरणीय नही माना जा सकता है ? अब ईश्वर को अनिवार्य सत्ता इसलिए माना जाता है कि ईश्वर ऐसा नहो है जो वास्तविक न हो, अर्थात् जिसमे ऐसे आत्मनिहित सारगुण है जिनके आधार पर उसकी वास्तविकता सिद्ध होती रहती है।

इसमे संदेह नही कि टामसवादियो ने अक्वाइनस के ईश्वर-संबधी अनिवार्य सत्ता के प्रत्यय को परिशुद्ध करने का सफल प्रयास किया है। परन्तु सत्ता की अनिवार्यता को अस्तित्ववाची मानना तर्कसगत नही कहा जाएगा।

१ अब क्यो ईश्वर को, अक्वाइनस के अनुसार, अनिवार्य कहा जाए ? इसलिए कि ईश्वर सर्वकालीन है और कोई ऐसा काल नही है जिसमे ईश्वर के अनस्तित्व की कल्पना भी की जा सकती है। ऐसी अवस्था मे ईश्वर की सर्वकालीनता पर ईश्वर की अनिवार्य वास्तविकता निर्भर होती है। परन्तु 'सर्वकालीनता' तथा 'अनिवार्य वास्तविकता' पुनरुक्तिमात्र है। 'सर्वकालीनता' से अर्थ ध्वनित होता है ऐसी वास्तविकता जो तीनो काल मे हो और 'अनिवार्य वास्तविकता' से भी ध्वनित होता है जिसकी अवास्तविकता किसी काल मे नही समझी जा सकती है। दूसरे शब्दो मे, वह जो किसी समय हो और जो फिर किसी अन्य समय न हो, उसे आपातिक सत्ता कहा जा सकता है। परन्तु

* 'उदाहरणीत' ह 'उदाहरणीय' शब्द गढ़ा गया है कि पहले शब्द के द्वारा बताया जा सके "वह जिसका उदाहरण होता है" और दूसरे शब्द द्वारा "वह जिसका उदाहरण होना चाहिए।"

चूँकि ईश्वर सर्वकालीन है, इसलिए उसके विषय मे सोचा नही जा सकता है कि वह किसी अमुक काल में न हो। इसलिए ईश्वर की सर्वकालीनता से सिद्ध होता है कि ईश्वर आपातिक नही है। ऐसी अवस्था मे क्या ईश्वर की अनिवार्यता उसकी सर्वकालीनता के प्रत्यय से नही आपादित होती है ? यदि ईश्वर की अनिवार्य सत्ता ईश्वर की सर्वकालीनता से सिद्ध होती है तो इस अनिवार्यता को विश्लेषात्मक ही कहा जाएगा। अन्त मे बात इस पर आ टपकती है कि कैसे सिद्ध किया जाए कि ईश्वर सर्वकालीन है।

मानव इतना ही भर कह सकता है कि जब तक मानव का इतिहास देखने मे आता है तब तक वह ईश्वर को उसी रूप में वास्तविक पाता है जैसा मानव पूर्वजों ने प्रागैतिहासिक काल मे बताया था। पर भला मानव कैसे कह सकता है कि ईश्वर अनंत काल तक रहेगा ? ईश्वर की सर्वकालीनता आनुभविक नही है। इसे विश्वासकथन (धर्मसिद्धान्त) मानना दूसरी बात है। धर्मसिद्धान्त को सज्ञानात्मक नही माना जाएगा। अतः, ईश्वर की अनिवार्य सत्ता को या तो तर्कनिष्ठ माना जाएगा या असज्ञानात्मक। अन्सेल्म से अक्वाइनस की भिन्नता इतनी ही है कि अन्सेल्म ने ईश्वर की पूर्णता से उसकी वास्तविकता सिद्ध करनी चाही और अक्वाइनस और टामसवादी ईश्वर की सर्वकालीनता से ईश्वर की अनिवार्य वास्तविकता सिद्ध करना चाह रहे है। सर्वकालीनता उसी प्रकार का प्रत्यय है जिस प्रकार पूर्णता का प्रत्यय। अतः, अन्त मे यहाँ भी प्रत्यय से ही ईश्वर की अनिवार्यता सिद्ध हो रही है। बिना अनुभव के आधार पर शुद्ध युक्ति के सहारे वास्तविकता प्राप्त नही हो सकती है। फिर इस अनुभव को सार्वजनिक, पुनरावृत्य तथा सूचनीय होना चाहिए।

२. मान भी लिया जाए कि ईश्वर सर्वकालीन है। पर क्या ईश्वर की सर्वकालीनता को तर्कनिष्ठ रूप मे अनिवार्य कहा जा सकता है ? यदि वृक्ष की अल्पकालीनता को आपातिक माना जाए तो ईश्वर को सर्वकालीनता को क्यों अनिवार्य कहा जाएगा ? यह बात देखने मे आती है कि ईश्वर सर्वकालीन है, परन्तु ईश्वर क्यों सर्वकालीन है ? वह क्यो नही अल्पकालीन है ? अन्त में, यदि ईश्वर वास्तविक हो और उसकी सर्वकालीनता भी वास्तविक हो तो ईश्वर की सर्वकालीनता भी तथ्य होगी और जहाँ यह तथ्य हुई तो फिर अन्य किसी तथ्य की भाँति इसके विपक्ष में होने की कल्पना की जा सकती है और तब इसे अनिवार्य नही माना जाएगा।

३. ऐसी स्थिति में अक्वाइनस तथा टामसवादियों का कहना है कि ईश्वर में अस्तित्व और उसका सारतत्व दोनों अवियोज्य हैं। यदि ईश्वर में वास्तविकता होगी तो ईश्वर मे वे ही गुण पाए जाएँगे जो उसमें निहित समझे जाते हैं। यहाँ ईश्वर के प्रत्यय स ईश्वर का अस्तित्व नही सिद्ध किया जा रहा है, पर ईश्वर के अस्तित्व से ईश्वर का प्रत्यय तथा उसके सारतत्त्व को निर्धारित किया जा रहा है। लेखक की समझ मे यह बात प्रत्यय से अस्तित्व को मानने की तुलना में कही अधिक दुरुह है। ईश्वर के गुण के सबध मे हमारा ज्ञान है ही नहीं। तो यह कैसे कहा जाए कि ईश्वर का गुण उसके अस्तित्व से सिद्ध होता है ?

अतः, यह जानना मर्वथा वाछनीय है कि अक्वाइनसने 'अनिवार्य सत्ता' को किस रूप मे समझा था। परन्तु सही अर्थ के जान लेने पर भी इस प्रत्यय का आनुभविक स्तर पर स्पष्ट नही किया जा सकता है। यही बात अक्वाइनस के साम्यानुमान के प्रसंग मे भी देखी जाएगी।

ईश्वर-संबंधी कथन की संज्ञानात्मकता

सुविधा के लिए ईश्वर-संबंधी कथन को सक्षेप मे लिखा जाएगा 'ई-कथन'। हमलोगों ने पहले ही देखा है कि फ्लू के अनुसार ई-कथन वास्तव मे वे अभिकथन है जिसमे ईश्वर के संबध मे संसूचना दी जाती है। फिर फ्लू ने दिखाने की कोशिश की है कि ई-कथन का न तो सत्यापन हो सकता है और न मिथ्यापन। इसलिए ई-कथन वास्तव मे अर्थहीन है। अब प्रश्न उठता है कि क्या ई-कथन वास्तव मे संज्ञानात्मक हैं। अनेक ईश्वरवादी ई-कथन को संज्ञानात्मक मानते है और वे बताते हैं कि ई-कथन का भी सत्यापन-मिथ्यापन सभव है। इसके पहले कि कुछ ईश्वरवादियो के सत्यापन-मिथ्यापन सिद्धान्त पर प्रकाश डाला जाए, हमे निर्धारित कर लेना चाहिए कि क्यो लोग ई कथन को अस्तिवाची अभिकथन मानते हैं।

सामान्य रूप से ईश्वर के संबध में ईश्वरवादी अस्तिवाची अभिकथनो का प्रयोग करते हैं; उदाहरणार्थ ईश्वर इस विश्व का रचयिता है, वह इसका पालनकर्त्ता और संहारक है, इत्यादि। क्या इन वाक्यो से यह नहीं झलकता है कि ईश्वरवादी ईश्वर के संबंध मे हमें सूचना दे रहे हैं ? इसलिए ऊपरी झलक में ई-कथन अस्तिवाची अभिकथन मालूम देते हैं।

फिर ईश्वरवादी ऐसे प्रश्नसूचक ई-कथनों का प्रयोग करते हैं जिनका उत्तर स्वीकारोक्ति अथवा अस्वीकारोक्ति हो सकती है। उदाहरणार्थ, क्या ईश्वर भक्तों की प्रार्थना सुनता है ? क्या ईश्वर विश्व की सभी प्रक्रियाओं का सचालन करता है ? इन प्रश्नों का उत्तर केवल वर्णनात्मक अभिकथनों के ही रूप में दिया जा सकता है। इसलिए ईश्वरवादी का असली अभिप्राय यही रहता है कि ई-कथन को ससूचनात्मक माना जाए।

इतना ही नही, ईश्वरवादी 'ज्ञान', 'जानना' इत्यादि शब्दों को ईश्वर के संबंध मे प्रयुक्त करते हैं। जैसे, 'मैं जानता हूँ कि ईश्वर न्यायकर्ता है', 'मुझे विश्वास है कि ईश्वर इस जगत् का न्याय करेगा', इत्यादि। अब 'जानता हूं कि', 'विश्वास करता हूँ कि' इत्यादि को सज्ञानात्मक अभिकथन कहा जाता है। पुन: धर्मों के बीच वाद विवाद भी उठता है कि केवल अल्लाह ही सत्य है, या कृष्ण भगवान् ही सत्य हैं, इत्यादि। यदि ये अभिकथन संज्ञानात्मक नहीं माने जाते, तो इनके संबंध मे सत्यता-असत्यता का प्रश्न ही क्यों उठता ?

हमलोग अन्त मे देखेंगे कि धार्मिक कथन वास्तव मे अस्तिवाची अभिकथन नही हो सकते हैं, चाहे उनका रूप क्यों नही अस्तिवाची दिखे। वास्तव मे ये सभी कथन प्रतीकात्मक कहे जा सकते हैं जो अर्धसंज्ञात्मक ही हो सकते हैं। परन्तु यहां हमे ध्यान मे रखना चाहिए कि धार्मिक कथन प्राय: अधार्मिक कथनो से ऐसे लिपटे रहते हैं कि इन दोनो के बीच अन्तर करना कठिन हो जाता है। ईसा, बुद्ध इत्यादि ऐतिहासिक व्यक्ति थे और इनके संबंध में सज्ञानात्मक ऐतिहासिक अभिकथन किया जा सकता है। परन्तु इन्हे जब ईश्वर समझा जाता है तो इस रूप मे आप ऐतिहासिक व्यक्ति नही रह पाते है। कारण ? ऐतिहासिक ईसा तो मर चुका; परन्तु उसे ख्रीष्ट, ईश्वर, उद्धारकर्ता मानना इत्यादि आस्था का विषय है। इस ख्रीष्ट या उद्धारकर्त्ता के रूप मे वह अभी भी जीवित है। पर किसके लिए ? जो उस पर विश्वास करते हैं। परन्तु क्या आस्थामय कथन को अस्तिवाची अभिकथन कहा जा सकता है ? इसका उत्तर सीधे 'हाँ-न' तो नही दिया जा सकता है, पर आगे चलकर हम देखेंगे कि आस्थामय कथन को असंज्ञानात्मक ही गिना जाएगा। अत:, शुद्ध धार्मिक कथनो को या ई-कथनो को असंज्ञानात्मक ही सिद्ध किया जाएगा, परन्तु अभी हमलोग उन मतों का प्रतिपादन करेंगे जिनके अनुसार ई-कथन वास्तव मे संज्ञानात्मक होते हैं।

रहस्यानुभव और ई-कथन

हमलोगों ने जेम्स और बर्ग्सों के संबंध मे रहस्यानुभव का उल्लेख किया है। यहाँ पर रहस्यानुभव को संज्ञानात्मकता के आधार के रूप मे लिया जाएगा। प्राय: ईश्वरवादी बताते कि फ्लू, फिडले तथा अन्य अनुभववादी केवल इन्द्रिय अनुभव को ही एकमात्र 'अनुभव' संज्ञा देते है और चूँकि ईश्वर इन्द्रिय अनुभव विषय नही हो सकता है, इसलिए अनुभववादी ई-कथन को अर्थहीन तथा आत्मव्याघाती 'अभिकथन' संज्ञा देते है। परन्तु ईश्वरवादी के अनुसार धार्मिक अनुभूति इन्द्रिय-अनुभव से भिन्न होती है और ई-कथन की तथ्यात्मकता इसी विलक्षण, अनूठी तथा अनन्य अनुभूति के आधार पर स्थापित की जाती है। औटो ने इस धार्मिक अनुभूति को आश्चर्यजनक, विस्मयपूर्ण तथा सृष्ट-भाव के रूप में माना है जॉन विल्सन ने धार्मिक अनुभूति को रहस्यपूर्ण, अलौकिक तथा असामान्य माना है* ; इयन रामजे ने इसे 'उद्घाटन' संज्ञा दी है। परन्तु रहस्यानुभव को ही ईश्वरवादी धार्मिक अनुभूति का प्रतिरूप (मॉडल) मानते आए है। इसलिए हमे निर्धारित करना है कि क्या रहस्यानुभव के आधार पर ई-कथन को तथ्यात्मक कहा जा सकता है।

हमलोगो ने पहले ही देखा है कि रहस्यानुभव ईश्वरवादी और सर्वेश्वर-वादी के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त होता है। सर्वेश्वरवादी का रहस्यानुभव मूक और अनिर्वचनीय होता है : सर्वेश्वरवादी परम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसके लिए ईश्वर सर्वव्याप्त रहता है और ईश्वर का अतीतपन विनष्ट हो जाता है। इसके विपरीत ईश्वरवादी के लिए रहस्यानुभव भावप्रधान होने के कारण पूर्णतया अभिकथनीय नहीं होता, परन्तु ईश्वरवादी के लिए रहस्यानुभूति मे भी ईश्वर और भक्त की दूरी, ईश्वर का अतीतपन और ईश्वर की रहस्यमयी महानता की पूरी सुरक्षा पाई जाती है। अत: ईश्वरवादी के रहस्यानुभव के आधार पर ईश्वर की अतिव्यक्तिकता तथा बहिर्निष्ठता मानी जाती है और इसलिए ईश्वरवाद मे रहस्यानुभव के आधार पर सिद्धान्ततः ई-कथन तथ्यात्मक संभव हो सकता है। वास्तव मे देखा जाए तो पाश्चात्य ईश्वरवादी (ईसाई और मुसलमान) सिद्धान्ततः ईश्वर के अतीतपन को स्वीकार करते हुए रहस्यानुभव के आधार

* फिलॉसफी एंड रिलिजन—पृ० ७१

पर वर्णनात्मक अभिकथनों की संभावना को मानते आए हैं[1]। इसलिए पाश्चात्य ईश्वरवादी के अनुसार रहस्यानुभव का बहिर्निष्ठ विषय रहता है जिसके द्वारा धार्मिक अनुभव भक्तों को प्राप्त होता है। पाश्चात्य ईश्वरवादी इस बात को कभी भी स्वीकार नही करेगा कि रहस्यानुभव आत्मकथात्मक विषयीगत मूक अनुभूति है जो व्यक्ति के अन्दर सचारित होकर विलीन हो जाती है। इसलिए औटो मानते है कि धार्मिक अनुभूति केवल उद्बोधित[2] की जा सकती है और फिर इसे पूर्णतया सुबोध भी नही किया जा सकता है, तोभी इस आश्चर्यजनक अनुभूति का आश्रय आश्चर्यजनक पवित्र महान होता है। इसी प्रकार बर्ग्सों ने प्रेममय ईश्वर को रहस्यानुभूति का बहिर्निष्ठ विषय माना है और जेम्स ने सीमित परन्तु विशुद्ध शुभ ईश्वर को धार्मिक अनुभूति का विषय माना है। इसलिए डब्ल्यू हॉल के अनुसार बिना ईश्वर की बहिर्निष्ठता स्वीकार किए धार्मिक अनुभूति की संभावना सभव नही माननी चाहिए[3]। इसलिए ईश्वरवादी रहस्यानुभव को ई-कथन को तथ्यात्मक सिद्ध करने के लिए ही स्वीकार करता है। क्या ईश्वर की बहिर्निष्ठता और ई-कथन की तथ्यात्मकता रहस्यानुभव के आधार पर स्वीकार को जा सकती है ?

तथ्यात्मक अभिकथन के लिए आवश्यक है कि वह अनुभूति जिस पर वह आधारित हो, अर्थात् जिसके द्वारा इसका सत्यापन-मिथ्यापन सभव हो, उस अनुभूति को इच्छानुसार पुनरावृत्तीय होना चाहिए, सार्वजनिक रहना चाहिए और सिद्धान्तत. सामान्य रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त रहस्यानुभूति को भावपूर्ण नही मानकर बोधात्मक स्वीकार करना चाहिए। बर्ग्सों ने रहस्यानुभूति को (विशेषकर जिसे उन्होने 'पूर्ण रहस्यानुभव' कहा है) सपूर्णतया भावपूर्ण न मानकर संक्रियात्मक माना है। परन्तु असाक्षात् रीति से ही बर्ग्सों ने रहस्यानुभव को सज्ञानात्मक भी माना है। इसके विपरीत जेम्स ने रहस्यानुभव को बोधात्मक माना है और जॉन विल्सन ने भी धार्मिक भावपूर्णता मे बोधात्मकता

१. डब्ल्यू आनल्ड हॉल, रिलिजस एक्स्पीरियेन्स ऐज़ ए कोर्ट आव अपील, हीबर्ट जर्नल, १९५४-५५, पृ० ३६५-३७१।

२ वह प्रक्रिया, जिसके द्वारा श्रोता में बोधि उत्पन्न की जाय। ठीक इसी प्रकार अन्तर्बोध होता है जिसमें वक्ता में बोधि अपने अन्दर उत्पन्न होती है।

३. हीबर्ट जर्नल, १९५४-५५, पृ० ३६८।

को स्वीकार किया है[1]। अब यदि रहस्यानुभव को बोधात्मक मान लिया जाए, तो क्या इसे सामान्य, पुनरावृत्तीय तथा सार्वजनिक माना जा सकता है ?

पहली बात है कि धार्मिक अनुभूति प्रायः असामान्य, अस्वस्थ तथा मनस्तापी व्यक्तियों मे पायी जाती है। यदि रहस्यवादी ही स्वयं विक्षिप्तमानस हो तो उसके द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों को कौन विश्वसनीय स्वीकार करेगा ? इसका प्रत्युत्तर अनेक ईश्वरवादियों ने दिया है और बताया है कि अनुभूत प्रदत्तो को उनकी मनोवैज्ञानिक उद्भूति से विभिन्न करना चाहिए। संभव है कि रहस्यानुभव असामान्य परिस्थितियो से उत्पन्न हो, लेकिन रहस्यानुभव से प्राप्त ज्ञान स्वतंत्र ज्ञान की कसौटी से मूल्यांकित करना चाहिए। बर्गसों और जेम्स दोनो स्वीकार करते हैं कि बिना असामान्य हुए रहस्यवादी अतीत तथा पारलौकिक ईश्वर को नही जान सकता है। इसी प्रकार बर्गसों का कहना है कि अनेक प्रतिभाओं का विकास बिना असामान्यता के नहीं पाया जाता है, और यह बात विशेषकर संगीतज्ञो में देखी जाती है। परन्तु सभी उत्प्रेरित एवं उत्प्रेरक संगीत को बहुमूल्य समझते हैं। इसी प्रकार असामान्यता के रहने पर भी रहस्यानुभूति को विश्वसनीय मानना चाहिए[2]। पर क्या रहस्यानुभव सभी व्यक्तियो मे पाया जाता है जिसके कारण इस अनुभव को सर्वव्यापक माना जाए ? नहीं। बर्गसों तथा अनेक ईश्वरवादियो ने माना है कि रहस्यानुभूति कुछ लोगो मे उसी प्रकार पाई जाती है जिस प्रकार उग्र और प्रातिभ रूप में गणित और संगीत-क्षमता कुछ ही लोगो मे पाई जाती है। तोभी एक तो छिछले रूप से संगीत का आस्वादन सभी कर सकते हैं और फिर अल्पसंख्यक होते हुए भी संगीत का अतिव्यक्तिक मूल्यांकन हो सकता है। इसी प्रकार रहस्यानुभूति का भी सत्यापन-मिथ्यापन हो सकता है। विशेष बात यह है कि रहस्यानुभव भी विधिपूर्वक अपनाने से अन्य व्यक्तियों को इस प्रकार की अनुभूति संभव हो सकती है[3]। बर्गसों के अनुसार यदि कोई व्यक्ति रहस्यवादियो के मार्ग का अनुशीलन करे तो जो अनुभव एक रहस्यवादी को प्राप्त होता है वही अनुभव दूसरे को भी हो सकता है। अतः, रहस्यानुभविक प्रतिवेदन में भी मतैक्य का दावा किया जाता

१. पू० क० (पूर्व कथित)—पृ० ८५। बोधात्मकता से तात्पर्य है जिसमें ज्ञान का पूर्ण अंश न हो तो कुछ अंश अवश्य रहे। शायद 'अवबोध' शब्द अधिक सटीक हो।

२. टू सोर्सेज आव मोरलिटी ऐंड रिलिजन—पृ० १६६।

३. टू सोर्सेज—पृ० २१०।

है। अब यदि ईश्वर-दर्शन का निश्चित मार्ग हो और यदि रहस्यानुभविक प्रतिवेदन का मतैक्य हो, तो इसमे सदेह नही कि ई-कथन को तथ्यात्मक माना जाएगा, क्योंकि सामान्यता के साथ रहस्यानुभूति पुनरावृत्त व तथा सार्वजनिक भी हो जाएगी। पर क्या बर्ग्सॉ के कथन को सत्य माना जा सकता है ?

यह ठीक है कि रहस्यवादियो ने साधना-मार्ग बताया है जिसके अनुसरण करने पर रहस्यानुभव संभव होता है। पर इस अनुशासन तथा साधना-मार्ग को वैज्ञानिक अनुशासन और विधि से एकदम भिन्न और विपरीत मानना चाहिए। वैज्ञानिकों की वैज्ञानिक-साधना मे वैज्ञानिक को अपने व्यक्तित्व अपने अनुसंधान के विषय से एकदम अलग कर लेना पड़ता है। उसे अपने को यथासंभव पूर्णतया तटस्थ रखना पड़ता है ताकि उसका वैज्ञानिक प्रतिवेदन निर्वैयक्तिक रूप से सार्वजनिक परीक्षा के लिए खरा उतरे। ठीक इसके विपरीत रहस्यवादी को अपने पूर्ण व्यक्तित्व को तैयार करना पड़ता है ताकि अपने को ईश्वर के प्रति निवेदित कर देने पर उसको ईश्वर का दर्शन प्राप्त हो जाए। यहाँ आत्मसंसूचन की गुंजाइश होती है और रहस्यानुभूति मे रहस्यवादी के व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है। फिर इस ईश्वरानुभूति को एकरूप मे बताया भी नही जा सकता है। किसी रहस्यवादी को दर्शन प्राप्त होता है, तो किसी को नई-नई बोली होने लगती है। फिर किसी रहस्यवादी को अदम्य-उत्साह और क्रियाशीलता होती है, तो अन्य किसी में शान्त-रस का सचार होता है। इसलिए तटस्थता के अभाव मे रहस्यानुभव को विश्वसनीय नही माना जा सकता है और फिर रहस्यानुभव की विविधता के रहने पर इसे एकरूप नही माना जा सकता है। परन्तु बर्ग्सॉ तथा अन्य रहस्यवादी कहते आए हैं कि सभी रहस्यवादी एक ही ईश्वर अथवा परम सत्ता के विषय एक ही बात बताते है। क्या वास्तव मे रहस्यवादी प्रतिवेदन मे मतैक्य पाया जाता है ?

सर्वप्रथम, स्वय बर्ग्सॉ ने बताया है कि सभी व्यक्ति रहस्यवादी नही होते हैं। जिस प्रकार कुछ लोग वर्णान्ध होते हैं, उसी प्रकार कुछ लोग ईश्वराध होते हैं। यद्यपि वर्णांधो के नही दिखाई देने पर भी रंगो की वास्तविकता को स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार ईश्वराधो को नही दिखाई देने के बावजूद ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है*। परन्तु बर्ग्सॉ की इस उक्ति से कम-से-कम यह सिद्ध हो जाता है कि रहस्यानुभूति कुछ ही व्यक्तियों

* टू सोर्सेज—पृ० २१०।

की अपनी विलक्षणता है। यही कारण है कि जेम्स ने रहस्यानुभूतिक प्रतिवेदन को सभी व्यक्तियों के लिए मान्य नही बताया है[१]। तो क्या रहस्यवादी और अ-रहस्यवादी के बीच ऐसी खाई है कि उनके बीच पारस्परिक संगोष्ठी नही हो सकती है? यदि रहस्यवादी अन्त मे यही कहने लग जाएँ कि हमे तो ईश्वर दिखता है यदि किसी को ईश्वर नही दिखे तो हम क्या करे, तब ऐसी स्थिति मे रहस्यानुभव आत्मकथात्मक हो जाएगा और ईश्वर की बहिर्निष्ठता का लोप हो जाएगा। फिर इस प्रकार के प्रतिवेदन को कैसे सर्वव्यापक और सर्वमान्य समझा जाएगा? यदि इस प्रकार की अनुभूति सवमान्य न हुई तो इसके आधार पर तथ्यात्मकता कैसे स्थापित की जाएगी? बर्गसॉ तो मानते हैं कि कम-से कम ईसाई रहस्यवादी परम्परा मे मतैक्य है[२]। पर क्या ऐसी बात नही है?

डब्ल्यू हॉल ने बताया है कि प्रत्येक अनुभूति मे शुद्ध रूप मे प्रदत्त नही प्राप्त होता है: उसमे सुबोधीकरण (इन्टरप्रेटेशन) का अंश भी सम्मिलित हो जाता है। यही बात रहस्यानुभव मे पाई जाती है। रहस्यानुभव मे भावपूर्णता का अंश ही विशेषकर प्रदत्त मे गिना जा सकता है। परन्तु जैसे ही हम इसको काम मे लाने लगते है, सुबोधीकरण-प्रक्रिया इसे अपने रूप मे ढाल देती है। यही कारण है कि हिन्दू, ईसाई और मुसलमान, तीनो मे रहस्यवादी को आराध्य सत्ता का अवबोध होता है। परन्तु ज्योही वे अपना-अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने लगते है, वे अपनी दृष्टि, परम्परा, विचारधारा इत्यादि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रतिवेदन देने लगते है[३]। ऐसी अवस्था मे रहस्यवादी प्रतिवेदन मे एकरूपता तथा मतैक्य नही पाया जाता है। स्वय बर्गसॉ ने यूनानी, यहूदी तथा भारतीय रहस्यवाद की प्रामाणिकता नही स्वीकार की है। अब ईसाई रहस्यवादियों मे भी मतैक्य नही पाया जाता है। डब्ल्यू आर ईंज ने आंग्ल ईसाई मत को आश्रय देने के लिए रहस्यवादी प्रतिवेदन की मदद ली है। इसके विपरीत ईवलिन अडरहिल ने रहस्यवाद के आधार पर रोमन कैथलिक ईसाई मत को पुष्ट करना चाहा है। अत., ईसाई रहस्यवाद मे भी कोई मतैक्य नही दिखता है[४]। परन्तु यदि विशिष्ट रूप को छोड़कर रहस्यवाद को अतिव्यापक पैमाने पर लिया जाए तो क्या इसमे मतैक्य संभव है?

---

१. दि वैराइटिज—पृ० ४२४।
२. टू सोर्सेज—पृ० २११
३. पू० क—पृ० ३६७ (हीबर्ट जर्नल, १९५४-५५)।
४. मार्विन कोह्ल, हीबर्ट जर्नल; अप्रैल १९६०, पृ० २७३-२७४।

चूँकि प्रायः रहस्यवाद के प्रतिवेदित विषय को हम सामान्य रूप मे लेते हैं, इसलिए ऐसा मालूम देता है कि हिन्दू, मुसलमान और ईसाई को एक ही ईश्वर का दर्शन होता है। परन्तु वास्तव मे हम 'ईश्वर' पद को सामान्य रूप मे व्यवहृत कर रहे हैं। इसे यदि विशिष्ट रूप मे लिया जाए तो हिन्दू, मुसलमान और ईसाई का एक ईश्वर नही होता है। हिन्दू रहस्यवादी को राम, कृष्ण, महादेव इत्यादि देवता ईश्वर दीखते हैं मुसलमान को अल्लाह और ईसाई को ईसा ईश्वर दीखते है। अत., ईश्वरवादी परम्परा मे भी रहस्यानुभव एकरूप का नही होता है। और, यदि हम धार्मिक परम्परा को अधिक व्यापक रूप मे लें तो रहस्यानुभव की विभिन्नता एकदम स्पष्ट हो जाएगी। साख्य-दर्शन के अनुसार रहस्यानुभूत सत्ता द्वैत है, उपनिषदो के अनुसार अद्वैत, शांकर अद्वैत के अनुसार निर्गुण तथा निर्विशेष ब्रह्म है। अत., जेम्स के अनुसार रहस्यानुभूति मे मतैक्य नही पाया जाता है*। तब ऐसी अवस्था मे रहस्यानुभूत विषय की तथ्यात्मकता कैसे सिद्ध हो सकती है ?

मान भी लिया जाए कि रहस्यानुभूति प्रतिवेदन में मतैक्य पाया जाता है तो क्या इससे ईश्वर की बहिर्निष्ठता सिद्ध हो जाती है ? क्या फ्रायड ने नही बताया है कि चूंकि मानव अनुभूति अनादिकाल से ही एकरूप मे होती आई है और चूँकि मानव का अचेतन भी एकरूप मे काम करता है, इसलिए सभी मानवो को आद्यपिता की आद्यप्रतिमा ही आरोपित होकर ईश्वर दिखाई देता है ? यहाँ मानव की सामूहिक अनुभूति और अचेतन की समरूपता पर धार्मिक विषय की एकरूपता बताई गई है। यही बात युंग की मनोवैज्ञानिक व्याख्या मे देखी जाती है। युंग के अनुसार भी मानवो का अचेतन अनुक्रमिक रूप से अनुभूत होता रहता है। अत., अचेतन के स्वरूप पर ही धार्मिक अनुभूति का मतैक्य सिद्ध होता है। मतैक्य से मानव मानस के स्वरूप की एकरूपता परिलक्षित होती है, न कि प्रतिवेदित विषय की बहिर्निष्ठता।

अतः, न तो बर्ग्सों का यही कहना सत्य है कि रहस्यानुभूतिक प्रतिवेदन में मतैक्य पाया जाता है और न इस मतैक्य से ई-कथन की तथ्यात्मकता ही सिद्ध होती है। फिर अनुभूति की सामान्यता के अतिरिक्त रहस्यानुभव को पुनरावृत्तीय और सार्वजनिक होना चाहिए। क्या रहस्यानुभूति को रहस्यवादी

* डब्लू० जेम्स, दि वैराईटिज़—पृ० ४२४-४२७।

जब चाहे तब उसका आह्वान कर सकता है ? न तो रहस्यानुभूति एकरूप में होती है और न ईश्वर-दर्शन भक्त की इच्छा पर निर्भर करता है। यही कारण है कि विल्सन, हिक इत्यादि ईश्वरवादियों ने कहा है कि ईश्वरानुभूति विभिन्न रूप की होती है और विभिन्न रूप में उद्भूत होती है।

इसलिए हम इस निष्कर्ष पर आए हैं कि रहस्यानुभव के आधार पर हम ई-कथन को तथ्यात्मक अभिकथन नहीं स्वीकार कर सकते हैं। रहस्यानुभव के प्रति एक दूसरी आपत्ति यह है कि जिस प्रकार रहस्यवादी को ईश्वर दिखाई देता है, उसी प्रकार उसको शैतान भी दिखाई देता है। इसलिए रसेल के द्वारा आपत्ति उठाने पर कोपुल्स्टन ने रहस्यानुभव ई-कथन को स्थापित करने के लिए अपर्याप्त माना है[1]। अब यदि रहस्यानुभव ई-कथन को तथ्यात्मक मानने का आधार नहीं स्वीकार किया जाए, तो क्या किसी अन्य प्रकार से ई-कथन को संज्ञानात्मक सिद्ध किया जा सकता है। शायद इस दिशा में जॉन विल्सन का प्रयास बहुत सरल है और इसलिए देखा जाए कि जॉन विल्सन किस प्रकार ई-कथन की संज्ञानात्मकता स्थिर करते हैं।

ई-कथन की संज्ञानात्मकता के प्रसंग में जॉन विल्सन का विचार

जॉन विल्सन[2] के अनुसार धर्म के दो मुख्य तत्त्व हैं, अर्थात् पारलौकिक सत्ता में विश्वास अथवा उस सत्ता के संबंध में अभिकथन, और भाव अथवा जीवन का एक प्रकार का मार्ग[3]। विल्सन मानते हैं कि भाव का पक्ष भी विशेष है, परन्तु इनके लिए पारलौकिक सत्ता में विश्वास अथवा तत्संबंधी अभिकथन नितान्त आवश्यक माना जाएगा[4]। अब यदि धर्म का तत्त्व पारलौकिक सत्ता-संबधी अभिकथनों की सत्यता पर निर्भर हो, तो इन्हें सत्याप्य-मिथ्याप्य भी होना चाहिए। परन्तु ई-कथन, जॉन विल्सन के अनुसार सार्व-

---

१. बी० रसेल, एफ० सी० कोपुल्स्टन. ए डिबेट, दि एक्जिस्टेन्स आव गॉड। सम्पादक जॉन हिक—पृ० १८०।

२. जॉन विल्सन, फिलॉसफी ऐंड रिलिजन, सन् १९६१। संक्षिप्त में फि० रि०

३. फि० रि—पृ० १६, २३, २५, ३३,

४. फि० रि—पृ० २५

जनिक सत्याप्य नहीं माने जा सकते हैं[1] और फिर इनका मिथ्यापन भी किसी-न-किसी प्रकार अवश्य रहना चाहिए ताकि ये अभिकथन वास्तविक अभिकथन कहे जा सकें[2]। जॉन विल्सन ने इसलिए हिचकिचाहट के साथ ई-कथनों की सत्याप्यता-मिथ्याप्यता की बात कही है, क्योंकि आपके अनुसार ई-कथन विशुद्ध रूप से तथ्यात्मक अभिकथन नही है। ई-कथनों मे मूल्यात्मक कथन भी जुटे रहते हैं। उदाहरणार्थ, 'ईश्वर विशुद्ध शुभ है'। यहाँ शुभत्व नैतिक मूल्याकन का पद है। ऐसी अवस्था मे पारलौकिक सत्ता संबधी ई-कथन का सत्यापन-मिथ्यापन किस प्रकार सभव हो सकता है?

यहाँ जॉन विल्सन ने एक सुझाव प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार धार्मिक अनुभूति सौन्दर्यमूलक अनुभूति के समान होती है और सौन्दर्यमूलक अभिकथनो का सत्यापन-मिथ्यापन होता है और इस सत्यापन-मिथ्यापन विधि से पाठ सीख कर ई-कथन का भी सत्यापन-मिथ्यापन सभव हो सकता है। सगीत के सौंदय-मूलक अभिकथनो के सत्यापन-मिथ्यापन मे निम्नलिखित ज्ञातव्य बातें रहती है:

१. सभी प्रकार के पूर्वाग्रहो का अभाव,
२ संगीत के तथ्यो की पर्याप्त जानकारी,
३. अनेक प्रकार के संगीत तथा उन्हे मूल्याकित करते रहने का व्यापक अनुभव तथा
४. अनेक वर्षों का परिपक्व अनुभव।

परन्तु ऐसी अवस्था मे भी, विल्सन के अनुसार, सत्यापन को पूर्ण नही माना जाएगा। तोभी उपर्युक्त विधि तथा अधिकारी संगीतज्ञो के द्वारा किसी संगीतविशेष के संबंध मे निर्णीत मूल्याकन का मतैक्य संभव होता है[3]। इसी प्रकार जॉन विल्सन के अनुसार ई-कथनो का भी धार्मिक अनुभूति के आधार पर सत्यापन किया जा सकता है। जॉन विल्सन के अनुसार धार्मिक अनुभूति मे विभिन्न बातें होती है, परन्तु इसमें कुछ तत्त्व बार-बार देखने मे आते हैं, जैसे, आश्चर्यपूर्ण, विलक्षण घटनाओ की अनुभूति (जिन्हे 'आश्चर्य-कर्म' संज्ञा दी जा सकती है) तथा पारलौकिक सत्ता का अनुभव[4]। परन्तु

१. फि. रि.—पृ० ८८।
२ फि० रि—पृ० ६८
३. फि० रि—पृ० ६४।
४. फि रि —पृ० ८७-६५।

जॉन विल्सन धार्मिक अभिकथनों के सत्यापन के लिए इस प्रकार की अनुभूति का उल्लेख नहीं करते हैं। इनके अनुसार ज्ञातव्य बात यह है कि संगीत के मूल्यांकन करने में ध्वनियाँ इन्द्रिय-प्रदत्त रहती हैं। परन्तु ई-कथन के सत्यापन में किसी प्रकार का विशिष्ट तथ्य नहीं रहता है। परन्तु जॉन विल्सन का कहना है कि ध्यान को बनाए रखने के लिए धार्मिक अनुभूति के प्रसग में किसी प्रतीक तथा स्थितिविशेष को आलम्बन बनना पड़ता है। धार्मिक स्थिति के बने रहने तथा धार्मिक अनुभूति के उत्पन्न होने के लिए निम्नलिखित शर्तें सहायक सिद्ध हो सकती हैं :

(क) इन्द्रिय वासनाओं से मन को मुक्त रखना।

(ख) विशिष्ट घटनाओं के तल मे सामान्य सत्ता को अनुभूत करने का प्रयास करना।

(ग) मानसिक अभिवृत्ति को बनाए रखने के लिए प्रार्थना, उपासना, पश्चाताप इत्यादि की मदद लेना, या संभवतः रहस्यवादी साधन-मार्ग को अपनाना।

(घ) धार्मिक अनुभूति के प्रति जिज्ञासा के बावजूद बौद्धिक निर्णय को स्थगित रखना।

विल्सन का कहना है कि यदि बिना पूर्वाग्रह या पक्षपात के उपर्युक्त शर्तों के साथ परीक्षण किया जाए तो ई-कथन का सत्यापन-मिथ्यापन संभव हो सकता है*। फिर जॉन विल्सन स्वीकार करते हैं कि विभिन्न धर्मों मे धार्मिक पदो को विभिन्न रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु इनके अनुसार यदि धार्मिक स्थितियों को नियंत्रित करके विशिष्ट रूप मे देखा जाए तो सभवतः धार्मिक अनुभूति मे समरूपता तथा मतैक्य आ जाए।

विल्सन का कहना है कि उन्होंने सामान्य रूप से बताया है कि किस प्रकार से धार्मिक तथा ई-कथन का सत्यापन-मिथ्यापन संभव है। परन्तु जॉन विल्सन ई-कथन के सत्यापन-मिथ्यापन की कठिनाइयों को स्वीकार करते हैं। विल्सन स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ईश्वर न तो संगीत-ध्वनि के समान तथ्य है और न किसी अन्य साधारण वस्तु के समान निरीक्षणीय सत्ता है। ऐसी अवस्था में विल्सन को स्वीकार करना चाहिए था कि ई-कथन का सत्यापन-मिथ्यापन

* फि. रि.—पृ० ९१-९२।

साधारण तथ्यात्मक अभिकथनों के समान नहीं हो सकता है। बात बनाने से लाभ ही क्या है। अन्त में उन्होंने पुरानी बात दुहराई है। विल्सन के अनुसार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता है और ईश्वर के प्रति ईश्वर को व्यक्तिपूर्ण जानकर अनुक्रियाशील रहने पर ही ईश्वर का बोध हो सकता है[1]। ऐसा भान होता है मानो प्रकृति में भी एक शक्ति छिपी हुई है, या कोई एक परम प्रेम है जो व्यक्तियों के जीवन को अनुप्राणित करता है; और विल्सन के अनुसार इस प्रकार की अनुभूति को ईश्वरानुभूति की संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु स्पष्ट है कि इस प्रकार की अनुभूति को न तो सामान्य, न पुनरावृत्तीय और न सार्वजनिक ही कहा जाएगा। अतः, इस प्रकार के पूर्वकथित पारलौकिक ई-कथन का सत्यापन-मिथ्यापन साधारण अनुभव के द्वारा नहीं हो सकता है। अन्त में विल्सन की गाडी आस्था के दलदल में चलकर वहीं फँस गई। पहले ही कहा जा चुका है कि विल्सन का मत सरल है और इसलिए ई-कथन की कठिनाई स्पष्ट दीख जाती है। अतिसंक्षेप मे हम देखेंगे कि विल्सन ने ई-कथन के सत्यापन मिथ्यापन की कठिनाइयो पर पूरा विचार नही किया है।

सर्वप्रथम, ई-कथन की सत्यता किसी भी निश्चित धार्मिक अनुभूति के आधार पर स्थापित नही की जा सकती है, क्योंकि

(i) न तो ईश्वर ही प्राक्कल्पना का पात्र हो सकता है,

(i) न धार्मिक अनुभूति को ही निश्चित रूप से बताया जा सकता है।

स्वयं विल्सन ने स्वीकार किया है कि ईश्वर को यदि एक प्राक्कल्पना के रूप मे प्रमाणित किया जाए तो वह एक प्राकृतिक सत्ता का रूप धारण कर लेगा[2]। परन्तु ईश्वर पारलौकिक सत्ता है। इसलिए ईश्वर न तो प्राक्कल्पना हो सकता है, न वह प्राकृतिक घटनाओं का समावेशक हो सकता है और न वह साक्षात् रूप से अनुभूत हो सकता है। दूसरी बात यह है कि विल्सन के अनुसार मन को सभी पूर्वाग्रह से रिक्त कर पूर्ण व्यग्रता तथा उत्कंठा के साथ धार्मिक परीक्षण में जुट जाना चाहिए। परन्तु ईश्वर के बोध करने मे जबतक पूरी लालसा, पूर्ण आत्मसमर्पण तथा आत्मप्रसन न हो तबतक ईश्वर की अनुभूति नहीं हो सकती है। अतः, तटस्थता, अन्तर्ग्रसन तथा आत्मसमर्पण

१. फि० रि०—पृ० ६४-६५।
२. फि० रि०—३८।

का एक साथ होना आत्मविरोधी शर्तें बताई गई हैं। इसलिए धार्मिक अनुभूति की परीक्षा नही हो सकती है।

फिर स्वयं विल्सन ने स्वीकार किया है कि भिन्न-भिन्न धर्मों मे ईश्वर तथा धार्मिक अनुभूति विभिन्न रूप से समझे जाते हैं* तो ऐसी स्थिति में अनुभूति के आधार पर ई-कथन का अर्थनिरूपण कैसे किया जा सकता है? स्वयं विल्सन ने स्वीकार किया है कि 'ख्रीष्ट हमारी प्रार्थनाओं का उत्तर देता है', इसी अभिकथन का समरूप अर्थ नही निश्चित किया जा सकता है। यदि धार्मिक अनुभूति के अन्तर्गत रहस्यानुभव, विलक्षण, अव्याख्येय घटनाओं तथा पारलौकिक सत्ता की अनुभूति रखी जाए तो धार्मिक अनुभूति को पुनरावृत्तीय तथा सार्वजनिक नही माना जा सकता है। विल्सन ने ई-अनुभूति का संगीत की सौन्दर्यमूलक अनुभूति से मिलान किया है। परन्तु उन्होने स्वय माना है कि इन दोनो प्रकार की अनुभूतियो मे बहुत अन्तर है। संगीत की ध्वनि पुनरावृत्तीय, सार्वजनिक तथा सामान्य इन्द्रियानुभूति है ईश्वरानुभूति मे इस प्रकार की कोई भी इन्द्रियानुभूति नही होती जिसे पुनरावृत्तीय तथा सार्वजनिक कहा जाए। फिर संगीत मे निहित सौन्दर्य की संगीत से परे और स्वतन्त्र कोई सत्ता नही मानी जाती है। इसके बिपरीत धार्मिक अनुभूति से परे और स्वतन्त्र ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। तारे से भरे विशाल नील गगन को देखकर ईश्वर की सत्ता का उद्‌बोधन हो सकता है, पर कोई तारों से आच्छादित नील गगन को ईश्वर नही पुकारता हे। यदि किसी अनुभूत वस्तु को हम ईश्वर मानने लग जाएँ तो इसे मूर्त्तिपूजा की संज्ञा दी जाएगी।

धार्मिक अनुभूति की तुलना सौन्दर्यमूलक सगीत-कथन से करके विल्सन ने अनावश्यक भ्रम उत्पन्न कर दिया है। सौन्दर्य एक मूल्य है और मूल्यो की कसौटी तथ्यात्मक कथनो की कसौटी से सर्वथा भिन्न होती है। अब यदि धार्मिक अभिकथन मे मूल्य और तथ्य, दोनों का सम्मिश्रण हो तो उनका सत्यापन-मिथ्यापन क्यो तथ्यात्मक अभिकथनो के समान होगा? विल्सन ने सही ही कहा है कि धार्मिक कथन मे तथ्य और मूल्य का सम्मिश्रण होता है, परन्तु ऐसी अवस्था मे ई-कथन का सत्यापन-मिथ्यापन भिन्न रूप का होता है। इस दिशा मे जॉन विस्डम ने हमारा मार्गदर्शन किया है। उन्होंने धर्म को अभिवृत्ति के रूप में लिया है और बताया है कि यह अभिवृत्ति वैधिक न्याय के

* फि. रि.—पृ. ९२-९३।

समान स्थापित की जाती है। जिस प्रकार वैधिक न्याय को अशोध्य तथा निर्भ्रान्त नहीं माना जा सकता है[1], उसी प्रकार किसी भी अभिवृत्ति को स्थाई एव निर्भ्रान्त नही कहा जा सकता है। जॉन विस्डम का 'गॉड्स' नामक लेख समकालीन धर्मदर्शन मे उत्प्रेरक और मार्गदर्शक सिद्ध हुआ है। इस लेख के बिना फ्लू, हेयर तथा बेसिल मिचेल के मत को समझना कठिन होगा।

जॉन विस्डम के द्वारा ई-कथन पर प्रकाश[2]

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए जॉन विस्डम एक दृष्टान्त लेते है। दो व्यक्ति बहुत दिनो के बाद अपने बगीचे का निरीक्षण करने आते है। वे पाते है कि कुछ पौधे और फूल अच्छे हरे-भरे हैं। साथ ही साथ वे यह भी पाते हैं कि क्यारियो मे घास उगी हुई है और कुछ फूलो और वृक्षों की छटैया नही हुई है। उनमे से एक फूलो और कुछ वृक्षो को हरा-भरा देखकर कहता है कि मालूम होता है कि कोई माली इस बगीचे की देखभाल करता है। दूसरे *व्यक्ति की दृष्टि क्यारियों में घास के उगने और वृक्षों की छटैया न* होने पर जाती है और उसके अनुसार इस अमुक बगीचे का कोई देखभाल करनेवाला माली नही है। पडोसियो का भी यही कथन होता है कि उन्होने कभी किसी माली को बगीचे की देखभाल करते हुए नही पाया है। तोभी पहला व्यक्ति 'क' कहता है कि यदि माली नही देखभाल करता तो इस बगीचे की ऐसी सुथरी व्यवस्था कैसे रहती। दूसरा व्यक्ति 'ख' इस माली की देखभाल की बात का खडन करता है। ख का कहना है कि यदि कोई माली रहता तो घास क्यों उगी रहती, वृक्ष की डालियाँ सब ओर क्यो फैली रहती, फिर कुछ फूल क्यों मुर्झा जाते, इत्यादि। फिर अपनी-अपनी बातो की पुष्टि करने के लिए दोनो बगीचे का सावधानीपूर्वक निरीक्षण करते है, कभी क के मन की पुष्टि होती है और कभी अन्य घटनाओं के द्वारा ख के मत का समर्थन होता है। अन्त मे क अपने मत पर डटा रहता है। क का कहना है कि कोई अवश्य अगोचर माली है जो इस बगीचे की देखभाल करता है। ख इस मत के विपरीत कहता है कि अदृश्य, अगोचर, अनसुना इत्यादि माली की बात

---

१. क्योंकि सिद्धान्ततः वहाँ अपील की गुंजाइश रहती है।

२. जॉन विस्डम के 'गॉड्स' नामक लेख जॉन हिक के सम्पादन में क्लासिकल ऐंड कटेम्पररी रिडिंग्स इन दि फिलॉसफी आव रिलिजन में उद्धृत किया गया है और पृष्ठ-निर्देश इसी पुस्तक का होगा।

कहना अयुक्तिसंगत है। अब विस्डम चाहते हैं कि ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी की युक्तियाँ क और ख के द्वारा माली के प्रसग में प्रस्तुत युक्तियों के समान हैं और इस रूप में ई-कथन का विश्लेषण किया जा सकता है।

सर्वप्रथम, विस्डम के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व प्रयोगात्मक नही है। इसलिए किसी भी निर्णायक उदाहरण के आधार पर ईश्वर की वास्तविकता को स्वीकारा-नकारा नहीं जा सकता है। द्वितीय, ईश्वर की वास्तविकता को स्वीकार करने से, या उसको नकारने से भावी निरीक्षण पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। यह बात इसी से स्पष्ट हो जाती है कि विस्डम के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व प्रयोग का विषय नहीं है। जितना भर बगीचे के विषय में जानकारी करनी थी वह तो क और ख दोनो को पूरी-पूरी थी। तब अन्तर किस बात का था ? अन्तर इस बात में था कि क और ख की तथ्यों के प्रति अभिवृत्ति अथवा दृष्टि का फेरा था; क जगत् को एक रूप मे देखता है और ख दूसरे रूप में। जगत् एक ही है, परन्तु तथ्यो की व्यवस्थाएँ, गेस्टाल्ट (संस्थान) क और ख को भिन्न-भिन्न रूप मे दिखाई देते है। यदि कोई एक बुझव्वल चित्र ऐसा हो कि इसे विभिन्न रूप से देखने से विभिन्न चित्र दिखें, तो क इस बुझव्वल चित्र को एक रूप से देखेगा और ख को यहीं दूसरा रूप दिखेगा। यहाँ किस दृष्टि को सही माना जाए ?

अभिवृत्ति अथवा दृष्टि के सत्य-असत्य होने की बात नही उठती है, क्योंकि अभिवृत्ति साक्षात् रीति से तथ्यों द्वारा नही निर्धारित होती है। आगे चलकर हेयर अपने ब्लिक-सिद्धान्त मे बतायेंगे कि तथ्यो से अभिवृत्ति नही स्थिर होती है, पर क्या तथ्य है और किसको तथ्य नही गिना जाय, यह मौलिक निर्णय स्वय अभिवृत्ति से ही स्थिर किया जाना है। इसलिए तथ्यो से अभिवृत्ति नही सत्यापित होती है, वरन् स्वय तथ्य ही अभिवृत्ति से स्थिर किये जाते हैं। विस्डम के अनुसार, ईश्वर न तो तथ्य है, न प्राक्कल्पना है और न तथ्यो की व्याख्या के रूप मे तथ्यो का समाधेयक है। यहाँ विल्सन और विस्डम के बीच बहुत भेद नही है। तब ईश्वर है क्या ? ईश्वर केवल एक प्रकार की अभिवृत्ति की सज्ञा है। स्वयं विस्डम ने स्पष्ट शब्दों मे ऐसा नही कहा है, परन्तु उन्होने लिखा है :-"ईश्वर है" यह परिचित (जगत् के प्रति) दृष्टि की अभिव्यक्ति करता है"* । परन्तु ईश्वर-दृष्टि के हाँ जाने

* क्लासिकल ऐंड कैंटेम्परेरी—पृ. ४१७

पर जगत् भी भिन्न रूप से दिखता है और इस नवीन दृष्टि और नवीन जगत् को आविष्कार की संज्ञा दी जा सकती है।

"केवल क्रिस्टोफर कोलम्बस तथा पास्टीयर ही ने आविष्कार नहीं किया है, परन्तु टॉल्स्टाय, डोस्टोविस्की तथा फ्रायड ने भी (आविष्कार किया है)। वस्तुओं का आविष्कार सूक्ष्मदर्शी द्वारा केवल वैज्ञानिक ही नही करते, परन्तु कवि, नबी तथा चित्रकार भी (आविष्कार करते हैं)। इन में (आविष्कारों मे) विशेषकर तथ्यो की बात नही होती"[१]।

तथ्यों को भलीभाति जानते हुए भी तथ्यो के सबध मे निर्णय लेना पड़ता है। यदि हम मोटर की दुर्घटना के सबध मे सभी तथ्य जान भी जाएँ तो भी हमे निर्णय लेना पडता है कि वास्तव में मोटर-वाहक ने सावधानी बरती या नहीं। यदि तथ्यों का आविष्कार नही हुआ, तो ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी किस बात का आविष्कार करते हैं? स्पष्ट रूप से तो नही, परन्तु ऐसा मालूम होता है कि विस्डम बताना चाहते हैं कि तथ्यों का नवीन पैटर्न अथवा सस्थान आविष्कृत होता है। लेकिन बुझव्वल चित्र मे नवीन दृष्टि के फलस्वरूप घटको के नवीन रूपीकरण अथवा व्यवस्थापीकरण से नव वस्तु अवश्य दिखती है। यदि बुझव्वल चित्र मे नवीन व्यवस्था के हो जाने से 'भेंड और चरवाहा' दिखने लगे, तो इसे वास्तविक अथवा तथ्यात्मक आविष्कार कहा जाएगा। परन्तु विस्डम ईश्वरवादी दृष्टि से तथ्यों के आविष्कार की बात नही करते है। क्योकि विस्डम के अनुसार ईश्वरवादी दृष्टि भावपूर्णता का परिचायक है, न कि किसी प्रकार के संज्ञान का[२]। जिस प्रकार किसी चित्रकारी के संबध में विभिन्न दृष्टियों के फलस्वरूप हम निर्णय लेते हैं कि अमुक चित्रकारी छिछली, व्यर्थ, बचपना तथा आश्चर्यजनक, अद्‌भुत, रोमांचकारी, इत्यादि है, उसी प्रकार ईश्वरवादी दृष्टि से परिपूर्ण होकर हम कहते हैं, इस काली घटा मे ईश्वरीय दान छिपा है, 'इस दुर्घटना से ईश्वर ने सभी की आँखें खोल दी है', 'ईश्वर ने धन दिया था, अब वह नष्ट हो गया, ईश्वर तेरा नाम धन्य हो', इत्यादि। अनीश्वरवादी भी इन घटनाओं को देखता है और वह इन्हें केवल तथ्य के रूप मे देखता है। दुर्घटनाएँ होती हैं और उन्हे देखकर अनीश्वरवादी उन्हें यथार्थ रूप मे आँकने की कोशिश करता है और अपने भाव को वह

१. वही—पृ. ४१७

२. क्लासिकल ऐंड कंटेम्पररी—पृ. ४२१

विज्ञान, मनोविज्ञान तथा सामाजिक व्यवस्था के आधार पर संयमित रखना चाहता है। इसलिए विस्डम स्पष्ट तो नहीं कहते हैं, परन्तु वे धार्मिक अथवा ईश्वरवादी दृष्टि को भावपूर्ण मानते हैं। इसलिए इस भावपूर्णता से ईश्वरवादी अथवा अनीश्वरवादी दृष्टियों के कारण व्यक्तियों में बड़ा अन्तर अवश्य होता है, पर इन दृष्टियों से कोई नया तथ्य नही स्थिर होता है। पर क्या तथ्यो का कोई भी प्रभाव अभिवृत्ति पर नही पड़ता है ?

मेरी समझ में इस स्थल पर विस्डम की उक्ति महत्त्वपूर्ण है, परन्तु उनके सुझाव से किसी विचारक ने कोई विशेष पाठ नही सीखा है। विस्डम का कहना है कि तथ्यों को विभिन्न प्रकार से व्यवस्थित करके युक्तिया प्रस्तुत की जाती हैं और इन युक्तियों के संचित प्रभाव से अभिवृत्ति मे अन्तर आता है। उन्होने तत्वमीमासा तथा धर्मदर्शन की युक्तियो को न्यायालय मे वैधिक बहस के रूप मे माना है। न्यायालय मे पेश अमुक घटना के तथ्यो की जानकारी अभियोक्ता और प्रतिवादी, दोनों को एक बराबर है। ऐसा कोई तथ्य नहीं है जो अभियोक्ता को मालूम है और प्रतिवादी को नहो ज्ञान है। तो भी अभियोक्ता उन्ही ज्ञात तथ्यों को एक रूप मे व्यवस्थित करके न्यायाधीश के समक्ष रखकर विनय करता है कि अमुक अपराधी को दोषी ठहराया जाए। ठीक इसके विपरीत प्रतिवादी वकील इन्ही ज्ञात तथ्यो को इस प्रकार व्यवस्थित करके न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत करता है ताकि अभियुक्त निर्दोषी सिद्ध हो जाए। किसी एक तथ्य से नही, न किसी एक बहस की बात से कोई अभियोगी तथा निर्दोषी सिद्ध होता है। परन्तु यदि अनेक तथ्य एकसाथ जुट जाएँ और सभी युक्तियाँ संचित हो जाएँ तो युक्तियों के संचित प्रभाव मे आकर ही न्यायाधीश चाहे अभियोगी के पक्ष मे या प्रतिवादी के पक्ष मे निर्णय प्रदान करेगा। यही बात ईश्वरवाद तथा अनीश्वरवाद के संबध मे देखी जाती है।

ईश्वरवादी विश्व के अनेक तथ्यों की ओर आकृष्ट होकर उन्हे अपनी युक्तिमाला मे गूथ देता है ताकि इनका सामूहिक अथवा संचित प्रभाव ऐसा हो कि अन्य व्यक्तियों मे भी ईश्वरवादी दृष्टि उद्बोधित हो जाए, तथा स्वयं ईश्वरवादी में यह दृष्टि दृढ़ हो जाए। ठीक इसके विपरीत अनीश्वरवादी जगत् में अव्यवस्था, अत्याचार तथा अनेक प्रकार के अशुभ को अपनी युक्तिमाला में गूथकर सिद्ध करना चाहता है कि पारलौकिक सत्ता का कहीं नाम-निशान नही है। अतः, इन संचित युक्तियों के आधार पर ईश्वरवादी तथा

अनीश्वरवादी दृष्टियों में परिवर्तन होता रहता है। पर क्या इन युक्तियों को तार्किक तथा वैज्ञानिक माना जा सकता है ? नहीं। न तो ईश्वरवादी युक्तियों को गणितीय निगमनात्मक तर्कों की माला समझा जा सकता है, और न इन युक्तियों को आगमनात्मक कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें ईश्वर को प्राक्कल्पना मानकर कोई नये निर्णायक तथ्य को प्राप्त करने की बात नहीं उठती है। यद्यपि ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी दोनो अपनी युक्तियो मे तथ्यों की दुहाई देते हैं, परन्तु दोनो अपनी अभिवृत्ति के प्रभाव में आकर बहस करते हैं और तथ्यों को अपनी अभिवृत्ति का चयनात्मक प्रकाशन मानते हैं। चूंकि तथ्य साक्षात् रीति से निष्कर्ष को नही निर्धारित करते है, इसलिए वास्तव मे युक्तियाँ अभिवृत्ति से नियंत्रित होने के कारण पूर्णतया प्रागनुभविक होती है। यहाँ हमारा उद्देश्य भी यही होता है कि अभिवृत्ति को बदला जाए, या किसी एक अभिवृत्ति को अन्य दृष्टियों की अपेक्षा अधिक युक्तिपूर्ण माना जाए। अत:, अभिवृत्तिमूलक युक्तियो को, विस्डम के अनुसार सज्ञानात्मक नहीं मानना चाहिए* ।

अभिवृत्ति के अपनाने के सबंध मे विस्डम के अनुसार तथ्यो का साक्षात् हाथ नही रहता है, परन्तु इनकी व्यवस्था से अभिवृत्ति पर सचित प्रभाव पडता है। अत:, गौण रूप से धार्मिक दृष्टि के प्रचार, प्रसार तथा लोकप्रिय होने मे विज्ञान, समाज तथा अन्य बातो का सामूहिक हाथ अवश्य हो सकता है। परन्तु विस्डम के अनुसार शायद धार्मिक दृष्टि को स्थायी और अपरिवर्तनशील नही माना जा सकता है। दूसरी बात है कि विस्डम धार्मिक दृष्टि को जीवन के लिए महत्त्वपूण मानते है। जिस प्रकार का न्यायाधीश का निर्णय अभियोगी के लिए उसके जीवन मे महत्वपूर्ण होता है, उसी प्रकार ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी दृष्टियाँ भी जीवन के लिए महत्वपूर्ण समझी जाएँगी। विस्डम का यह कहना है कि ई-कथन सज्ञानात्मक नही, वरन् अभिवृत्तिमूलक है आर. एम हेयर के ब्लिक-सिद्धान्त मे स्पष्ट किया जाएगा। फिर अभिवृत्ति की सार्थकता के सिद्धान्त को पॉल तीलिख के मत मे देखा जाएगा, यद्यपि संभवतः विस्डम के लेख को पॉल तीलिख ने कभी भी न पढ़ा होगा। परन्तु विस्डम के लेख का निष्कर्ष ईश्वरवाद के लिए नकारात्मक ही माना जाएगा।

१. विस्डम ईश्वर को किसी प्रकार की स्वतंत्र सत्ता नही मानते हैं। परन्तु परम्परावादी, जिसमें विल्सन भी गिने जा सकते है, ईश्वर को

* जॉन विस्डम-वही-पृ. ४२०

पारलौकिक सत्ता मानते हैं। विस्डम के लिए ईश्वर केवल भक्तों की अपनी आत्मनिष्ठ अभिवृत्ति है। फ्रायड के लेखों से प्रभावित होकर ही जॉन विस्डम ने ईश्वर को आदिपितामूलक अभिवृत्ति कहा है।

२. फिर विस्डम ने ईश्वरवादी दृष्टि को भावपूर्ण माना है। अतः, यहाँ जेम्स और फ्रायडवादी विस्डम मे बहुत का अन्तर है। जेम्स ने अचेतन को ईश्वर की सत्ता का बोध करने का विशेष साधन माना है। इसके विपरीत विस्डम ने ईश्वरवादी दृष्टि को भावपूर्ण सौन्दर्यमूलक अभिवृत्ति कहा है।

३. पुनः, विस्डम के अनुसार अभिवृत्तिमुखी युक्तियो को संज्ञानात्मक नही कहा जा सकता है। अधिक-से-अधिक इन युक्तियो को अनुनयात्मक कहा जा सकता है। तत्त्वमीमासा मे टूलमीन ने इस मत का विशेष समर्थन किया है और इस पुस्तक मे विस्डम के इस मत से धार्मिक प्रतीकों के अपनाने-त्यागने के स्पष्टीकरण मे तथा इसे समकालीन अनीश्वरवाद के समझने मे भी लाभ हो सकता है।

जिसे विस्डम ने अभिवृत्ति कहा है, उसे ईयन रामजे ने आत्मसमर्पण कहा है और जिसे विस्डम ने तथ्यो का रूपीकरण कहा है, उसे रामजे ने 'उद्घाटन' (डीसर्नमेंट) कहा है। परन्तु रामजे के मत को परम्परागत माना जाता है। हम देखेंगे कि ईयन रामजे के सिद्धान्त मे विल्सन और विस्डम, दोनों के मतों का सम्मिश्रण पाया जाता है। परन्तु रामजे के मत की आलोचनात्मक व्याख्या से ई-कथन की अनेक उलझनें स्पष्ट होने लगेंगी।

ईयन टी० रामजे का उद्घाटन-सिद्धान्त

ईयन रामजे डर्हम के बिशप हैं और इसके पहले आप आक्सफोर्ड मे नोलौथ प्रोफेसर थे। इसलिए आप परम्परागत ईसाई ईश्वरवादी होते हुए भी ब्रिटेन के प्रभावशाली धर्मदार्शनिक हैं। रामजे ने बिशप बटलर की दो मान्यताओं को अपनाया है, अर्थात् (क) धर्म में पूर्ण बोधन के साथ धार्मिक अनुष्ठान होना चाहिए, और फिर (ख) संपूर्ण आत्मसमर्पण होना चाहिए। यदि बिना समझ के आत्मसमर्पण हो तो यह हठधर्म अथवा मूर्तिपूजा होगी; और यदि बोध हो, परन्तु बोध के अनुरूप आत्मसमर्पण न हो तो यह पाखंड हो जाएगा*। यह

* रिलिजस लैंग्विज—पृ० १८।

पारलौकिक शक्ति का अवबोध अ-धार्मिक स्थितियों मे भी होता है। इस अवबोध को रामजे ने 'उद्घाटन' (डिस्क्लोजर) संज्ञा दी है और इस प्रसंग में तीन मुख्य उदाहरणों का उल्लेख किया है, अर्थात् (क) आध्यात्मिक संक्रियाओं की आत्मचेतना, (ख) प्रत्येक कर्ता को अपने मे स्वतंत्रता का बोध होना, (ग) कर्त्तव्य का भान करना।

मान लिया जाए कि हम मोटर मे बातचीत करते चलते जाते हैं और तब एक पत्र-पेटी दिखाई देती है। एकाएक याद आता है कि पॉकेट में रखे पत्र को छोड़ना है। यहाँ हम भूले हुए थे, परन्तु पत्र-पेटी ने हमे उद्बोधित किया और हमे आत्मचेतन बनाया। इसी प्रकार सुदूर देश मे किसी भारतीय से भेंट होती है और हम इधर-उधर की बातें करने लगते हैं। इसके बाद हम एक दूसरे का परिचय देते है। फिर एकाएक हमे अनुस्मृत होता है कि अमुक भारतीय हमारे बचपन का दोस्त है। यहाँ भी हम पुरानी बातों को याद कर आत्मचेतन हो जाते है। क्या इस अहभाव को देश कालिक अथवा कायिक रूप मे सीमित रखा जा सकता है ? नही। रामजे के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति मे आत्मनिष्ठता होती है जिसे व्यवहार से स्पष्ट नही किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना आत्मभाव है जिसे अशरीरी अथवा अननुभूत कहा जा सकता है। क्या इस अननुभूत, अशरीरी अथवा आध्यात्मिक आत्मभाव को अनुभव के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है ? नहीं। तब इसे सत्य क्यों माना जाए ? घटनाओं के द्वारा, अनुभूति की गहराई के साथ, विशेषकर कठिन स्थिति मे नैतिक चयन के अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति को अपने आत्मभाव का भान होता है। आत्मभाव को उद्बोधित किया जा सकता है और आत्मचेतना के उद्बोधन के साथ इस आत्मभाव का अनुभव होता है। अस्तित्ववादी विचारधारा के अनुसार प्रायः व्यक्ति सोए हुए होते हैं, अपने आप से बेसुध रहते है और अपने ही लिए आत्मविमुख होकर अन्यदेशी बने रहते है। जीवन मे क्रान्ति के होने पर ही अन्यदेशीपन दूर हो जाता और हम अपने आप मे आते हैं, अपने होश मे आते है और अपने को अनुभूत करने लगते है। अतः, केवल उद्बोधन के आधार पर व्यक्ति को आत्मभाव का भान हो सकता है। चेतना की गहराई अथवा जागरुकता के साथ, जीवन की क्रान्ति तथा नैतिक असमंजस की स्थिति मे ही प्रत्येक व्यक्ति को उसके अहभाव का उद्घाटन होता है।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का बोध होता है। जबतक व्यक्ति दैनिकचर्या मे लगा रहता है तबतक उसे अपने कर्त्तव्य का बोध नहीं

होता है। परन्तु मान लीजिए, कि कोई दाई घर की सफाई कर रही है और उसे दस रुपए का नोट कूड़े में मिल जाए। उसी घड़ी उनमे अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। क्या वह दस रुपए घरवालो को लौटा दे, या वह उस रुपए से एक नई साड़ी खरीद ले। यहाँ दाई को अपने दायित्व का भान होने लगता है। इसी प्रकार यदि चीजो को व्यवस्थित करते समय किसी स्त्री को ऐसा पत्र मिल जाए जिसमे उसकी लड़की ने किसी एक लड़के को प्रेम-पत्र लिखा था तो एकाएक उस माता का माथा ठनक उठता है। उसे अपने कर्त्तव्य का भान होने लगता है।

लेखक को इस प्रसंग मे रूसी कहानी की एक घटना याद आ रही है। एक प्रोफेसर महोदय समाजवाद के पक्ष में लिखा करते थे, परन्तु आप आन्दोलन मे सक्रिय भाग नही लेते थे। एक दिन दस बजे रात को, जब वे अन्य दिनो की भाँति लिख-पढ रहे थे, एकाएक किसी ने उनके दरवाजे को खटखटाया। दरवाजा खुला। सामने एक युवती ने प्रवेश किया। उसने मुख को पोछा, अपने अलको को एक झटक दी और प्रोफेसर को संबोधित कर बोली "मेरी यह भरी जवानी है, और उसने अपने वक्षस्थल को खोल दिया और कहा— 'मैं जानती हूँ कि क्रान्ति क्या है, भूखा रहना क्या है, प्रेम का बलिदान कितना कटु होना है, '' ''' इत्यादि। कही क्रान्ति लिखने से होती है ?''

प्रोफेसर जैसे स्वप्न से जागे, उन्हे अपने कर्त्तव्य का भान होने लगा*। अब रामजे का कहना है कि व्यक्तियो को अपने कर्त्तव्य का भान उद्बोधक घटनाओ के ही द्वारा हो सकता है। अमुक स्थितिविशेष मे कर्त्तव्य का निर्णय करना नैतिक मूल्य के उद्घाटन-मात्र से हो सकता है। पर क्या नैतिक निर्णय मे निहित आत्मभाव को व्यवहार के आधार पर, पूर्व घटको के आधार पर व्यक्त किया जा सकता है ? नही। यह हम जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा शरीर के अतिरिक्त और भी अन्य कुछ है, पर इस 'अन्य कुछ' का केवल उद्बोधन हो सकता है, पर इसे व्यक्त नही किया जा सकता हैं। कर्त्तव्य-ज्ञान तथा नैतिक समस्या मे निहित किसी पक्ष के कठिन चुनाव मे आत्मभाव का बोध अवश्य होता है, पर इसे स्पष्ट नही किया जा सकता।

---

* रिलिजस लैंग्वेज—पृ० १९-२८ फिर देखें
प्रौस्पेक्ट फॉर मेटाफिजिक्स—पृ० १६५-१७१।

जिस प्रकार व्यक्तिनिष्ठ समस्याओ मे तथा नैतिक निर्णय मे आत्मबोध होता है, उसी प्रकार कर्त्तव्यनिष्ठता से तथा आन्तरिक आत्मभाव से उद्बोधित होता है कि एक ब्रह्माण्डीय सत्ता है। जैसे ही कॉस्मिक अनुभूति हमारे अन्दर उद्बोधित होती है, वैसे ही ब्रह्माण्डीय सत्ता का उद्घाटन होता है। यहाँ विस्डम और रामजे मे बडा भेद है। विस्डम के अनुसार उद्बोधित अभिवृत्ति द्वारा नया पैटर्न तथा व्यवस्था देखने मे आती है। परन्तु यह व्यवस्था किसी तथ्य का उद्घाटन नही करती है। केवल आत्मनिष्ठ भावपूर्णता को पुष्ट करती है। संपूर्ण ईश्वरवादी अनुभूति भावपूर्ण होती है। इसके विपरीत रामजे के अनुसार उद्बोधित अनुभूति के साथ ब्रह्माण्डीय सत्ता का उद्घाटन होता है। जिस प्रकार आत्मभाव का हम व्यवहार अथवा शारीरिक व्यापार के द्वारा स्पष्टीकरण नही कर सकते है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डीय उद्घाटन मे भी हमे भान होता है कि एक परम अतीत सत्ता है, पर इसका हम अक्षरशः उल्लेख नही कर सकते हैं। परन्तु जिस प्रकार अहंभाव है और उसका आनुभविक वर्णन नही किया जा सकता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डीय उद्घाटित सत्ता का भी आस्वादन किया जा सकता है, पर इसका शब्दशः वर्णन नही किया जा सकता है। अतः, रामजे के अनुसार ब्रह्माण्डीय अतीत सत्ता है जो हमारी अनुभूति की गहराई के साथ उद्घाटित होती है।

चूंकि ब्रह्माण्डीय सत्ता अतीन्द्रिय होने के कारण साधारण शब्दो के द्वारा अनिर्वचनीय है, तो भी हमे किसी-न-किसी ज्ञात प्रतिमान (नमूने की) की मदद लेनी पडती है ताकि श्रोताओ को ईश्वर के प्रति उद्बोधित किया जाए। ताकि प्रतिमान-भाषा को ईश्वर को वर्णित करने के लिए अक्षरशः न माना जाय, इसलिए इस प्रतिमान भाषा को अनेक प्रकार से विशिष्ट किया जाता है। इस विशिष्टीकरण के फलस्वरूप या तो हम नकारात्मक विशिष्टता का प्रयोग करते है (उदाहरणार्थ, अविनाशी) या भावात्मक विशिष्टता को व्यवहृत करते है (उदाहरणार्थ, पूर्ण, सर्वज्ञ, इत्यादि)। हम इस भाषा को, जो मानव के स्वरूप को प्रतिमान (मॉडल) मानकर काम मे लाया गया है, कभी भी ईश्वर के लिए सटीक तथा उपयुक्त नही मान सकते हैं।

(क) ईश्वर एक अनूठा, अनुपम तथा अनन्य सत्ता है, जो बिना साक्षात् रूप से अनुभूत हुए भी व्यक्तिवाचक संज्ञा माना जाता है। रसेल इत्यादि अनुभववादियों के अनुसार बिना साक्षात् संपर्क ज्ञान के

किसी भी वस्तु को व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं मानना चाहिए। अतः, रामजे बार-बार ईश्वर को विचित्र पद (ऑड) कहते आए हैं।

(ख) रामजे ईश्वर को अतीत और रहस्यमय सत्ता मानते हैं। इनके अनुसार ईश्वर का हमें भान हो सकता है, परन्तु हम ईश्वर को साधारण शब्दों, प्रतिमाओं तथा प्रत्ययों के द्वारा वर्णित नहीं कर सकते हैं। यदि ईश्वर को मानव तल पर समझकर हम ईश्वर को दयालु, प्रेमी, ज्ञानी, इत्यादि मानने लग जाएँ, तो यहाँ मानवतारोपण का दोष चला आएगा[1]।

अतः, रामजे टामस अक्वाइनस के साम्यानुमान के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए बताते हैं कि ईश्वर-संबंधी अभिकथन को विशिष्टीकरण करते रहने से हमारी बोधनशक्ति तीव्र होती जाती है और तब अन्त मे बोधनशक्ति परिष्कृत होकर ईश्वर का भान करने लगती है। इसलिए शब्द व्यर्थ नही हैं, परन्तु परिष्कृत तथा विशिष्ट शब्दों का काम यही है कि ईश्वर की सत्ता हमे उद्बुद्ध हो जाए। उदाहरणार्थ, ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता माना जाता है। परन्तु व्यक्तित्व से सीमितपन ध्वनित होता है। किन्तु ईश्वर को अपरिमित भी कहा गया है। यदि असीमितपन पर बल दिया जाए तो सगत रूप से ईश्वर निर्वैयक्तिक हो जाएगा, जिसे ईश्वरवाद के अनुकूल नही माना जाएगा। अतः, ईश्वर को पूर्ण कहा जाता है जिसमें अपरिमित व्यक्तित्व पाया जाता है। ऐसा कहने से तात्पर्य है कि ईश्वर को प्रेममय सक्रिय शक्ति माना जाए। तो क्या ईश्वर का हमे ऐसा कभी भी उद्घाटन नहीं होता, जिसमे ई-कथन को हम निश्चित मान सकते है? एक स्थल पर रामजे बताते हैं कि हमारी धार्मिक अनुभूति मे जो उद्घाटित होता है वह अन्य सभी तथ्यों की तुलना में सबसे अधिक वास्तविक है, जो सभी घटनाओं को मूल्यपूर्ण सिद्ध करता है और जिसकी प्राप्ति हमारी अनुपम निधि और अन्तिम आदर्श है[2]। परन्तु जीवन मे सार्थकता का भान करना तथा अपनी अन्तिम निधि को प्राप्त करना उद्बोधक अभिकथन हैं और इसलिए रामजे के अनुसार वास्तव में ईश्वर के संबंध में कोई निर्भ्रान्त तथा निश्चित कथन नहीं उपयुक्त हो सकता है। अतः, रामजे के धर्मदर्शन मे अक्वाइनस और पॉल तीलिख दोनों के विचारों की परिछाया मिलती है। रामजे

१. थेओलोजी-मासिक पत्र, मार्च १९७१—पृ० १२६।
२. क्रिश्चियन डिस्कोर्स—पृ० ७१।

अज्ञेयवादी नही हैं। इनके अनुसार भाषा-परिष्कार के साथ यदि प्रत्येक ब्रह्माण्डीय* उद्घाटन को हम अपने ध्यान मे रखें, तो ई-कथन मे वर्णनात्मकता का बल अवश्य आ जाएगा। शुद्ध वर्णनात्मकता तो नही आ सकती है, परन्तु ई-कथन मे वर्णनात्मक के बल के लिए

१. ई-कथनों का निजी जीवन की उद्घाटन-घटनाओं के साथ मेल होना चाहिए।
२ संपूर्ण धार्मिक इतिहास मे प्रयुक्त ई-कथनों के साथ अमुक ई-कथनों की संगति रहनी चाहिए।
३. फिर ई-कथनों का आनुभविक कथनों के साथ सामंजस्य रहना चाहिए।

यदि (२) और (३) को ध्यान मे रखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि रामजे परम्परागत धार्मिक ई-कथनों को पूर्णतया प्रश्रय देते हैं, तोभी इनकी देन की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जिनका उल्लेख होना चाहिए।

एक स्थल पर रामजे मानते हैं कि ईश्वर का स्वरूप ही रहस्यमय है और ईश्वर की स्पष्ट जानकारी कभी नही हो सकती है। परन्तु रामजे के अनुसार मानव की अपनी आत्मनिष्ठता में प्रत्येक व्यक्ति को भान होता है कि वह स्वय ऐसी सत्ता है जिसे वह तो अनुभूत कर रहा है पर जिसे वह परिशुद्ध प्रत्ययो के आधार पर स्पष्ट नही कर सकता है। वह केवल यह जानता है कि उसकी आत्मनिष्ठता उसकी अपनी सच्ची वास्तविकता है। वह मनोदैहिक जीव भी है, पर इसके अतिरिक्त और भी कुछ अधिक है। इसी प्रकार रामजे के अनुसार नैतिक गारंटी तभी हो सकती है, जब हम ईश्वर को इन नैतिक आदेशो का आदिस्रोत मानें। अतः, रामजे के अनुसार ईश्वर की ओर व्यक्ति की आत्मनिष्ठता तथा उसकी नैतिकता संकेतक का काम करती है। परन्तु ईश्वर का संकेत करना एक बात है और ईश्वर का उद्घाटन प्राप्त कर उसका वर्णन करना दूसरी बात है। जिस प्रकार व्यक्ति अपनी आत्मनिष्ठता स्पष्ट नही कर सकता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डीय उद्घाटन को प्राप्त कर कोई ईश्वर के रहस्यपूर्ण स्वरूप का उपयुक्त उल्लेख नहीं कर सकता है। क्या इसे रहस्यवाद कहा जाए, या भाषा की अपनी कमी कहा जाए या उद्घाटन की क्षणभंगुरता अथवा

* ब्रह्माण्डीय उद्घाटन का उदाहरण वर्ड्सवर्थ की टिन्टर्न वाली पंक्तियाँ हैं, या तारों से भरे गगन को देखकर कान्ट के मन में ईश्वर का उद्बोधन, आदि।

गूँगे के गुड़ का आस्वादन कहा जाए, कहना बड़ा कठिन है । आप जानते हैं कि ईश्वर है, इसके प्रति आपको अनुभूति भी हो रही है, पर आप कह नहीं सकते हैं कि ईश्वर का असली स्वरूप क्या है । इतनी दूर तक अक्वाइनस का साम्यानुमानिक अज्ञेयवाद दिखाई देता है । परन्तु रामजे यह भी कहते हैं कि भाषा की अपनी असमर्थता तथा दरिद्रता के द्वारा श्रोतागणो मे ईश्वर का अस्तित्व उद्बोधित हो पडता है । अत , रामजे के अनुसार ईश्वर-सबधी परिष्कृत तथा विशिष्टीकृत भाषा का काम है उद्बोधन करना, न कि ईश्वर का वर्णन करना । अतः, धर्म-भाषा उद्बोधन (भक्त के अन्दर की आत्मनिष्ठ अनुभूति) करती है ताकि उद्बोधित भक्त को ईश्वर का उद्घाटन हो जाए । यहाँ धार्मिक भाषा का काम वही है जो लगडे के लिए लाठी करती है । लंगडा लाठी टेक कर अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है । परन्तु जब वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है तो वह फिर लाठी की मदद नही लेता है । इसी प्रकार ई-कथनों के द्वारा ईश्वरवादी को ईश्वर का बोध होता है और चूंकि रामजे ईश्वर को सक्रिय मानते है, इसलिए उनके अनुसार ईश्वर अपने को भक्त के प्रति अपने रहस्यमय अस्तित्व का प्रकाशन करते हैं । यहाँ ईश्वर के किसी रूप या उसकी प्रतिमा का उल्लेख नही किया गया है । केवल इतना ही भर भान होना चाहिए कि सभी प्रक्रियाओ की तह मे कोई अतीत और असीमित सत्ता है जिसे 'प्रेम' सज्ञा दी जा सकती है । अतः, रामजे के उद्घाटन-सिद्धान्त मे लेखक के लिए तीन बातें मुख्य मालूम देती हैं ।

१. ईश्वर रहस्यपूर्ण है जिसे कभी भी परिशुद्ध प्रत्ययो के आधार पर वर्णित नही किया जा सकता है । ईसाइयो के लिए ईश्वर के स्वरूप को समझने के लिए ईसा का जीवन, उसकी शिक्षा और क्रूश की मृत्यु उपयुक्त सूचक का काम करती है ।

२ धर्म-भाषा का काम ईश्वर को वर्णित करने का नही है, पर भक्तो मे उद्बोधन उत्पन्न करने का है ।

३ ईश्वर अनुभूति का विषय है, न कि तथ्यात्मक आलोचना का । ईश्वर की अनुभूति मानव जीवन की स्थिरता के लिए नितान्त आवश्यक है ।

यदि भाषा-परिष्कार का तात्पर्य यही है कि ईश्वर की अनुभूति हमारे अंदर गहरी होती जाए और ईश्वर-बोधन मे अधिकतर सहायक होती जाए, तो धर्म-भाषा का लक्ष्य होता है कि व्यक्ति उद्बोधित होकर ईश्वर का भान

करे और दिनो-दिन धर्म-भाषा को परिष्कार कर परिशुद्ध किया जाए। परन्तु यदि ई-कथन वर्णनात्मक न हो (क्योकि रामजे के अनुसार कोई भी कथन अक्षरशः वर्णन नही माना जा सकता है) तो इन्हे संज्ञानात्मक नही कहा जाएगा। फिर ईश्वर भी तथ्य नही है जिसे सीधे अनुभूत कर लिया जाए। ये दोनो बातें ऐसी हैं जिनका उल्लेख अक्वाइनस के साम्यानुमान मे किया गया है और इस साम्यानुमानिक सिद्धान्त को पॉल तीलिख ने समकालीन रूप में रखा है। परन्तु इसमे स्पष्ट हो जाता है कि रामजे का सिद्धान्त ई-कथन की अर्ध-सज्ञानात्मकता के अन्तर्गत आएगा, न कि सज्ञानात्मकता के अन्तर्गत। ईयन रामजे की तुलना मे जॉन हिक और आई० एम० क्रौम्बी के विचार सज्ञानात्मकता-सिद्धान्त के अन्तर्गत आएंगे। इसलिए इन दोनो विचारको के मत की व्याख्या होनी चाहिए।

मिचेल, क्रौम्बी तथा हिक द्वारा फ्लू के अनीश्वरवाद का प्रत्याख्यान।

हमलोगो ने पहले दिखाया है कि फ्लू ने ई-कथन की तथ्यात्मकता को खोखला तथा निरर्थक सिद्ध किया है। फ्लू ने विस्डम के लेख के आधार पर नकारात्मक निष्कर्ष स्थापित किया है। यह ठीक है कि स्वयं विस्डम ई-कथन को तथ्यात्मक नही मानेंगे और न ईश्वर को ही वे तथ्य समझते हैं, परन्तु वे ईश्वरानुभूति को जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण मानते है। विस्डम की तुलना मे फ्लू का मत अधिक उग्र और अधिक तर्कसगत है। यही कारण है कि मिचेल और क्रौम्बी साक्षात् रूप से और हिक असाक्षात् रूप से फ्लू के अनीश्वरवादी युक्तियो का खंडन करते हैं।

कोई भी ईश्वरवादी ईश्वर को साक्षात् रूप से इन्द्रिय-वस्तु नही समझता है। वह इतना ही भर मानता है कि ईश्वर विश्व और मानव से परे अतीत शक्ति है और इस प्रकार की शक्ति को व्यक्तित्वपूर्ण मानकर प्रेममय सत्ता कहा जा सकता है। परन्तु न तो ईश्वर को ही निर्भ्रान्ति साधरण शब्दो के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और न धार्मिक अनुभूति को ही सार्वजनिक, पुनरावृत्तीय तथा सामान्य बताया जा सकता है। परन्तु इस अर्थ मे ई-कथन को तथ्यात्मक कहा जा सकता है क्योंकि ई-कथन से ईश्वर के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है और यह कि ईश्वर भी अवश्य एक स्वतंत्र सत्ता है। इस ईश्वरवादी पक्ष को स्पष्ट करते हुए क्रौम्बी ने बताया है कि ईश्वर की उपासना न तो कविता है (जिसमें ईश्वर को

काल्पनिक रचना माना जाए), न साधनामात्र है, न आश्चर्य अथवा श्रद्धा का भाव ही है और न इसे आत्मा का संवर्धन कहा जा सकता है। मूलतः उपासना वह है जिसमें भक्त एक अतीत सत्ता के साथ सायुज्य स्थापित करते हैं और जिस अतीत सत्ता के संबंध में अनीश्वरवादी बताते हैं कि वास्तव में कोई सत्ता नहीं है जिसके साथ सायुज्य स्थापित हो सकता है*। फिर क्रौम्बी का कहना है कि ईश्वर को सीधे किसी रीति से दिखाया नहीं जा सकता है और न किसी स्थितिविशेष को दिखाकर कहा जा सकता है कि इस अमुक स्थितिविशेष में ईश्वर दिखाई देता है। पुनः, ईश्वर सब जगह है, सभी घटनाओं में है, भला कैसे किसी घटनाविशेष को दिखाकर कहा जाए कि इस प्रकार की घटना से ईश्वर के प्रेममय अस्तित्व का खंडन होता है। अतः, साधरणतया ई-कथनों का मिथ्यापन भी नहीं हो सकता है। परन्तु क्रौम्बी का कहना है कि ये बातें कि ईश्वर साधारण अनुभूतियों के द्वारा जाना नही जाता है और फिर ईश्वर में अटल विश्वास तथा उसकी सर्वव्यापकता से ई-कथन अमिथ्याप्य होते है, सभी चिन्तनशील ईश्वरवादी को मालूम है। तोभी इनके बावजूद वे ई-कथन को संज्ञानात्मक मानते हैं। क्योंकि सर्वप्रथम, ईश्वर विचार का नही वरन् भक्ति का विषय है और भक्ति की आँखों से ईश्वर विश्वासी को दिखाई देता है और धार्मिक अनुष्ठान के द्वारा उसकी अनुभूति उसके लिए स्पष्ट और दृढ होती जाती है। भक्त जितना ही ईश्वर के समीप आता है और जितना अधिक सायुज्य स्थापित करता है वह ईश्वर को उतना ही अधिक रहस्यपूर्ण समझता है और वह समझता है कि ईश्वर के गुह्य स्वरूप को वह कभी भी परिशुद्ध प्रत्ययों के द्वारा स्पष्ट नही कर सकता है।

अब ईश्वर के स्वरूप को ईश्वरवादी गुह्य, रहस्यपूर्ण, बुझव्वल चित्र (रामजे) और कोई विविधार्थक (हिक) बताते हैं। अतः कोई भी समकालीन ईश्वरवादी ईश्वर के स्वरूप को परिशुद्ध प्रत्ययों के आधार पर स्पष्ट करने का दावा नहीं करते हैं। परन्तु इनका कहना है कि बिना धार्मिक अनुष्ठान, साधना, प्रार्थना इत्यादि के न तो ईश्वर की अनुभूति हो सकती है और न ईश्वर का ज्ञान हो सकता है। परन्तु धार्मिक अनुष्ठान के आधार पर मन परिष्कृत हो जाता है, बुद्धि विमल हो जाती है और हमारी दृष्टि खुल जाती है। भक्त

* आई० एम० क्रौम्बी, दि पौसिबिलिटी आव थेओलोजिकल स्टेटमेंट्स,फेथ ऐंड लॉजिक,
सम्पादक—बेसिल मिचेल—पृ० ३२।

को ईश्वर का ज्ञान बढ़ता जाता है और इस धार्मिक अनुभूति पर आधारित ईश्वर-ज्ञान उसको निश्चित लगता है[1]। इस अनुभूति के अनुरूप भक्त समझता ईश्वर के है कि संबंध मे प्रयुक्त अमुक शब्द अनुचित होते हुए भी उपयुक्त है और अन्य शब्द अनुपयुक्त हैं। यही बात रामजे के उद्बोधन तथा उद्घाटन-सिद्धान्त मे भी निहित है। चूंकि शब्द साधारण अनुभूति से प्राप्त होते हैं और ईश्वर धार्मिक अनुभूति से प्राप्त होता है, इसलिए किसी भी शब्द को ईश्वर के लिए अक्षरश. नही प्रयुक्त किया जा सकता है। अन्त में प्राय. सभी ईश्वरवादी इसी पक्ष को अपनाते हैं कि ई-कथन की सार्थकता प्रत्येक धर्म-परम्परा के अन्तर्गत हो सकती है[2] और धर्म-परम्परा के प्रसंग के बाहर ई-कथन की सार्थकता को आंकना अयुक्तिसगत है।

यदि ईश्वरवादी के इस कथन को स्वीकार कर लिया जाए कि ई-कथन धार्मिको के लिए उनकी परम्परा मे ही सार्थक हो सकता है, तो फिर धार्मिक और न-धार्मिक के बीच सज्ञापन समाप्त हो जाएगा। इस स्थिति को स्वयं धर्मदार्शनिक नही अपनाएँगे। इस स्थल पर मिचेल, क्रौम्बी और हिक का कहना है कि धार्मिक परम्परा के अतिरिक्त ई-कथन की संज्ञानात्मकता उसकी मिथ्याप्यता से सिद्ध होती है। मिचेल के अनुसार ई-कथन वास्तव में विश्वास-वचन हैं। जब ईश्वरवादी कहता है कि ईश्वर प्रेम है तो सभी दुःखद घटनाओं और अशुभ विचार का प्रभाव उसके विश्वास पर अवश्य पड़ता है और सभव है कि अनेक विपरीत घटनाओ के फलस्वरूप विश्वासी के लिए 'ईश्वर प्रेम है' खोखला सिद्ध हो जाए[3]। परन्तु ई-कथन के मिथ्यापन के सबंध मे क्रौम्बी और हिक के विचार अधिक महत्वपूर्ण हैं।

आई० एम० क्रौम्बी का मत : क्रौम्बी मानते हैं कि ई-कथन सत्याप्य-मिथ्याप्य अवश्य हैं। यदि सिद्ध हो जाए कि इस विश्व में निरर्थक, निरुद्देश्य दुःख-ही-दुःख है तो इस विश्वास-वचन को स्वीकार करने में कठिनाई आ जाएगी कि ईश्वर प्रेम है। इसी प्रकार यदि जीवन की अनुभूति शुचित्व, युक्तिपूर्णता तथा मूल्यपूर्णता को स्थिर सिद्ध करती है, तो इन मूल्यों से ईश्वर के प्रेम का

---

१. यही बात ईश्वर की रहस्यानुभूति के प्रसंग में निहित है।

२. आई. एम. क्रौम्बी, न्यू ऐसेज—पृ० १३०।

३. न्यू ऐसेज—पृ० १०५।

सत्यापन होता है[1]। इसी बात को विस्तारपूर्वक क्रौम्बी ने न्यू ऐसेज़ में कहा है। क्रौम्बी पूछते हैं :

क्या ऐसी घटनाएँ बताई जा सकती हैं जिनसे प्रेमी ईश्वर का अस्तित्व मिथ्यापित हो सकता है ? हाँ, दुःख-क्लेश। क्या कोई भी घटना निर्णायक रूप से ई-कथन का मिथ्यापन कर सकती है ? नही, क्योंकि प्रेमी ईश्वर का अस्तित्व तथ्य है। परन्तु यदि सिद्ध कर दिया जाए कि विश्व में एकदम व्यर्थ नित्य तथा शुद्धतया (बिना इसके द्वारा किसी भी विमोचन के) दुःख-भोग होता है तो प्रेमी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। क्या किसी प्रकार का निर्णायक प्रयोग किया जाता है जिसके द्वारा ई-कथन का मिथ्यापन-अमिथ्यापन संभव हो सकता है ? नही, क्योकि हम विश्व की संपूर्णता को पूर्णतया नही जानते हैं। कम-से-कम दो बातें मानव से ओझल दिखाई पड़ती हैं; दुःखभोगी की अन्तरात्मा की गहराई को हम नही जान सकते हैं और न यह कि इस जीवन के बाद क्या होता है[2]। क्रौम्बी ने फिर आगे चलकर कहा है कि मानव जीवन सीमित है और इस जीवन मे हम ई-कथन का पूर्णतया सत्यापन-मिथ्यापन नही कर सकते हैं। परन्तु एक प्रकार की अनुभूति अवश्य है जिसके द्वारा ई-कथन का सत्यापन-मिथ्यापन हो सकता है और वह है मृत्यूत्तर अनुभूति। यह ठीक है कि मृत्यूत्तर अनुभूति के आधार पर ई-कथन का सत्यापन हो सकता है, केवल इस मृत्यूत्तर अनुभूति का संज्ञापन नही हो सकता है[3]। अतः, क्रौम्बी के अनुसार मृत्यूत्तर परीक्षण द्वारा ई-कथन को तर्कदृष्टि के आधार पर तथ्यात्मक माना जा सकता है[4]। यदि आई० एम० क्रौम्बी के इस मृत्यूत्तर अनुभूति सबंधी सिद्धान्त पर ध्यान दिया जाए, तो इसकी कमी स्पष्ट हो जाती है।

सर्वप्रथम, क्रॉम्बी का कहना है कि 'ईश्वर प्रेम है' तथ्य है। ई-कथन के तथ्यात्मक होने को इस हठवादी रूप से सिद्ध नही किया जा सकता है। तथ्य वह है जो सार्वजनिक, पुनरावृत्तीय तथा सामान्य अनुभूति के द्वारा सिद्ध किया जाए। परन्तु स्वयं क्रौम्बी ने स्वीकार किया है कि अक्षरशः अर्थ में ई-कथन को तथ्यात्मक नहीं कहा जा सकता है[5]। यदि ईश्वर को जाना जा

१. फेथ ऐंड लॉजिक—पृ० ७४।
२. न्यू एसेज—पृ० १२४-१२५
३. न्यू एसेज—१२६-१२७।
४. न्यू एसेज—१२६।
५. फेथ ऐंड लॉजिक—पृ० ३५, ३८, ४०।

सकता है तो वह धर्म के अनुष्ठान तथा साधारण शब्दों को असाधारण अर्थ मे प्रयुक्त कर पुनः प्रत्ययों को परिशुद्ध करके और ईश्वर के प्रति अनुक्रियाशील होकर हम अपनी धार्मिक अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यह बात धार्मिक अनुभूति की है जिसे स्पष्ट न करके क्रॉम्बी ने बिना किसी विश्लेषण के अनिश्चित अर्थ मे प्रयुक्त किया है। क्या यह धार्मिक अनुभूति वैचारिक है, या भावपूर्ण, यह रहस्यानुभव है, या अचेतन रूप से भावपूर्ण, इत्यादि। इस धार्मिक अनुभूति को स्पष्ट न करके वे इतना ही भर कहते हैं कि धार्मिक अनुष्ठान के आधार पर मानव मन ईश्वर के प्रति अनुक्रियाशील हो जाता है और इस अनुक्रियाशीलता के फलस्वरूप हमारे प्रत्यय भी लचीले होकर ईश्वर के स्वरूप को कुछ अधिकृत प्रतिमाओ तथा दृष्टान्तो के द्वारा व्यक्त करने मे समर्थ हो जाते हैं*। परन्तु हम कितना ही अधिक ईश्वर के प्रति क्यो न अनुक्रियाशील हो जाएँ, हम इस अनुक्रियाशीलता को न तो सार्वजनिक, न पुनरावृत्तीय और न सामान्य बना सकते हैं। ऐसी दशा में कहना कि 'प्रेमी ईश्वर' तथ्य है, सही नही मालूम देता है। तो 'ईश्वर तथ्य है', इसका क्या अर्थ हो सकता है ? अधिक से अधिक यही कि ईश्वर विश्वास वचन है, जैसा मिचेल मानते हे। परन्तु विश्वासवचन आस्था-वचन हो सकता है, पर आस्था-वचन को सज्ञानात्मक नही स्वीकार किया जा सकता है। अतः प्रेमी ईश्वर का अस्तित्व विश्वासवचन तथा आस्थावचन हो सकता है, पर इस प्रकार के कथनो का सत्यापन-मिथ्यापन नही हो सकता है। अत, सामान्य रूप से क्रॉम्बी ई—कथन का सत्यापन-मिथ्यापन नही दिखा पाए हैं।

द्वितीय, क्रौम्बी का कहना है कि ई-कथन दु:खपूर्ण घटनाओं के द्वारा अवश्य मिथ्यापित होता है, परन्तु निर्णायक रूप से नही। अब यदि निर्णायक रूप से ईश्वर का प्रेम तथा उसका शुभत्व खडित नही होता है, तो इस खडन अथवा मिथ्यापन का क्या अर्थ हो सकता है ? स्पष्ट शब्दों मे इसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि ई कथन का कभी भी मिथ्यापन नही हो सकता है, अर्थात् ई-कथन को सज्ञानात्मक नही स्वीकार किया जा सकता है। क्रॉम्बी ने ई-कथन को निर्णायक रीति से मिथ्याप्य नही मानने के लिए दो कारणों का उल्लेख किया है।

पहली बात है कि क्रौम्बी का कहना कि हम नहीं जानते हैं कि दु:खभोगी की अन्तरात्मा में क्या बीतता है। असाधारण रूप से क्रौम्बी स्वीकार करते हैं

---

* फेथ एँड लॉजिक—पृ० ७५, ७६, ८१।

कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अमर आत्मा है और इस अमर आत्मा को 'मन' इत्यादि चेतनामात्र नहीं समझना चाहिए। परन्तु अमर आत्मा का सिद्धान्त तत्वमीमांसात्मक है, जिसमे सत्यापन-मिथ्यापन का कोई सिद्धान्त नही रहता है। इसलिए दुःखभोगी की अन्तरात्मा की दुहाई देकर क्रौम्बी ई-कथन को किसी प्रकार से संज्ञानात्मक बनाने में सिद्ध नहीं कर पाए हैं। फिर ई-कथन को निर्णायक रूप से मिथ्याप्य नहीं मानने के लिए क्रौम्बी ने दूसरा कारण बताया है कि हम नही जानते हैं कि मृत्युत्तर जीवन मे दुःखभोगी का क्या होता है या किसी भी व्यक्ति के दुःखभोग का अन्तिम परिणाम क्या होता है। जो बात यहाँ केवल आशिक या धुंधले रूप में दिखाई देती है, वही बात मृत्यूत्तर अनुभूति में अपनी सम्पूर्णता अथवा परिशुद्धता मे दिखाई दे तब इस मृत्युत्तर अनुभूति के आधार पर ई-कथनों का सत्यापन हो सकेगा। परन्तु मृत्युत्तर जीवन का क्या ठोस आधार है? क्रौम्बी के अनुसार यह मानव की आशा है और यदि यह निराधार अथवा असत्य हो जाए तो मानव सबसे अभागा जीव कहलाएगा[१]। अतः मृत्यूत्तर जीवन केवल आशा का विषय है – अधिक से अधिक गहरी आस्था का विषय है, पर इसे तथ्य नही गिना जा सकता है और इसलिए मृत्यूत्तर अनुभूति को 'अनुभूति' सज्ञा नही दी जा सकती है। क्रौम्बी आस्थापूर्ण अनुभूति को सार्वजनिक, सामान्य, साधारण तथा पुनरावृत्तीय अनुभूति मानकर अपनी और अपने पाठको की आँख मे धूल झोंकना चाह रहे हैं। मृत्यूत्तर अनुभूति वह ऐहिक, साधारण तथा सामान्य अनुभूति नही है, जिसके द्वारा साधारणतया विज्ञान मे सत्यापन मिथ्यापन की कसौटी अपनायी जाती है। मृत्यूत्तर अनुभूति ईश्वरवादी के विश्वास का विषय हो सकता है, पर साधारण जीवन का विषय नही माना जा सकता है।

फिर क्रौम्बी का कहना है कि ईश्वर सभी देश-काल मे है और इसलिए ऐसी कोई घटना नही हो सकती जिसमें ईश्वर न हो[२], तो क्या मृत्यूत्तर जीवन में ऐसी बात हो सकती है कि ईश्वर सर्वव्यापक न हो? क्या ईश्वर की सर्वव्यापकता इसी ऐहिक जीवन के लिए है और मृत्यूत्तर जीवन के लिए नहीं? शायद ही कोई ऐसा ईश्वरवादी हो जो समझता होगा कि ईश्वर मानवों के मृत्यूत्तर जीवन में सीमित रूप धारण कर लेगा। अतः जबतक

१. न्यू एसेज—पृ० १२६।
२. न्यू एसेज—पृ० १२१, १२६।

ईश्वर को असीमित सत्ता मना जाएगा तबतक ईश्वर को सत्यापन-मिथ्यापन की कसौटी से परे और स्वतंत्र कहा जाएगा। पुनः, क्या मानव मृत्यूत्तर जीवन में स्वयं अपरिमित हो जायगा ? क्या वह ऐसा सर्वज्ञ हो जाएगा कि इस जीवन की सभी धुंधली बातों को वह स्पष्ट जानने लगेगा ? शायद ही कोई ईश्वरवादी इसे स्वीकार करेगा कि मृत्यु के बाद मानव ईश्वर के समान अपरिमित और सर्वज्ञ हो जाता है। अब यदि मानव मृत्यूत्तर जीवन में भी सीमित मानव रह जाता है तो इस जीवन की ई-कथन की समस्या ज्यों की त्यों बनी रह जाती है। मृत्यूत्तर जीवन की दुहाई देकर क्रौम्बी ने ई-कथन की सज्ञानात्मकता का समाधान नही किया है। उन्होंने इस समस्या को समस्या के रूप मे रखने का एक बहाना खोज लिया है। जबतक ईश्वर को अपरिमित सत्ता माना जाएगा और मानव को सीमित, तबतक ई-कथनों की कठिनाई ज्यों की त्यों बनी रहेगी। अत., मृत्यूत्तर अनुभूति के आधार पर ई-कथनों की सज्ञानात्मकता सिद्ध नहीं हो सकती है और यही बात हिक के सिद्धान्त में भी देखी जायगी।

ईश्वरवादी ज्ञान की संज्ञानात्मकता के प्रसंग में हिक का मत

हिक ने ईश्वरवादी ज्ञान को आस्था (फेथ) की संज्ञा दी और आस्था को वे सज्ञानात्मक मानते हैं। जॉन हिक के अनुसार आस्थामय ज्ञान की व्याख्या उसी प्रकार की जा सकती है जिस प्रकार प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा कर्त्तव्यों के नैतिक ज्ञान की व्याख्या होती है। सर्वप्रथम, जॉन हिक के अनुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्राप्ति मे असाक्षात् तथा गौण रूप से अर्थनिरूपण-प्रक्रिया बराबर पाई जाती है। कोई भी प्रत्यक्ष क्यों न हो, इसकी प्राप्ति में मानव मन अनेक प्रस्तुत तत्त्वों में से कुछ ही घटकों का चयन करता है और उन्हें सम्बद्ध तथा व्यवस्थित करता है*। यही बात नैतिक ज्ञान में देखी जाती है। हम किसी व्यक्ति को परिस्थिति मे देखते हैं और तब हम अपना निश्चित कर्त्तव्य इसी परिस्थिति में जानते हैं। उदाहरणार्थ, किसी स्त्री को यदि गुडे रिक्शा से उतार कर भगा ले जाना चाहते हैं और स्त्री सहायता के लिए चिल्लाती है। इसी स्थिति विशेष में प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को जान लेता है। यह ठीक है कि नैतिक कर्त्तव्यों का ज्ञान बिना वास्तविक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के संभव नहीं होता है। अतः, कर्त्तव्य-ज्ञान प्रत्यक्षों के माध्यम से उत्पन्न होता है। अब

* फेथ ऐंड नॉलेज—पृ० १२२, १२४।

प्रत्यक्ष तथा नैतिक ज्ञान की तुलना में ईश्वर-ज्ञान सम्पूर्ण अनुभूति के द्वारा निर्धारित किया जाता है। इसलिए ईश्वर-ज्ञान में सम्पूर्णत्व-द्वारा अर्थनिरूपण कार्य सम्पादित होता है। 'सम्पूर्ण अर्थनिरूपण' से तात्पर्य है कि व्यक्ति अपने भूत और वर्तमान की सभी अनुभूतियो की सर्वांगपूर्ण सामूहिकता के आधार पर ईश्वर-ज्ञान निर्धारित करता है[1]।

यह ठीक है कि ईश्वर ऐसी सत्ता नही है जिसकी वास्तविकता को प्रयोगात्मक रूप से सिद्ध किया जा सकता है। ऐसा कोई निरीक्षण या निर्णायक प्रयोग नही, जिसके यथार्थ होने से ईश्वर की वास्तविकता सत्यापित होगी अन्यथा ईश्वर का अस्तित्व मिथ्यापित हो जाएगा। इसका कारण है कि ईश्वर का अस्तित्व अनेकार्थक परिस्थिति तथा अनेक सम्भावनापूर्ण परिस्थिति मे से कुछ तथ्यों को चुनकर स्पष्ट किया जाता तथा अनुभूति-समूह के द्वारा सिद्ध किया जाता है। ब्रह्मांड अनेकार्थक, अनेकरूपी तथा बहुचित्री हुआ करता है। इस ब्रह्मांड को विविध रूप मे देखकर ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी दोनों अपने-अपने ढंग से इसे निश्चित कर लेते हैं[2]। इसलिए हिक के अनुसार ब्रह्मांड की अनीश्वरवादी तथा ईश्वरवादी व्याख्या करने मे प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त संज्ञानात्मक स्वतंत्रता रहती है। यह ठीक है कि यह संज्ञानात्मक स्वतंत्रता बाह्य जगत् के प्रत्यक्षीकरण मे कम आवश्यक होती है। क्योंकि हमे बाह्य वस्तुएँ अपनी ओर ध्यानस्थ होने के लिए बराबर बाध्य करती रहती है और मानव प्रकृति भी ऐसी बन गई है कि मानव ने बाह्य परिस्थिति के प्रति अनुक्रियाशील होकर अपनी अनुभूतियो को घिस-पीटकर उसके प्रति एकरूप बना लिया है। अतः, बाह्य वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण में मानव को अपनी संज्ञानात्मक स्वतंत्रता को काम मे लाने की विशेष आवश्यकता नही पड़ती है। परन्तु यह बात कर्त्तव्य-ज्ञान के सबध मे नही कही जा सकती है। कर्त्तव्य-निर्धारण मे कभी भी व्यक्ति निष्क्रिय एवं तटस्थ नही रह सकता है। प्रत्येक वास्तविक स्थिति मे कर्त्तव्यक्षेत्र के समझने मे व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अन्तर्ग्रस्त हो जाता है। इसलिए कर्त्तव्य-निरूपण मे संज्ञानात्मक स्वतत्रता बहुत अधिक व्यवहृत होती है। अब ईश्वर-ज्ञान मे यह संज्ञानात्मक स्वतत्रता अपनी पराकाष्ठा में पाई जाती है। इसका कारण है कि ईश्वर एक व्यक्तित्व-

---

१. फेथ एंड नॉलेज—पृ० १३४, १६५।

२. फेथ एंड नॉलेज—पृ० १४५, दि एक्जिस्टेंस आव गॉड—पृ० २६८।

पूर्ण महान सत्ता है[1]। हिक के अनुसार हम अपने साथी मानव के व्यक्तित्व को उसके व्यवहार के द्वारा जानते हैं, परन्तु ईश्वर शरीरी नहीं है। इसलिए हम ईश्वर को सम्पूर्ण विश्व के माध्यम से जान सकते हैं। फिर ईश्वर का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने को गुह्य रखता है। क्योंकि ईश्वर ने मानव को स्वतंत्र बनाया है और वह मानव की इस स्वतंत्रता की संरक्षा करना चाहता है। सही ईश्वर-ज्ञान वही है जिसमें मानव अपनी स्वतंत्र इच्छा के द्वारा ईश्वर की उपस्थिति का बोध करे और अपने को ईश्वर का चरणरज समझकर उनके प्रति अपना आत्मसमर्पण करे। इसके विपरीत यदि ईश्वर अपने महान व्यक्तित्व को मानव पर अभिव्यक्त करे, तो इसका क्या परिणाम होगा ?

यदि ईश्वर अपने को मानव के लिए उसी प्रकार प्रकट करे जिस प्रकार भौतिक जगत् का प्रकाशन मानव के लिए होता है तो मानव का व्यक्तित्व ईश्वर के महान व्यक्तित्व के दबदबा मे आकर नगण्य हो जाएगा। उदाहरणार्थ, यदि इन्दिरा गांधी के समक्ष कोई दरिद्र ग्रामीण स्त्री को प्रस्तुत किया जाए तो ग्रामीण स्त्री हक्का-बक्का हो जाएगी,—उसका स्वत्व अथवा व्यक्तित्व काफूर हो जाएगा। अब जो अनुपात ग्रामीण औरत और इन्दिरा गाधी के बीच के अन्तर मे पाया जाता है उससे कही अधिक अनुपात मे मानव और ईश्वर के बीच अन्तर पाया जाता है। ईश्वर, जिसने मानव को स्वतन्त्र बनाया है, नहीं चाहता है कि मानव की स्वतन्त्रता लुप्त हो जाए और बिना अपनी इच्छा के वह केवल ईश्वर के बलात् प्रदर्शन से ही उसकी उपासना करे, इसलिए ईश्वर अपने को गुह्य रखता है। ईश्वर चाहता है कि मानव अपनी स्वतंत्रता को उचित रूप मे प्रयुक्त करके ईश्वर का बोधन करे और उसे पहचान कर उसकी उपासना करे[2]।

ईश्वर-बोधन सम्पूर्ण विश्व के माध्यम से होता है और फिर यह विश्व भी बहुरूपी तथा बहुचित्री हुआ करता है। न तो मानव को सम्पूर्ण विश्व का पूर्णज्ञान होता है और न इस विश्व के ज्ञान से ईश्वर का अस्तित्व असंदिग्ध रीति से स्पष्ट होता है। यह विश्व मानों एक बुझव्वल चित्र है जिसे हम रहस्यमय समझकर ध्यानपूर्वक देखते हैं और हम अपनी संज्ञानात्मक स्वतन्त्रता

---

१ फेथ एंड नॉलेज—पृ. १७०-१७२।
२ फेथ एंड नॉलेज—पृ. १७९।

को काम में लाकर ही इस बुझव्वल चित्र में ईश्वर का भान कर सकते हैं[१]। क्या इस बुझव्वल चित्र में ईश्वर का बोध करना व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति है ? क्या हम कह सकते हैं कि वास्तव में इस बुझव्वल चित्र में ईश्वर वास्तविक नहीं दिखता है ? यह तो द्रष्टा की केवल अपनी दमित तथा दबी हुई इच्छा का आरोपणमात्र है। क्या अधिक से अधिक यही नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर-बोधन विश्व के प्रति केवल भावपूर्ण अभिवृत्ति-मात्र है ? अनीश्वरवादी यह भी मान सकता है कि इस ईश्वर-बोधन से व्यक्ति के अन्दर चेतना की गहराई अनुभूत होती है, व्यक्ति के जीवन मे सार्थकता आती है। लेकिन इन अनुभूतियो के अतिरिक्त वास्तव मे कोई ईश्वर-नामक स्वतत्र बाह्य तथा अतीत सत्ता नहीं है[२]। परन्तु हिक के अनुसार ईश्वर 'मानव की बहुमूल्य अनुभूतियों' का नाम नही है। वास्तव मे ईश्वर एक स्वतंत्र और अतीत सत्ता है जिसे मानव भान करता है और इस ईश्वर की अनुभूति को सम्मुखीपन की संज्ञा दी जा सकती है। जिसने ईश्वर का बोध किया है उसका सम्पूर्ण जीवन बदल जाता है, उसकी संज्ञानात्मक तथा नैतिक प्रक्रियाएँ भी बदल जाती हैं। इस स्थिति मे वही व्यक्ति किसी दूसरी दुनिया को अनुभूत नही करता है, वरन् एक नया परिवर्तित व्यक्ति पुरानी दुनिया को नये रूप मे देखता है। उसके लिए सम्पूर्ण विश्व ईश्वर का राग अलापता है और उसका गुणगान करता है[३]। अतः ई-कथन वास्तव मे तथ्यात्मक है। अब इसे कैसे तथ्यात्मक सिद्ध किया जाए ?

हिक का कहना है कि मृत्यूत्तर जीवन की प्रत्याशा के आधार पर ई-कथन को सत्याप्य कहा जा सकता है और इसलिए इसे तथ्यात्मक भी माना जा सकता है। यह ठीक है कि मृत्यूत्तर सत्यापन को असममित ही कहा जा सकता है, क्योकि यदि अनुजीवन सभव होता है तो ई-कथन का सत्यापन हो जाता है। परन्तु यदि अनुजीवन ही संभव नही होता है तो सिद्धान्तः मृत्यूत्तर जीवन का मिथ्यापन नहीं जाना जा सकता है, अर्थात् मृत्यूत्तर जीवन का सत्यापन संभव है, परन्तु इसके मिथ्यापन के सबध में (यदि वास्तव मे मृत्यूत्तर जीवन नही होता है) कोई कहनेवाला हो ही नही सकता है[४]। पर क्या इस

---

१. वही—पृ. १८५-१८६।

२. फेथ ऐंड नॉलेज पृ० १८७, १८८।

३. वही—पृ० १८९।

४ फेथ ऐंड लॉजिक—पृ० १५०।

प्रकार के संदेहयुक्त मृत्यूत्तर जीवन की अनुभूति के आधार पर ई-कथन को तथ्यात्मक माना जा सकता है ?

हमलोग क्रॉम्बी के मत के संबंध में मृत्यूत्तर जीवन की अनुभूति की आलोचना कर चुके हैं और इन आपत्तियों को ध्यान मे रखकर हिक ने फेथ ऐंड लॉजिक के मृत्यूत्तर सत्यापन-सिद्धान्त को फिर से अधिक परिशुद्ध कर 'दि एक्जिस्टेंस ग्राव गॉड' मे प्रस्तुत किया है। यहाँ उन्होंने बताया है कि ई-कथन के सत्यापन के लिए दो धार्मिक शर्तों को नहीं भूलना चाहिए[1]।

(१) ईश्वर के द्वारा उस उद्देश्य की पूर्ति का अनुभव होना चाहिए जिस महान उद्देश्य को ईश्वर ने मानव के लिए सृष्टि के प्रयोजन फलस्वरूप निर्धारित की है। इस उद्देश्यपूर्ति की अनुभूति इस जीवन मे भी सभव है और विशेषकर मृत्यूत्तर जीवन मे भी।

(२) फिर पहली शर्त के साथ अवियोज्य रूप से ईश्वर-सायुज्य की उसी प्रकार की अनुभूति प्राप्त होनी चाहिए जिस प्रकार की अनुभूति का उल्लेख ईसा ने ईश्वर-सायुज्य के अनुभव का किया गया है।

ईश्वर ने मानव के लिए यही उद्देश्य निर्धारित किया है कि मानव का अपना व्यक्तित्व सवर्धित एव पूर्णतया विकसित हो और उसके अन्दर इस व्यक्तित्व-विकास के फलस्वरूप उच्च स्तर की अनुभूति का संचार होना चाहिए तथा इस अनुभूति मे नित्यता का भान होना चाहिए। अब यह संभव है कि पूर्ण आनन्द, शुचित्व तथा नित्यता की अनुभूति व्यक्तिनिष्ठ हो। इसलिए इस उच्च स्तरीय अनुभूति के साथ ईश्वर-सायुज्य रहना चाहिए और मृत्यूत्तर जीवन में ईश्वर-दर्शन होना चाहिए ताकि स्पष्ट रहे कि ब्रह्मानद व्यक्तिनिष्ठ नही, वरन् वास्तिवक एवं अतीत ईश्वर के सायुज्य से उत्पन्न होता है[2]।

उपर्युक्त दोनो शर्तों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि मृत्यूत्तर सत्यापन वह है जिसमें ईश्वर-विषयक स्थिति ऐसी है कि वह निश्चित रूप से ईश्वर की वास्तविकता को सिद्ध कर दे[3]। पर क्या मृत्यूत्तर अनुभव इतना संशयहीन अथवा निश्चित है कि ईश्वर अनायास सभी को ज्ञात हो जाएगा ? हिक जानते हैं कि मृत्यूत्तर अनुभूति भी न तो सर्वज्ञता की होती है और न ईश्वर का साक्षात् दर्शन ही हो सकता है। इसलिए हिक के अनुसार

१. दि एक्जिस्टेंस—पृ० २१६।
२. दि एक्जिस्टेंस—पृ० २१७, २७३।
३. वही—पृ० २१८।

केवल उन व्यक्तियों को मृत्यूत्तर जीवन में ईश्वर का दीदार हो सकता है जो ईश्वर-निष्ठा के फलस्वरूप ईश्वर के प्रति उद्‌बुद्ध हो चुके हैं और फिर जिन्होंने इस पार्थिव जीवन मे आस्था के द्वारा ईश्वर के निकट पहुँचते-पहुँचते अनायास ही ईश्वर की उपस्थिति का आस्वादन किया है*।

आलोचना :

इसमें संदेह नही कि हिक सच्चे ईसाई हैं और उन्होंने दार्शनिक स्तर पर ईसाई जीवन और उसके चरम लक्ष्य की ओर स्पष्टतापूर्वक हमारा मार्गदर्शन किया है। परन्तु क्या इनका उद्देश्य यही था कि ईसाइयों के बीच सज्ञापन अथवा संगोष्ठी की जाए? ईसाई आपस में विचार-विमर्श करते ही रहते हैं, पर क्या परियों के विषय मे विचार-विमर्श नही होता? क्या भूत-प्रेत के विषय मे विचार-विमर्श नही होता? क्या वर्गहीन, वर्णविचार-विहीन इत्यादि काल्पनिक समाज हमारी गोष्ठी का विषय नही होता? प्रश्न यह है कि क्या ऐसी सार्वजनिक, सामान्य तथा पुनरावृत्तीय अनुभूति बत ई जा सकती है जिसके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को वास्तविक सिद्ध किया जा सकता है? हिक इस प्रयास मे सर्वथा विफल रहे हैं। हिक ईश्वर का अतीत तथा स्वतन्त्र तथ्य सिद्ध करने मे असमर्थ रहे हैं। उन्होंने इतना ही भर दिखाया है कि ईश्वर 'धार्मिक तथ्य' है। परन्तु यह तो सभी मानते है कि ईश्वर धार्मिक तथ्य' है। इसे सिद्ध करने के लिए आकाश-पाताल एक करने की कौन-सी आवश्यकता आ पड़ी थी? अब हमे देखना है कि हिक के सिद्धान्त मे दार्शनिक दृष्टि से क्या दोष है?

हिक ने ईश्वर के स्वरूप के सबंध मे कहा है कि ईश्वर सीमित तथा सृष्ट जीवो की स्वतंत्रता की संरक्षा के हेतु गुह्य रहता है। इसलिए ईश्वर का बोध न तो साक्षात् रूप से पार्थिव जीवन मे और न मृत्यूत्तर जीवन मे हो सकता है। इसलिए ईश्वर बुझव्वल चित्र में गुह्य वस्तु के समान है और प्रयास करने पर उसका थोडा-बहुत भान हो सकता है। इसलिए यदि कोई चाहें तो ईश्वरवादी हो सकता है, पर अनीश्वरवादी की भी संभावना ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

जाकि रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।

जहाँ किसी भी अनुभूति का विविध अर्थनिरूपण तथा परस्परविरोधी चित्रण

---

* वही—पृ० २७३।

संभव है, वहाँ जो कुछ भी होगा वह काल्पनिक रचना होगी। अतः हिक ने सज्ञानात्मक स्वतन्त्रता के नाम पर ईश्वरवाद तथा अनीश्वरवाद दोनो की बराबर संभावना मानकर असाक्षात् रूप से ईश्वरवाद को काल्पनिक रचना मान लेने का प्रश्रय दिया है। यह ठीक है कि ईश्वरवाद को काल्पनिक रचना होने से बचाने के लिए आपने कहा है कि ईश्वर का भान विश्वासी व्यक्ति को बरबश हो जाता है। परन्तु यह बात 'विश्वासी' के लिए है, न कि सभी व्यक्तियो के लिए।

पुनः प्रारंभ मे ही हिक ने बताया कि ईश्वर ज्ञान मानव की सामूहिक अनुभूति के फलस्वरूप होता है। उनके अनुसार ईश्वर-ज्ञान मे मानव की समस्त अनुभूति के आधार पर अर्थनिरूपण की व्यवस्था पाई जाती है। क्या इस प्रकार के ज्ञान को तत्वमीमासात्मक नही माना जाएगा और यदि ऐसी बात हो तो इस तत्त्वमीमांसात्मक ई-कथन को कैसे तथ्यात्मक स्वीकार किया जाए ? कम-से-कम समकालीन दार्शनिक विचारधारा में तत्त्वमीमांसात्मक ज्ञान को तथ्यात्मक स्वीकार नही किया जा सकता है।

पुनः, हिक ने बताया है कि ज्ञान प्राप्ति की जिस धार्मिक विधि द्वारा ईश्वर का भान होता है, वह 'आस्था' कहा जा सकता है*। यह ठीक है कि हिक आस्थामय अनुभूति को संज्ञानात्मक मानते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। वास्तव में आस्था को असंज्ञानात्मक समझना चाहिए और इसलिए ई-कथन को हिक ने आस्थामय प्रकथन मानकर इसकी संज्ञानात्मक को पुष्ट करने के स्थान पर इसे असंज्ञानात्मवता मे बदल दिया है। इसी प्रकार हिक ने ई-कथन को नैतिक ज्ञान के समान माना है। परन्तु शायद ही समकालीन विचारधारा मे नैतिक निर्णय को संज्ञानात्मक माना जाएगा। इसलिए हिक ई-कथन को संज्ञानात्मक नही सिद्ध कर पाए है।

परन्तु स्वयं हिक समझते हैं कि ई-कथन को संज्ञानात्मक मानने का मुख्य कारण यह है कि ई-कथनों का सत्यापन मृत्यूत्तर अनुभूति के द्वारा किया जा सकता है और यदि ये ई-कथन सत्याप्य सिद्ध होगे तो इन्हे संज्ञानात्मक माना जा सकता है। हिक और फ्लॉम्बी के द्वारा प्रस्तुत मृत्यूत्तर सत्यापन की पर्याप्त आलोचना धर्मदार्शनिको ने की है जिसका उल्लेख फ्लॉम्बी के मत के संबंध में कर दिया गया है। परन्तु उन आपत्तियों के बावजूद हिक अभी तक मृत्यूत्तर सत्यापन को ई-कथन की संज्ञानात्मकता सिद्ध करने के लिए एकमात्र संगत

* दि एक्जिस्टेंस—पृ० २७३।

विचार समझते हैं[1]। उन्होंने कुछ आपत्तियों का प्रत्युत्तर भी किया है। परन्तु लेखक की समझ में आपके मत की कहीं वास्तविक पुष्टि नहीं हो पाई है।

(क) कम-से-कम कॉम्बी ने स्पष्ट रूप से माना है कि यदि मृत्यूत्तर जीवन भी हो तो इस मृत्यूत्तर जीवन की अनुभूति अभी तक संज्ञाप्य नही सिद्ध हो पाई है। इसलिए यदि अनुजीवन भी हो तो भी इस ऐहिक जीवन में मानव को इसके संबंध मे किसी भी प्रकार का निश्चित ज्ञान नही है। अतः मृत्यूत्तर जीवन की बात धार्मिक विश्वास का विषय है, न कि वैज्ञानिक तथा साधारण अनुभूति का।

(ख) हमलोगों ने 'अमरता की समस्या' नामक अध्याय—६ मे देखा है कि मृत्यूत्तर जीवन के संबंध मे यह आपत्ति उठाई गई है कि 'अनुजीवन' का प्रत्यय ही आत्मविरोधी है। यदि मृत्यु हो जाती है तो मृत व्यक्ति के जीवित रहने की बात ही कहां उठती है। क्या एक ही व्यक्ति को हम 'मृत' और 'जीवित' दोनों एक साथ बता सकते हैं ? इसके प्रत्युत्तर मे हिक का कहना है कि मरने के बाद ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति को एक नयी देह देकर और पुरानी स्मृति उस व्यक्ति में उत्पन्न कर उसे स्वर्गीय वातावरण में रख सकता है। इस नई देह और वातावरण में फिर से ईश्वर-द्वारा सृष्ट जीवन को अनुजीवित कहा जा सकता है और इस अनुजीवन में आत्मविरोध नही आता है, क्योंकि भौतिक देह के बदले नइ देह की प्राप्ति होती है। यह ठीक है कि हिक व्यक्ति की मृत्यु मानकर अनुजीवन की सभावना सिद्ध करने के लिए ईश्वर-द्वारा व्यक्ति के पुनर्जीवन की बात बता रहे हैं[2]। पर क्या ईश्वर के द्वारा व्यक्ति के पुनरुथान को सामान्य बात कही जाएगी ? क्या यह एक स्वय विश्वास की बात नहीं है ? फिर देह को बिना भौतिक हुए 'देह' कहना साधारण भाषा से मेल खाता है ? अतः, नई देह और पुनरुथान की कथा कहकर हिक ने मृत्यूत्तर जीवन को धार्मिक विश्वास का विषय बना लिया है। परन्तु धार्मिक विश्लेषण में इन्द्रिय-अनुभूति अथवा किसी भी साधारण अनुभूति को ही सत्यापन-मिथ्यापन का आधार माना जाता है। अब मृत्यूत्तर अनुभूति ऐसा विलक्षण धार्मिक विश्वास का विषय है कि इसके आधार पर

---

१. दि एक्जिस्टेंस—पृ० २१९।
२. दि एक्जिस्टेंस आव गॉड—पृ० २६७।

ई-कथन को किसी विलक्षण अर्थ में ही तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक समझा जा सकता है।

(ग) फिर यदि अनुजीवन हो भी जाए तो इसकी क्या गारंटी है कि मानव अनुभूति अधिक तीव्र और स्पष्ट हो जाएगी ? ईश्वर के दीदार अथवा भगवत्-दर्शन की कथा एक दूसरी ईसाइयत की मान्यता है और इसे भी विश्वास-वचन ही कहा जाएगा, न कि साधारण, सामान्य, सार्वजनिक तथा ऐच्छिक रूप से पुनरावृत्तीय अनुभूति। यदि ईश्वर वास्तव में असीमित सत्ता है तो उसका कभी स्पष्ट भान नहीं हो सकता है, क्योंकि सीमित ज्ञान, प्रत्यक्ष तथा अनुभूति का विषय सीमित ही हो सकता है। अतः, मृत्यूत्तर जीवन की शुद्ध तथा संवर्धित अनुभूति के द्वारा भी ईश्वर का संज्ञान संभव नहीं है।

(घ) हिक मृत्यूत्तर जीवन के ईश्वर-सायुज्य की बात करते हैं। परन्तु यह सायुज्य उसी प्रकार का हो सकता है जो सन्तों को इस जीवन में भी प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में यदि सांसारिक जीवन के ईश्वर-सायुज्य से ई-कथन की संज्ञानात्मकता सिद्ध नहीं होती है तो यही बात मृत्यूत्तर ईश्वर-सायुज्य के साथ भी लागू होती है। और यदि मृत्यूत्तर ईश्वर-सायुज्य सांसारिक ईश्वर-सायुज्य से एकदम भिन्न होती है तो इसकी चर्चा इस संसार में तर्कसंगत रूप से नहीं की जा सकती है। इसलिए ईश्वर-सायुज्य के द्वारा भक्तों की आस्था पुष्ट हो सकती है, परन्तु इसके आधार पर ई-कथन की संज्ञानात्मकता नहीं सिद्ध होती है।

तब हिक ने बार-बार धार्मिक विश्वास और धार्मिक अनुष्ठान की दुहाई दी है और यह ठीक है कि प्रत्येक धर्म की धर्मभाषा उस धर्म के अनुयायियों के लिए संगोष्ठी और संज्ञापन का विषय होता है। परन्तु इस संज्ञापन से ई-कथन की संज्ञानात्मकता सिद्ध नहीं होती है। भाव और उद्बोधि के निमित्त भी भाषा का प्रयोग हो सकता है और ई-कथन को भी अन्त में दृढ विश्वासमूलक बताया जा सकता है। ई-कथन से ईश्वर का तथ्य नहीं, परन्तु भक्त की अभिवृत्ति का परिचय मिलता है और ई-कथन इसी अभिवृत्ति को संसूचित करता है।

अर्द्ध संज्ञानात्मक सिद्धान्त (II)

अभी तक हमलोगों ने देखा है कि फ्लू-फिडले ने दिखाया है कि यदि ई-कथन संज्ञानात्मक माने जाएँ तो अन्त में वे या तो खोखले सिद्ध हो जाते हैं

(फ्लू) या आत्मविरोधी (फिंडले)। इस निष्कर्ष के प्रतिपक्ष में विल्सन, रामजे, क्रॉम्बी तथा हिक ने प्रयास किया है कि वे ई-कथन की संज्ञानात्मकता को स्पष्ट कर दें। हमारा यह निष्कर्ष हुआ कि ई-कथन की प्रतिरक्षा मे क्रॉम्बी, हिक इत्यादि विफल रहे हैं। इस विफलता के क्या मुख्य कारण रहे हैं ?

(क) पहला कारण है कि ईश्वर को अपरिमित और अनिवार्य सत्ता माना गया है और इसकी तुलना मे मानव को परिमित तथा आपातिक जीव माना गया है। जब मानव और ईश्वर मे इतनी बड़ी खाई उत्पन्न हो गई है तो इस खाई को कैसे पाटा जाए ? किसी भी प्रकार से उचित रूप मे वे शब्द जो मानव के लिए उपयुक्त माने जाते है, ईश्वर के लिए प्रयुक्त नही किए जा सकते है। फिर यदि ईश्वर अपरिमित है तो उसे कैसे सीमित अनुभूति के सूचक शब्दो के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है ?

(ख) दूसरा मुख्य कारण यह है कि ईश्वरवाद मे ईश्वर उपास्य माना जाता है और उपास्य होने के लिए भक्त और भगवान के बीच भेद होना चाहिए। पाश्चात्य ईश्वरवाद मे इस भेद को व्यक्त करने के लिए कहा जाता है कि ईश्वर मानव और सभी सृष्टि से अतीत, परे और स्वतत्र है। परन्तु यदि ईश्वर मानव से अतीत हो तो फिर उसका ज्ञान मानव ज्ञान से परे और स्वतत्र हो जाता है। ऐसी स्थिति मे ईश्वर के संबध मे मानव अनुभूति सूचक शब्दों को ईश्वर के प्रति प्रयुक्त करने में अपर्याप्तता का दोष लग जाता है। और यदि ईश्वर के संबध में किसी भी शब्द को काम मे नही लाया जाए तो अन्त में ईश्वर अज्ञेय हो जाएगा, और अज्ञेय एवं अज्ञात ईश्वर उपास्य नहीं रहेगा। अत:, ईश्वर के संबंध में विरोधाभास उत्पन्न हो जाएगा।

अपरिमित, अनिवार्य तथा अतीत ईश्वर को शब्दो के द्वारा व्यक्त करने में तीन विकल्प संभव हो सकते हैं, अर्थात् (१) यदि ईश्वर और पार्थिक वस्तुओ को वर्णित करने के लिए एक ही प्रकार के शब्दों को उपयुक्त माना जाए। उदाहरणार्थ, मानव ज्ञानी होता है और इसी 'ज्ञानी' के अर्थ में ईश्वर को भी 'ज्ञानी' कहा जाए। इसे एकार्थक सिद्धान्त कहा जाता है, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर और मानव के लिए किसी भी शब्द को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। दूसरे शब्दों में मानव के संबंध में सभी शब्द अक्षरशः ईश्वर के लिए उपयुक्त समझे जाते हैं। एकार्थक सिद्धान्त का दोष यह है कि

हम समझ लेते हैं कि ईश्वर मानव के समान इच्छा, अभिलाषा तथा कामना रखता है। अब ईश्वर और मानव को एक ही स्तरीय सत्ता मान लेने से मनुष्यत्वारोपण का दोष चला आता है। फिर ईश्वर को सीमित मानव समझकर उसकी उपासना को मूर्तिपूजा भी कहा जा सकता है।

(२) इस मूर्तिपूजा के दोष से बचने के लिए अनेकार्थक सिद्धान्त की रचना की गयी है। अनेकार्थक सिद्धान्त के अनुसार किसी भी शब्द को हम ईश्वर और मानव के लिए विभिन्न अर्थ मे काम मे लाते हैं। उदहरणार्थ जब हम कहते है कि ईश्वर इस जगत से प्रेम करता है, तब अनेकार्थक सिद्धांत के अनुसार 'प्रेम' शब्द को ईश्वर के लिए अक्षरशः नही प्रयुक्त किया जा सकता है। यहाँ हम इतना ही भर कह सकते हैं कि ईश्वर का प्रेम, पिता का प्रेम नही, पुत्र का प्रेम नही, स्त्री का प्रेम नही इत्यादि। इस प्रकार से यदि ईश्वर के सबध में शब्दो को अक्षरशः नही प्रयुक्त किया जाए, तो यह सिद्धान्त नकारात्मक सिद्ध हो जाता है। परन्तु शायद ही कोई ईश्वरवादी स्वीकार करे कि ईश्वर के संबध मे किसी भी शब्द को प्रयुक्त नही किया जा सकता है।

(३) अब यदि स्वीकार कर लिया जाए कि ईश्वर है और मानव की तुलना मे वह अपरिमित और अनिवार्य सत्ता है और फिर उसके संबंध मे ससूचनात्मक कथन प्रयुक्त होते है तो यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि ई-कथन मे प्रयुक्त पद न तो पूर्णतया एकार्थक हो सकते हैं और न अनेकार्थक। जो पद ई-कथन में प्रयुक्त होते है उन्हे किसी अर्थ मे ईश्वर-विषयक माना जा सकता है, यद्यपि इन पदो को अक्षरशः नही स्वीकार किया जा सकता है। इस बात को दिखाने के लिए कि ई-कथन मे प्रयुक्त पद असाधारण अर्थ मे प्रयुक्त होते हुए भी संसूचनात्मक कहे जा सकते है, साम्यानुमान का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। साम्यानुमान का मुख्य उद्देश्य है कि ई-कथन मे प्रयुक्त शब्दों का उचित अर्थ में स्पष्टीकरण किया जाए। साम्यानुमान-सिद्धान्त तीन बातों को व्यक्त करना चाहता है :—

(i) साम्यानुमान के अनुसार ईश्वर को अतीत समझना चाहिए।

(ii) ईश्वरवैज्ञानिक, अर्थात् ईश्वरवादी धर्मभाषा को सुबोध तथा बुद्धिगम्य दिखाना चाहिए।

(iii) अन्त में स्पष्ट कर देना चाहिए कि मानव अनुभूति के आधार पर ईश्वर का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

इन तीनों लक्ष्यों को ध्यान में रखकर टामस अक्वाइनस ने (१२५-१२७४) साम्यानुमान का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। रोमन कैथलिक ईसाई धर्मदर्शन में टामस अक्वाइनस को प्रमुख धर्मदार्शनिक माना जाता है और इस साम्यानुमान को विशेष सिद्धान्त समझा जाता है। पॉल तीलिख १८८६-१९६६) तथा ईयन रामजे भी अपने सिद्धान्त को साम्यानुमान का ही सशोधित रूप मानते हैं। साम्यानुमान के दो मुख्य रूप हैं, अर्थात् विशेषणारोपण साम्यानुमान (अनालोजी आव अट्रिब्यूशन) तथा अनुपातमूलक साम्यानुमान (अनालोजी आव प्रपोर्शन)। अब दोनों रूपों की व्याख्या की जाएगी।

विशेषणारोपण साम्यानुमान

ईश्वर के संबंध में दो परस्पर-विरोधी अवधारणाएँ हैं : (क) ईश्वर अपनी सम्पूर्ण-सृष्टि से अतीत है और विश्व की सभी वस्तुओं से भिन्न है। 'अतीत' शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं। परन्तु अक्वाइनस के लिए 'अतीत' से तात्पर्य है कि ईश्वर मानव नहीं है और कोई भी मानव ईश्वर के साथ तादात्म्य नहीं कर सकता है। साथ ही साथ अक्वाइनस का यह भी कहना है कि ईसाई ई-कथन को संसूचनात्मक और सत्य मानना चाहिए। इसी विरोधाभास के रूप में साम्यानुमान संभव है, अन्यथा नहीं। अत, ईश्वर के संबंध में कोई भी शब्द अक्षरशः सत्य नहीं हो सकता, तो भी ये शब्द ईश्वर के संबंध में संसूचनात्मक और सत्य हैं। इसी विरोधात्मक बात को स्पष्ट करने के लिए एक रीति से विशेषणारोपण साम्यनुमान की मदद ली गयी है। विशेषणारोपण साम्यानुमान को निम्नलिखित रूप से व्यक्त किया गया है :*

(क) और (ख) में 'ट' पद को विशेषणारोपित साम्यानुमान कहा जाएगा,

यदि १. दो या दो से अधिक निश्चितार्थक वाक्यों में 'ट' विधेय के रूप प्रयुक्त हो; उदाहरणार्थ, (क) 'फ है ट', (ख) 'ग है ट'।

२. (क) में 'ट' फ के ट-गुण का बोध करता है।

---

* साम्यानुसार पर अनेक लेख लिखे गए हैं और उनमें से कुछ का उल्लेख ग्रंथसूची में किया जाएगा। यहाँ इस पुस्तक में लेखक ने जेम्स एफ० रॉस, अनालोजी ऐज ए रूल आव मीनिंग नामक लेख से बहुत मदद ली है जिसे अन्थूनी केनी की सम्पादकता में ,अक्वाइनस' नामक पुस्तक में उद्धृत किया गया है।

३. (ख) में ग और फ के बीच उस संबंध का बोध करता है जिसमें फ के ट-गुण का या तो ग कारण या कार्य होता है या फ के ट-गुण के हेतु प्रभावान्वित होता है।

(क) जिम (कुत्ता) है स्वस्थ।

(ख) जिम का भूँकना है स्वस्थ॥

यहाँ (क) मे प्रयुक्त उद्देश्य 'जिम कुत्ते' को प्राथमिक तुल्यरूप पद (अनालोगेट) कहा जा सकता है और (ख) में प्रयुक्त 'भूँकने' पद को अप्राथमिक तुल्यरूप पद कहा जा सकता है। जब (ख) में कहा जाता है कि भूँकना स्वस्थ है तो 'स्वस्थ' विधेयपद, 'भूँकने' के विषय में कुछ अवश्य बोध करता है, पर साथ-ही-साथ यह प्राथमिक तुल्यरूप-पद 'कुत्ता' पर भी प्रकाश डालता है। यहाँ समझा जाता है कि 'स्वस्थ भूँकना' कुत्ते के स्वास्थ्य का सूचक है। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि :

(ग) औषध स्वस्थ है।

यहाँ 'स्वस्थ' औषध के गुण का बोध अवश्य कराता है, पर साथ-ही-साथ यह भी बताता है कि 'स्वस्थ औषध' जिम कुत्ते के स्वास्थ्य का साधन है।

अतः, विशेषणरोपण साम्यानुमान के अनुसार प्राथमिक (जिम कुत्ता) और अप्राथमिक 'भूँकना' (ख) तथा औषध (ग) के बीच कारण-कार्य, करणत्व तथा लक्षण इत्यादि का संबंध रहना चाहिए। यहाँ प्राथमिक तुल्यरूप पद वह है जिसमें अमुक विधेय पद ,स्वस्थ) उचित रूप मे पाया जाता है और अप्राथमिक पद के प्राथमिक उद्देश्य पद के साथ कारण-कार्य इत्यादि की संबद्धता के ही कारण असाक्षात् रूप से अप्राथमिक उद्देश्य (भूँकना, औषध के लिए काम में लाया जाता है। वास्तव में 'स्वस्थ विधेय को उचित रूप में केवल जिम कुत्ते के लिए प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु चूँकि 'स्वस्थ भूँकने' को कुत्ते के स्वास्थ्य का लक्षण माना जाता है और चूँकि औषध को स्वास्थ्य-संरक्षा का साधन समझा जाता है, इसलिए भूँकने और औषध को भी साम्यानुमानिक रीति से स्वस्थ कहा गया है।

फिर 'स्वस्थ' विधेयपद को एक ही अर्थ में (क), (ख) और (ग) में प्रयुक्त किया गया है।

सभी प्रकार की पूर्णता ईश्वर में पाई जाती है और ईश्वर में गुणों की पूर्णता का हमें ज्ञान भी नहीं हो सकता है। परन्तु ईश्वर ने मानव की रचना

की है और ईश्वर को इस विश्व का कारण (आदि) कहा जा सकता है। अतः, मानव के अन्दर जो भी उदात्त गुण हैं वे असीमित रूप से ईश्वर में पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, ज्ञान, बुद्धि, दया, प्रेम इत्यादि उदात्त गुण ईश्वर में भी निहित समझे जा सकते हैं। यह ठीक है कि ईश्वरीय दया, प्रेम, बुद्धि इत्यादि इतनी अपरिमित मात्रा मे पाई जाती है कि मानव उसका अदाजा भी नही लगा सकता है, तो भी ये गुण ईश्वर मे अवश्य पाए जाते है क्योंकि ईश्वर ही मानव का आदिकारण है और जो कुछ मानव मे भावात्मक रूप से है, वे ईश्वर से ही प्राप्त हुए है। ध्यान मे रखने की बात है कि ईश्वरीय दया, प्रेम ज्ञान, बुद्धि इत्यादि की मानव भावना अपर्याप्त है। जिस प्रकार भिखारी कुबेर के धन का अदाजा नही लगा सकता है और जितना भी अधिक धन की बात वह कुबेर के प्रसग मे समझेगा, वह कुबेर के लिए न्यूनतम धन ही होगा, उसी प्रकार ईश्वरीय प्रेम, ज्ञान इत्यादि इतने उच्चतम स्तर के हैं कि मानव प्रत्यय कितने ही दूर तक क्यों नही विचारे जाएँ वे ईश्वर के संबध मे बहुत कम मात्रा के सिद्ध होगे। अतः, ईश्वर के लिए प्रयुक्त दया, ज्ञान, बुद्धि, प्रेम इत्यादि के प्रत्यय ईश्वर की पूर्णता की तुलना मे निम्नतम स्तर के माने जाएँगे, न कि पर्याप्त समझे जाएँगे। इस-लिए मानव के लिए पर्याप्त तथा उचित गुण (दया, प्रेम इत्यादि) ईश्वर मे आरोपित किए जाते हैं परन्तु ईश्वर के लिए उन्हे उचित नही मानना चाहिए। परन्तु इन गुणो के आधार पर ईश्वर के विषय मे संसूचना अवश्य मिलती है। मानव गुण ईश्वर के विषय मे अपर्याप्त होते हुए ससूचनात्मक होते हैं, इसे अक्वाइनस ने साम्यानुमान के मुख्य रूप अनुपातमूलक साम्यानुमान के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

अनुपातित्वमूलक साम्यानुमान

ट' पद (क) और (ख) मे अनुपातित्वमूलक साम्यानुमान रीति से संबद्ध है,

यदि (१) 'ट' दो या दो से अधिक संवाक्यों में निम्नलिखित रूप मे पाया जाए,

(क) 'क' है 'ट'
(ख) 'ख' है 'ट'

यहाँ 'क' और 'ख' दो वस्तुविशेषों या व्यक्तिविशेषों के लिए प्रयुक्त किए गए हैं।

(२) 'ट' ऐसे संबंध का बोध कराता है जो अमुक 'x' गुण, घटना, क्रिया, धर्म इत्यादि के साथ क-वस्तु में पाया जाता है;

और फिर 'ट' ऐसे संबंध का भी बोध कराता है जो अमुक 'y' गुण, घटना, क्रिया, धर्म इत्यादि के साथ ख-वस्तु मे पाया जाता है।

उदाहरण—(क) जिम कुत्ता अपने कुकुर-गृह को जानता है।
(ख) प्लेटो अपने दर्शन को जानता है।

यहाँ 'जानने' का अर्थ दोनो उदाहरणो (क) और (ख) मे एक नहीं है। यहाँ कुकुर-ज्ञान और मानव-ज्ञान वास्तव मे ज्ञान के विभिन्न उदाहरण हैं। अब यदि आपातित्वमूलक और विशेषणरोपण साम्यानुमान का मिलान किया जाए तो हम पाते हैं कि विशेषणारोपण साम्यानुमान मे विधेयपद 'ट' (स्वस्थ) एक ही अर्थ मे व्यवहृत होता है। इसके विपरीत अनुपातित्वमूलक साम्यानुमान मे देखने मे 'ट' पद एक-सा लगे, परन्तु वास्तव मे ट-पद के दो विभिन्न अर्थ (क) और (ख) दो सवाक्यों मे किए गए हैं: वे 'ट' के दो विभिन्न उदाहरण माने जा सकते हैं।

परन्तु यदि 'जानना' भिन्नार्थक है तो क्यों नहीं कुकुर-ज्ञान और मानव-ज्ञान को विभिन्न पदों के द्वारा व्यक्त किया जाए? क्यो दोनों को ट-पद कहा जाए? क्यो नही (क) मे $ट^1$ और (ख) मे $ट^2$ को काम मे लाया जाए? दूसरे शब्दों मे क्यों नहीं कुकुर-ज्ञान और मानव ज्ञान को अनेकार्थक माना जाए? यहाँ अक्वाइनस का कहना है कि जनने का स्वरूप कुत्ते और मानव में एक है और एक नही भी है। इसलिए स्पष्ट करना चाहिए कि किस रीति से कुत्ते का जानना और प्लेटो का जानना एक है और फिर एक नही भी है।

देखा जाए तो सभी वस्तुएँ ईश्वर-द्वारा सृष्ट की गई हैं। परन्तु ईश्वर ने सृष्ट वस्तुओ को उनके गुण के अनुसार सोपानक्रमिक व्यवस्था में उत्पन्न किया है। मनुष्यो की तुलना मे पशुओं मे किसी भी गुण की कम पूर्णता है और पशुओं की अपेक्षा कीट-पतंग में और भी कम पूर्णता है। अब कुत्ता भी अवश्य कुकुर-घर जानता है; परन्तु कुत्ते का जानना उसके मस्तिष्क और उसकी बुद्धि के अनुरूप है। मानव भी जानता है; परन्तु उसका जानना उसकी बुद्धि और उसके मस्तिष्क के अनुरूप होता है। पशु और मानव ज्ञान के बीच मात्रा का ही नहीं, वरन् प्राकारिक अन्तर है। मानव उद्गमन, आगमन, अप-

कर्षण, अमूर्त प्रत्यय इत्यादि के आधार पर किसी भी विषय का ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु पशुओं में इन बातों की नितान्त कमी देखी जाती है। प्रश्न हो सकता है कि यदि पशु और मानव के ज्ञान में प्राकारिक अन्तर हो तो इन्हें क्यों एक ही नाम से पुकारा जाए? अक्वाइनस का कहना है कि इन दोनों प्रकारों को 'जानना' इसलिए कहा जाता है कि वास्तव में दोनों 'ज्ञान' ही हैं और प्रत्येक (पशु और मानव) अपने-अपने विषय को अपने ही अनुरूप जानते हैं। 'जानना' प्रक्रिया एक ही है : केवल इसके रूप और प्रकार में अन्तर होता है। जिस प्रकार का पात्र होगा (अर्थात् सृष्ट जीव की पूर्णता की मात्रा के अनुसार), 'जानने' की प्रक्रिया उसी प्रकार निम्नकोटि या उच्चकोटि की होगी।

वास्तव में देखा जाए तो अक्वाइनस के अनुसार बुद्धि, ज्ञान, शुभत्व, प्रेम इत्यादि सभी ईश्वर मे ही पूर्ण रूप से पाए जाते हैं और ये गुण अन्य सृष्ट पशु तथा मानव मे उसी पूर्णता की मात्रा में पाए जाते है जिस पूर्णता की मात्रा के अनुरूप ईश्वर ने उनकी सृष्टि की है। अब ईश्वर भी 'जानता' है, परन्तु उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नही होता और न कालिक रूप में भूत, भविष्य और वर्तमान मे होता है और न उसका ज्ञान उद्गमनात्मक होता है। ईश्वर के 'जानने' को मानव नही जान सकता है, परन्तु मानव जानता है कि ईश्वर का ज्ञान उसकी पूर्णता के अनुरूप होता है और उसका (मानव का) भी ज्ञान उसकी पूर्णता की मात्रा में पाए जाते हैं। परन्तु ईश्वर और मानव का 'जानना', दोनो को जानना कहा जा सकता है। केवल जानने का प्रकार दोनों में विभिन्न रूप से पाया जाता है,—ईश्वर का जानना पूर्ण है और उसकी तुलना में मानव का ज्ञान अधूरा और सर्वथा अपूर्ण है। परन्तु पशु, मानव तथा ईश्वर के जानने के 'प्रकार' में अन्तर ही नहीं है, परन्तु इन सभी प्रकार के जानने में साम्य भी है और इसी साम्य के हेतु सभी प्रकार के जानने को 'ज्ञान' की सज्ञा दी जाती है। साम्य इस बात मे है कि जानने के सभी प्रकार-भेदों मे चाहे वह पशु का हो या मानव का या ईश्वर का हो) किसी वस्तु का रूप ज्ञाता के जानने की मात्रा के अनुरूप ग्रहण किया जाता हैं। जानने की इस परिभाषा के अनुसार :

१. ईश्वर सभी वस्तुओं के रूप को उनके वास्तविक रूप में अपनी पूर्णता के अनुरूप जानता है।

२. मानव सभी वस्तुओं के रूप को उनके वास्तविक रूप में मानव पूर्णता के अनुरूप जानता है।

३. पशु सभी वस्तुओं के रूप को उनके वास्तविक रूप में पाशविक मात्रा के अनुरूप जानता है।

अतः, सभी प्रकार के जानने में वस्तुओं का रूप उनकी वास्तविकता में ज्ञाता पात्र की पूर्णता की मात्रा के अनुरूप जाना जाता है और यही बात सभी प्रकार के ज्ञान मे एकरूप में पाई जाती है। इसलिए 'जिम कुत्ते' के अपने कुकुर-घर के जानने को भी जानना ही कहा जाएगा और प्लेटो के अपने दर्शन को जानने को भी जानना ही कहा जाएगा और ईश्वर के जानने को भी जानना ही कहा जाएगा।

अब जो बात 'जानने' के संबंध मे कही गई है, वही बात बुद्धि, प्रेम, शुभत्व इत्यादि के प्रसंग में कही जा सकती है। इसलिए मानव जानता है कि ईश्वर का ज्ञान, प्रेम और शुभत्व मानव की अपेक्षा इतना पूर्ण है कि मानव अपनी अपूर्णता के अनुरूप उन्हें नही बता सकता है। परन्तु वह (मानव, भक्त, ईश्वरवादी) जानता है कि ये सब उदात्त गुण ईश्वर के लिए भी (कुछ बातों मे सभी प्रकार के शुभत्व, ज्ञान, प्रेम इत्यादि मे साम्य रहने के कारण) प्रयुक्त हो सकते हैं।

फिर ईश्वर और सभी सृष्ट वस्तुओं मे कुछ समानता का रहना अनिवार्य है। इसका कारण है कि यह सृष्टि कार्य है और ईश्वर इसका आदिकारण है और इन दोनों मे समानता पाई जाती है। जहाँ तक मानव के ई-कथन का प्रश्न है, मानव ईश्वर को उसके सृष्ट कार्य के आधार पर ही जान सकता है। अक्वाइनस के अनुसार ईश्वर (यद्यपि ईश्वर सृष्ट विश्व का स्वयं कोई भाग नही है) और विश्व के बीच पाँच प्रकार के संबंध दिखाइ देते हैं, अर्थात् विश्व का :

(क) संचालित किया जाना,
(ख) निमित्त कारण से प्रवर्तित होना,
(ग) अपने अस्तित्व में संरक्षित रहना,
(घ) अन्य सत्ता के द्वारा बढ़कर उत्कृष्ट होना,
(ङ) अभिकल्पित होना।

यह ठीक है कि विश्व मे किसी अमुक सृष्ट वस्तुओं का अन्य सृष्ट वस्तुओं के द्वारा संचालित होना और इस विश्व का ईश्वर-द्वारा संचालित होना दोनों

सर्वथा प्राकारिक रूप से भिन्न हैं; तो भी ईश्वर के द्वारा संचालित होने और अन्य सृष्ट वस्तु के द्वारा संचालित होने मे इतना भर साम्य है कि ईश्वर के विषय मे यह कहा जा सकता है कि ईश्वर इस विश्व का सचालन करता है, तथा इस विश्व का निमित्त कारण और उसका पालक है, इत्यादि। अतः, ईश्वर के संबंध मे कुछ शब्दो को प्रयुक्त कर ईश्वर की संसूचना प्राप्त की जा सकती है।

अपितु, ईश्वर और समस्त सृष्ट वस्तुओं मे छ गुणो मे साम्य है। इन छः गुणो को अक्वाइनस ने 'अनुभवातीत विधेय धर्म' (ट्रासेंडेंटल्स) संज्ञा दी है, अर्थात् सत् (बीइग), वस्तु (थिंग), एकत्व, विशिष्टता, सत्य और शिव। ये अनुभवातीत विधेय धर्म सभी वस्तुओ मे चाहे वे सीमित हो या असीमित, सृष्ठ हो या सृष्टिकर्त्ता ईश्वर हो, सभी मे एकार्थक रूप मे पाए जाते हैं। अतः, ये गुण मानव और ईश्वर के विषय मे एकार्थक रीति से प्रयुक्त हो सकते है।

अतः मानव ईश्वर के संदर्भ में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो उचित रीति से केवल मानव के लिए प्रयुक्त किये जा सकते है, परन्तु इन शब्दों को बिना एकार्थक रीति से प्रयुक्त किये हुए ईश्वर के संबंध मे व्यवहृत कर ईश्वर-विषयक समूचना प्राप्त की जा सकती है। इसका मुख्य आधार है अनुपातित्व का सिद्धान्त। चूंकि सभी वस्तुओ मे, सीमित और असीमित, पूर्णता की मात्रा सोपानक्रमिक रूप में पाई जाती है, इसलिए सभी उदात्त गुण ईश्वर से लेकर सृष्ट वस्तुओं तक अपनी पूर्णता की मात्रा के अनुरूप अभिव्यक्त होते रहते है। यही कारण है कि उदात्त गुणो को ईश्वर के विषय मे भी ससूचनात्मक रीति से प्रयुक्त किया जा सकता है, यद्यपि इन गुणों की पूर्णता की जो, ईश्वर मे पाई जाती है, मानव कभी भी नही जान सकता है। इसलिए शुभत्व, प्रेम, ज्ञान इत्यादि ईश्वर के संबंध मे न तो एकार्थक रीति से और न अनेकार्थक रीति से प्रयुक्त किये जा सकते हैं, परन्तु उन्हे केवल साम्यानुमानिक रीति से ही प्रयुक्त किया जा सकता है।

आलोचना

१. सर्वप्रथम, अपने साम्यानुमान-सिद्धान्त मे अक्वाईनस मान लेते हैं कि ईश्वर है, उसके संबध मे जो शब्द काम में लाये जाते हैं, वे संसूचनात्मक हैं। उन्हें केवल यही निर्धारित करना था कि किस प्रकार से इन शब्दों को ईश्वर के संबंध में स्पष्ट किया जा सकता है, क्योंकि उनकी दूसरी अवधारणा के

अनुसार ईश्वर अतीत और असीम है और इसलिए ईश्वर के संबंध मे कोई भी शब्द अक्षरशः नही काम में लाया जा सकत' है। परन्तु ईश्वर अतीत और असीम है, यह ईश्वरवाद की अवधारणा है। यदि ईश्वर शुद्ध रूप से अतीत हो तो वह मानव मन और वचन से भी अतीत हो जाता है और ऐसा स्वीकार कर लेने से अज्ञेयवाद स्थापित हो जाता है। परन्तु यदि ईश्वर अज्ञेय हो जाए तो वह किस प्रकार उपास्य कहलाएगा? इसलिए अक्वाइनस इस अज्ञेयवाद से बचने के लिए साम्यानुमान के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं। पर क्या वे अज्ञेयवाद से अपना पिंड छुडा सके हैं?

२. अक्वाइनस का साम्यानुमान अरस्तू की तत्त्वमीमासा पर आधारित है, परन्तु तत्त्वमीमासात्मक ज्ञान को समकालीन दार्शनिक विचारधारा के अनुसार कोई भी वैज्ञानिक मानने को तैयार नही होगा। अत· तत्त्वमीमासात्मक साम्यानुमान के आधार पर ईश्वर-संबंधी कथन को तथ्यात्मक अथवा संसूचनात्मक नहीं स्वीकार किया जा सकता है। यह बात निम्नलिखित रूप से स्पष्ट की जा सकती है।

(क) अक्वाइनस के अनुसार यद्यपि ईश्वर अपनी सभी सृष्ट वस्तुओं से अतीत है तो भी छः अनुभवातीत विधेयधर्म सत्, शुभ, सत्य, एकत्व, अस्तित्व तथा पृथकत्व सभी सत्ताओं में, सीमित-असीमित, सृष्ट तथा सृष्टिकर्त्ता में एक रूप से पाए जाते हैं। पर क्या इन अनुभवातीत विधेयधर्म के द्वारा ईश्वर के संबंध में किसी भी प्रकार का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है? ऊपर से देखने में ऐसा आभासित होता होगा कि कम-से-कम 'सत्य' और 'शुभ' को ईश्वर के संबंध मे नैतिक अर्थ मे काम में लाया गया होगा। बात ऐसी नहीं है। 'शुभ' शब्द को अरस्तूय अर्थ में काम मे लाया गया है जिस अर्थ में उसी को शुभ कहा जा सकता है जो वस्तु के अपने लक्ष्य को सिद्ध करने मे सफल हो। तब ईश्वर का क्या लक्ष्य है? ईश्वर का तो कोई लक्ष्य नही है और इसलिए ईश्वर के लिए वही शुभ है जो ईश्वर की अपनी सत्ता को जारी रखने में सफल हो अर्थात् जो ईश्वर की सत्ता के अनुरूप हो। दूसरे शब्दों में वही शुभ है जो ईश्वर की सत्ता को सत्तायुक्त रखे। यह केवल पुनरुक्तिमात्र है और और इस प्रकार के 'शुभ' से यही अभिव्यंजित होता है कि ईश्वर की सत्ता, सत्ता है और यही उसका शुभत्व है। इस प्रकार के सभी अनुभवातीत विधेय-पदों से यह ध्वनित होता है कि ईश्वर वह है जो है और इसलिए इन विधेय-पदों से ईश्वर के स्वरूप पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं पड़ता है।

(ख) साम्यानुमान का मुख्य तत्व सृष्ट वस्तुओं और सृष्टिकर्त्ता की पूर्णता की मात्रा के अनुसार सभी वस्तुओं की सोपानक्रमिक व्यवस्था में देखा जाता है। परन्तु यह आसानी से समझा जा सकता है कि जिस कुत्ते का ज्ञान और मानव का ज्ञान उनके मस्तिष्क तथा उनकी बुद्धिमाप के अनुताप से निरुपित किया जाता है, क्योकि मानव पशु तथा मानव के सारतत्व को थोड़ा-बहुत जानते हैं। ईश्वर का सारतत्व मानव बुद्धि से बाहर की बात है और ईश्वरवादी भी ईश्वर के सारतत्व को नही जानते हैं। ऐसी स्थिति में 'ईश्वर का ज्ञान ईश्वर की पूर्णता के अनुरूप है' वास्तव में इस कथन का तात्पर्य यही होता है कि ईश्वर का ज्ञान स्वय ईश्वर को ज्ञात होता है, परन्तु इस ईश्वरीय ज्ञान को मानव कभी भी नही जान सकता है। अत., वस्तुओं को ईश्वर की पूर्णता की मात्रा के अनुसार सोपानक्रमिक व्यवस्था में रखने से वस्तुओं पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं पड़ता है, क्योंकि यदि ईश्वरीय पूर्णता का ही ज्ञान नही होगा तो उसकी मात्रा के अनुरूप किसी भी व्यवस्था का केवल छद्म ज्ञान हो सभव हो सकता है।

(ग) फिर यह कहना है कि सृष्टि और ईश्वर में सचालित होने, निमित्त कारण से उत्पन्न होने, इत्यादि का सबंध है, केवल मनमानी बात है, क्योकि ये सभी सबंध इसी आधार पर टिके हुए हैं कि ईश्वर को आदिकारण माना जाए और इस सृष्टि को उसका कार्य और इस आदिकारण और इस कार्य मे समानता का सबध है। परन्तु वेज्ञानिक दृष्टि के अनुसार कारण-कार्य में किसी प्रकार की समानता का रहना आवश्यक नही। उदाहरणार्थ, बिजली पखे के चलने और बटन दबाने के बीच किसी प्रकार की समानता नही; इनके बीच कार्यपरक निर्भरता का संबध है। परन्तु टामसवादी यहाँ आपत्ति कर सकते हैं कि अक्वाइनस ने कारण-कार्य सिद्धान्त को वैज्ञानिक अर्थ मे नही, वरन् अरस्तूय अर्थ मे प्रयुक्त किया है। इस अर्थ में कारण-कार्य के संबंध को पूर्वापर अथवा कालिक संबंध मानना नही चाहिए। अक्वाइनस के अनुसार कारण-कार्य का संबंध वास्तव मे हेतु-फलवाक्य अथवा पूर्ववर्ती-अनुवर्ती का है। इस प्रकार का सबंध तर्कनिष्ठ आपादान का संबंध हो सकता है। परन्तु यदि ईश्वर और सृष्ट मे तर्कनिष्ठ निर्भरता का सम्बंध हो तो इस संबंध को वास्तविक नहीं माना जायगा, क्योंकि तर्कनिष्ठ निर्भरता का संबंध परिभाषित पदों, प्रतिज्ञप्तियों के बीच होता है, न कि यथार्थ वस्तुओं

के बीच। परन्तु टामसवादी कारण-कार्य अथवा सृष्ट वस्तुओं को ईश्वर पर विशेष अर्थ में 'निर्भर' मानते हैं। यह निर्भरता ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व पर आधारित होती है। सभी सृष्ट वस्तुएँ अपने सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व पर निर्भर रहती हैं। तब क्या ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व की शक्ति को साक्षात् रीति से जाना जा सकता है ? ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व की शक्ति मानव बुद्धि से बाहर है। तब इसे हम साम्यानुमानिक रूप से समझ सकते हैं। अतः, साम्यानुमान का आधार भी साम्यानुमानिक है। पर यह हुआ चक्रानुमान। वास्तव में साम्यानुमान के आधार को सार्वजनिक, सामान्य तथा पुनरावृत्तीय अनुभूति पर आधारित होना चाहिए। चूँकि साम्यानुमान का ही आधार साम्यानुमानिक है, इसलिए साम्यानुमान का ही कोइ ठोस आधार नहीं दिखता है।

३. अक्वाइनस ऐसा संकेत करते हैं कि सभी सद्गुण जैसे, ज्ञान, शुभत्व, प्रज्ञा इत्यादि ईश्वर मे ही पूर्ण मे पाए जाते है और नवप्लेटोवादी विचारधारा के अनुसार ये सद्गुण अनुक्रमिक रीति से स्थूल वस्तुओ मे कम मात्राओं में पाए ज ते है। या तो ये सद्गुण ईश्वर में ईश्वर के तत्व के रूप मे पाए जाते हैं, या ये गुण ईश्वर के बाह्य अथवा आकस्मिक गुण है। यदि ये सद्गुण ईश्वर के बाह्य गुण हैं तो ये वास्तव मे ईश्वरीय गुण नही हैं और इनका अन्त मे ईश्वर से कोई संबंध नही है। ईश्वर इन गुणो के बिना भी ज्यों का त्यों बना रहता है। ऐसी स्थिति मे ऐसा कोई गुण ईश्वर के लिए नही बताया जा सकता है जो ईश्वर मे निहित रहता है। ईश्वर अन्त मे निर्गुण और निराकार होकर या तो शून्यवत् हो जाता है, या अज्ञेय।

इन सद्गुणों को यदि ईश्वर का अन्तरस्थ गुण माना जाए, तो ईश्वर को ही गुणों का प्राथमिक तुल्यरूप पद माना जाएगा और मानव, पशु इत्यादि को गौण तुल्यरूप पद माना जाएगा। परन्तु यदि ईश्वर को इन गुणों को प्राथमिक तुल्यरूप पद माना जाए तो इससे ध्वनित होता है कि ईश्वरवादी को इसका साक्षात् ज्ञान है कि ये गुण ईश्वर मे पाए जाते हैं। परन्तु यदि डी. बेली के इस मत को* स्वीकार कर लिया जाए तो ईश्वर के सबध मे साक्षात् ज्ञान को छोड़कर क्यों साम्यानुमान की मदद ली जाए ?

अन्त में निष्कर्ष यही स्थापित होता है कि ई-कथन संज्ञानात्मक नहीं हैं और इसे संसूचनात्मक नहीं स्वीकार किया जा सकता है। ईश्वर प्रतीक है,

* डी. बेली, दि सेन्स आव दि प्रेसेन्स आव गौड—पृ. ११६-१२१।

परन्तु यह प्रतीक ईश्वरवादी का बाह्यनिष्ठ मालूम देता है और इसलिए ईश्वरवादी प्रतीकरूपी ईश्वर को वास्तविक सत्ता समझता है और ई-कथन को वर्णनात्मक मानता है। यह बात पॉल तीलिख के धर्मदर्शन में स्पष्ट हो जाती है जिसकी अब चर्चा की जाएगी। स्वयं तीलिख अपने प्रतीकवाद को साम्यानुमान का ही संशोधित रूप मानते हैं। इसलिए ईसाई धर्मविचार में पॉल तीलिख का विचार लोकप्रिय सिद्ध हुआ है।

पॉल तीलिख् (सन् १८८६-१९६६) का प्रतकीवाद

क्ला०क० रि०—जॉन हिक सम्पादक, क्लासिकल ऐंड कंटेम्परारी रिडिंग्स इन दि फिलॉसफी आव रिलिजन।

पॉल तीलिख्, टू टाईप्स आव फिलॉसफी आव रिलिजन।

" एग्जिस्टेंशियल अनालीसेज् ऐंड रिलिजस सिम्बल्स।

डाइनैमिक्स—डाइनैमिक्स आव फेथ।

इस पुस्तक के तृतीय अध्याय मे प्रतीक के संबंध मे महत्त्वपूर्ण लेख है।

फि० रि०—पॉल तीलिख, सिम्बल्स आव फेथ, फिलॉसफी आव रिलजन, स जॉर्ज अबर्नेथी एव टामस लैंग्फॉर।

रि० ए० टी०—दि मीनिंग ऐंड जस्टिफिकेशन आव रिलिजस सिम्बल्स, रिलिजस एक्सपीरियेंस ऐंड ट्रूथ, स० एस० हुक०।

इस पुस्तक मे तीलिख के दो लेख प्रारंभ और अन्त मे हैं और अन्य लेखकों के भी तीलिख के प्रतीकवाद के संबंध में समीक्षात्मक लेख है।

सि० थे०—पॉल तीलिख, सिस्टमैटिक थेओलाजी, तीन भाग। पॉल तीलिख की यह मुख्य रचना है।

पॉल तीलिख् समकालीन धर्मदार्शनिकों में प्रमुख माने जाएँगे। आपने अक्वाइनस के साम्यानुमान के सिद्धान्त को प्रतीकवाद के रूप में परिणत कर ईश्वर-विचार को समकालीन अस्तित्ववाद के आधार पर स्पष्ट किया है। साथ ही साथ प्रोटेस्टेंट परम्परा को मानते हुए आपने धार्मिक अनुभूति को जीवन की प्रमुख निधि मानी है। आपके विचार में अगस्टिन, अक्वाइनस और

कर्कीगोर्द का बेजोड़ सम्मिश्रण है। भारतीय धर्मदार्शनिको के लिए भी पॉल तीलिख् का सिद्धान्त उपादेय है क्योंकि आपकी विचारधारा मे शाकर मत की बहुत अधिक प्रतिध्वनि मिलती है।

पॉल तीलिख् तत्वमीमासी हैं और आप स्वीकारते है कि सभी सृष्ट वस्तुओं से परे और अतीत सत्ता है जो सभी वस्तुओं का मुख्य आधार है। इसे तीलिख् ने 'सत्' की सज्ञा दी है। यह सत्' हेगेल के सत् के समान शून्य नही है। तीलिख् ने इस परम् तत्व को 'शक्तिपूर्ण सत्' माना है जो सभी वस्तुओ को सचालित तथा संरक्षित किये रहता है*। सत् ज्ञाता-ज्ञेय, जड़-आत्मा तथा सभी विचारो के भेद से परे और स्वतंत्र माना जा सकता है और इसलिए शकर और अक्वाइनस के समान पॉल तीलिख् सत् को अनिर्वचनीय मानते है और इस अर्थ मे आप परम सत् को 'निरुपाधिक अतीत' सज्ञा देते है। यद्यपि इस निरुपाधिक अतीत को शब्दश: वर्णित नही किया जा सकता है, तो भी यह सभी वस्तुओ का मुख्य और एकमात्र आधार है। चूँकि परम सत् सभी सीमित अथवा सृष्ट वस्तुओ का आधार है, इसलिए सभी सीमित वस्तुएँ परम सत् मे भागग्राही होती है और इसलिए अपने सीमित रूप मे असीमित परम सत् का बोध कराती हैं। परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई भी सीमित वस्तु अपरिमित सत् को सम्पूर्णतया बोधित करने मे समर्थ नही हो सकती है। अतः, सीमित वस्तु परम सत् को बोध कराने मे समर्थ भी होती है और नही भी। यह है विरोधाभास जो मानव के लिए सत्य मानना चाहिए।

अक्वाइनस ने कारण-कार्य के आधार पर माना था कि कार्य को कारण के सदृश्य मानकर कार्य के आधार पर (अर्थात् ईश्वर को विश्व का आदिकारण समझकर) सृष्ट वस्तुओ को सीमित गुणो के द्वारा ईश्वर के संबंध मे साम्यानुमानिक ससूचना प्राप्त की जा सकती है। इसी बात को तीलिख् ने अस्तित्ववादी तत्वमीमासा के आधार पर कहा है कि सृष्टि एवं सीमित वस्तुएँ परम सत् के विषय मे इसलिए सीमित रूप मे बोध करा सकती हैं कि ये सीमित वस्तुयें वास्तव मे परम सत् में भागग्राही होती है और इसलिए परम सत् को सीमित रूप मे व्यक्त करने में समर्थ मानी जायंगी। परन्तु यह भी सत्य है कि परम सत् सभी सीमित वस्तुओं से परे और अतीत है। इसलिए

* सिस्टैमैटिक थेओलजी—भाग २, पृ० ११।

कोई भी सीमित वस्तु परम सत् को सम्पूर्णतया व्यक्त करने में असमर्थ होगी। चूंकि तीलिख इस विरोधाभासी अवधारणा को मानकर चलते हैं, इसलिए वे अक्वाइनस की अपेक्षा धार्मिक अनुभूति पर अधिक प्रकाश डाल सकते हैं।

अस्तित्ववादी परम्परा को स्वीकार करते हुए तीलिख का कहना है कि सृष्ट एवं सीमित जीव अपरिमित सत्ता से ही निस्सृत हुआ है और वर्तमान स्थिति में अपने सीमितपन को मानकर व्यक्ति मे सभी वस्तुओं की क्षणभंगुरता के ज्ञान से दुश्चिंता और असत् हो जाने का भय हो जाता है। तीलिख ने तीन प्रकार की दुश्चिंता का उल्लेख किया है जो असत् के प्रभाव से उत्पन्न होती हैं*।

(क) सामान्य रूप से असत् के कारण अपने तत्व को नहीं प्राप्त करने का भय; सापेक्षतया नियति-विधान की प्रतिकूलता का भय तथा निरपेक्षतया मृत्यु-भय।

(ख) सामान्य रूप से असत् के कारण आध्यात्मिक आत्मसमर्थन अथवा आत्माभिपुष्टि की अप्राप्ति का भय; सापेक्षतया जीवन की निस्सारता से उत्पन्न दुश्चिंता तथा निरपेक्षतया विश्व और जीवन की निरर्थकता का भय।

(ग) सामान्य रूप से असत् के कारण नैतिक पतन का भय, सापेक्षतया आत्मग्लानि से उत्पन्न दुश्चिंता और निरपेक्षतया अपराधी होकर निन्दित हो जाने का भय।

निरुपाधिक अतीत के द्वारा व्यक्ति अपनी इस दुश्चिंता का निवारण करता है और अपनी तात्विक सत्ता को स्थिर करता है। फ्रायड ने 'दि फ्यूचर आव ऐन इल्यूज़न' मे दिखाया है कि मानव के अन्दर निर्बलता और निस्सहायता का भाव शारीरिक और मानसिक कष्ट, सामाजिक दुर्भाव और आतंक तथा मृत्यु-भय सर्वदा बना रहता है। फ्रायड ने भी माना था कि धार्मिक अनुभूति के आधार पर मानव अपनी दुश्चिंताओं से मुक्त होकर जीवन में स्थिरता प्राप्त करता है। परन्तु फ्रायड ने ईश्वर में आस्था को बचपना और मनोग्रसित मनस्ताप कहकर ठुकरा दिया है। इसके विपरीत तीलिख के अनुसार ईश्वर में भक्ति तथा आस्था प्राप्त करने पर व्यक्ति अपने तात्विक, आध्यात्मिक तथा नैतिक स्थिरता को प्राप्त कर सकता है।

---

* तीलिख, पॉल, दि करेज टू बी—अध्याय २।

फिर फ्रायड ने अपनी पद्धति के अनुसार यह अवश्य सिद्ध करने की कोशिश की है कि ईश्वर-पूजा मानव में लगभग चेतना के प्रादुर्भाव के काल से ही अब तक जारी है। यही कारण है कि उन्होंने ईश्वरवाद के विकास को मानव के जातीय विकास से संबद्ध किया है। इससे अभिलक्षित होता है कि धार्मिक प्रवृत्ति मानव में अनादिकाल से ही जड पकड़े हुए है। परन्तु फ्रायड ने अपने मनोवैज्ञानिक दुराग्रह के कारण सम्पूर्ण धार्मिक अनुभूति को मानव जाति की दमित पितृ-ग्रंथि का आरोपण-मात्र कहकर धार्मिक भाव की गहराई को ठुकरा दिया है। परन्तु अनेक धर्मदार्शनिक धर्म को मानव में अन्तर्निहित प्रागनुभविक प्रवृत्ति मानते हैं। पॉल तीलिख भी इसी परम्परा को अपनाते हुए बताते हैं कि मानव बिना धर्म के तथा किसी न किसी आराध्य देवता या आदर्श के नहीं रह सकता है[1]।

चूंकि मानव अपने को त्रस्त, दुःखी, आतंकित, निस्सहाय पाता है और वह इस दशा मे रह नहीं सकता है, यह दशा असत् के प्रभाव से उत्पन्न होती है और चूंकि असत् केवल सत् के ही द्वारा दूर हो सकता है, इसलिए मानव परम सत् अथवा निरुपाधिक अतीत को अपनाकर अपनी दुश्चिंता से मुक्त होकर स्थिरता प्राप्त कर सकता है। परन्तु निरुपाधिक अतीत परम सत् अनिर्वचनीय है[2], शुद्ध रूप मे निर्गुण, निराकार तथा अवास्तविक है। इसे किस प्रकार अपनाया जा सकता है? मानव में मूल प्रवृत्ति रहती है, जिससे अनुक्रियाशील होकर व्यक्ति परम सत् को प्राप्त करने के धुन में लगा रहता है। इसलिए परम सत् के प्रति अनुक्रियाशील होकर व्यक्ति ईश्वर के माध्यम से उसे प्राप्त करना चाहता है। अब ईश्वर का क्या स्वरूप है और क्यों ईश्वर-प्राप्ति के द्वारा व्यक्ति अपनी स्थिरता प्राप्त करता है।

परम सत् को तीलिख प्राकृतिक सत्ता नहीं मानते, क्योंकि परम सत् सभी वास्तविक और सीमित वस्तुओं की आधारभूत शक्ति होते हुए भी उनसे परे और अतीत है। इस परम सत् को 'निरपेक्ष' भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि 'निरपेक्ष' वह है जिसे किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा न हो। ऐसी दशा में परम सत् का मानव से कोई लगाव नहीं हो सकता है और यदि लगाव न हो तो

१. डाइनैमिक्स—पृ. १००-१०१, १०६, ११४, ११६।

२. 'वास्तविक' सीमित, सृष्ट तथा देश-काल में प्राप्त इन्द्रियभूत सत्ता को कहा जाता है और परम सत् को इस अर्थ में वास्तविक नहीं माना जा सकता है।

परम सत् को मानव कैसे अपना सकता है ? इसलिए परम सत् का मानव से लगाव है और फिर वह मानव और सभी सीमित वस्तुओं से अतीत भी है। इसी विरोधाभासी परिस्थिति मे मानव इस विश्व की अथवा अपनी सीमित अनुभूति के आधार पर अतीत, अनिर्वचनीय परम सत्ता को अपनाकर स्थिरता प्राप्त करता है। विश्व की वह सीमित वस्तु जिसके आधार पर परम सत्ता को समझा जाता है, उससे लगाव लगाया जाता है और इस लगाव के फलस्वरूप शक्ति प्राप्त की जाती है, उसे तीलिख 'प्रतीक' संज्ञा देते हैं। 'ईश्वर' मे भी प्रतीक का अश है और फिर ईश्वर मे निरुपाधिक परमसत् का भी अश है, और यही बात सभी प्रतीकों मे पायी जाती है। परन्तु अन्य प्रतीकों की अपेक्षा ईश्वर मे परम सत् अपने परम रूप मे रहता है और यही कारण है कि ईश्वर के द्वारा भक्तों मे विशेष प्रकार की शक्ति प्राप्त होती है। हमे भूल नही जाना चाहिए कि तीलिख के अनुसार परम सत् शक्तिपूर्ण सत् है और इसकी प्राप्ति से सभी प्रकार के असत् से उत्पन्न दुष्प्रभाव को दूर किया जा सकता है।

प्रतीक-सिद्धान्त *

तीलिख के अनुसार वह परम सत्, जो मानव की संलग्नता का एकमात्र विषय है केवल प्रतीकों के ही द्वारा बोध किया जा सकता है। यह बात भी अक्वाइनस से मिलती है, क्योंकि अक्वाइनस के अनुसार भी ईश्वर के संबंध मे केवल साम्यानुमानिक सम्भाषण संभव हो सकता है। परन्तु साम्यानुमान और प्रतीक में अन्तर है। यह ठीक है कि साम्यानुमान के समान जो अन्य किसी प्रकार से (अर्थात् साक्षात् अथवा अक्षरशः रूप से) व्यक्त नही किया जा सकता है वह केवल प्रतीकों के ही द्वारा कथनीय हो सकता है। परन्तु प्रतीको को चिह्न, लक्षण अथवा संकेतों से एकदम भिन्न मानना चाहिए। साधारण शब्द जो किसी भी भाषा में व्यक्त किए जाते है, उन्हें चिह्न कहा जा सकते है। चिह्न मनगढन्त होते है और आवश्यकतानुसार स्वेच्छा से बदले जा सकता है। फिर यदि दो या दो से अधिक घटनाओं में प्राकृतिक कार्य-कारण का संबंध हो तो ऐसे प्राकृतिक चिह्न को लक्षण कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, काले बादल को वर्षा होने का 'लक्षण' पुकारा जा सकता है। लक्षणों और

* तीलिख ने प्रतीक-सिद्धान्त को अपनी सभी पुस्तकों में लिखा है, परन्तु विशेषकर यह डाइनैमिक्स, क्ला. कं. रि., रि. ए. टी., फि. रि. तथा सि. थे. में इसका उल्लेख मिलता है।

चिह्नों के विपरीत, तीलिक्ष के अनुसार, प्रतीक वे हैं जो शक्ति अथवा उत्प्रेरणा प्रदान करते हैं। इसलिए तीलिक्ष के अनुसार, सभी शक्तियों के आधार परम सत् मे प्रतीक भागग्रहण करते है। अतः, प्रतीको के द्वारा व्यक्तियों में असाक्षात् रीति से परम सत् की शक्ति का संचार होता है। शब्दों को इच्छा-नुसार बदला जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'लाल' को आपत्ति का सूचक माना जाता है। परन्तु यदि समाजवादी चाहे तो 'लाल' को आदर, क्रान्ति का तथा उन्नति का चिह्न बना सकते हैं। परन्तु ईसाई देशों मे 'क्रूश' को इस रूप से नही बदला जा सकता है। यही कारण है कि प्रतीकात्मक कथन को तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक नही समझना चाहिए। प्रतीकों के स्वरूप को निम्नलिखित लक्षणो के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

१. यदि परम सत् वह हो जिसे प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया जाता है तो हम परम सत् को 'प्रतीक्य' पुकार सकते हैं, अर्थात् वह जिसे प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया जाए। अब प्रतीक प्रतीक्य मे भागग्राही होते है। यह बात जादू और देवकथा से भी मिलती है। जादू में हम राम का पुतला बनाकर पुतला मे आग लगा देते हैं ताकि जिस प्रकार की यातना पुतले को हो उसी प्रकार की यातना अथवा क्षति राम को भी हो जाए। यहाँ पुतला राम में भागग्राही होता है। इसी प्रकार देवकथा के माध्यम से व्यक्ति अलौकिक शक्ति के साथ आत्मसात् करने की बात करते हैं, क्योंकि देवकथा अलौकिक शक्ति में भागग्राही होती है। इसी प्रकार किसी देश का झंडा इसलिए प्रतीक कहा जाता है कि यह झंडा अपने अमुक देश का प्रतिनिधित्व करता और उस देश की शक्ति और महानता का भागग्राही होता है। इस रूप मे तिरंगे झंडे की मानहानि देश की मानहानि है और तिरंगे गौरव को बढ़ाना देश की मान-मर्यादा को बढ़ाना कहा जाएगा। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि प्रतीक प्रतीक्य में भागग्राही होता है, न कि प्रतीक को काम में लानेवाला प्रतीक्य में भागग्राही होता है। उदाहरणार्थ, त्रिशूल महादेव की शक्ति में भागग्राही होता है, न कि शैव्य शिव मे भागग्राही होता है। इसी प्रकार 'क्रूश' ईसा का प्रतीक है और ईसा का भागग्राही होता है।

एक प्रतीक दूसरे प्रतीकों का सूचक हो सकता है, परन्तु अन्त में प्रतीक निरुपाधिक सत् की ओर निर्देश करता है। उदाहरणार्थ, क्रूश ईसा की विमोचक मृत्यु का सूचक होता और स्वयं ईसा ईश्वर का प्रतीक है और ईश्वर अन्त में परम सत् का प्रतीक है।

२. प्रत्येक प्रतीक आत्मातिकामक होता है, अर्थात् प्रतीक बराबर प्रतीक्य की ओर संकेत करता है और कभी भी यह प्रतीक्य का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता है। इस अर्थ मे प्रतीक को पारदर्शी भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार हम ऐनक के शीशे से, शीशे को नहीं, वरन् शीशे से पार की वस्तु को देखते हैं; उसी प्रकार प्रतीक द्वारा हमे प्रतीक्य का भान होता है, न कि हम प्रतीक्य को छोड़कर प्रतीक को जानना चाहते है। यदि प्रतीक परम सत् का स्थान ले ले, तो तीलिख के अनुसार मूर्तिपूजा का दोष चला आता है। इसका कारण है कि प्रतीक सीमित वस्तु, ऐतिहासिक व्यक्ति या अन्य कोई सासारिक वस्तु होती है। जैसे, ईसा तथा बुद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति थे। परन्तु ऐतिहासिक होने के नाते ये व्यक्ति सीमित हैं और सीमित व्यक्ति को उपासना का विषय तर्कसगत रूप से नही माना जा सकता है।

३. प्रतीको का तीसरा लक्षण है कि वे किसी की इच्छा पर निर्भर नही करते है। यहाँ युंग की युक्ति अनुस्मृत होती है। युग के अनुसार आराध्य प्रतिमा या प्रतीक हमारे अचेतन से उत्पन्न होता है और इसलिए यह किसी व्यक्तिविशेष की चेतना पर आधारित नहीं होता है। पॉल तीलिख का कहना है कि धार्मिक प्रतीक अचेतन पर अवश्य निर्भर करते हैं और फिर जब तक समाज और जाति किसी प्रतीक को धार्मिक उद्बोध का माध्यम न मानें तब तक वह प्रतीक सर्वग्राह्य नही होता है। प्रत्येक प्रतीक अपने-अपने युग मे परम सत् का बोध कराने और इसकी शक्ति से उस प्रतीक को स्वीकार करनेवाले व्यक्ति को शक्ति प्रदान करता है। परन्तु ज्ञानवृद्धि के कारण तथा अन्य स्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण प्रतीक अपने आप क्षीण हो जाते और धार्मिक स्थान पर चिह्न अथवा प्रत्यय बन जाते है। एक समय था जब पाश्चात्य जगत मे ज़ीऊस, थॉर, मिश्र इत्यादि शक्तिशाली धार्मिक प्रतीक थे। इसी प्रकार इन्द्र भी सर्वोच्च ईश्वर माने जाते थे। परन्तु कालगति मे अनेक प्रतीको का विलयन हो जाता है और पश्चात्य जगत् मे धर्म-विचारक सोच रहे हैं कि ईश्वर भी अब मानव दृष्टि से ओझल होता जा रहा है। अतः, प्रत्येक प्रतीक की अपनी कालगति होती जिसमे उसका उदय-अस्त होता हैं। प्रतीकों की यह गति कोरी बुद्धि और मानव चेतना का ही खेल नहीं है। यह गति मानव जीवन की समस्त अनुभूति से स्पष्ट की जा सकती है। अतः, प्रतीकों में निहित धार्मिक अनुभूति को काल्पनिक तथा आत्मनिष्ठ नहीं माना जा सकता है।

४. फिर विस्डम, रामज प्रभृति विचारकों के समान तीलिख् का कहना है कि प्रतीकों के आधार पर नवीन दृष्टि उत्पन्न हो जाती है जिसके द्वारा नवीन मानसिक क्षितिज का विस्तार होता है और नवीन सृष्टियाँ गोचर होने लगती है। बुझव्वल चित्र के प्रति नवीन दृष्टि के हो जाने पर द्रष्टा मे अन्तर तो आ ही जाता है, परन्तु इस अन्तर के साथ बुझव्वल चित्र मे वास्तविक नवीन तथ्यों का भी बोध होने लगता है। अहल्या की कथा सुनकर केवट मे राम के प्रति केवल भक्ति का हो संचार नही हुआ, पर राम भी क्षत्रिय योद्धा न होकर भगवान् दीखने लगे। इसी प्रकार क्रूश पर चढ़ाये गये दो डाकुओं मे से एक ने ईसा को देखकर अपने पापो को छोड़ने का प्रयत्न किया। जब इस पश्चाताप से उसकी बुद्धि विमल हो गयी और उसका हृदय शान्त हो गया तब उसने ईसा को 'ईश्वर के पुत्र' के रूप में देखा। तीलिख् का कहना है ज्ञाता और ज्ञेय के पारस्परिक सबंध में बिना परिवर्तन हुए प्रतीक को प्रतीक के रूप मे नही स्वीकार किया जा सकता है। जबतक मानव ईश्वर के सबध के प्रति जिज्ञासु न हो, ईश्वर के विषय कौतुहलपूर्वक तथा सलग्नता के साथ प्रश्न न करे, तबतक ईश्वर भी मानव पर अपने को प्रकट नहो कर सकता है*। अत. धार्मिक कथनों की सत्यता तटस्थ रूप से केवल वस्तुनिष्ठ नही हो सकती है। परन्तु ई-कथन को न तो मानव कल्पना की उपज कहा जा सकता है और न इसे आत्मनिष्ठ कहा जा सकता है। दिव्यदृष्टि के फल-स्वरूप ही ईश्वर का बोध हो सकता है। परन्तु ईश्वर बाह्यनिष्ठ भी उतना ही है जितना विषयीनिष्ठ। ईश्वर और मानव, सीमित और अपरिमित के बीच सहसबधन का रहना अनिवार्य है।

५. प्राय: लोग समझते है कि धार्मिक प्रतीकों के द्वारा लोक-कल्याण ही होता है। बात ऐसी नही है। व्हाइटहेड और युंग के अनुसार भी धार्मिक अनुभूति से बडी क्षति पहुँच सकती है। धार्मिक लड़ाइयो की बात आसानी से विस्मृत नहीं हो सकती है, क्योंकि समकालीन युग मे भी इसकी यथार्थता ज्यों की त्यो बनी हुई है। परन्तु इसके अतिरिक्त अघोरपंथ, विभिन्न प्रकार के वामपंथ, नरबलि इत्यादि कुत्सित धर्म भी देखने में आते हैं। दानव, राक्षस, शैतान इत्यादि भी धार्मिक प्रतीक हैं और इनके दर्शन से मानव के व्यक्तित्व

* सि० थे० भाग १—पृ० ६०, ६२, ६५, २४३।
डाइनैमिक्स—पृ० ४२-४३।

का विघटन होता है। अतः, धार्मिक प्रतीक को आस्था के साथ स्वीकार किया जाता है, परन्तु इसमे दो जोखिम की गुंजाइश रह जाती है।

(क) कहीं प्रतीक परम सत् का स्थान ग्रहण कर लेने के बाद मूर्त्ति-पूजा का दोष न उत्पन्न कर दे।

(ख) फिर कहीं प्रतीक व्यक्तित्व के समाकलन के स्थान पर व्यक्तित्व का विघटन न कर दे।

अभी तक तीलिख के ईश्वर-विचार की चर्चा नही की गयी, परन्तु ईश्वर-विचार ही तीलिख का मुख्य विषय था। इसलिए इसकी व्याख्या की जायगी।

तीलिख का ईश्वर-विचार

तीलिख के अनुसार वह जो मानव की अन्तिम खोज का विषय होता है वही आराध्य देवता होता है और वह आराध्य देवता जिसके द्वारा 'जिज्ञासु को भान होता है कि उसकी अन्तिम खोज का विषय प्राप्त हो गया है तब जिज्ञासु असत् से उत्पन्न दुष्प्रभाव से मुक्त होकर स्थिरता को प्राप्त होता है। चूंकि परम सत् ही अन्तिम खोज का विषय हो सकता है और चूंकि ईश्वर को भी अन्तिम खोज का विषय कहा गया है, इसलिए तीलिख ने ईश्वर को स्वय सत् अथवा शुद्ध सत् की संज्ञा दी है। परन्तु इस रूप में ईश्वर हमारी आराधना, उपासना, कीर्त्तन तथा ध्यान का विषय नही हो सकता है, इसलिए हम ईश्वर की प्रतिमाओ को प्रतीक बनाकर उसकी आराधना करते है। इसलिए तीलिख ने बताया है कि केवल एक ही कथन ईश्वर के सबंध मे संज्ञानात्मक तथा अ-प्रतीकात्मक हो सकता है, अर्थात् ईश्वर शुद्ध सत् है। इस एक कथन को छोड़-कर जो कुछ ईश्वर के विषय कहा जाता है वह सभी प्रतीकात्मक होता है। जब ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, व्यक्तित्वपूर्ण इत्यादि कहा जाता है, तो ये सभी वर्णनात्मक ई-कथन वास्तव मे अक्षरशः वर्णन नही कहे जा सकते हैं। ये सभी प्रतीकात्मक ई कथन हैं। परन्तु यदि केवल ईश्वर को 'शुद्ध सत्' कहा जाए तो इस कथन को किस प्रकार से धर्म के लिए संतोषजनक समझा जा सकता है? ईश्वर निर्वैयक्तिक रूप धारण कर लेता है और वह अकथनीय होकर अनुपास्य हो जाता है। इस आपत्ति के प्रत्युत्तर के रूप में तीलिख ने ईश्वर-विचार को सिस्टिमैटिक थेओलोजी के भाग (२) के प्रारंभ में बताया है।

तीलिख का कहना है कि ईश्वर के संबंध में जो भी विचार स्पष्ट किया जाए उसे कम-से-कम दो आपत्तियों से मुक्त होना चाहिए, अर्थात् प्रकृतिवाद और पारलौकिकतावाद।

परम सत् कोई सत्ताविशेष नहीं है, परन्तु ईश्वर को उपासना का विषय बनाने के लिए प्राय: लोग ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता मानते हैं और,इस रूप में वे ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता समझते हैं और मानते हैं कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना किसी अमुक काल मे की है। वे समझते हैं कि इस सृष्टिरचना का भी उद्देश्य है और ईश्वर के इस अन्तिम उद्देश्य मे मानव की अपनी गति निहित है। तीलिख के अनुसार ईश्वर को पारलौकिक सत्ता मान लेने से ईसाइयों को बहुत लाभ पहुचा है। परन्तु तीलिख का कहना है कि ईश्वर को पारलौकिक मान लेने से ईश्वर-प्रत्यय मे आघात पहुँचता है। अन्त मे देखा जाए तो हम असीमित शुद्ध सत् को सीमित बना देते हैं। हम समझते हैं कि पारलौकिक ईश्वर ब्रह्माड की ऊँचाई तथा सुदूरता मे रहता है। परन्तु ऐसा समझने पर वह दैशिक जीव हो जाता है। उसी प्रकार ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मान लेने से वह काल के अन्तर्गत चला आता है, क्योंकि समझा जाता है कि ईश्वर ने किसी कालविशेष मे इस सृष्टि की रचना की है और किसी कालविशेष मे वह इस विश्व का अन्त कर मानवों का निर्णय करेगा। इसलिए तीलिख का कहना है कि प्रकृतिवादियों के द्वारा इस पारलौकिक ईश्वर के प्रत्यय की आलोचना सही है*। पर क्या प्रकृतिवादी-द्वारा प्रस्तुत ईश्वर-प्रत्यय को स्वीकार कर लिया जाए? नहीं।

शुद्ध सत् ही ईश्वर का तात्त्विक रूप है और इसे उपास्य करने के लिए इन्द्रिय-गोचर प्रतिमाओं के ही द्वारा ईश्वर की उपासना की जाती है। विश्व हमारी अनुभूति का विषय है। इसलिए हम ईश्वर को संपूर्ण विश्व के रूप मे मानकर प्रकृतिवादी ईश्वर की उपासना करते हैं। स्पिनोजावाद मे यह बात स्पष्ट रूप से देखने में आती है। स्पिनोजा ईश्वर को कोरा शुद्ध सत् समझते हैं और उसकी शक्तिमत्ता को ध्यान मे रखकर ईश्वर को इस विश्व की अन्तर्वर्ती शक्ति मानते हैं जो इस विश्व की सर्जनात्मक शक्ति कही जा सकती है। तीलिख इस प्रकृतिवादी ईश्वर को जड़वाद और यान्त्रिकतावाद के रूप में नहीं मानते हैं। तीलिख के अनुसार प्रकृतिवादी ईश्वरवाद सर्वेश्वरवाद का रूप है और

* सि. थे.—भाग २ पृ० ६।

इसी रूप में स्पिनोजा, वर्ड्स्वर्थ इत्यादि विचारकों में यह पाया जाता है। तीलिख इस सर्वेश्वरवादी प्रकृतिवाद को इसलिए नही स्वीकार करते हैं कि उपास्यता के लिए ईश्वर को विश्व से अतीत रहना चाहिए जो प्रकृतिवादी सर्वेश्वरवाद में नहीं पाया जाता है। फिर विश्व अन्त मे सीमित सत्ता है और असीमित ईश्वर को सीमित नही बनाया जा सकता है। अपितु, यदि वास्तव मे सर्जनात्मक विश्व ही उपास्य हो जाए तो ईश्वर की आवश्यकता नही रह जाती है। पुनः, विश्व में अनुभूत पवित्रता तथा शुचित्व का ही अंश पूज्य होता है, उदाहरणार्थ, महान ऐतिहासिक व्यक्ति और स्थान जिन्हे उन्होने पवित्र किया है। ईसा, मूसा, बुद्ध इत्यादि पूज्य रहे हैं। विश्व को ईश्वर मान लेने से शिवत्व, शुचित्व तथा पवित्रता का धार्मिक भाव विनष्ट हो जाता है।

अतः, तीलिख न तो पारलौकिक ईश्वर और न प्रकृतिरूप ईश्वर को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शक्तिमूलक शुद्ध सत् इस विश्व की आधारभूत सर्जनात्मक शक्ति है। परन्तु विश्व को उसकी आधारभूत सद्शक्ति के साथ आत्मसात् नही करना चाहिए। शुद्ध सत् सभी वस्तुओ का आधार होते हुए भी सभी वस्तुओं से अतीत है· वह न वास्तविक है और न अ-वास्तविक है। केवल सीमित सत्ता के संबंध मे ही अस्तित्व-अनस्तित्व का प्रश्न पूछा जा सकता है। अतः, ईश्वर न तो पार्थिव है और न पारलौकिक। प्रत्येक सीमित वस्तु मे आत्मातिक्रमण रहता है जिसके कारण वह असीमित परम सत् की असीमितता की ओर निर्देश करता है। इसी प्रकार बिना साधारण वस्तु की वास्तविकता को विनष्ट किए हुए ईश्वर-बोध से वह साधारण वस्तु पवित्र मालूम देने लगती है। चूंकि सभी वस्तुएँ अन्तिम रूप मे परम सत् में ही निहित होती है, इसलिए वे ईश्वर की ओर निर्देश करने मे समर्थ होती हैं। फिर कोई भी वस्तु अपने सीमितपन के कारण अतीत एवं असीमित ईश्वर को बोध कराने मे समर्थ नहीं हो सकती हैं। यही कारण है कि प्रत्येक ईश्वर के प्रतीक में आत्मातिक्रमण रहता है और फिर भागग्राहिता भी। अतः, प्रतीकात्मक ई-कथन को न तो अक्षरशः सत्य समझना चाहिए और न इसे अनुभवाश्रित मानना चाहिए*।

ई-कथनों की अर्थपूर्णता एवं सत्यता

पॉल तीलिख ई-कथनो को न तो आत्माभिव्यंजना मानते हैं और न आत्मनिष्ठ अनुभूति का परिचायक ही। साथ-ही-साथ तीलिख ई-कथनों

* सि. थे. भाग (२)—पृ० ६-१०।

को अनुभवाश्रित भी नही मानते हैं, क्योंकि परम सत् हमारे इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है और न हम उसे तटस्थ रूप से सार्वजनिक अनुभूति के द्वारा जान सकते हैं। तीलिख के अनुसार ई-कथनों को वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्ति मानना सबसे बडी भूल है। इसलिए पॉल तीलिख फिश्ले-फ्लू के अनीश्वरवाद को स्वीकार नही करेंगे। तीलिख के अनुसार धार्मिक प्रकथन प्रतीकात्मक होते हैं और उनकी अर्थपूर्णता एवं सत्यता भी प्रतीकवादी होगी। प्रतीकवादी अर्थनिरूपण को स्पष्ट करने के लिए तीलिख ने बताया है कि किस रूप में प्रतीकों को नही समझना चाहिए। प्राय: ईश्वर को 'पिता' तथा 'सृष्टिकर्त्ता' के प्रतीकों के द्वारा बोध कराया जाता है। अब इन प्रतीकों को स्पष्ट करने के लिए हमें निम्न-लिखित बातो पर ध्यान देना चाहिए।

१. हमें प्रतीकों को आत्माभिव्यक्ति का साधन नहीं मानना चाहिए। खेलना-कूदना, नाचना-गाना इत्यादि को आत्मप्रकाशन का साधन माना जाता है। खेलने-कूदने के द्वारा हम किसी सत्ता का बोध नही करते हैं। इसी प्रकार अनेक कविताएँ तथा चित्रकारियाँ कलाकारों की अपनी अभिव्यक्ति के लिए हुआ करती हैं। अब फ्रायड धार्मिक प्रतीकों को विशेषतया 'ईश्वर-पिता' के प्रतीक को व्यक्तियों की अभिव्यक्ति भर ही समझते है। इसी प्रकार फोयबाख तथा अन्य मार्क्सवादी ईश्वर को सामाजिक स्थिति का प्रकाशन-मात्र समझते है। तीलिख फ्रायड तथा मार्क्सवादी व्याख्या को रद्द कर प्रतीको को परम सत् का सच्चा प्रदर्शक तथा परिचायक मानते हैं।

२. फिर प्राय: विचारक धार्मिक प्रतीकों को आत्मनिष्ठ समझते है। वे समझते है कि व्यक्ति मनमाने रूप से किसी प्रतीक को रखकर उसकी पूजा करते हैं। तीलिख प्रतीको को आत्मनिष्ठ नही मानते हैं, क्योंकि इनके अनुसार समाज के द्वारा समादृत और स्वीकृत होने पर ही किसी प्रतीक को धार्मिक अनुभूति का वाहन कहा जा सकता है। तब यह संभव है कि अनेक प्रचलित धार्मिक प्रतीको मे, कोई व्यक्तिविशेष अपने संस्कार के अनुसार, किसी एक को अभीष्ठ समझकर उसे धार्मिक अनुभूति के सचार के लिए उपयुक्त मान ले। उदाहरणार्थ, राम, कृष्ण, विष्णु, महादेव इत्यादि अनेक धार्मिक प्रतीक हैं। कोई एक धार्मिक व्यक्ति अपने संस्कार के अनुसार इन प्रचलित प्रतीकों में से किसी एक को अपने लिए समीचीन तथा उपयुक्त मान कर इसे अपना इष्ट देवता मान ले। परन्तु तीलिख के अनुसार कोई भी व्यक्ति मनमानी रीति से

अपनी इच्छा के अनुसार किसी प्रतिमा को प्रतीक का स्थान नहीं दे सकता है[१]।

अतः, तीलिख स्वीकार करते हैं कि प्रतीकों के आधार पर प्रतीक्य अतीत सत् के संबंध में कथन बाह्यनिष्ठ रूप से कहा जा सकता है। इस प्रसंग मे तीलिख की दो-तीन उक्तियाँ उल्लेखनीय मालूम देती हैं।

(क) प्रतीकों की सत्यता की कसौटी वह नही है जिसके अनुसार निर्दिष्ट वास्तविकता के साथ मिलान कर इनकी सत्यता निर्धारित की जा सकती है, क्योकि परम सत् सीमित मानव चेतना से सर्वथा अतीत है।

(ख) प्रतीको को उत्पन्न करनेवाली चेतना की आन्तरिक आवश्यकता के अनुसार ही प्रतीकों की सत्यता निर्धारित की जा सकती है।

(ग) प्रतीको के प्रति संदेह उत्पन्न होने से अभिव्यंजित होता है कि नवीन दृष्टि का प्रारंभ हो रहा है जिसके अनुसार दूसरे प्रतीकों के द्वारा परम सत् का बोध हो सकेगा।

(घ) एकमात्र उपयुक्त कसौटी तो यही है कि अमुक प्रतीक के द्वारा परम सत् को उसकी निरुपाधिकता के रूप मे बोध किया जाए[२]।

यदि धार्मिक प्रतीकों की सत्यता तथ्यात्मक न हो[३], तो फिर इसकी 'सत्यता' से क्या अर्थ लगाया जा सकता है? पॉल तीलिख ने बताया है कि मानव असत् से प्रभावित होकर विभिन्न प्रकार की दुश्चिन्ताओं से आतंकित रहता है। उन्हीं दुश्चिंताओ से अपने को विमुक्त करने के लिए व्यक्ति परम सत् को प्रतीको के द्वारा प्राप्त कर स्थिरता को भोगना चाहता है। इसलिए प्रतीको का अर्थनिरुपण और उसकी सत्यता अस्तित्ववादी रूप में ही भावात्मक और अभावात्मक रूप से निर्धारित की जा सकती है। प्रतीकात्मक कथन को सत्य-असत्य तो नही कहा जा सकता है। परन्तु उनमें अन्य प्रकार के मूल्य देखने मे आते हैं।

---

१. रि. ए. ट.—पृ १०, १२, ३०४।

२. रि. ए. टी—पृ ३१६

३. सि थे—भाग १—पृ. २४१।

प्रतीकात्मक कथनों को उनके उद्भव के दृष्टिकोण से आप्त-अनाप्त, अभिव्यक्ति की दृष्टि से पर्याप्त-अपर्याप्त तथा परम सत् की आधारभूति में प्रतीकात्मक कथनों को ईश्वरीय-दानवी कहा जा सकता है[१]। दूसरे शब्दों में ई-कथन को 'सत्य' न कहकर उन्हें कहा जाएगा आप्त, पर्याप्त तथा ईश्वरीय; और इन मूल्यों के नहीं रहने से कहा जाएगा अनाप्त, अपर्याप्त और दानवी। आप्त वह कथन है जिसके द्वारा परम सत् के प्रति उद्बुध होने मे उत्प्रेरणा प्राप्त हो। इसके साथ ही साथ प्रतीक को परम सत् का सूचक होना चाहिए: यह स्पष्ट होना चाहिए कि अमुक प्रतीक के द्वारा परम सत् का बोध हो रहा है, परन्तु प्रतीक परम सत् का केवल प्रतिनिधि है और प्रतीक स्वयं परम सत् का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता है। यदि प्रतीक को परम सत् मान लिया जाए तो प्रतीकात्मक ई-कथन अनाप्त हो जाएगा। यह फिर परम सत् का प्रतिनिधित्व करने मे असमर्थ हो जाएगा।[२] प्रतीकात्मक ई-कथन तभी पर्याप्त कहा जाएगा जब इसके द्वारा भक्त के व्यक्तित्व का समाकलन होगा और भक्त को अपने भगवान (अर्थात् प्रतीक) के प्रति पूरी आस्था होगी——उसमे अटल विश्वास रहेगा। यही कारण है कि धार्मिक ई-कथन में भक्त को पूर्ण तन्मयता होनी चाहिए। इसी बात को जेम्स और युंग ने बताया है कि धार्मिक अनुभूति-विषयक ई-कथन स्वतःप्रमाणित होते हैं। प्रतीकात्मक ई-कथन मे तर्कनिष्ठ अनिवार्यता नही होती, इसमें मनोवैज्ञानिक असंदिग्धता अवश्य रहती है। परन्तु यह असंदिग्धता शुद्ध सज्ञानात्मक नही होती है। प्रतीकात्मक ई-कथन की पर्याप्तता भक्त के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से प्रदर्शित होती है। भक्त अपने वचन, कर्म और अपने पूरे तन-मन के साथ ई-कथन को स्वीकार करता है।

प्रतीकात्मक ई-कथन वह है जिसमे ईश्वर के दोनों अशों को परिस्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाता है कि ईश्वर अन्तिम रूप से परम सत् है। परन्तु इस एक अतितात्विक कथन को छोडकर जितनी बातें ईश्वर के संबध मे कही जाती हैं, वे सभी तीलिक के अनुसार, प्रतीकात्मक कही जाएँगी। उदाहरणार्थ, ईश्वर को विश्व का सृष्टिकर्ता, पालक और सहारकर्ता कहना प्रतीकात्मक कहा जाएगा। दूसरे शब्दों मे, शंकर के अनुसार ब्रह्म के दो रूप है अर्थात् सगुण और निर्गुण। तीलिख के अनुसार सगुण ब्रह्म को प्रतीक कहना चाहिए। परन्तु

१. फि. रि—पृ. ४०६।
२. रि. ए. टी —प. ३१५

ई-प्रतीक इतना पारदर्शक है, इतना समर्थ है कि इसके द्वारा परम सत् का बोध हो जाता है। परम सत् के बोधक, सूचक तथा संकेतक के रूप मे ही ईश्वर-प्रतीक को समझ लेने पर परम सत् की शक्ति का संचार होता है और इससे भक्त के व्यक्तित्व का समाकलन होता है, और जैसा युंग ने बताया है, इस व्यक्तित्व-समाकलन की प्राप्ति से भक्त के अन्दर शांति तथा आनंद का संचार होता है। यदि ईश्वर-प्रतीक को परम सत् का सूचक प्रतीक नही माना जाए, तो सीमित प्रतीक को ही ईश्वर मान लिया जाएगा। उदाहरणार्थ, ईसा और बुद्ध को लोग परम सत् मानकर अथवा इन्हें अज्ञान के कारण 'निर्गुण ब्रह्म' का परम स्थान देकर इनकी उपासना करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में ईश्वर का प्रतीक सीमित होकर मूर्तिपूजा का पोषक हो जाएगा। मूर्तिपूजा के होने पर धार्मिक कलह की गुंजाइश हो जाएगी। कोई ईसा को, कोई राम को और कोई अल्लाह को ही एकमात्र परम सत् समझकर आपस मे झगड़ेंगे। इसके कारण आत्मविकास के स्थान पर व्यक्तित्व का विघटन हो जाएगा।

प्रतीक का काम है कि परम सत् का सूचक हो। परम सत् मानव और सभी सृष्टि से परे और अतीत है और विचार तथा नैतिक भेद से परे और अतीत है। परन्तु यह मानव शुभत्व से कम नही। उससे उतना उच्चतर है कि मानव शुभत्व परम सत् के प्रसग मे काफी फीका और क्षीण मालूम देता है। तो भी किसी भी ईश्वर-प्रतीत को अकल्याणकारी नही कहा जा सकता है। अब यदि ईश्वर-प्रतीक को दानव, राक्षस, शैतान, मोलौक इत्यादि रूप मे मान लिया जाए, जैसा वाम-मार्गियो मे देखा जाता है, तो ऐसी दशा में व्यक्तित्व का विघटन हो जायगा,—व्यक्ति की शान्ति समाप्त हो जाएगी।

अतः, प्रतीकात्मक ई-कथन की सत्यता इसमे है कि ईश्वर-प्रतीक के द्वारा 'निर्गुण ब्रह्म रूप' परम सत् की सूचना हो जिससे व्यक्तित्व का संघटन और विकास हो। परन्तु पॉल तीलिक की कुछ उक्तियाँ रहस्यपूर्ण और अनिश्चित मालूम देती है।

"इस सदर्भ मे 'सत्यता' का अर्थ है वह मात्रा जिसमे (अमुक) प्रतीक सभी प्रतीकों में अन्तर्निहित निर्दिष्ट को बोध कराने मे समर्थ हो"*।

* रि० ए० टी०—पृ० ३१५।

प्रतीक की सच्ची कसौटी वह है जिसके अनुसार प्रतीक अन्तिम सत्ता से मेल खा जाए[1]।

'उस प्रतीक में सत्यता है जो प्रकाशना को बोध कराने के लिए पर्याप्त हो। वही प्रतीक सत्य है जिसके द्वारा सत्य प्रकाशना अभिव्यक्त हो'[2]।

उपर्युक्त युक्तियों से (जिनकी सख्या बढ़ सकती है) ऐसा मालूम देता है कि कभी-न-कभी परम सत् का अवबोध हो सकता है। परन्तु परम सत् सभी प्रकार के बोधन से परे और अंाझल है। इसलिए वास्तव में अमुक धार्मिक प्रतीक परम सत् से मेल खा रहा है या नही. उसका बोध करा रहा है या नही, उसकी प्रतिमा मे परम सत् का अंश है या नही, इन सब बातो की जांच अन्त मे आप्तता, पर्याप्तता तथा ईश्वरीयता की कसौटी के द्वारा की जा सकती हैं।

पॉल तीलिख ने ई-कथन के संबंध मे कहा है कि 'ईश्वर एक रूप में स्वय सत् है', यह कथन स्वयं प्रतीकात्मक नही है। परन्तु इस एक कथन को छोडकर ईश्वर के संबंध मे सभी कथित प्रकथन प्रतीकात्मक हैं। तो क्या इस कथन 'ईश्वर स्वयं सत् है', को संज्ञानात्मक कहा जा सकता है? नहीं, यह केवल एक प्रस्ताव है, जिसके आधार पर प्रतीक-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रस्ताव को प्रतिज्ञप्ति नहीं माना जा सकता है। अतः, तीलिख का प्रतीक-संबंधी प्रस्ताव न तो संज्ञानात्मक है और न असंज्ञानात्मक। तो क्या परम सत् के संबंध में किसी प्रकार की संज्ञानात्मक प्रतिज्ञप्ति संभव नहीं है? मेरी समझ में तीलिख के प्रतीक-सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि तथा ज्ञान से अतीत परम सत् के संबंध में किसी प्रकार की संज्ञानात्मक प्रतिज्ञप्ति नहीं की जा सकती है। स्वय तीलिख की अपनी उक्ति इस प्रसंग मे निर्णायक समझी जा सकती है।

ईश्वर, देवता इत्यादि सभी काल्पनिक सत्ताएँ हो सकती हैं। ये सभी मानव मन के आरोपण-मात्र हैं। परन्तु कोई-न-कोई पट अवश्य होगा, चाहे यह दीवार हो या यवनिका हो, या कोई अन्य अस्तित्व हो या अन्यत्र सत्ता हो। परन्तु वह पट, जिस पर प्रतिमाओं का आरोपण किया जाता है,

---

१. फि० रि०—पृ० ३९८।

२. सि० थे० भाग १—पृ० २४०।

स्वयं आरोपण नहीं कहा जा सकता है। स्वयं पर्दा या पट आरोपित नहीं होता है : पर्दे पर प्रतीकों को आरोपित किया जाता है। यह पर्दा परम सत् का अन्तिम आलम्बन है, जिसके आश्रय में प्रतीक उत्पन्न अथवा आरोपित होते रहते हैं* ।

अतः, परम सत् को तीलिख् अन्तिम सत्ता मानते है : परन्तु यह सत्ता वर्णविहीन, शुद्ध उजला पर्दा है। इसे लखा जा सकता है, परन्तु इसका वर्णन नही किया जा सकता।

मूर्तिपूजा और अनीश्वरवाद :

चूँकि परम सत् सभी विचारों से अतीत है, इसलिए परम सत् के संबध मे संज्ञानात्मक प्रतिज्ञप्ति संभव नही हो सकती है। परन्तु परम सत् अतीत होते हुए मानव से सम्बद्ध है और मानव तल्लीनता और उसकी अन्तिम धुन का विषय है। जबतक मानव ईश्वर को प्राप्त नही कर लेता है अर्थात् ऐसे प्रतीक नही ग्रहण करता है जो उसे परम सत् का प्रतीकात्मक बोध कराए, तबतक वह अशात, बेचैन और व्याकुल रहता है। वह परम सत् के साथ केवल प्रतीकों के ही द्वारा संबंध स्थापित कर सकता है। जो प्रतीक जितना अधिक पर्याप्त तथा आप्त होगा, उसमें उतनी ही अधिक मात्रा में परम सत् का अंश रहेगा, और जितना अधिक परम सत् का अंश रहेगा, धार्मिक व्यक्तियों को उतना ही अधिक भय रहेगा कि अमुक प्रतीक को प्रतीक न मानकर निर्गुण ब्रह्मरूपी परम सत् मान लें। यह है मूर्तिपूजा, जिसमे सीमित व्यक्ति अथवा प्रतीक परम सत् मान लिया जाता है। ईसा और बुद्ध उल्लेखनीय ऐतिहासिक व्यक्ति है, जो ईश्वर-प्रतीक हुए और अन्त मे अपने अनुयायियो के द्वारा आराध्य देवता बन गए है। परन्तु कोई भी सीमित जीव, कितना ही पूर्ण मानव क्यों न हो, ईश्वर नही स्वीकार किया जा सकता है। अतः, तीलिख् के अनुसार प्रत्येक मूर्तिपूजा की कमी को बराबर दिखलाते रहना चाहिए और बार-बार बताते रहना चाहिए कि किसी भी प्रतीक को पूर्ण ईश्वर अर्थात् परम सत् (शाकरीय निर्गुण ब्रह्म) नही मानना चाहिए। इस प्रतीक-भंजन को तीलिख् अनीश्वरवाद की संज्ञा देते हैं। इसलिए तीलिख् के अनुसार प्रतीकों के उन्मज्जन के साथ उनके विलयन की कथा भी साथ हो

* सि० थे०—भाग १—पृ० २१२।

साथ रहनी चाहिए : युग की माँगों तथा युग की दृष्टि के साथ नये-नये प्रतीकों का उद्भव होता है और फिर ज्ञानवृद्धि के साथ उनका विलयन भी हो जाता है। जर्मन-देश मे स्वस्तिका, फ्यूहरर (नेता) इत्यादि का उद्भव हुआ और १०-१२ वर्षों मे ही उसका विलयन भी हो गया। तीलिख के अनुसार यदि प्रतीक-भंजन की क्रिया जारी न रहे तो किसी भी धर्म में अन्त में कठोरपंथ, असहिष्णुता तथा संकीर्णता अवश्य आ जाएगी*। परन्तु कालगति से एक प्रतीक के भंजन से दूसरे अन्य प्रतीक का उद्भव भी होता रहता है। इस उद्भव और अन्त के दोलन में धार्मिक चेतना की गहराई नित्य नूतन उद्विकसित स्थिति को प्राप्त होती रहती है। इसका मुख्य कारण निम्न-लिखित है।

तीलिख के अनुसार मानव न तो शुद्ध रूप से सीमित जीव है और न वह कोरा असीमित है। वह उभयस्थितिक जीव है। वह परम सत् से छिटका हुआ है और फिर उससे पुर्नमिलन के लिए व्याकुल रहता है। व्यक्ति के अन्दर विमुखीकरण-पुनर्मिलन, पूर्णता-अपूर्णता, सीमित-असीमित की कसाकसी रहा करती है और इस आन्तरिक तनाव से उसे कभी भी चिरशांति नही मिल सकती है। मानव का ईश्वर भी असत् और उसके प्रतीक, इन दोनों की कसाकसी में रहता है और ईश्वर-ज्ञान इस दोलन मे एक छोर से दूसरे छोर तक दोलायमान रहता है। इसी विडम्बना की स्थिति मे प्रतीको का उदय-अस्त होता रहता है। यदि तीलिख के इस अनीश्वरवादी सिद्धान्त को युग की व्यष्टीयन-प्रक्रिया से जोड़ दिया जाए तो कहना पड़ेगा कि ज्ञानवृद्धि के साथ प्रतीकों मे सूक्ष्मता, लचीलापन तथा व्यापकता आती रहती है और ईश्वर-प्रत्यय कालगति से परि-शुद्ध होता जाता है। पर कही ऐसा तो नही हो जाए कि ईश्वर-प्रत्यय के परिष्कार-कार्य के साथ ईश्वर पूर्णतया परिष्कृत होकर सदा के लिए ओझल हो जाए ? तीलिख के अनुसार मानव बिना अन्वेशी, मुमुक्षु हुए रह ही नही सकता है। इसलिए प्रतीक बनते-बिगडते रहेंगे, परन्तु मानव बिना किसी प्रतीक के नही रह सकता है। अतः अनीश्वरवाद का मुख्य आधार ईश्वरवाद है। यदि ईश्वर ही न हो तो खडन किसका होगा ? इसलिए तीलिख के लिए ईश्वरवाद ही अन्तिम सत्य है। बॉनहोयफर ने धर्म की प्राग्नुभविकता को अस्वीकार किया

---

* डाइनैमिक्स—पृ० ११८-१२५—रि० ए० टी०—पृ० ३१५, दि करेज टू बी—पृ० २०-२६, १७६-१७६।

है और कुछ ईसाई विचारक भी अनीश्वरवाद को ही अन्तिम रूप से सत्य मानने लगे हैं। परन्तु इसकी चर्चा अतिसक्षेप में बाद में होगी। यहाँ अतिसंक्षेप में तौलिख के धर्मदर्शन की समीक्षा अभीष्ठ मालूम देती है।

समीक्षा : पॉल तीलिख के दो पक्ष हैं; एक तो आप ईसाई धर्मदार्शनिक हैं और दूसरे आप शुद्ध धर्मदार्शनिक भी समझे जा सकते हैं। इस पुस्तक मे तीलिख को धर्मदार्शनिक समझा गया है और इसलिए तीलिख के प्रकाशना तथा खीष्ट-संबधी विचारो को यहाँ स्थान नही दिया गया है। यदि तीलिख के प्रतीकवाद को शुद्ध धर्मदर्शन की दृष्टि से देखा जाए तो इसमें दो-तीन बातें उल्लेखनीय हैं।

१. तीलिख ने बताया है कि ईश्वर के दो रूप हैं अर्थात् एक रूप जिसमें वह अन्तिम परम सत् और दूसरे रूप मे ईश्वर को प्रतीकात्मक ही समझा जाना है। अब ईश्वर के दो रूपो को क्यो माना जाए? क्या यह बात केवल ईश्वर के ही लिए सत्य है कि सभी वस्तुओं के लिए? तीलिख के अनुसार सभी वस्तुओ का आधार परम सत् है। इसलिए सभी वस्तुओं मे वे ही दो पक्ष हैं जिनका उल्लेख तीलिख ने ईश्वर के संबध में किया है। फिर ईश्वर के सबध में इन दो पक्षों को विशेष रूप मे क्यो किया गया है? इसलिए कि आप ईसाई थे और ईसाई धर्म में बिना ईश्वर की चर्चा किए हुए धर्मचिंतन संभव नही होता है। परन्तु चूंकि तीलिख बौद्ध तथा वेदान्त में भी अन्तिम सत् की मान्यता पाते है, इसलिए वे इन्हे भी 'धर्म' संज्ञा देने से नहीं हिचकते हैं[1]। इसी प्रकार आप अनीश्वरवादी परम्परा को भी 'धर्म' मानने के लिए तैयार है[2]। ऐसी अवस्था में 'ईश्वर-प्रत्यय' तीलिख के प्रतीकवाद के लिए आवश्यक नहीं है। उनके धर्मदर्शन के लिए वास्तव में परम तत्त्व है 'परम सत्' या 'निरुपाधिक अतीत' और इसे उन्होने वर्णविहीन सफेद पर्दे के रूप मे समझा है। इसलिए तर्कसंगत रूप से तीलिख को ईश्वर को परम सत् के रूप में स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं थी। ईश्वर को भी केवल प्रतीक ही मानना चाहिये था। ऐसी अवस्था में आप कह सकते थे कि मानव ईश्वर-प्रतीक के द्वारा परम सत् को प्राप्त करना चाहता है। ऐसा मान लेने से ईसाई धर्म, शाकर अद्वैतवाद तथा जैन-बौद्ध परम्परा के बीच समन्वय होने की गुंजाइश हो जाती है और फिर

१. सि. थे.—भाग १-पृ. २२०
२. सि. थे—भाग २-पृ २५-२६

मानवतावाद और अनीश्वरवाद को भी बहुत कुछ नजदीक आने का अवसर मिलता। यदि यही बात कही जाती कि सभी व्यक्तियों में अन्तर्निहित बेचैनी है जिससे व्याकुल होकर प्रत्येक व्यक्ति परम सत् से पुनर्मिलन चाहता है तो क्यों नही समाधि, योग तथा अनीश्वरवादी सामाजिक प्रक्रिया के आधार पर इस पुनर्मिलन की बात की जा सकती है ? मेरी समझ मे यदि पॉल तीलिख ईसाई धर्मवैज्ञानिक नही होते और आप पुजारी नहीं होते तो आप के मत में समकालीन शांकर सिद्धान्त की पुष्टि होती। परन्तु ईश्वर-विचार में ईश्वर के दोनों पक्षो को रखकर तीलिख ने मानव के अस्तित्वमूलक विरोधाभासी जीवन पर प्रकाश डालने की कोशिश की है। परन्तु यह विरोधाभासी स्वरूप वास्तव मे शांकर निर्गुण ब्रह्म में भी है, नही तो 'माया-शक्ति' फिर कहाँ से आती ?

मैंने शांकर अद्वैतवाद की इसलिए चर्चा की है कि विश्व के तीन बडे विचारक शंकर, अक्वाइनस और तीलिख ने परम सत् को अकथनीय और वर्णनातीत माना है। यदि ऐसी बात हो तो ईश्वर-संबंधी विचार प्रतीकात्मक कहा जाएगा और प्रतीको के नाम पर धर्मकलह नही होनी चाहिए।

पॉल तीलिख के प्रतीक-सिद्धान्त मे बहुत बल है, परन्तु प्रतीकात्मक कथन को किसी भी अर्थ में ससूचनात्मक नही माना जा सकता है। इस अर्थ मे प्रतीक-सिद्धान्त मे साम्यानुमान की अपेक्षा कम संज्ञानात्मकता का दावा किया जाता है। प्रत्येक प्रतीक को सापेक्ष माना जाएगा। किसी एक प्रतीक को दूसरे अन्य प्रतीक से अधिक सत्य नही कहा जाएगा। परन्तु यह जानकर कि सभी प्रतीक केवल एक परम सत् के विभिन्न प्रतिनिधि हैं, धार्मिक कलह का अन्त होना चाहिए। विशेष बात यह है कि मानव बिना धर्म के अथवा प्रतीक के नही रह सकता है। इसलिए धार्मिक प्रतीकों को जीवन मे स्थिरता-प्राप्ति का साधन समझना चाहिए। साथ ही साथ तीलिख इस धार्मिक प्रश्न को आप्त जीवन के लिए अथवा अस्तित्वमूलक समस्या-समाधान के लिए अनिवार्य समझते हैं। इस बात को अभी तक मानवतावादी पूर्णतया नहीं समझ पाए हैं। मानवतावादी समझते हैं कि मानव बुद्धि, तर्क और विज्ञान के द्वारा ही जीवन-यापन कर सकते हैं। मानवतावादी स्वयं फ्रायड बताएँगे कि मानव अभी भी पाशविक वृत्तियों से तथा दमित गाँठों से संचालित होता है। तब यदि मानवतावादी, युंग और तीलिख का अध्ययन करें तो वे अपने अनीश्वरवादी मानवतावाद को अधिक पुष्ट कर सकेंगे।

हम देखेंगे कि प्रतीक-सिद्धान्त समकालीन धर्मदर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण है और इसको अस्तित्वमूलक सलग्नता का सिद्धान्त हेयर के ब्लिक-सिद्धान्त तथा ब्रेथवेट के नीतिमूलक धर्मसिद्धान्त में पाया जाता है। परन्तु हेयर और ब्रेथवेट दोनों ई-कथनों को असंज्ञानात्मक मानते हैं। अतः, धार्मिक ज्ञान के संबंध में यह तीसरा और अन्तिम पक्ष है।

असंज्ञानात्मक सिद्धान्त—(*III*)

आर० एम० हेयर का ब्लिक-सिद्धान्त

फिडले-फ्लू ने ई-कथन को संज्ञानात्मक मानते हुए सिद्ध किया है कि ईश्वर-प्रत्यय आत्मविरोधी है (फिंडले) और मिथ्याप्य नही होने के कारण अर्थहीन है (फ्लू)। हेयर स्वीकार करते हैं कि यदि ई-कथन वास्तव में तथ्यात्मक हों तो इन्हे संज्ञानात्मक होने के लिए सत्याप्य-मिथ्याप्य होना चाहिए और यदि ई-कथन मिथ्याप्य नही होते हैं तो यह सिद्ध हो जाता है कि वे वास्तव में सज्ञानात्मक नही हैं। हेयर के अनुसार ई-कथन को संज्ञानात्मक मानना ही भूल है और इसलिए ई-कथन की मिथ्याप्यता का प्रश्न ही नही उठता है। फ्लू की भूल इसी मे है कि उन्होने ई-कथन को निश्चितार्थक संज्ञानात्मक प्रतिज्ञप्ति माना है और चूंकि ई-कथन मिथ्याप्य नहीं सिद्ध हो पाए, इसलिए फ्लू ने ई-कथनों को अर्थहीन कहकर ठुकरा दिया है। परन्तु यदि ई-कथन संज्ञानात्मक नही होगे तो उन्हें मिथ्याप्य सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्या है? ई-कथन प्रारभ से ही असंज्ञानात्मक हैं और इसलिए वे मिथ्याप्य नहीं हैं। उन्हे मिथ्याप्य दिखाने का प्रयास ही व्यर्थ और प्रसंगहीन है। हेयर के अनुसार ई-कथन ब्लिक-कथन हैं।

आर० एम० हेयर ने 'ब्लिक' शब्द को गढ़ा है। ब्लिक वह प्रतिभास है जो किसी एक दृष्टिकोण से किसी वस्तु को देखने से प्राप्त होता है। इसलिए ब्लिक मानव की लगभग वह स्थायी और व्यापक 'दृष्टि' है, जिसके अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ प्रतिभासित होती हैं। चाँद एक ही होता है, परन्तु बिरही को यह दुखदायक दिखता है और प्रेमी को सुखदायक। पपीहे की बोली एक धार्मिक मुसलमान को सुनाई देती है 'अल्लाह तेरी कुदरत' और वही बोली किसी बनिए को सुनाई देती है 'घी, चीनी, अदरख'। इसी प्रकार से ई-कथन ईश्वरवादी की दृष्टि से उत्पन्न होते हैं और चूंकि अनीश्वरवादी की ष्टि भिन्न्

होती है, इसलिए अनीश्वरवादी ईश-कथन को दूसरे रूप से समझता है। हमलोगों ने ब्लिक को 'अभिवृत्ति' कहा है। इसलिए ईश-कथन को अभिवृत्तिमूलक कहा जा सकता है। चूंकि ब्लिक तथ्यों के प्रति दृष्टि है, न कि स्वयं तथ्य है, या तथ्यों से उत्पन्न अनुभवाश्रित सत्यता है; इसलिए ब्लिक-कथन न तो सत्य है और न असत्य। आगे चलकर हम देखेंगे कि धार्मिक दृष्टि संकीर्ण हो सकती है या उदार, स्वस्थ हो सकती है या असामान्य। ब्लिक-कथन भी अर्थपूर्ण हैं। परन्तु इसकी अर्थपूर्णता उद्देश्य को उस सफलता से आंकी जाती है जिस उद्देश्य से ब्लिक की स्थापना होती है। वैज्ञानिक की दृष्टि इसी में है कि वह सभी घटनाओं को पूर्णतया तटस्थ होकर देखे; सर्वजीवात्मवादी सभी घटनाओं को जीवों और आत्माओं का खेल समझता है और इसी प्रकार ईश्वरवादी सभी घटनाओं को ईश्वर से उत्पादित मानता है। क्या ब्लिक को भी सत्य-असत्य समझा जा सकता है? नहीं।

सत्यता-असत्यता का संबंध तथ्यों से होता है। जो कथन तथ्यों के अनुरूप हों, उन कथनों को सत्य और जो अनुरूप न हों, उन्हें असत्य कहा जाता है। परन्तु स्वयं ब्लिक कोई तथ्य नहीं है। स्वयं ब्लिक के ही द्वारा स्थिर किया जाता है कि किस घटना को 'तथ्य' की संज्ञा दी जाए और किस घटना को तथ्य नहीं समझा जाए। यह बात कान्त के प्रागनुभव तथ्यों के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है। कान्त के अनुसार प्रत्यक्षीकरण के और विचारने के प्रागनुभव तत्व सभी मानव मे एकरूप में पाए जाते हैं। सभी मानव किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष उसे देश-काल मे अभिरंजित कर देखते हैं। इसलिए मानवों के लिए कोई भी वस्तु छोटी-बडी, दूर-नजदीक, वर्त्तमानकालिक, क्षणिक या दीर्घकालीन दीखेगी। परन्तु वस्तुओं का छोटा-बडा होना यह केवल मानव दृष्टि का फेर है। अ-मानवों के लिए आवश्यक नहीं है कि वस्तु दूर-नजदीक, क्षणिक, दीर्घ-कालीन दीखें। इसी प्रकार से कान्त के अनुसार सभी मानवों के अन्दर विचारने की प्रगाढ़ अभिवृत्ति ऐसी जमी हुई है कि वे सभी घटनाओं को कार्य-कारण के आधार पर ही व्यवस्थित करते हैं। कान्त के अनुसार, न तो दिक्-काल की बहिर्निष्ठ सत्ता है और न कारण-कार्य की। यह सब दृष्टि का करामात है। जिस प्रकार लोग समझते हैं कि जादूगर दर्शकों की नजरबन्दी कर या उनके मत को बदलकर जादू का खेल करता है, उसी प्रकार धर्म के आधार पर, हेयर के अनुसार, एक लगभग स्थाई दृष्टि हो जाती है जिसके अनुसार वे संपूर्ण विश्व को देखते हैं। इसी प्रकार हेयर ने बताया है कि ह्यूम का भी यही सिद्धान्त था।

ह्यूम ने बताया है कि वास्तव मे केवल संवेदनाओं को ही ज्ञान-सामग्री माना जा सकता है। परन्तु संवेदनाएँ क्षणभंगुर हैं। इसलिए इन्हीं क्षणभंगुर संवेदनाओं के आधार पर स्थायी बाह्य जगत् की स्थापना तर्कसंगत रूप से नही की जा सकती है। परन्तु बिना बाह्य जगत् को स्थायी माने मानवों को व्यावहारिक सफलता नही प्राप्त हो सकती है। बाह्य सत्ता का सिद्धान्त, ह्यूम के अनुसार, संवेदित तथ्यो पर आधारित नही है। यह मानवों में अन्तर्निहित प्राकृतिक देन है,…एक पाशविक विश्वास है। अतः, वह गहरी प्रवृत्ति जिसके अनुसार विश्व की सभी घटनाएँ प्रतिभासित होती हैं, हेयर के अनुसार ब्लिक है। ब्लिक स्थिर करता है कि किस घटना को आधारभूत तथ्य कहा जाए और किस घटना को तथ्य की संज्ञा नही दी जाए[१]। इसलिए ब्लिक न तो तथ्यों से पुष्ट-अपुष्ट होते हैं और न तथ्यो से निर्धारित होते हैं। इसके विपरीत स्वयं तथ्य ही ब्लिक पर निर्भर करते हैं। अंधविश्वासी के लिए अभी भी तंत्र-मंत्र वास्तविक घटनाएँ हैं। परन्तु प्रकृतिवादी वैज्ञानिक जादू टोना को तथ्य नही गिनता हैं। इसलिए स्वयं तथ्य-विचार दृष्टि पर निर्भर करना है, न कि दृष्टि तथ्यों पर। चूंकि ब्लिक-कथन में तथ्यों का विचार विशेष नही है, इसलिए ब्लिक-कथन को संज्ञानात्मक नही कहा जा सकता है, परन्तु संज्ञानात्मक नहीं होने पर भी ब्लिक-कथन में अपना मूल्य औचित्य तथा अपनी महत्वपूर्णता पाई जाती है। ईश्वरवादी के लिए यह विश्व एक रूप में दीखता है और अनीश्वरवादी को दूसरे रूप मे[२]। दोनों के लिए विश्व का भिन्न-भिन्न महत्व है। अजायबघर पुरातत्ववेत्ता को बहुमूल्य संग्रहालय दिखाई देता है और बच्चों के लिए लुक्का-चोरी खेल का अनुपम क्रीडा-स्थल। परन्तु दोनों के लिए अजायब घर अर्थहीन नही, वरन् अर्थपूर्ण है। इसलिए हेयर के अनुसार ई-कथन ब्लिक-कथन है, परन्तु अपने रूप से पूर्णतया अर्थपूर्ण हुआ करता है। ई-कथन को ब्लिक-कथन मानकर इसे स्पष्ट करने के लिए हेयर ने विश्व-विद्यालय के एक पागल छात्र का दृष्टान्त लिया है, ताकि स्पष्ट कर दिया जाए कि क्यो ई-कथन ब्लिक कथन होने के कारण मिथ्याप्य नही हो नकता है।

मान लिया जाए कि अमुक छात्र जॉन समझता है कि आक्सफोर्ड के सभी अध्यापक उसकी जान लेने पर उतारू हैं। वह छात्र वास्तव में पागल है और

१. न्यू एसेज—पृ० १०१,
केस ऐंड ऑब्लिक—पृ० १६२।
२. केस ऐंड ऑब्लिक—पृ० १८६-१६०।

वास्तविकता ऐसी नहीं है कि सभी आक्सफोर्ड के शिक्षक उसकी हत्या करना चाहते हैं। परन्तु पागल होने के कारण उसमें यह भ्रान्तिपूर्ण ब्लिक जड़ पकड़े हुए है। यदि इस पागल छात्र को कहा जाए कि सभी अध्यापकों को षड्यन्त्री समझना असत्य है, क्योंकि अध्यापक क और ख अति दयालु और कृपावान हैं। पागल छात्र स्वीकार करेगा कि क और ख अध्यापक दयालु अवश्य हैं। परन्तु उनकी दयालुता दिखावटी है। यह दयालुता उनके हत्या करने के षड्यंत्र का छिपा हुआ पैंतरा है। हेयर का कहना है कि अध्यापक कितने ही दयालु व्यापार क्यो न कर, परन्तु पागल छात्र अपने इस कथन को कि 'सभी अध्यापक उसके प्रति षड्यत्र कर रहे हैं' मिथ्या मानने को तैयार नही होगा। कोई भी दयालु अथवा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार उसके लिए उसके कथन को मिथ्यापित करने मे असमर्थ होता है। इसलिए हेयर के अनुसार ब्लिक-कथन मिथ्याप्य नही स्वीकार किए जा सकते हैं। ईश्वर-संबंधी कथा भी इसी प्रकार के ब्लिक-कथन हैं। भक्त को ईश्वर के प्रति इतनी अधिक आस्था रहती है कि कोई भी घटना ई-कथन को मिथ्यापित करने मे असमर्थ होगी।

ब्लिक-कथन तथ्यात्मक नही हैं क्योकि वे अभिवृत्तिमूलक होते है और फिर किसी भी दृष्टि को अपनाने के लिए प्रस्ताव तथा नियोग के रूप मे रखा जाता है। परन्तु प्रस्ताव न तो सत्य है और न असत्य। यह चाहे संतोषजनक होकर स्वीकार्य होगा या अस्वीकार्य, सफल कहलाएगा या असफल। चूंकि ब्लिक-कथन तथ्यात्मक नही होते, इसलिए इनके आधार पर तथ्य-संबंधी भविष्य-कथन नही किया जा सकता है*। हेयर बताते हैं कि हिन्दू और मुसलमान, दोनो भारत मे रहते है। हिन्दू और मुसलमान, दोनो के लिए भारत की आर्थिक स्थिति, बेकारी, अन्न को कमी इत्यादि सभी तथ्य एकसमान हैं। तब चूंकि इन दोनो की धार्मिक अभिवृत्ति मे बड़ा भेद है, इसलिए इन्हे भारत एक रूप में नही दिखाई देता है। मुसलमान के लिए एक प्रकार की वस्तु भक्ष्य है और हिन्दू के लिए दूसरे प्रकार की वस्तु; हिन्दू के लिए परिवार-नियोजन देश की माँग है और मुसलमान के लिए परिवार-नियोजन उसके धर्म के अनुसार शायद उचित न माना जाए। अतः, धार्मिक ब्लिक तथ्यों पर निर्धारित नही होता है, परन्तु तथ्यों में इसके कारण बहुत अन्तर आ जाता है। हेयर धार्मिक ई-कथन को सज्ञानात्मक नहीं मानते हैं। हेयर के अनुसार, ईश्वर-ज्ञान या

* शायद हेयर मरणोत्तर अनुभूति के आधार पर हिक-क्रौम्बी के पूर्वकथन को स्वीकार नहीं करेंगे। कम से कम उन्होंने इसकी ओर कोई संकेत नहीं किया है।

वैज्ञानिक जिज्ञासा का विषय नहीं है। वे विस्डम के लेख की ओर निर्देश कर कहते हैं कि विस्डम के दो यात्री बगीचे के संबंध मे अदृश्य माली की बात उत्सुकतापूर्वक तथा तटस्थ जिज्ञासुओं के समान करते हैं। परन्तु ई-कथन तटस्थ जिज्ञासा का विषय नहीं है। यह ईश्वर भक्त के लिए उत्कंठा, धुन, संलग्नता, आस्था, उद्विग्नता तथा मुमुक्षुत्व का विषय है[1]। स्वयं विस्डम ने स्वीकार किया है कि ई-कथन संज्ञानात्मक नहीं होते हुए भी जीवन के लिए मूल्यमूलक होते हैं। यदि ईश्वर को जीवन के मूल्यों के लिए आवश्यक माना जाए तो ई-कथन को आत्मसमर्पणात्मक तथा प्राणटेकी[3] कहा जाएगा। इसलिए हेयर के अनुसार ई-कथन तथ्यात्मक नहीं हैं, परन्तु ये तथ्य-तटस्थ भी नहीं हैं। ये तथ्यबद्ध कहे जा सकते हैं, क्योंकि धार्मिक ब्लिक का संबंध तथ्यों से ही रहता है। ईश्वर-विश्वास के कारण ईश्वरवादी की आचारनीति किसीं विशेष प्रकार की होती है और फिर वह विश्वास करता है कि अतीत मे अमुक प्रकार की घटना हुई है और भविष्य मे भी अमुक रूप की घटना होगी[2]। इसलिए हेयर के अनुसार फ्लू की भूल है कि वे ई-कथन को संज्ञानात्मक मानते हैं।

हेयर के अनुसार ब्लिक-कथन मूल्यपरक और वर्णनात्मक दोनों एक साथ ही होता है। इसमे संस्ताव भी देखा जाता है। उदाहरणार्थ, यदि राम को आराध्य समझकर उसकी पूजा की जाती है, तो राम को उपास्य रूप मे ग्रहण करने का संस्ताव रहता है। साथ-ही-साथ गौण रूप से स्वीकार किया जाता है कि राम है और उनमें अमुक गुण हैं, अर्थात् राम-संबंधी वर्णनात्मक कथन को भी स्वीकार किया जाता है।

गुणों की वर्णनात्मकता को तभी सत्य-असत्य ठहराया जा सकता है, जब हम उस अमुक आराध्य देवता से सम्बद्ध धर्मभाषा और धर्म को स्वीकार करें[4]। अतः, क्रौम्बी और विल्सन के समान हेयर भी स्वीकार करते हैं कि ई-कथन ईश्वरवादी धर्म और धर्मियों के संदर्भ में सार्थक माना जाएगा। फिर हेयर के अनुसार धार्मिक ब्लिक इतना व्यापक होता है कि इसके अनुसार व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन विहित होता है। इसलिए ई-कथन का अर्थ-निरूपण

१. न्यू एसेज—पृ० १०३।
२. फेथ ऐंड लॉजिक—पृ० १८६।
२. 'प्राणटेकी' अर्थ होगा जिसे जीवन का सहारा बनाया जाए और जिसे प्राणों की बाजी लगाकर स्वीकार किया जाए।
४. फेथ ऐंड लॉजिक—पृ० १८९-१९०।

किसी आलोच्य धर्म की सम्पूर्ण भाषा-व्यवस्था के संदर्भ में ही स्पष्ट किया जा सकता है। इसलिए हेयर ई-कथन को दार्शनिक विश्लेषण का सरल विषय नहीं मानते हैं[1]।

समीक्षा : क्या हेयर के अनुसार धार्मिक अभिवृत्ति अथवा ब्लिक अपरिवर्तनशील तथा स्थायी है ? मिचेल का कहना है कि ब्लिक को अपरिवर्तनशील और स्थायी कहा गया है[2]। यह ठीक है कि ब्लिक का उदाहरण पागल छात्र की अभिवृत्ति के द्वारा समझाया गया है। फिर ह्य ूम और कान्त के दर्शन की बात बताकर हेयर ने इस बात का भ्रम अवश्य उत्पन्न किया है कि धार्मिक ब्लिक नित्य और स्थायी रहता है। परन्तु बात ऐसी नही है। हेयर ने बताया है कि आदिम काल से लेकर अब तक मानव के अन्दर किसी प्रकार का जैविक विकास नही हुआ है, परन्तु उसके धार्मिक ब्लिक में अवश्य अन्तर आता गया है और इस ब्लिक-परिवर्तन के साथ सभ्यता में अन्तर आता गया है। यह बात हेयर के अनुसार आसानी से पंजाबी सिख और मुसलमान के बारे मे देखने में आती है। दोनो, हेयर के अनुसार, एक ही जाति के है, परन्तु चूंकि इन दोनो के विभिन्न धर्म हैं, इसलिए इन दोनों की दुनिया भी विभिन्न है[3]। इसी प्रकार उन्होंने बताया है कि पाश्चात्य देशों में लोग प्रायः साक्षात् तथा गौण रूप से ईसाई ब्लिक से ही संचालित होते हैं। परन्तु यह ईसाई ब्लिक भी बदल सकता है[4]। फिर हेयर ने बताया है कि पौल के अन्दर धार्मिक ब्लिक का परिवर्तन हुआ और इस ब्लिक-परिवर्तन मे तथ्य, अन्य व्यक्तियो का ब्लिक, नैतिक सिद्धान्त इत्यादि सभी निर्धारक सम्मिलित समझे जायँगे[5]। अतः, हेयर के अनुसार ब्लिक परिवर्तनशील होता है और ब्लिक की रचना में तथ्य, नीति-सिद्धान्त तथा अन्य व्यक्तियों के विभिन्न ब्लिक का भी प्रभाव पड़ता है। तब मिचेल को और ब्लैकस्टोन को भ्रम क्यों हो गया ?

इसका कारण है कि एक तो ब्लिक लगभग स्थायी होता है,....लोग प्रायः आसानी से अपना धर्म परिवर्तन नहीं करते हैं; और दूसरी बात है कि जो

१. फेथ ऐंड लॉजिक—पृ० १६० ।
२. न्यू एसेज—पृ० १०५ ।
३. न्यू एसेज—पृ० १०२ ।
४. न्यू एसेज—१०२ ।
५. फेथ ऐंड लॉजिक—पृ० १८८ ।

कुछ भी तथ्य तथा नीति-सिद्धान्त माना जाता है उसी के अनुरूप व्यक्ति सभी तथ्यों को देखता-सुनता है। जब सभी तथ्य व्यक्ति के ब्लिक से ही अभिरंजित होकर तथ्य का रूप धारण करते हैं तो ब्लिक-विरोधी तथ्य संभव ही कैसे हो सकता है ? उदाहरणार्थ, यदि सभी प्रत्यक्ष देश-काल मे ही संभव हो सकते हैं, तो बिना देश-काल के प्रत्यक्ष कैसे प्राप्त किए जा सकते हैं ? ईश्वरवादी समझता है कि सभि घटनायें ईश्वर से सचालित होती है, तो उसके लिए ऐसी घटनायें कैसे संभव हो सकती हैं जिसमे ईश्वर का हाथ न हो ? अन्य व्यक्तियों के लिए, विशेषकर अनीश्वरवादी के लिए व्यर्थ, निरर्थक तथा निर्विमोचक घटनाएँ हो सकती हैं, परन्तु ईश्वरवादी के लिए सभी प्रकार की घटनाओ से ईश्वर का अस्तित्व, उसका प्रेम और उसकी करुणा टपकती है। अतः, हेयर के अनुसार, ब्लिक-रचना में तथ्य, नीति-सिद्धान्त तथा प्रचलित अन्य धार्मिक अभिवृत्तियाँ अथवा दृष्टियाँ महत्वपूर्ण मानी जाएँगी, परन्तु एक बार किसी एक प्रकार का ब्लिक बन जाने पर वह लगभग स्थायी रहता है। परन्तु क्या यह बात जो धार्मिक दृष्टि के विषय में कही गयी है, वह सब प्रकार की दृष्टियों के लिए कही जा सकती है ? मैं ऐसा नही समझता हूँ। धार्मिक दृष्टि अन्य सभी दृष्टियो की तुलना में व्यापक तथा सर्वसमावेशी हुआ करती है और जो बात इसके संबंध मे कही गयी है वह अन्य ब्लिक के संबंध में नही भी लागू हो सकती है। धार्मिक ब्लिक की रचना तथा परिवर्तन में मानव की सम्पूर्ण अनुभूति तथा ज्ञानभंडार सक्रिय होता है। यही कारण है कि न तो धार्मिक ब्लिक आसानी से बदला जा सकता है और न कोई घटना इस ब्लिक से बाहर रह सकती है।

हेयर के अनुसार, ब्लिक सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता है, परन्तु उसे स्वस्थ-अस्वस्थ, संकीर्ण-व्यापक इत्यादि कहा जा सकता है। इस स्थल पर ब्लैकस्टोन का कहना है कि स्वस्थ-अस्वस्थ, उचित-अनुचित ब्लिक को तथ्यो के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है। उसी ब्लिक को उचित कहा जाएगा जो तथ्यों से मेल खाए और वह ब्लिक जो सभी तथ्यों से मेल न खाए उसे अनुचित माना जाएगा। यदि उचित-अनुचित ब्लिक की कसौटी को तथ्यों पर आधारित माना जाए तो अन्त में ब्लैकस्टोन का कहना है कि असाक्षात् रूप से ब्लिक-कथन को भी सज्ञानात्मक कहना ही पड़ेगा। अतः, ब्लैकस्टोन के अनुसार, हेयर का यह कहना कि ई-कथन असंज्ञानात्मक हैं, अन्त में गलत हो जाता है*। यह ठीक है कि स्वस्थ तथा उचित ब्लिक वह है, जो विपरीत

* दि प्रॉब्लेम आव रिलिजस नॉलेज—पृ० ७७-७८।

तथ्यों तथा घटनाओं द्वारा स्थिर-अस्थिर हो सकता है। परन्तु अस्वस्थ ब्लिक घटनाओं द्वारा मिथ्याप्य नहीं होता है। तब क्या धार्मिक ब्लिक को मनस्तापीय कहकर त्याग दिया जाए? फिर क्या छात्र को इसलिए नहीं पागल कहा जा रहा है कि उसका ब्लिक उसके लिए किसी भी घटनाओं से मिथ्याप्य नहीं होता है? अतः, सर्वप्रथम स्वस्थ-अस्वस्थ तथा उचित-अनुचित ब्लिक का भेद ही मिथ्याप्यता तथा अमिथ्याप्यता पर निर्भर कर रहा है और द्वितीय, उचित ब्लिक वही है जो विपरीत घटनाओं द्वारा मिथ्यापित हो जाए। इसलिए ब्लैक्स्टोन के अनुसार वास्तव में ब्लिक-कथन को संज्ञानात्मक कहा जाएगा।

परन्तु ब्लैकस्टोन की आलोचना सही नहीं है। ब्लिक केवल तथ्यों से ही नहीं नियंत्रित होता है : इसमें अचेतन भूत संस्कार, जातीय संस्कृति, युगदृष्टि इत्यादि सभी तत्व चले आते हैं। क्या इन निर्धारकों से नियंत्रित अभिवृत्ति को संज्ञानात्मक कहा जाएगा? स्वयं दृष्टि अथवा ब्लिक मनोवैज्ञानिक निर्धारकों पर निर्भर करता है और इसे तथ्यात्मक समझना ब्लैक्स्टोन की भूल है। बात यह है कि बौद्ध दर्शन तथा शांकर अद्वैतवाद तथा जैन धर्म में संस्कार की बात कही गयी है और इस संस्कार के फलस्वरूप ही धार्मिक दृष्टि प्राप्त होती है। बौद्ध दर्शन में सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि का उल्लेख किया गया है। मिथ्यादृष्टि अज्ञान से उत्पन्न होती है और अज्ञान के अन्तर्गत लिप्सा, वासना, तृष्णा इत्यादि सभी चली आती हैं। इसी प्रकार शांकर अद्वैतवाद में दृष्टि की बात चली आती है। हेयर यदि भारतीय धर्म-परम्परा को ध्यान में रखते, तो वे अपने ब्लिक-सिद्धान्त को अधिक पुष्ट कर ब्लैक्स्टोन की गलतफहमी को उत्पन्न होने का अवकाश नहीं देते। परन्तु हेयर ने ऐसे ही ब्लिक की ओर संकेत किया है, जो समष्टिपूर्ण तथा व्यापक है। इसी दृष्टि-सिद्धान्त के आधार पर ईश्वर-मृत्यु-वाद को सांस्कृतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। हेयर ने स्पष्ट रूप से तो नहीं, परन्तु असाक्षात् रीति से कहा है कि वास्तव में पाश्चात्य अनीश्वरवादी भी ईश्वरवादी सांस्कृतिक दृष्टि से ही अपना जीवन-यापन करते हैं*। अतः, हेयर के अनुसार भी धर्म मानव की प्रागनुभविक देन है और मानव की धर्मदृष्टि बदल सकती है, परन्तु शायद मानव कभी भी पूर्णतया धार्मिक दृष्टि से अपना पिंड नहीं छुड़ा सकता है। इसलिए हेयर ब्लिक-सिद्धान्त में भी पॉल तीलिख का संलग्नता-सिद्धान्त समाविष्ट मालूम देता है।

* न्यू एसेज़—पृ० १०२।

हेयर ने केवल ईश्वरवादी दृष्टिमूलक धार्मिक कथनों को मिथ्याप्यता के सम्बन्ध में ब्लिक-सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है और ब्लिक-सिद्धान्त से आपादित निष्कर्षों को स्पष्ट नहीं किया है। परन्तु प्रश्न केवल ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दृष्टियों का ही नहीं है। ईश्वरवादी के अतिरिक्त अन्य धर्म भी तो हैं। इनके बीच दृष्टिभेद की समस्या का किस प्रकार समाधान किया जा सकता है? सर्वप्रथम, क्या ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी दृष्टियों को एक समान से उचित तथा स्वस्थ माना जाय? दोनों दृष्टियों के भेद के कारण तथा अपने-अपने आदर्शों के प्रति आत्मसमर्पण के कारण वे शायद परस्पर-विरोधी रहेंगे। द्वितीय, हिन्दू मुस्लिम, बौद्ध, ईसाई इत्यादि का भेद भी दृष्टि-भेद ही कहा जाएगा। पर क्या इनमें किसी प्रकार की समदृष्टि सभव हो सकती है? हेयर ने इन समस्याओं पर अपना मत प्रगट नहीं किया है, परन्तु शायद युंग, जेम्स, पॉल तीलिख इत्यादि के समान उन्हें भी दृष्टिसापेक्षता को स्वीकार करना चाहिए। यदि दृष्टिभेद पर विचार किया जाता तो ब्लिक की रचना और उसके स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता। परन्तु हेयर ने बताया है कि धर्म-दृष्टि का संबंध नीति के साथ बड़ा घनिष्ठ होता है और धर्म में अन्तर्निहित नीति के ही कारण ब्लिक को तथ्य-तटस्थ नहीं कहा जा सकता है। अब ब्रेथवेट ने नीति और धर्म को एक दूसरे के बहुत नज़दीक समझते हैं और धर्म को कथामूलक नीति मानते हैं। चूँकि नीति को संज्ञानात्मक नहीं कहा जाता है, इसलिए ब्रेथवेट के धर्म-सबंधी कथामूलक नीति-सिद्धान्त को भी असंज्ञानात्मक ही कहा जाएगा।

ब्रेथवेट का कथामूलक नीति-सिद्धान्त

ब्रेथवेट अनुभववादी हैं और इन्होंने अपना प्रसिद्ध लेख 'ऐन एम्पिरिसिस्ट्स वीऊ आव दि नेचर आव रिलिजस बिलीफ', विस्डम के लेख 'गौड्स' तथा फ्लू के लेख 'थेओलोजी ऐंड फॉल्सिफिकेशन' से प्रभावित होकर लिखा है। फिर नीति-संबंधी मत मे ये हेयर तथा नोवेल स्मिथ के विचारों से भी प्रभावित हैं।

जॉन हिक ने दि एम्पिरिसिस्ट्स वीऊ को दि एग्जिस्टेंस आव गॉड' नामक संकलन में उद्धृत किया है और पृष्ठ-संख्या इस पुस्तक की ही बताई जाएगी। ब्रेथवेट अनुभववादी होने के नाते केवल तीन ही प्रकार के कथनों को संज्ञानात्मक मानते हैं :

१. वे कथन जिनमें तथ्यों का उल्लेख किया जाए।
२. वे कथन जिनमें वैज्ञानिक तथ्यों तथा प्राक्कल्पनाओं की चर्चा की जाती है।
३ तर्कशास्त्र तथा गणित के तर्कनिष्ठ अनिवार्य कथन जिन्हें साधारणतया हम 'विश्लेषात्मक' संज्ञा देते हैं।

ब्रेथवेट के अनुसार ई-कथन न तो प्रत्यक्षों पर आधारित होता है और न इसमें ईश्वर को वैज्ञानिक प्राक्कल्पना माना जाता है, क्योंकि इन दोनो दशाओं में ईश्वर को इन्द्रियानुभव का विषय होना चाहिए। फिर यदि ई-कथन तर्कनिष्ठ अनिवार्य कथन हो, तो इसका संबंध वास्तविकता के साथ नहीं रहेगा और ईश्वर को वास्तविक सत्ता माना जायगा। इसलिए ई-कथन को तर्कनिष्ठ अनिवार्य कथन भी नही माना जा सकता है। इसका निष्कर्ष यही हुआ कि ई-कथन को सज्ञानात्मक नही माना जा सकता है। अतः, हेयर के समान ब्रेथवेट भी फ्लू के इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं कि ई-कथन तथ्यात्मक हैं। चूंकि ई-कथन संज्ञानात्मक नही हैं, इसलिए इन्हे अर्थहीन नहीं समझा जा सकता है। धार्मिक व्यक्ति ई-कथनो को अर्थपूर्ण रीति से व्यवहृत करते हैं। इसलिए इन्हें अर्थपूर्ण समझना चाहिए क्योकि इनके द्वारा धार्मिक व्यक्तियों के बीच पारस्परिक संज्ञापन होता है। मैथ्यू आर्नल्ड के मत को अपनाते हुए ब्रेथवेट के अनुसार ई-कथनों का अर्थ उनकी नीतिपरकता मे देखा जाता हैं। ब्रेथवेट ई-कथन को कथामूलक नैतिक कथन मानते हैं।

समकालीन नीति-विचार मे नैतिक प्रकथनों को या तो संस्तावपरक माना जाता है या अभिप्रायमूलक। संस्ताव में भाव-द्वारा अनुमोदन का अंश विशेष रहता है। ब्रेथवेट नैतिक कथनों का अर्थ भावपूर्ण अनुमोदन संतोशजनक नहीं समझते हैं। ब्रेथवेट के अनुसार नैतिक कथन वस्तुतः अभिप्रायमूलक होते हैं। अभिप्राय वह है जिसमें कार्यनीति का विचार निहित रहता है। उदाहरणार्थ, यदि इस नीति को स्वीकार किया जाता है कि सच बोलना अच्छा है, तो यहाँ इसका अर्थ होता है कि प्रवक्ता अवसर आने पर सच बात बोलेगा, सच्ची गवाही देगा, इत्यादि। नैतिक और अनैतिक कार्य-नीति में अन्तर यह है कि नैतिक कार्यनीति के समर्थन में किसी व्यापक कार्य सिद्धान्त की दुहाई दी जा सकती है, उदाहरणार्थ, इसलिए सच बोलना चाहिए कि अधिक-से-अधिक लोकहित इसके द्वारा संपादित होता है।

नीति के अभिप्रायमूलक सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए ब्रेथवेट का कहना हैं कि ई-कथन में अमुक कार्यनीति की उद्घोषणा रहती है, या इसमे अमुक जीवन-मार्ग के प्रति आत्मसमर्पण का उद्देश्य रहता है। परन्तु इस व्यापक कार्य-सिद्धान्त तथा जीवन-मार्ग को सपूर्ण धार्मिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही समझा जा सकता हैं। इसका कारण है कि यदि संपूर्ण धार्मिक व्यवस्था को ध्यान में न रखा जाए, तो पृथक्कृत ई-कथनों मे अन्तर्निहित कार्यनीति तथा जीवन-मार्ग आसानी से स्पष्ट नही होगा। ब्रेथवेट के अनुसार ई-कथन का मूल अर्थ इसी में है कि इसके द्वारा कार्यनीति का अभिप्राय व्यक्त किया जाए। उदाहरणार्थ, ईसाई ई-कथनों का अर्थ हैं कि प्रेममय जीवन-मार्ग अथवा प्रेमपूर्ण जीवन-मार्ग को अपनाया जाए। परन्तु ई-कथन और नैतिक कथन के बीच समानता के साथ मौलिक भेद भी है।

१. नैतिक कथनो के कार्यमूलक अर्थ को प्रत्येक कथन से ही स्पष्ट किया जा सकता है। परन्तु ई-कथन की कार्यनीति के सिद्धान्त को संपूर्ण धार्मिक व्यवस्था के सदर्भ मे ही निरूपित किया जा सकता है।

२ नैतिक कथन में शुष्क एव अमूर्त अभिप्राय का सिद्धान्त व्यक्त किया जाता है। इसके विपरीत ई-कथन को दृष्टान्त, कहानी-कथा, उपमा, उदाहरण, हवाला अथवा सकेत के द्वारा मूर्त बनाया जाता है। यही कारण है कि ब्रेथवेट ने ई-कथन को कथामूलक कार्यनीति बताया है। कथा-कहानी तथा दृष्टान्त इत्यादि को ई-कथन का सारतत्व बताया गया है जिसके आधार पर ई-कथनों को नैतिक कथनों से विभिन्न किया जाता है।

३. फिर ब्रेथवेट के अनुसार बाह्य कार्य का सपादन नैतिक कथन का प्रतिफल माना जा सकता है। इस बाह्य प्रतिफल की तुलना मे ई-कथन के फलस्वरूप बाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकार का कार्यफल पाया जाता है। धार्मिक ई-कथनो का अभिप्राय रहता है कि व्यक्ति ई-कथनों में अन्तर्निहित कार्यनीति के अनुरूप बदलता जाए और साथ-ही-साथ बाह्य जगत् तथा समाज मे भी इस कार्यनीति को साकार किया जाय। परन्तु ब्रेथवेट के अनुसार नैतिक कथनों मे अन्तर्निहित अभिप्राय केवल जगत् और समाज में ही साकार होने पर पूर्ण हो जाता है।

ब्रेथवेट ई-कथनों से अभिव्यक्त आन्तरिक भाव को विशेष प्रश्रय नहीं देते हैं, यद्यपि प्राईस तथा जॉन हिक आन्तरिक वैयक्तिक अनुभूति को धार्मिक ई-

कथन का विशेष अर्थ और लक्ष्य मानते हैं। ब्रेथवेट के अनुसार कार्यनीति के संपादन के लिए कथामूलकता को ई-कथन का मुख्य अर्थ समझना चाहिए।

प्रायः अनेक धर्मों में प्रेम, करुणा, परहिताय, परसुखाय इत्यादि की कार्य-नीति बताई जाती है, परन्तु इन धार्मिक कथनों का अर्थ-निरूपण विभिन्न कथा-मूलकता के आधार पर किया जाता है। ईसाई धर्म को निःस्वार्थ प्रेम-नीति का संदेश बाइबिल मे लिखित ईसा की जीवनी, उसकी शिक्षा तथा उसकी मृत्यु से स्पष्ट होता है। इसी प्रकार अपरिमित करुणा का बौद्ध कथन जातक की कहानियों तथा बौद्ध धर्मग्रंथ मे लिखित कहानियों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। अतः, कथा, कहानी, दृष्टान्त इत्यादि के ही द्वारा एक धर्म के कथन को अन्य धर्मों के कथन से विभिन्न किया जा सकता हैं। फिर कथा पर आधारित कार्यनीति के रहने से ई-कथन को नैतिक कथन से भिन्न किया जाता है।

ब्रेथवेट कथा के स्वरूप पर विशेष प्रकाश नही डालते हैं। वे बिना सकोच के कथा-कहानी, दृष्टान्त, उपमा इत्यादि को एक समान मानते हैं। उन्हे इनके विभिन्न स्वरूप को स्पष्ट कर बताना चाहिए था कि किस प्रकार को कथा से ई-कथन का अर्थ स्पष्ट किया जा सकता है। ब्रेथवेट के अनुसार कहानी काल्पनिक हो सकती है, देवकथामूलक भी हो सकती है और अन्य प्रकार की भी हो सकती है। इतनी ही शर्त ब्रेथवेट के अनुसार रहनी चाहिए कि कहानी के पात्र चित्रित किए जा सकें, ····उन्हे कल्पना के स्तर पर सजीव रूप मे समझा जा सके[1]। परन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि कहानी के पात्रों को वास्तविक होना चाहिए। इन कथाओ के ही कारण, ब्रेथवेट के अनुसार, ई-कथन मे निश्चितार्थकता का अश चला आता है। चूंकि ईसाई ई-कथन में ईसा मसीह तथा ईश्वर की कथाओ का उल्लेख चला आता है, इसलिए लोग समझते हैं कि ई-कथन तथ्यात्मक अथवा सज्ञानात्मक हैं। परन्तु ब्रेथवेट के अनुसार यह आवश्यक नही है कि कहानी के पात्र ऐतिहासिक तथा वास्तविक पात्र हों। ब्रेथवेट के अनुसार ई-कथनो मे विश्वास रखने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति उनके अनुरूप कार्यनीति पर चलने का अभिप्राय रखे और इस कार्यनीति को उपयुक्त कथाओं से संबद्ध करे, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह इन कहानियो के पात्र को यथार्थ समझे[2]। कहानी के पात्रों को यथार्थ मानना इसलिए आवश्यक माना जा सकता कि कहानी और कार्यनीति

१. दि एम्पिरिसिस्ट्स बीऊ—पृ० २४६।
२. वही।

का संबंध मनोवैज्ञानिक कारण का होता है। अनेक स्थलों पर कार्यनीति को कार्यान्वित करने के लिए कथा से मनोवैज्ञानिक उत्प्रेरणा प्राप्त की जाती है। यह ठीक है कि ईसा या बुद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति थे और इनकी कथाओं से इन धर्मों के अनुयायियों को अनुप्रेरणा प्राप्त होती है। परन्तु उपन्यास तथा काल्पनिक गाथाओं से भी इसी प्रकार की अनुप्रेरणा प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, बनयन ने 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' नामक दृष्टान्तात्मक कथा लिखी है और इस काल्पनिक कथा से अनेक ईसाइयों को प्रेममूलक कार्यनीति संपन्न करने में बड़ी सहायता मिलती है। इसलिए कार्यनीति को कार्यान्वित करने की मनोवैज्ञानिक प्रेरणा प्राप्त करने के लिए काल्पनिक, देवकथामूलक, ऐतिहासिक तथा किसी भी प्रकार के पात्रों की कहानी से काम चल जाता है[१]। इस प्रसंग में ब्रेथवेट ने बताया है कि सभी ईश्वरवादी कार्यनीति के सिद्धान्त में सामान्य रूप से एक कथा बहुत चर्चित होती आई है, अर्थात् अमुक कार्यनीति को कार्यान्वित करने के लिए इसे ईश्वर का आदेश कहा जाता है। इसलिए ईश्वरवादी ईश्वर का आदेश समझकर धार्मिक कार्यनीति को संपन्न करने में बड़ी शक्ति का अनुभव करते हैं[२]। अतः, धार्मिक कार्यनीति को संपादित करने में संबद्ध कथाएँ मनोवैज्ञानिक अनुप्रेरणा का काम करती हैं और यदि कहानियों की मनोवैज्ञानिक महत्ता को ईश्वरवादी समझते तो, शायद वे ई-कथन को संज्ञानात्मक मानने पर अधिक बल नहीं देते।

यद्यपि कथाओं को कार्यनीति के संपादन में आवश्यक माना जाता है तो भी, ब्रेथवेट के अनुसार, कथा और कार्यनीति में केवल मनोवैज्ञानिक संबंध है। कार्यनीति की उपयुक्तता को सिद्ध करने के लिए इन कथाओं को समर्थक युक्तियों के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता है। अतः, धार्मिक कार्यनीति को ही ई-कथन का सारतत्व माना जा सकता है। संक्षेप में ब्रेथवेट के अनुसार ई-कथन वह है जिसमें किसी व्यापक नियम के अन्तर्गत कार्यनीति को अपनाया जाता है और जिस कार्यनीति को अव्यक्त-व्यक्त रूप से कथाओं से संबद्ध किया जाता है[३]। यदि कथाओं के द्वारा धार्मिक कार्यनीति का समर्थन युक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता है तो इस कार्यनीति को किस प्रकार युक्तिसंगत रूप से समर्थित किया जा सकता है? इस प्रसंग में ब्रेथवेट दो युक्तियों को प्रस्तुत करते हैं।

१. दि एम्पिरिसिस्ट्स वीऊ—पृ० २४६-३४८।
२. दि एम्पिरिसिस्ट्स वीऊ—पृ० २४७।
३. दि एम्पिरिसिस्ट्स वीऊ—पृ० २५०।

सर्वप्रथम, ब्रेथवेट के अनुसार मानव समाजप्रिय जीव होते हैं और इसलिए सामाजिक होने की हैसियत से जो बात किसी एक सामाजिक जीव के लिए सत्य अथवा लाभप्रद है, वह कार्यनीति अन्य व्यक्तियों के लिए भी लाभप्रद हो सकती है। अतः, बहुधा यह धार्मिक कार्यनीति अन्य अधिकांश व्यक्तियों के द्वारा संस्तुत होकर सर्वग्राह्य होती है। दूसरी बात है कि किसी भी कार्यनीति को अपनाने मे किसी व्यक्तिविशेष को ही पहला कदम उठाना पड़ता है और इस कार्यनीति को प्रारंभ करने में उसे अपने समस्त ज्ञानभंडार, संपूर्ण अनुभूति तथा बड़ी सतर्कता को काम में लाना पड़ता है और कार्यनीति को अपनाने को मनमाना नहीं समझा जा सकता है। चूंकि जितनी भी संभव सामग्री, विचार, अनुभूति किसी भी पक्ष को अपनाने में काम में लाई जा सकती हैं, उन्हें कार्यनीति को अपनाने में काम मे लाया जाता है इसलिए कार्यनीति-संबंधी निर्णय को सर्वथा युक्तिपूर्ण माना जाएगा[1]।

आलोचना

ब्रेथवेट के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि कहानी सत्य हो ताकि इसके द्वारा कार्यनीति के संपादन मे अनुप्रेरणा प्राप्त हो। उदाहरण थं, ईसा-संबंधी कथित कहानियो के सत्य होने की आवश्यकता नही है, ताकि निःस्वार्थ प्रेम जीवन-यापन की कार्यनीति संपादित हो। परन्तु जॉन हिक के अनुसार जबतक कहानी सच्ची नहीं सिद्ध हो, तबतक उस कहानी से अनुप्रेरणा नही प्राप्त हो सकती है[2]। मेरी समझ मे इसका निर्णय मनोविज्ञान शास्त्र ही कर सकेगा। परन्तु एक बात निश्चित मालूम देती हैं कि ब्रेथवेट ने सही उदाहरणो को देकर स्पष्ट किया है कि किसी भी प्रकार की कहानी से अनुप्रेरणा प्राप्त हो सकती है। स्वयं बाइबिल शास्त्री बता रहे हैं कि ईसा की कथा ऐतिहासिक नहीं, वरन् उद्‌घोषणात्मक है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि कहानी को बिना यथार्थ समझे हुए कार्यनीति के संपादन में अनुप्रेरणा नहीं मिल सकती है, सही नहीं मालूम देता है। परन्तु ब्रेथवेट की कहानी-संबंधी दूसरी युक्ति कुछ अधिक हठवादी मालूम देती है। इनके अनुसार ईश्वर-संबंधी विचार भी कहानी है। तो क्या ईश्वर भी काल्पनिक रचना कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर इसी बात पर निर्भर करता है कि क्या 'कहानी' केवली कोरी कहानी के अर्थ

१ दि एम्पिरिसिस्ट्स वीक—पृ० २५१।

२. जॉन हिक, फिलॉसफी आव रिलिजन—पृ० ६३।

में प्रयुक्त किया गया है, कि किसी अन्य अर्थ में। स्वयं ब्रेथवेट ने कहानी, दृष्टान्त, गल्प, गाथा उपन्यास सभी को एक समान माना है[1]। मेरी समझ में यह भारी भूल है। यहाँ अनुभववादी होने की हैसियत से ब्रेथवेट को अपने शब्दों को परिशुद्ध और परिमार्जित करना चाहिए था। सब प्रकार की कहानियों से धार्मिक कार्यनीति मे अनुप्रेरणा नहीं मिल सकती है। मिर्सिया इलियड ने बताया है कि साधरण कहानियो को धार्मिक नही गिना जा सकता है। इन काल्पनिक कहानियों से आदिम धर्मियो मे किसी प्रकार की उत्प्रेरणा नही मिलती है। फिर इन साधारण कहानियों को कभी भी और कही भी कहा जा सकता है। इनके विपरीत मिथिक अथवा देवकथामूलक कहानियों से आदिम धर्म के अनुयायियों में उत्प्रेरणा मिलती है और इन कहानियों के आधार पर वे पारलौकिक सत्ता के साथ तादात्म्य स्यापित कर अपने को स्थिर करते हैं[2]। अत', साधारण कहानियों से धार्मिक कार्यनीति के संपादन मे अनुप्रेरणा नही मिल सकती है। कहानी ऐसी होनी चाहिए कि मानव के अचेतन को प्रभावित कर सके क्योकि धार्मिक प्रवृत्ति का मुख्य केन्द्र अचेतन ही है, जैसा फ्रायड और युंग ने बताया है। अतः, जैसा पॉल तीलिख ने बताया है, कहानियो को प्रतीकात्मक होना चाहिए।

फिर ब्रेथवेट का कहना है कि कहानी को ऐसा होना चाहिए कि उसकी कल्पना की जा सके तथा अनुभूतिमूलक बनाकर उसे विचार में लाया जा सके। परन्तु क्या सभी धार्मिक कहानियों के विषय यह कहा जा सकता है? ईसाई धर्म मे कहा जाता है कि ईसा की मृत्यु के द्वारा सभी पश्चातापियों के पाप का प्रक्षालन होता है, अथवा पतित मानव का ईश्वर-मिलन होता है, तो क्या इन कहानियो को वास्तव में चित्रित किया जाता है? मनोवैज्ञानिक रूप से युंग ने कहा है कि वह कहानी जो पूर्णतया मानव अनुभूति से स्पष्ट हो जाए उसे धार्मिक प्रतीक नही समझा जा सकता है। धार्मिक कहानियों के आधार पर, जैसा रामजे, तीलिख तथा विस्डम ने माना है, भक्तों के अन्दर नवीन दृष्टि हो जाती है और तब नव दृष्टि प्राप्त कर भक्तो को ईश्वर की उपस्थिति का स्पष्ट बोध होने लगता है। धार्मिक अनुभूति के आधार पर ईश्वर की रहस्य-पूर्णता, उसका शुचित्व तथा उसकी पवित्रता का बोध होता है। क्या इस

१. दि एम्पिरिसिस्ट्स् बीऊ—पृ० २४६।
२. मिर्सिया इलियड, मिथ ऐंड रियालिटी—पृ० ८-१३, फिर देखें, परिशिष्ट १।

धार्मिक अनुभूति को इन्द्रिय अनुभव के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ? अतः, ब्रेथवेट की 'कहानी' की व्याख्या अधूरी, एकांगी और भ्रामक है।

ब्रेथवेट के अनुसार कहानी और धार्मिक कार्यनीति के बीच मनोवैज्ञानिक संबंध है, अर्थात् कहानी कार्यनीति के स्वरूप पर प्रकाश नही डालता है। केवल कार्यनीति को संपादित करने के लिए मानसिक शक्ति का निर्मोक्ता माना जा सकता है। परन्तु क्या ईसाई प्रेममय कार्यनीति को ईसा की जीवनी, शिक्षा और मृत्यु से अलग किया जा सकता है ? बिना ईसा की मृत्यु के कहानी के ईश्वरीय प्रेम का स्वरूप कभी भी ईसाई के लिए स्पष्ट नही किया जा सकता है। इसलिए धार्मिक कार्यनीति और कहानी वास्तव मे अवियोज्य हैं और इनके संबंध को बाह्य नही मानना चाहिए।

ब्रेथवेट धर्म को केवल नीति मानते हैं और यदि इन दोनो के बीच अन्तर है- तो उसे वे महत्वपूर्ण नही मानते हैं। परन्तु बात ऐसी नही है। ईश्वरवादी के लिए धर्म नीति से उच्चतर है, यद्यपि नीति को धर्म का अवियोज्य अग माना जाएगा। नीति धर्म का अग है, न कि धर्म का सर्वस्व, जैसा ब्रेथवेट मानते हैं*। कान्त ने नीति को स्वतत्र स्थान दिया है। परन्तु उन्हें भी कहना पड़ा कि हमे कर्त्तव्य को कर्त्तव्य मानकर चलना चाहिए, परन्तु साथ-ही-साथ कर्त्तव्य पालन करने मे समझ लेना चाहिए कि ये कर्त्तव्य ईश्वर की आज्ञा है। नीति के स्तर पर नैतिक आदर्श केवल आदर्श ही रहते हैं, परन्तु ईश्वर में ही नैतिक आदर्शों को साकार माना जाता है। परन्तु धर्म के साथ नीति को ऐसा नही जोड देना चाहिए कि धर्म और नीति को एक ही समझा जाय। ब्रेथवेट ने स्वीकार किया हैं कि धर्म मे आन्तरिक स्थिति प्राप्त की जाती है,—व्यक्तित्व मे ही परिवर्तन लाया जाता है। परन्तु ब्रेथवेट ने इसे धर्म का सारतत्व नही माना है। ब्रेथवेट नीति को धर्म का संपूर्ण अंग मानते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है। यदि वे पॉल तीलिख के लेखों पर विहंगम दृष्टि भी फेरते, तो वे पाते कि कम-से-कम ईसाई धर्म में 'न ेन सत्ता', 'नवीन सृष्टि' की बड़ी पुरानी चर्चा की गई है। यदि वे शांकर अद्वैतवाद, बौद्ध-जैन समाधि के अन्तिम लक्ष्य पर दृष्टिपात करते, तो उन्हें मालूम देता कि सच्चे धार्मिक नीति से परे और अतीत के स्तर को प्राप्त करना चाहते हैं। फिर कुछ धार्मिक निष्काम कर्म को

* दि यम्पिरिसिस्ट्स बीक—पृ० २४१।

तथा कुछ अन्य प्रमुख धार्मिक निर्वाण अथवा शांत-गति को प्राप्त करना चाहते हैं। इनके लिए नीति-मार्ग संकीर्ण और निम्नतर स्तर मालूम देता है।

ब्रेथवेट ने बताया है कि अन्त में कार्यनीति का मानक प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वतंत्र निर्णय से प्राप्त करता है, तो क्या इससे सिद्ध नहीं होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है कि वह किसी अमुक कार्यनीति को अपनाकर उसके प्रति आत्मनिवेदित हो? परन्तु कहानी के द्वारा नहीं, वरन् प्रतीको के ही द्वारा जीवन में स्थिरता आ सकती है। इसलिए ब्रेथवेट के सिद्धान्त की पूर्ति पॉल तीलिख के विचारों के द्वारा होती है।

सारांश

हमलोगों ने धार्मिक ज्ञान के स्वरूप मे तीन प्रकार के सिद्धांतो का अध्ययन किया है जिसे निम्नलिखित तालिका में दिखाया जा सकता है।

यदि तीनों प्रकार के सिद्धान्तों पर ध्यान दिया जाए तो ई-ज्ञान-संबंधी संज्ञानात्मक पक्ष बहुत दुर्बल मालूम देता है। टामस अक्वाइनस का साम्यानुमान भी क्षीण रूप मे अज्ञेयवाद ही है। पॉल तीलिख का प्रतीकात्मक सिद्धान्त सम-

कालीन दृष्टि से रोचक मालूम देता है और हेयर-ब्रेथवेट के मत को भी प्रतीकात्मक सिद्धान्त का पूर्वाभास समझा जा सकता है। परन्तु अन्त में स्वीकार करना पड़ेगा कि ईश्वर केवल प्रतीक है और मानव बिना प्रतीकों की उपासना के अपने जीवन को स्थिर नहीं कर सकता है। बाद में चलकर मानवतावाद चुनौती देकर सिद्ध करना चाहता है कि मानव बिना किसी प्रतीक की मदद लेकर, बुद्धि के आधार पर अपने को समाज के प्रति आत्म-समर्पित कर, जीवन मे स्थिरता को प्राप्त कर सकता है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर हम धर्म-समन्वय और भावी धर्म की चर्चा करेंगे।

प्रश्न

१. संज्ञानात्मक कथनो की व्याख्या कीजिए।
२. क्या फ्लिउले अनीश्वरवाद को सिद्ध कर पाए हैं ?
३. क्या फ्लू सिद्ध कर पाए है कि ई-कथन निरर्थक हैं ?
४. जॉन विल्सन के धर्म-ज्ञान-संबंधी सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
५. जॉन विस्डम के द्वारा ई-कथन का दार्शनिक विश्लेषण देकर इसके महत्त्व को दिखाइए।
६. ई० टी० रामजे के उद्‌घाटन-सिद्धान्त की व्याख्या करके इसकी समीचीनता की परीक्षा कीजिए।
७. क्या जॉन हिक तथा आई० एम० क्रोम्बी ई-कथन को संज्ञानात्मको स्वीकार करने मे सिद्ध हो पाए हैं ?
८. टामस अक्वाइनस के साम्यानुमान की व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
९ क्या साम्यानुमान के आधार पर ईश्वर-संबधी संसूचना प्राप्त हृ सकती हैं ?
१०. पॉल तालिश के प्रतीकवाद की व्याख्या कीजिए।
११ प्रतीकात्मक कथनों को किस प्रकार अर्थपूर्ण तथा 'सत्य' सिद्ध किया जा सकता है ?
१२. पॉल तीलिश के द्वारा प्रस्तुत ईश्वर-विचार की समीक्षा कीजिए।
१२. हेयर के ब्लिक-सिद्धान्त की समीक्षापूर्ण व्याख्या कीजिए।
१४. ब्रेथवेट के कथामूलक कार्य-नीति-सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
१५. क्या ईश्वर को वास्तविक माना जा सकता है, या केवल प्रतीक मात्र ? समीक्षापूर्वक उत्तर दीजिए।

धर्म-समन्वय तथा धर्म का भविष्य

अध्याय—९

धर्म-समन्वय तथा धर्म का भविष्य

धर्म-समन्वय के प्रमुख मत : भारत मे भी अब धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन एवं अध्यापन प्रारंभ हो गया है और धर्मदर्शन के लिए यह महत्त्वपूर्ण बात है। भारत में अनेक धर्म पाए जाते हैं और समय आ गया है कि धर्मों के स्वरूप को समझकर हम विचारक धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करें। चूंकि इस पुस्तक मे हमलोगों ने धर्मदर्शन की, न कि धर्मों की चर्चा की है, इसलिए इस अध्याय में धर्म-समन्वय के केवल दार्शनिक आधार को ही प्रस्तुत किया जाएगा।

दार्शनिक दृष्टिकोण से धर्म-समन्वय के सदर्भ मे लगभग पाँच मतों को बताया गया है :

१ एक ही धर्म सत्य है और अन्य सभी धर्म असत्य है।

२ यद्यपि अन्य सभी धर्म असत्य नही हैं, तो भी केवल एक ही धर्म धार्मिक सत्यता को इतना संपूर्णता के साथ व्यक्त करता है कि अन्य सभी धर्मों को इस एक धर्म को मानक समझकर आंका जा सकता है।

३. सभी धर्म अन्त में एक ही हैं। उनका आपसी अन्तर आकस्मिक तथा छिछला है। धर्मो का आधार एक ही है जिसे भिन्न-भिन्न धर्म अपनी आशिक दृष्टि के कारण विभिन्न रूप में देखते हैं।

४. सत्य यही है कि धर्म विभिन्न रहेंगे और सभी धर्म सापेक्ष हैं और सापेक्षता को छोड़कर कोई एक निरपेक्षतया सत्य धर्म नहीं है।

५. वास्तव धर्मों की अनेकता तथा उनकी सापेक्षता से यही सिद्ध होता है कि कोई भी परम्परागत धर्म सत्य नहीं है। मानवतावाद तथा इसका विभिन्न रूप ही सत्य हो सकता है।

चूंकि तीसरा मत हिन्दू-धर्म की विशेष निधि रही है, इसलिए इसे सर्व-प्रथम स्पष्ट किया जाएगा। वैदिक काल से ही धारणा प्रचलित है कि 'सत्' एक ही है जिसे विप्र अनेक रूप और नाम से पुकारते हैं। कोई इस एक सत् को सूर्य कहता है, तो कोई उसे अग्नि कहता है, तो कोई उसे यम इत्यादि

कहता है। इसी एक धर्म-समन्वय के सिद्धान्त को उपनिषद्, वेदान्त, रामकृष्ण परमहंस, राधाकृष्णन् तथा महात्मा गांधी दुहराते आए है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार इस मत को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

शंकर के अनुसार एक ही परम सत्ता है, जिसे 'निर्गुण ब्रह्म' पुकारा जा सकता है। यह सब भेदों से परे है और इसलिए इसे किसी भी गुणविशेष से युक्त नहीं समझा जा सकता है। इसलिए इसे केवल अकथनीय, अनिर्वचनीय तथा केवल नेति, नेति कहा जा सकता है। यद्यपि इसे वचनों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है, तो भी इसका आस्वादन किया जा सकता है—इसे समाधि के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु समाधि के द्वारा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना आसान नही है। मानव अज्ञान मे उस तरह फँस जाता है कि उसे एक सत् को प्राप्त करना बड़ा कठिन होता है। शंकर का दृष्टि-सिद्धान्त यहाँ उपादेय मालूम देता है।

शंकर के अनुसार प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक, तीन प्रकार की सत्ताएँ हैं। जो कुछ स्वप्नों में हमे दिखाई देता है उसे प्रातिभासिक सत्ता कहा जाता है। जबतक व्यक्ति स्वप्न देखता रहता है, तबतक जो कुछ उसे स्वप्न में प्रतीत होता है, वह उसे सत्य समझता है। निद्रा के भग होते हुए जागृति की दशा प्राप्त करने मे प्रातिभासिक सत्ता विनष्ट हो जाती है। स्वप्नों की सभी वस्तुएँ अवास्तविक सिद्ध होने लगती हैं। जागृति की अवस्था में दैनिक जीवन की व्यावहारिक सत्ता ही सच मालूम देने लगती है और प्राय: विज्ञान, व्यवसाय, सभी प्रकार के उद्योग आदि इसी प्रकार की व्यावहारिक सत्ता पर आधारित रहते हैं। मानव इस प्रकार की चेतना मे व्यावहारिक सत्ता के आधार पर अपने को अशान्त, व्याकुल और दुश्चिंतित पाता है। वह चाहता है कि ऐसी स्थिति को प्राप्त करे जिसमे उसे शांति और विश्राम मिले। परन्तु मोह-माया तथा सांसारिक जाल मे फँसकर वह अपनी अन्तिम स्थिति को नही प्राप्त कर सकता है। यहाँ लोगों को संदेह होता है कि क्या वास्तव मे कोई ऐसी स्थिति है जिसमें व्यक्ति अनपायिनी शांति को प्राप्त कर सकता है। शंकर के अनुसार अन्तिम शांति की स्थिति मोक्ष है और मोक्ष इस जीवन में भी प्राप्त हो सकता है। अत:, मोक्ष-स्थिति कोई कल्पना एवं अनुमान की स्थिति नहीं है। यह वास्तविक स्थिति है। इसे प्राप्त करने के लिए चार साधनों का उल्लेख किया गया है :

(क) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, अर्थात् विश्व की नित्य और क्षणभंगुर वस्तुओं के भेद का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

(ख) इहामूत्रार्थभोगविराग, अर्थात् व्यक्ति को सभी भोग की भावना का परित्याग करना चाहिए।

(ग) शमदमसाधनसंपत, अर्थात् मन को वश में करना चाहिए, इन्द्रियों का नियंत्रण करना चाहिए इत्यादि।

(घ) मुमुक्षुत्व, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए दृढ़-संकल्प हो जाना चाहिए।

ख, ग और घ साधनों का संबंध विशेषकर भाव-संवेग से है और मुमुक्षुत्व का विचार व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व से रखता है। परन्तु सर्वप्रथम दार्शनिक ज्ञान होना चाहिए ताकि बौद्धिक स्तर पर व्यक्ति को संशय न रह जाए कि यह ससार मिथ्या है और मोक्षगति वास्तविक और मानव की अन्तिम ग त है। इसे स्थिर करने के लिए गुरु से ज्ञान प्राप्त कर उसपर समीक्षापूर्वक मनन (चिंतन) करना चाहिए। परन्तु केवल श्रवण-मनन से काम नही चलेगा। अन्त में निदिध्यासन अर्थात् ध्यान, योग और समाधि की सहायता लेनी पड़ती है ताकि कोरे ज्ञान को वास्तविक अनुभूति मे परिणत कर दिया जाए, ताकि अन्त में नानात्व, अनेकत्व से पार होकर निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हो जाए। एक निर्गुण ब्रह्म को सभी स्थलों पर उसी निर्भ्रान्ति तथा निश्चित रूप से पाया जाए, जिस प्रकार व्यावहारिक सत्ता को साधारण जागृति की अवस्था मे जाना जाता है। जिस बात को समकालीन दार्शनिक विचारधारा मे विश्वदृष्टि (वेल्टानशौङ्ग) कहा जाता है, जिसे सामान्यत 'अभिवृत्ति' संज्ञा दी जाती है और जिसे हेयर ने 'ब्लिक' कहा है, उसे बौद्ध तथा शाकर विचारो मे दृष्टि की सज्ञा दी गई है। जब प्रातिभासिक सत्ता जागृति की अवस्था में बाधित हो जाती है, तब क्या यह तर्क-विचार से सिद्ध होता है? नही। हमारी जागृति की अनुभूति इतनी प्रबल हो जाती है कि अपने आप प्रातिभासिक सत्ता बाधित हो जाती है और व्यावहारिक जगत् सत्य मालूम देने लगता है। शकर के अनुसार निर्गुण ब्रह्म की एकमात्र सत्ता की अनुभूति भी इतनी प्रबल हो जानी चाहिए कि उसके द्वारा व्यावहारिक जगत् तथा उसके प्रति लिप्सा भी बाधित हो जाना चाहिए। परन्तु यह मोक्ष-ज्ञान इतना आसान नही है। यहां ईश्वर की उपासना की आवश्यकता हो जाती है।

शंकर मत के अनुसार मुक्ति-ज्ञान कभी भी कोरा ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। बिना गुरु-भक्ति तथा मुमुक्षुत्व के प्रारंभिक ब्रह्म-ज्ञान भी संभव नही हो सकता है। इसलिए जबतक भाव-संवेग तथा ज्ञान-शक्ति परिष्कृत न हो, तबतक ब्रह्म-ज्ञान प्राप्ति की आशा करना हा वृथा है। परन्तु अन्तःशुद्धि कैसे की जाए? यहां शंकर का कहना है कि ईश्वर की कृपा तथा उसके अनुग्रह से ही बुद्धि कुशाग्र हो सकती, चित्त विमल हो जाता, वासनाएँ शात हो जाती हैं। शांत चित्त, विमल-विवेक तथा कुशाग्र-बुद्धि के आधार पर ही ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। अब किस देवी-देवता की उपासना की जाए?

इस प्रसंग मे शंकर का मत महत्त्वपूर्ण है। मुमुक्षु के सस्कार विभिन्न हुआ करते हैं। जो एक मुमुक्षु का आराध्य देवता होता है, वह दूसरे मुमुक्षु के लिए कल्याणकारी नहीं भी सिद्ध हो सकता है। मुमुक्षु का वही देवता है जो उसके हृदय में पैठ जाता है, उसके गुप्त नेत्र को खोल देता है, उसके ज्ञान-चक्षु मे ज्योति डाल देता है, इत्यादि। यहाँ भक्त-भगवान का संबध उसी प्रकार का है, जिस प्रकार बटन और बिजली की बत्ती मे सबध रहता है। अनेक बटन रहते हैं, परन्तु किसी बत्ती का वही बटन है जिसके दबाने से बत्ती जल जाए। शंकर के इस मत को युग ने अपने मनोविज्ञान में स्वीकारा है। अतः, शकर के अनुसार सभी देवी-देवता सापेक्ष हैं। किसी भी देवी-देवता को निरपेक्षतया सत्य नहीं माना जा सकता है। इसी मत को पॉल तीलिख ने अनीश्वरवादी सिद्धात के रूप मे स्वीकार किया है। परन्तु सापेक्षतया सभी प्रकार के देवी-देवता सत्य हैं और किसी को भी नही नकारा जा सकता है। शकर के इस भावात्मक मत पर राधाकृष्णन ने बहुत बल दिया है। उनके अनुसार एक सत् है जिसे विभिन्न धर्म-परम्पराएँ विभिन्न कल्पनाओ के द्वारा विविध रूपों मे देखती हैं और पारस्परिक आदान-प्रदान से हिन्दुत्व की आध्यात्मिक प्रभा, यहूदियों की ईश्वर के प्रति आज्ञाकारिता, यूनानी पुजारियो की सौन्दर्य-उपासना, बौद्ध धर्म की करुणा, ईसाइयत के ईश्वरीय प्रेम की कथा तथा इस्लाम के सर्वशक्तिमान ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण के आदर्शों के द्वारा मानव-जाति अपने को लाभान्वित कर सकती है*।

परन्तु सभी धर्मों तथा देवी-देवताओं की सापेक्ष सत्यता के साथ शंकर ने सभी देवी-देवताओं को अन्तिम दृष्टि में असत्य माना है, अर्थात् वे निरपेक्ष रूप

* दि फिलॉसफी आव सर्वेपल्ली राधाकृष्णन्—पृ० ८६।

से असत्य ही माने जाएँगे। ईश्वर की पूजा उसी प्रकार सहायक होती है जिस प्रकार लंगड़े के लिए डंडा उसके चलने के लिए सहारा होता है। परन्तु जब लंगड़ा व्यक्ति अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है, तब वह अपने डंडे को छोड़ देता है। उसी प्रकार जब ईश्वर की उपासना के द्वारा ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त कर मुमुक्षु की बुद्धि परिष्कृत हो जाती, उसका विवेक विमल हो जाता, उसकी वासना उसके वश में चली आती, तब वह मुक्ति-ज्ञान के लिए साधना करने लगता है। जब व्यक्ति को निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है, तब मुक्त व्यक्ति को ईश्वर भी असत् मालूम देने लगता है। ईश्वर भी व्यावहारिक सत्ता का ही अंग होता है। जैसे ही व्यावहारिक सत्ता का तिरोधान हो जाता है, वैसे ही ईश्वर भी व्यावहारिक जगत् की अन्य वस्तुओं के समान असत्य भासित होने लगता है।

अत:, शांकर-सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम रूप में किसी भी देवी-देवता को परम सत् नहीं माना जा सकता है। इसलिए न ईसा को, न ईश्वर को और न किसी भी देवता को अन्तिम सत् समझा जा सकता है। केवल एक निर्गुण ब्रह्म या अतीत परम सत्ता को ही एकमात्र अन्तिम सत् कहा जा सकता है। शायद टामस अक्वाइनस और पॉल तीलिख के मत को भी इसी शांकर सिद्धान्त के अन्तर्गत गिना जा सकता है। अक्वाइनस के अनुसार जो कुछ ईश्वर के संबंध मे कहा जाए, उसे ईश्वर के संबंध मे अक्षरश: सत्य नही मानना चाहिए। ईश्वर के संबंध सभी प्रयुक्त शब्द वास्तव में साम्यानुमानिक होते हैं। परन्तु यदि व्यक्ति ईश्वर के सबंध मे प्रयुक्त विशेषणों को नकारात्मक रूप से समझता जाए, तो उसे ईश्वर का थोड़ा-बहुत ज्ञान होता जाता है। अक्वाइनस के इस नकारात्मक सिद्धान्त में शांकर-सिद्धान्त का नेति, नेति अथवा अनिर्वचनीयता स्पष्ट दिखती है। इसी प्रकार पॉल तीलिख के अनुसार केवल एक ही प्रतिज्ञप्ति ईश्वर के संबध मे अक्षरश: रीति से कही जा सकती है, अर्थात् ईश्वर शुद्ध सत् है। इसके अतिरिक्त जितने भी कथन ईश्वर के सबध में प्रयुक्त किए जाते हैं, वे सभी, तीलिख के अनुसार, प्रतीकात्मक होते हैं। अत:, ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सृष्टिकर्तृत्व इत्यादि सभी गुणों को अक्षरश: नहीं, वरन् प्रतीकात्मक रीति से ईश्वर के संबंध में व्यवहृत किया जा सकता है। परन्तु जनसाधारण की दृष्टि से सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सृष्टिकर्त्ता ईश्वर ही सत्य माना जाता हैं। यदि सृष्टिकर्त्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, ईश्वर अक्षरश: रूप से सत्य नहीं माना जा सकता है, तो इससे ध्वनित होता है कि तीलिख के लिए

ईसाई धर्म का प्रचलित तथा लोकप्रिय ईश्वर भी अन्तिम रूप से सत्य नहीं है। तीलिख के लिए केवल एक अतीत परम सत् ही सत्य है। इसी बात को ध्यान मे रखकर धर्म समन्वय के संदर्भ में तीलिख ने ईसाइयत के विषय बताया है कि ईसाई धर्म को यदि मनसा, वाचा और कर्मणा संपूर्ण धन-मन-तन से माना जाए तो अन्त मे ऐसी स्थिति आ जाएगी जब ईसाइयत ही की अपनी विशेषता तथा विशिष्टता समाप्त हो जाएगी और अन्त मे उसी एक सत् का भान होने लगेगा जो अन्य सभी धर्मों के आधार मे निहित रहता है—वही एक परम सत् जो मानव का अन्तिम मूल्य और अस्तित्व का आधार है*।

अब शाकर सिद्धान्त को ध्यान मे रखकर (जिसकी प्रतिध्वनि टामस अक्वाइनस और पॉल तीलिख के विचारो मे पाई जाती है) हम धर्म-सगोष्ठी के सदर्भ मे व्यक्त पाँचो मतो का सक्षेप मे उल्लेख करेंगे।

१. एक ही धर्म सत्य है और अन्य सभी धर्म असत्य है।
२. अन्य धर्मों मे केवल आंशिक ही सत्यता है, केवल एक ही धर्म मे पूर्ण सत्यता है जिसके आधार पर अन्य सभी धर्मों की आशिक सत्यता आँकी जाती है।

ये दोनो मत एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। इन दोनो मतो के अनुसार धार्मिक प्रतिज्ञप्ति को सज्ञानात्मक माना जाता है और चूंकि इन मतो के पोषक समझते हैं कि केवल उनके ही धर्म की प्रतिज्ञप्तियाँ सत्य हैं, इसलिए अन्य सभी धर्मों की प्रतिज्ञप्तियाँ असत्य हैं, या अन्य सभी धर्मों मे केवल एक अमुक धर्म की प्रतिज्ञप्तियो की तुलना मे आंशिक रीति से ही सत्य हैं। इन दोनो मतो की सबसे बडी भूल है कि इन मतो के अनुसार धार्मिक कथनो को सज्ञानात्मक माना जाता है। हमलोगो ने अध्याय—८ मे देख लिया है कि धार्मिक कथन केवल प्रतीकात्मक ही हो सकते हैं और प्रतीकात्मक कथनो को सज्ञानात्मक नही कहा जा सकता है। किसी व्यक्ति को राम, किसी को कृष्ण, किसी को ईसा और किसी को ईश्वर के प्रतीक से ही जीवन मे उत्प्रेरणा और सार्थकता उत्पन्न होती हैं। इन प्रतीकों को न सत्य कहा जा सकता है, और न असत्य। ये स्वस्थ हो सकते हैं या अस्वस्थ, सामान्य हो सकते हैं या असामान्य, इत्यादि।

* क्रिस्टियैनिटी ऐंड दि एंकाउण्टर आव दि वर्ल्ड रिलिजन्स पृ० ९६-९७।

फिर यदि स्वीकार किया जाए कि केवल एक ही धर्म सत्य है या पूर्ण है, तो कौन ऐसा धार्मिक होगा जो अपने धर्म को असत्य कहेगा ? सभी धर्माव-लंबियो मे होड़ लग जाएगी। धर्म-समन्वय के स्थान पर धर्म-कलह उत्पन्न हो जाएगा। इसका कारण है कि धर्म आत्मसमर्पण और आत्मप्रसन्न का विषय है और अपने अमुक धर्म के बिना प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को व्यर्थ और निरर्थक समझता है। इसलिए प्रत्येक धर्म के अनुयायी को ऐसा बोध होता है कि केवल उसका ही एक धर्म-मात्र सच्चा है और अन्य सभी धर्म झूठे हैं; या अन्य सभी धर्म अपूर्ण है और उसका ही धर्म पूर्ण है। परन्तु यह मनोवैज्ञानिक भाव है। इस मनोवैज्ञानिक असंदिग्धता एवं निश्चितता को तर्कनिष्ठ निश्चितता नही स्वीकार किया जा सकता है। मानव सर्वप्रथम पाशविक जीव है। उसमे भाव एव सवेग तथा अचेतन का प्राबल्य रहता है। मानव मे बुद्धि, चेतन एवं तर्क बहुत छिछला रहता है। इसलिए जो बात मनोवैज्ञानिक रीति से सत्य होती है, उसी के अनुसार जीवन-यापन होता है। अत, आत्मसमर्पण तथा आत्मप्रसन्न के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने एक धर्म को सत्य एवं पूर्ण मानता है। परन्तु इस भाव के साथ-साथ वह यह भी समझता है कि अन्य सभी धर्म असत्य एव अपूर्ण हैं। अब भाव के आधार पर किस प्रकार समन्वय सभव हो सकता है ?

यद्यपि ऐसा मानना कि केवल एक ही धर्म सत्य और पूर्ण है, सर्वस्वीकृत सिद्धान्त नही हो सकता है, तो भी इसकी अपनी दो विशेषताएँ है।

(क) जबतक अमुक व्यक्तिविशेष को इस प्रकार नही बोध हो कि उसका ही धर्म एकमात्र सत्य और पूर्ण है, तबतक उसे समझना चाहिए कि वह सच्चे हृदय से अपने धर्मविशेष को नही मान रहा है। अनेक सभव धर्म हैं और जीवन की विविध एवं विभिन्न अवधारणाएँ हैं, परन्तु किसी व्यक्तिविशेष के लिए केवल एक ही धार्मिक विकल्प संभव हो सकता है। अतः, जीवन मे स्थिर बिन्दु प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का एकमात्र सत्य बोध होना चाहिए। अत', किसी एक धर्म को सत्य और पूर्ण समझकर अन्य सभी धर्मों को असत्य और अपूर्ण समझना व्यक्ति की धर्म-सलग्नता का परिचायक है, न कि धर्म-समन्वय का समाधान।

(ख) यदि व्यक्ति को ज्ञान हो जाए कि उसे अपने धर्म को एकमात्र सत्य एवं पूर्ण समझना उसकी धर्म-संलग्नता का भावमात्र है, तो

उसे आभासित होने लगेगा कि अन्य धर्मों के अनुयायी भी अपने-अपने धर्म को एकमात्र सत्य और पूर्ण समझते हैं। इस बौद्धिक ज्ञान से कम-से-कम आपसी भाव-कटुता का परिमार्जन हो सकता है और धर्म-असहिष्णुता का भाव दूर किया जा सकता है। बुद्धि एवं तर्क, भाव-संवेग की तुलना में, क्षीण अवश्य हैं, परन्तु सभ्य मानव के विकास के लिए वे एकमात्र साधन हैं। अतः, प्रत्येक धर्म के अनुयायी के द्वारा अपने धर्मविशेष को एकाधिकारी रूप से सत्य एवं पूर्ण मानना मनोवैज्ञानिक सत्यता है और इस मनोवैज्ञानिक सत्यता के ज्ञान से मानवों के बीच बौद्धिक स्तर पर धार्मिक समन्वय स्थापित हो सकता है।

(३) प्रायः (१) और (२) में प्रयुक्त एकाधिकारिक अध्यर्थनाएँ ईश्वरवादी किया करते हैं, परन्तु एकत्ववादी दार्शनिक भी प्रायः इस प्रकार की एकाधिकारिक अध्यर्थना (दावा) अपने तत्त्व के संबंध में किया करते हैं। शंकर और तीलिख के अनुसार केवल एक ही अतीत परम सत् है जिसे विभिन्न धर्मों में विविध रूप से चित्रित किया जाता है। इस मत के भारत में लाला भगवान दास और राधाकृष्णन् प्रतिपोषक हैं। भगवान दास ने एक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ इसेन्शिएल रिलिजन लिखी है और इसमें बताया है कि एक ही सत्य, एक ही धर्म और एक ही ईश्वर है। भगवान दास दार्शनिक नहीं थे। इन्होंने धर्मों के आधार को कभी अमूर्त्त रूप में, कभी रहस्यवादी रूप में और कभी निरपेक्ष सत्ता के निर्गुण एकत्व के रूप में लिया है। इनके अनुसार वास्तव में सभी धर्मों का एक ही लक्ष्य है, परन्तु विभिन्न धर्म उसके विभिन्न मार्ग हैं जिनके द्वारा उस एक कथित लक्ष्य को वे अपने विविध रीतियों द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं।

विट्गिन्स्टाइन ने बतलाया है कि भाषा चित्रीकरण के द्वारा व्यवहृत होती है। यहाँ भगवान दास धर्म के लक्ष्य को 'लक्ष्य-स्थल' समझते हैं। वे समझते हैं कि कोई पर्वत की चोटी है जिसे सभी धर्म प्राप्त करना चाहते हैं। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को अपने अमुक धर्म के अनुसार पूर्ण बनाना चाहता है और प्रत्येक व्यक्ति की पूर्णता अन्य व्यक्तियों के पूर्णता-लक्ष्य से भिन्न हुआ करती है। अतः, यह कहना कि धर्मों का लक्ष्य एक होता है, सही नहीं है। जितने प्रकार के व्यक्ति हैं उतने ही प्रकार का जीवन लक्ष्य होता है जो प्रत्येक

व्यक्ति अपनी विभिन्न संस्कृतियों के आधार पर प्राप्त करना चाहता है। हाँ, धर्म-संबंधी एक अतिदार्शनिक (मेटा-फिलॉस्फिकल) कथन कहा जा सकता है कि प्रत्येक धर्म के द्वारा कोई-न-कोई लक्ष्य प्राप्त किया जाता है। परन्तु सभी विशिष्टताओं की अवहेलना करके ही यह कहा जा सकता है कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक है। जितने प्रकार के व्यक्ति होते, जितने प्रकार के स्थान वे समाज मे ग्रहण करते हैं, उतने ही प्रकार का जीवन-लक्ष्य भी होता है। नेता, कवि, साहित्यिक, लेखक, डाक्टर, चित्रकार, खेलाडी इत्यादि विभिन्न प्रकार के वास्तविक लक्ष्य हैं जिन्हें व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार विभिन्न रूपों मे प्राप्त करते हैं। फिर प्रत्येक का जैसा जीवन-मार्ग होगा, उसी प्रकार व्यक्ति भी पूर्ण-अपूर्ण, शान्त-अशान्त, अकेला-सामाजिक इत्यादि होता है। अतः, जीवन-मार्ग से भिन्न जीवन का लक्ष्य नही माना जा सकता है। इसलिए यदि मार्ग का विशिष्टीकरण किया जाए, तो लक्ष्य-स्थान भी विशिष्ट होगा। चित्रकार ईश्वर की उपासना चित्रों के द्वारा करता है, और कवि कविता के द्वारा और समाज-सेवी लोक-कल्याण के द्वारा तथा वैज्ञानिक सत्यता की खोज के द्वारा। परन्तु यदि सभी व्यक्तियो और धर्मों की लक्ष्य-विशिष्टता की अवहेलना करें, तो हम कह सकते हैं कि सभी का सामान्य लक्ष्य है ईश्वर-प्राप्ति। इस ईश्वर-प्राप्ति को मूर्त और वास्तविक नहो कहा जाएगा। संन्यासी की ईश्वर-प्राप्ति वैज्ञानिक की ईश्वर-प्राप्ति, समाज-सेवी की ईश्वर-प्राप्ति, इत्यादि एकरूप की, नहीं है। धर्मों से अलग ईश्वर-प्राप्ति नहीं है और जितने प्रकार के धर्म हैं, उतने प्रकार की ईश्वर-प्राप्तियाँ हैं। इसलिए न कोई एक ईश्वर है, न कोई एक धर्म है और न जीवन का कोई एक लक्ष्य है। अतः, कोई भी एक सर्व-व्यापक तथा सामान्य धर्म वास्तविक नहीं माना जा सकता है।

लाला भगवान दास धर्म-सुधारक तथा उदात्त विचारों के एक सिद्ध महा-पुरुष थे। उनके मत मे दार्शनिक सामंजस्यपूर्णता का अभाव रहना स्वाभाविक हैं। ठीक इसके विपरीत राधाकृष्णन् का सिद्धान्त है। आप उच्चकोटि के दार्शनिक हैं और धर्म-समन्वय के संबंध में आपकी त्रुटियाँ दार्शनिक मानी जाएँगी। आपके अनुसार केवल एक परम सत्ता है जिसे अनेक धर्मों मे विविध रूपों से चित्रित करके पूजित किया जाता है। राधाकृष्णन् का सिद्धात अद्वैतवादी है और इस सिद्धान्त को तत्त्वमीमांसात्मक कहा जाता है और समकालीन दर्शन में तत्त्वमीमांसा को विशेष स्थान नही दिया जाता है। अतः, धर्मदर्शन में किसी

भी तत्त्वमीमासात्मक सिद्धान्त को विशेष महत्त्व नही प्रदान किया जा सकता है। इसलिए राधाकृष्णन् का यह कहना कि एक परम सत्ता है जिसे धर्मों मे विविध रूपों से चित्रित कर पूजित किया जाता है, विशेष रूप से महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता हैं। हाँ, इसे अति-दार्शनिक कथन कहा जा सकता है। परन्तु अति-दार्शनिक कथन अन्य कथनों के संबंध मे कहा जाता है और इसका संबंध किसी वास्तविक विषय से नही होता है। इसलिए यदि राधाकृष्णन् के मत को अति-दार्शनिक समझा जाए, तो इसे धार्मिक प्रतिज्ञप्ति नही कहा जाएगा, अर्थात् परम सत्ता की प्राप्ति को किसी प्रकार का धर्मविशेष नही माना जाएगा। दूसरे शब्दों मे, परम-सत्ता प्राप्ति को राधाकृष्णन् ने अध्यात्मवादी धर्म (रिलिजन आव दि सुप्रीम स्पिरिट) कहा है; मगर परम सत्ता-प्राप्ति को 'धर्म' की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। उदाहरणार्थ, राम मानव है. राधा भी मानव हैं और यदु भी मानव हैं। परन्तु मानवता मानव नहो है। इसी प्रकार सभी विविध धर्मों के बीच सामान्य धर्म को धर्म की सज्ञा नही दी जा सकती है। फिर यदि मान लिया जाए कि यह कथन कि सभी धर्मो के आधार मे अध्यात्म धर्म है, अति-दाशनिक है, तो इस अति-दार्शनिक कथन को संज्ञानात्मक प्रतिज्ञप्ति नही माना जाएगा। यह केवल एक प्रस्ताव कहा जाएगा और किसी भी प्रस्ताव को न सत्य कहा जाएगा और न असत्य। दूसरे शब्दों में, इस कथन के सबंध को वास्तविकता से नही जोडा जा सकता है। अतः, राधाकृष्णन् के अध्यात्मवादी सर्वव्यापक धर्म को धर्म की सज्ञा नही दी जा सकती है।

अब यदि मान भी लिया जाए कि तीलिख, शंकर और राधाकृष्णन् का कहना सही है कि एक परम सत् है जिसे अनेक धर्मों मे विविध रूपो से चित्रित कर प्रतीको के द्वारा पूजित किया जाता है, तो क्या शुद्ध रूप मे परम सत् की प्राप्ति हो सकती है ? राधाकृष्णन् का भावात्मक उत्तर होगा; ब्रैडले तथा तीलिख का नकारात्मक उत्तर होगा। ब्रैडले के अनुसार जबतक ईश्वर की उपासना होगी, तबतक धर्म संभव हो सकता है। जब हम ईश्वर को पारकर अतिव्यक्तित्वपूर्ण परम सत्ता को प्राप्त करते हैं, तो ईश्वर के विलयन के साथ धर्म का भी विलयन हो जाता है। पॉल तीलिख के अनुसार शुद्ध परम सत ज्ञाता-ज्ञेय, उपास्य-उपासक के संबंध से परे है और केवल प्रतीकों के ही द्वारा ईश्वर की उपासना संभव हो सकती है। अतः, शुद्ध रूप में परम सत् की उपासना संभव नही है। राधाकृष्णन् के अनुसार परम सत् सभी शब्दों तथा प्रतीकों से परे और अतीत है। इसलिए परम सत्ता उपास्य नही है। परन्तु योग.

ध्यान अथवा समाधि के द्वारा परम सत्ता की प्राप्ति हो सकती है। यहां बताया जाता है कि साधक स्वयं साध्य हो जाता है—ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। यदि ज्ञाता-ज्ञेय, ब्रह्मविद् और ब्रह्म का संबंध दूर हो जाता है तो क्या इस ब्रह्मप्राप्ति को मनोवैज्ञानिक स्थिति कहा जा सकता है, या इसे परम तत्व की साकारता माना जा सकता है ? तीलिख के अनुसार यह वह स्थिति चली आती है जहाँ धर्म-विशिष्टता का विलयन हो जाता है और मानव उस सत् को प्राप्त करता है जो सभी धर्मों के आधार में निहित होता है। इस स्थिति को धर्म की पूर्णता कही जाएगी, न कि कोई धर्म-विशेष। यदि परम सत्ता प्राप्ति को धर्म-विशेष कहा जाएगा तो यहाँ भी उसी प्रकार का मत-मतान्तर पाया जाएगा जिस प्रकार का अन्तर जैन, शांकर सिद्धान्त तथा निर्वाण के संबंध में पाया जाता है। ऐसी स्थिति में परम सत् का एकत्व भी समाप्त हो जाएगा। अतः, यदि राधाकृष्णन् का अध्यात्मवाद एक सामान्य सर्वव्यापक धर्म हो, तो यह अति-धर्म होगा, न कि धर्म; और यदि वास्तव में यह धर्म हो तो इसका एकत्व न रहकर सापेक्षता होगी। इसलिए चौथा मत सही मालूम देता है जिसके अनुसार सभी धर्म सापेक्ष हैं और यह निरपेक्षतया सत्य है।

४. किसी भी धर्म में यदि कोई परम सत्ता होती जिसे पुनरावृत्तीय, सामान्य तथा सार्वजनिक अनुभूतियों के द्वारा स्थापित किया जाता, तो किसी एक सर्वव्यापक धर्म की कम-से-कम भविष्य मे कल्पना की जाती थी। परन्तु न तो धार्मिक विषय के संबंध मे एकता संभव हो सकती है और न धार्मिक अनुभूति के संबंध मे। धार्मिक अनुभूति के विषय को लें।

शंकर के अनुसार निर्गुण ब्रह्म के संबंध मे नेति, नेति शब्दों को ही प्रयुक्त किया जा सकता है। अन्त में इतना ही भर कहा जा सकता है कि निर्गुण ब्रह्म वह नहीं है जो अन्तिम सत् न हो, जो संपूर्ण आनंद न हो और जो शुद्ध चित् न हो। पाश्चात्य विचारक अक्वाइनस ने बताया है कि ईश्वर के संबंध मे हम इतना ही भर जानते हैं कि वह है, पर हम नही जान सकते हैं कि वह क्या है। अक्वाइनस के सिद्धान्त को श्रद्धापूर्ण अज्ञेयवाद कहा गया है। इसी प्रकार समकालीन युग के प्रसिद्ध धर्म दार्शनिक पॉल तीलिख ने बताया है कि धार्मिक उपासना का अन्तिम विषय परम सत् है जो सभी ज्ञाता-ज्ञेय के भेद से अतीत है। इस निरुपाधिक अतीत सत् के संबंध में किसी प्रकार की प्रतिज्ञप्ति संभव नहीं है। उसके संबंध में तीलिख का कहना है कि अतीत सत् वर्णविहीन पर्दा है जिस पर किसी भी प्रकार का प्रतीक आरोपित किया जा सकता है। इन

तीन महारथियों के अन्तिम निष्कर्ष से यही स्पष्ट होता है कि धर्म के अन्तिम विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है और न जाना जा सकता है। तो इस परम सत् को क्यों स्वीकार किया जाए? शंकर के अनुसार यह निर्गुण ब्रह्म अन्त में ब्रह्म-ज्ञान का विषय होता है। शायद शंकर के समान अक्वाइनस तथा तीलिख भी कहेंगे कि परम सत् धार्मिक अनुभूति से प्राप्त होता है। पर क्या इस धार्मिक अनुभूति को ही सर्वमान्य कहा जा सकता है?

धार्मिक अनुभूति, जो सभी धर्मों का सामान्य आधार कही जा सकती है, उसे ऑटो के अनुसार 'आश्चर्यमय महान' संज्ञा दी जा सकती है। इस अनुभूति को किसी भी अन्य अनुभूति के समान नहीं समझा जा सकता है। इसे अनूठी अनुभूति कहा जा सकता है। इसे किसी भी संप्रत्ययों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह गूंगे के गुड़ की अनुभूति के समान है जिसके आस्वादन का आनंद होता है, पर जिसे गूंगा किसी प्रकार शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता है। इस अनुभूति का केवल आत्मबोधन तथा उद्बोधन ही हो सकता है* । *ऐसी अवस्था में सभी धर्मों के आधार में स्थित आश्चर्यमय महान के* विषय भी ज्ञान संभव नहीं है।

अब, यदि न तो सभी धर्मों के मूलाधार परम सत् और सभी धर्मों के आधार में स्थित सामान्य अनुभूति के विषय को संप्रत्यय के रूप मे अथवा ज्ञान के रूप मे नहीं कहा जा सकता है, तो किसी भी धर्म को सर्वव्यापक तथा एकमात्र धर्म की संज्ञा देना अनधिकार चर्चा है। परन्तु धर्मों की अनेकता, विविधता तथा सापेक्षता अनुभूत वास्तविकता है। क्यो नहीं मान लिया जाए कि धर्म अनेक, विविध तथा सापेक्ष ही हो सकते हैं? शायद धर्मों के संबंध इस एक निष्कर्ष को शंकर और तीलिख के सिद्धान्त के अनुसार स्थापित किया जा सकता है।

शंकर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना इष्ट देवता उस अमुक व्यक्ति के संस्कार के अनुसार होता है। किसी के राम, किसी के कृष्ण, किसी को ईश्वर इत्यादि उसके संस्कार के अनुसार आराध्य देवता होते हैं। इसी प्रकार युंग के अनुसार व्यक्तियों के विभिन्न वर्ग होते हैं। जो व्यक्ति जिस वर्ग का होता है उसके लिए उसी के अनुरूप यौडो, अनिमा-अनिमस, माना तथा

* दि आइडिया आव होली—पृ० ५-२४, अध्याय—२, ३, ४।

मंडल का प्रतीक उत्पन्न होता है। तीलिख के अनुसार भी प्रतीक संस्कृति और समाज से समावृत होकर व्यक्ति के लिए ग्राह्य होता है। अतः, जैसा व्यक्ति होगा वैसा ही उसका देवता भी होगा। देवता सापेक्षतया सत्य हो सकता है। तो क्या ऐसा मान लेने से धर्म-संगोष्ठी का अन्त हो जाता है? नहीं। सभी मानवों के मूल में मनोवैज्ञानिक अनुप्रेरणा सामान्य रूप से होती है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने देवता के द्वारा अपना अतिक्रमण करता है—अपनी सीमित अवस्था से अधिक व्यापक स्थिति के प्रति प्रगति करता हैं। इसी सामान्य आधार के द्वारा मानवों के बीच धार्मिक अनुभूति का संज्ञापन हो सकता है। जो बात एक धार्मिक व्यक्ति को उसके लिए लाभप्रद सिद्ध होती है, वह बात दूसरे के लिए भी लाभप्रद हो सकती है। इस लाभप्रदता के आधार पर अनुभूति के संज्ञापन के द्वारा धर्म-संघ स्थापित होता है। फिर एक धर्म-संघ का धार्मिक व्यापार अन्य धर्म-संघों के द्वारा संज्ञापित हो सकता है। धार्मिक संज्ञापन की सभावना इसी बात पर आधारित है कि मानव अपने जीवन की स्थिरता बिना किसी आराध्य देवी-देवता को स्वीकार किए हुए नही प्राप्त कर सकता है। परन्तु, चूंकि मानव-संस्कार तथा मनोवैज्ञानिक विभिन्नता के कारण विभिन्न होते है, इसलिए उनके देवी-देवता भी विभिन्न रहेंगे। इस विभिन्नता का ज्ञान मानव को उसकी धर्म-संबधी संकीर्णता, हठधर्मीपन तथा कठोरपंथ से बचाएगा। परन्तु यह ज्ञान धार्मिक नही, वरन् दार्शनिक ज्ञान है।

मानव जीवन विडम्बनापूर्ण है और किसी भी स्थिति की प्राप्ति मानव के लिए नित्य नहीं मानी जाएगी। जीवन की स्थिरता प्रत्येक मानव को अपनी सामाजिक स्थिति, मनोवैज्ञानिक स्वरूप तथा संस्कृति के अनुसार प्राप्त करना पड़ता है और किसी भी स्थिरता को एकरूप का नही मानना चाहिए। इसी से बुद्ध भगवान् का अन्तिम उपदेश-वाक्य आज भी सत्य है 'अप्पो दीपो भव'। निर्वाण-प्राप्ति, मोक्ष-प्राप्ति अथवा स्थिरता-प्राप्ति मनोवैज्ञानिक दशा है और यही मानवो का अन्तिम लक्ष्य है। इस परम लक्ष्य की तुलना में सभी देवी-देवता केवल साधनमात्र हैं। अतः, धार्मिक अनुभूति की कसौटी धार्मिक व्यक्ति का अपना स्वयं जीवन है। उसी देवी-देवता को धार्मिक रीति से सत्य माना जाएगा, जिसकी पूजा करने से साधक का जीवन देदीप्यमान बने, अन्य व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय बने। बुद्ध भगवान और ईसा को इसलिए लोग आराध्य मानते हैं कि उनकी शिक्षा और उनका जीवन अनुकरणीय था। वे अमर ज्योति है और यही उनकी शिक्षा को अन्य मानव के लिए उपादेय बनाती है। अतः,

धर्म उतने ही प्रकार के होते जितने प्रकार के देवी-देवता हैं और, उतने ही प्रकार के देवी-देवता होंगे, जितने प्रकार के व्यक्ति होते हैं। अतः, अन्त में मानव-जीवन से देवी-देवताओं की सजीवता, उनकी पर्याप्तता तथा मनोवैज्ञानिक औचित्य स्थापित किया जाता है। इसलिए देवी-देवताओं के प्रतीकपन को ही स्थापित किया जा सकता है और उनकी सत्यता की माँग करना सर्वथा अनुचित है। अब यदि देवी देवता केवल मनोवैज्ञानिक रूप से ही पर्याप्त माने जाएँ और फिर उन्हें व्यक्तियों के विभिन्न वर्गों के अनुरूप सापेक्ष माना जाएगा, तो क्या समकालीन युग में परम्परागत धर्मों को उपयुक्त कहा जाएगा ? यह प्रश्न भावी धर्म से संबंध रखता है। इसलिए अब इसकी चर्चा की जाएगी।

परम्परागत धर्मों का भविष्य और भावी धर्म

भारतीय और पाश्चात्य धार्मिक परम्पराओं को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि समाधि और उपासना धार्मिक व्यापार के दो प्रमुख विभाजन हैं। समाधि के अन्तर्गत रहस्यवाद को भी रखा जा सकता है। अब धर्म के इतिहास पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य धर्म-परम्परा में एकेश्वरवाद का स्थान विशेष रहा है और इस एकेश्वरवाद में उपासना को विशेष माना गया है। भारतीय धर्मदर्शन में एकत्ववाद को प्रमुख स्थान दिया गया है। इसमें ईश्वर को या तो साधनमात्र समझा गया है (शांकर अद्वैतवाद) या ईश्वर को स्वीकार ही नहीं किया गया है (जैन और बौद्ध धर्म)। शांकर अद्वैतवाद, जैन तथा बौद्ध धर्मों में आत्मविकास, आत्मपूर्णता तथा आत्मसंवर्धन को धार्मिक जीवन का परम लक्ष्य माना गया है और इसे प्राप्त करने के लिए समाधि, योग, ध्यान को साधन स्वीकार किया गया है। यह ठीक है कि पाश्चात्य ईसाई धर्म-परम्परा में भी रहस्यवाद तथा ध्यान अनेक संतों के जीवन में देखने में आता है और समकालीन ईसाई धर्मदर्शन में ईवलिन अडरहिल, डीन डब्ल्यू० आर० इंज, हेनरी बर्गसाँ इत्यादि उल्लेखनीय रहस्यवादी हुए हैं। इसी प्रकार भारत की भक्ति-परम्परा को उपासनामूलक ईश्वरवाद कहा जाएगा। तो भी बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि पाश्चात्य धर्म-परम्परा एकेश्वरवादी और उपासनामूलक है और भारतीय धर्म-परम्परा एकत्ववादी तथा समाधिमूलक है। इसी रूप में इन दो विशेष धर्म-परम्पराओं पर ध्यान दिया जाएगा।

पाश्चात्य ईसाई धर्म-परम्परा

अन्य धर्मों के समान ईसाई धर्मपरम्परा मे भी अनेक धाराएँ अन्तर्निहित थी। ईसाई धर्म में लौकिक कल्याण के साथ पारलौकिकता की भी बात पायी जाती है। ईसा मसीह ने कहा था माता-पिता को छोडकर मेरे पीछे हो लो। फिर कहा था 'सर्वप्रथम स्वर्ग और धर्म की खोज करो, अन्य सभी वस्तुएँ तुम्हे अपने आप प्राप्त हो जाएगी। पुनः, प्रारंभ में ईसाइयों ने समझा था कि ईसा मसीह दूसरी बार अतिशीघ्र इस भूतल पर आएँगे और इस विचार मे प्रभावित होकर उन्होने लौकिक सुधार की बात छोडकर पारलौकिक आशाओं को ग्रहण किया। पारलौकिकता के हेतु इस भूतल की सेवाओ की अवहेलना हुई। ससार से विरक्त होकर मठवास को ही श्रेष्ठ माना गया और पारलौकिकता का बोलबाला पाश्चात्य देशो मे मध्ययुग तक बना रहा।

परन्तु पारलौकिकता के साथ लोकसेवा की बात भी बाइबिल मे निहित था। ईसा ने बताया था कि अपने भाई से विरोधकर कोई ईश्वर की सेवा नही कर सकता है। "यदि तुम ईश्वर को प्यार करते हो, तो तुम एक दूसरे को उसी प्रकार प्यार करो जिस प्रकार मैंने तुम सबों को प्यार किया है"। फिर ईसा का चित्रण किया गया है कि वह ईश्वरीय पुत्र है जिसने अपने जीवन को लोगो को चगा करने, सदुपदेश करने तथा अन्य लोकसेवा मे अर्पित कर दिया है। अतः, लोकसेवा पर आधुनिक समय मे बल दिया जाने लगा। विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण के साथ लोक-सेवा, लोक-सुधार तथा लोक-कल्याण का ईसाई प्रचार बढ़ने लगा और वर्तमान काल मे ईसाई धर्म का प्रचार इसी मानव-कल्याण के परम लक्ष्य को ध्यान मे रखकर किया गया था। यही कारण है कि पाश्चात्य ईसाई धर्म का प्रचार चिकित्सा तथा शिक्षा के रूप में सभी जगहों पर किया गया है।

किसी भी धर्म का प्रचार अन्य देशों तथा धर्मों के बीच इसी आधार पर किया जा सकता है कि अमुक धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठतर कहा जाय। परन्तु जब ईसाई धर्म का प्रचार अफ्रिका, चीन और भारत मे किया गया था, तब पाश्चात्य ईसाइयो ने वास्तव मे इन देशों के धर्मों का अध्ययन नही किया था। तब क्यों उन लोगों ने समझा कि ईसाई धर्म अन्य सभी धर्मों से श्रेष्ठ है? इसका मुख्य कारण था कि विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण के कारण ईसाई देशों में इतनी अधिक सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक सुधार हो गया था कि वे समझते थे कि उनके जीवन की श्रेष्ठता ईसाई धर्म के कारण हुई है।

धीरे-धीरे लोगो को बोध होने लगा कि पाश्चात्य देशों का सुधार, उसकी सामाजिक व्यवस्था तथा आर्थिक विकास ईसाई धर्म से नही, बरन् विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण के द्वारा हुआ है। हाँ, हमे भूल नही जाना चाहिए कि इस वैज्ञानिक विकास मे प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म बहुत बडा सहायक सिद्ध हुआ है। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने इस विश्व की सृष्टि की है और इसे मानव का आवास स्थान स्थिर किया है। अतः, यह विश्व ईश्वर के द्वारा पवित्र किया गया है। इस विश्व को समझना और उसे ईश्वर की महिमा के निमित्त सुन्दर और विकसित करना मानव का पुनीत कर्त्तव्य है। इसलिए ईसाई धर्म ने विज्ञान को और उस पर आधारित तकनीकी और औद्योगीकरण को प्रोत्साहित किया। चूँकि इग्लैंड ही प्रमुख प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म का नेता था, इसलिए इसी देश मे सर्वप्रथम विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण हुआ। चूँकि विज्ञान तथा तकनीकी से समाज-सुधार हो सकता है, इसलिए अन्त मे समाज-कल्याण का उद्देश्य भी असाक्षात् तथा साक्षात् रीति से ईसाई धर्म से निकला है। बाद मे चलकर समाजवाद भी इसी समाज-सेवा, लोक-कल्याण के लक्ष्य से ही उत्पन्न हुआ है। अत:, पाश्चात्य ईश्वरवाद से ही समाजवाद निकला है। यह सामाजिक धारणा ईसाई धर्म के प्रारंभ मे भी थी और अब यह समाजवाद के रूप मे उन्नत होकर ईसाई धर्म को ही खतरे मे डाल रही है।

अपितु, औद्योगीकरण के साथ प्रारभ मे पूँजीपतियो के बीच होड होने लगी और प्रभुत्वशाली पूँजीपतियो की सस्थाएँ एकाधिकारी सत्ता के लिए सरकार को विवश करने लगी। परन्तु जब बारावारी एक सस्था दूसरी संस्थाओं को दबाने लगी, तब उनमे आपस मे समझौता हुआ कि सभी व्यापारी-मंडलो को उपनिवेशो से कच्चा माल खरीदने और बाजारो मे तैयार माल को बेचने की सुविधाएँ एकसमान मिलनी चाहिए। इसी समानाधिकार पर पाश्चात्य देशों का लोकतन्त्र टिका हुआ है। यह लोकतंत्र भी इसी ईसाई धर्म की शिक्षा पर आधारित है कि ईश्वर की दृष्टि मे सभी व्यक्ति एक-बराबर हैं। इसी ईसाई धर्म की समदृष्टि के सिद्धान्त पर साम्यवाद का सिद्धान्त है जिसके अनुसार अन्त मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार उत्पादन करेगा और अपनी आवश्यकताओ के अनुसार उपभोग की वस्तु ग्रहण करेगा।

अतः, सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि पाश्चात्य ईसाई परम्परा के अनुसार समाज-सेवा, लोक-कल्याण मानव का अन्तिम लक्ष्य बन गया है, पर क्या ईश्वर का स्थान ज्यो का त्यों रहा है ?

अनीश्वरवाद

पृथ्वी को ईश्वर की पवित्र सृष्टि समझकर और इसके संबंध में सत्य-ज्ञान को पुनीत धर्म समझकर ईसाइयों ने विज्ञान को प्रोत्साहित किया और विज्ञान की सफलता इतनी अधिक हो गयी है कि अब विज्ञान को ही सभी प्रकार के ज्ञान का मानदंड समझा जाता है। अतः, यदि ईश्वर का ज्ञान भी सत्य हो तो इसे भी वैज्ञानिक मानदंड के अनुसार होना चाहिए। इसी वैज्ञानिक मानदंड को स्वीकार करते हुए कथनों की सत्याप्यता-मिथ्याप्यता तथा प्रयोग-सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। परन्तु इसका प्रतिफल क्या हुआ ?

१. ईश्वर-प्रत्यय आत्मविरोधी है (फिंडले), अर्थहीन और खोखला है (फ्लू) तथा ईश्वर-संबंधी गुण भी ईश्वर के संबंध मे नही कथित हो सकते हैं।

२. यदि ईश्वर हो तो विश्व मे अशुभ नही हो सकता। परन्तु अशुभ है, इसलिए ईश्वर की वास्तविकता भी नही स्वीकार की जा सकती है।

३. फिर विज्ञान ने तकनीकी तथा औद्योगीकरण के आधार पर समाज-सुधार प्रारंभ किया और अब जीवन का कोई ऐसा प्रमुख क्षेत्र नहीं बचा है जो विज्ञान से लाभान्वित नही हो रहा है। उदाहरणार्थ, शिक्षा, चिकित्सा, खेती, बाँध इत्यादि। अब कौन ऐसा क्षेत्र बच रहा है जहाँ ईश्वर की दुहाई की आवश्यकता है ? अतः, वर्तमान काल में अधिकांश व्यक्तियों के लिए ईश्वर अनावश्यक हो गया है। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों में ईश्वर को अब समस्याओं का समाधेयक नही समझा जाता है। इसलिए ईश्वरवाद से विज्ञान निकला और विज्ञान ने ईश्वर को ही अनावश्यक सिद्ध कर दिया है। पाश्चात्य दर्शन विशेषकर अनीश्वरवादी हो गया है।

४. पाश्चात्य अनीश्वरवाद दार्शनिक चिन्तन से अवश्य प्रभावित हुआ है। परन्तु समकलीन अनीश्वरवाद पाश्चात्य विचारकों की विज्ञान-दृष्टि, समाजवाद तथा साम्यवाद का परिणाम है। दूसरे शब्दों में ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिए गए प्रमाणो के दार्शनिक खंडन के फलस्वरूप अनीश्वरवाद की स्थापना नहीं हुई है। यह पाश्चात्य जगत् के युग की माँग है। प्रत्येक युग की अपनी दृष्टि होती है, जिसके फलस्वरूप कुछ वस्तुएँ और कुछ घटनाएँ अन्य सभी वस्तुओं तथा घटनाओं की तुलना

में महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं। पुरातन काल में जादू-टोना, भूत प्रेत वास्तविक समझे जाते थे। सभ्यता के प्रसार के साथ इनका अस्तित्व भी काफूर होता गया है। इसी प्रकार एक समय था, जब पाश्चात्य देशों मे जीऊस, थॉर, देवी डायना इत्यादि की पूजा होती थी। अब इन देवी-देवताओं को काल्पनिक समझा जाता है। इसी प्रकार समकालीन पाश्चात्य देशो मे अनेक विचारकों को ईश्वर भी काल्पनिक माना जाने लगा है। यह बात कुछ भौतिकवादी तथा ऐहिकतावादी तक ही सीमित नही रही है। ईसाई पादरी और ईसाई धर्म के विचारक भी इसी बात का प्रचार कर रहे है। हाँ, दो बातो के कारण वे अभी भी अपने को ईसाई कहते हैं।

१. ईसा अभी भी पूज्य है। ईसा न तो ईश्वर है और न ईश्वर का पुत्र है। ईसा पूर्ण मानव था और चूंकि अपने युग के अनुसार लोकहित के लिए उसने अपने प्राणो की आहुति चढायी, इसलिए यदि लोकहित को मानव जीवन का परम लक्ष्य माना जाएगा, तो ईसा को आज भी पूजनीय माना जाएगा। ईसा को उपासना का विषय नही माना जाएगा, परन्तु उसे अनुकरणीय, अनुप्रेरक तथा प्रणेता समझा जाएगा।

२. फिर यह ठीक है कि किसी पारलौकिक सत्ता को स्वीकार नही किया जा सकता है; तो भी शुद्ध-अशुद्ध, पवित्र-साधारण, शुचि-सामान्य का अन्तर रहेगा। ऐहिकता को निभाते हुए भी कुछ व्यक्तियो और सेवा-कार्यों को पवित्र समझना पड़ेगा और इस रूप मे भी ईसा के जीवन को पवित्र समझकर उससे प्रेरणा प्राप्त करते रहना चाहिए।

अतः, विज्ञान के प्रचार-प्रसार से पाश्चात्य ईश्वरवाद अब लोकहित को ईश्वर-पूजा से अधिक मान्यता दे रहा है। ईश्वरवाद अब मानवतावाद हो गया है। भारत में भी समाजवाद को अपनाया गया है। विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण को इस समाजवाद का प्रमुख साधन समझा गया है। इसके साथ भारतीय समाजवाद को लोकतांत्रिक स्वीकार किया गया है। ये सभी मान्यताऐं पाश्चात्य देश से ली गयी हैं। क्या ये मान्यताएँ भारत के समाधिमूलक धर्मों से मेल खाती हैं ?

भारतीय धर्म-परम्परा और समाजवाद

भारतीय धर्मदर्शन की प्रमुख परम्परा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पूर्णता प्राप्त करना चाहिए। जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक जीव अनंत चैतन्यपूर्ण आत्मा है और अज्ञान के कारण जीव शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। गुणस्थान की चौदह सीढ़ियों को पार कर तथा आठ ध्यानों की सहायता से व्यक्ति अन्त में अपनी अन्तिम गति को प्राप्त कर लेता है जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। यह ठीक है कि ध्यान प्रारंभ करने मे उसे अर्हतों का अनुस्मरण करना पडता है ताकि इस अनुस्मृति से उसे अपने कठिन तप में बल प्राप्त हो। परन्तु उसे किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती, जिसके अनुग्रह से उसे अन्तिम ज्ञान प्राप्त होता है। फिर बिना संसार-विरक्ति के और भिक्षु बने हुए ध्यान सभव नही हो सकता है।

बौद्ध धर्म मे भी ईश्वर को नही स्वीकार किया गया है। यहाँ भी मानव का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण-प्राप्ति माना गया है। यह अवस्था उपेक्षा-भाव की है, जिसमे अहंभाव का विलयन होता है। संसार-विरक्ति के बाद शील, प्रज्ञा और समाधि के द्वारा तृष्णा का अन्त करके तथा अहंभाव का विलयन करके निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसे जीव का संवर्धन कहा जा सकता है और जिसे जीव की पूर्णता भी माना जा सकता है।

यदि षड्दर्शनो पर दृष्टिपात किया जाए, तो इसमे भी अधिकांश दर्शनों को अनीश्वरवादी ही कहा जाएगा। सांख्य दर्शन मे तर्कसंगत रूप से ईश्वर की आवश्यकता नही होती, क्योकि पुरुष-प्रकृति का संयोग अपने-आप होता है और कैवल्य-ज्ञान भी बिना ईश्वर की कृपा से प्राप्त होता है। इसलिए ईश्वर की आवश्यकता न तो सृष्टि के प्रारंभ मे और न अन्त में होती है। इसलिए सांख्य को तर्कसंगत रूप से अनीश्वरवादी कहा जा सकता है। फिर चूंकि योग-दर्शन सिद्धान्तत इसी सांख्य-दर्शन पर आधारित है, इसलिए योग दर्शन को भी अनीश्वरवादी कहा जा सकता है। वैशेषिक दर्शन मे तो आत्मा को ही चैतन्य-शून्य कहा गया है, इसलिए इसे भी अनीश्वरवादी तथा भौतिकवादी कहा जा सकता है। पूर्वमीमासा को कर्मकाडी माना जाता है और अपूर्व तथा अदृष्ट के सिद्धान्त के अनुसार कर्म का फल यान्त्रिक रूप से होता रहता है जिस विधान मे ईश्वर की आवश्यकता नही होती। उत्तरमीमासा अर्थात् वेदान्त के शांकर अद्वैतवाद मे ईश्वर का स्थान गौण है। ईश्वर केवल साधनमात्र है। ईश्वर की

कृपा से बुद्धि विमल हो जाती है; इन्द्रियों पर निग्रह हो जाता और तब शमदमादि साधन सम्पत् के फलस्वरूप निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। निर्गुण प्राप्ति होने पर मुमुक्षु स्वयं ब्रह्म हो जाता है; और तब उसे किसी उपासना की आवश्यकता नहीं होती है।

यदि कहीं ईश्वरवाद आता भी है, तो वह न्याय-दर्शन में, जिसे तत्त्वमीमासा नहीं कहा जा सकता है। न्याय-पक्ष ही न्यायदर्शन का विशेष पक्ष है और इसका तत्त्वमीमांसा का पक्ष वैशेषिक दर्शन है और वैशेषिक दर्शन को शंकर ने अर्धभौतिकवादी बताया है। इसी प्रकार रामानुज, वल्लभाचार्य, निम्बार्क आदि वेदान्ती दर्शनों में ईश्वर का स्थान आता है। परन्तु इन ईश्वरवादियों भक्ति-पक्ष प्रधान हो जाता है और यहाँ भी अहंभाव के विलयन की बात चली मे आती है और फिर यहाँ भी संसार-विरक्ति तथा पलायनवाद चला आता है। अत:, भारतीय धर्म-दर्शन की तीन मुख्य बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

१. संसार-विरक्ति अथवा समाज-पराङ्मुखता।
२. आत्म-संवर्धन अथवा पूर्णता।
३. समाधि-विधि (ध्यान—जैन, समाधि—बौद्ध, निदिध्यासन—अद्वैत वेदान्त)।

यदि भक्ति को भी स्वीकार कर लिया जाए तो इसमे भी (१) और (२) लक्षण पाए जाते हैं। क्या इस भारतीय धर्म-दर्शन के आधार पर सामाजिक कल्याण तथा समाजवाद की पुष्टि होती है? नही। क्यों?

सर्वप्रथम, समकालीन भारत का समाजवाद विदेशी है। इसका मुख्य उद्देश्य है ऐहिकतावाद। ऐहिकतावाद तीन प्रकार का है, अर्थात् धर्माश्रित, धर्मनिरपेक्ष और धर्मविरोधी। धर्माश्रित ऐहिकतावाद ईसाइयों के द्वारा संचालित किया गया था और जो अन्त में अनीश्वरवाद और धर्मनिरपेक्षतावाद में परिणत हो गया। धर्माश्रित ऐहिकतावाद वह है जिसमे ईश्वर से उत्प्रेरणा प्राप्तकर लोकहित के लिए सेवा की जाती है। समकालीन युग मे वर्तमान पोप ने पहली बार कैथोलिक के इतिहास मे पादरियों को आदेश दिया है कि वे लोकहित मे हाथ बटाएँ। धर्माश्रित ऐहिकतावाद अभी भी पूर्वीय यूरोप के समाजवादी देशों मे ईसाइयो का प्रमुख मत है। परन्तु अधिकतर ऐहिकतावादी धर्मनिरपेक्षता को ही अपनाते हैं। इनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि धर्म की ओर ध्यान दिया जाए। यहाँ धार्मिक तटस्थता अपनायी जाती है। इनके लिए

विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण ही प्रधान हैं जिनके द्वारा मानव-कल्याण की बातें की जाती हैं। परन्तु भौतिकवादी साम्यवाद को धर्मविरोधी ऐहिकता-वाद कहा जा सकता है। इनके अनुसार ऐहिकता के प्रसार मे धर्म बराबर रोडा अटकाता रहता है।

बौद्ध धर्म के प्रारभकाल मे, विशेषकर अशोक सम्राट् के द्वारा चिकित्सालय तथा शिक्षा को सार्वजनिक बनाने में सहायता दी गयी थी। शिक्षा-प्रसार के लिए नालदा, तक्षशिला, वैशाली, उदंतपुरी, जागदल्ला, विक्रमशिला इत्यादि स्थानों पर विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी थी। तो क्या बौद्ध धर्म को, विशेषकर महायान को लोकहित का पोषक नही माना जाएगा ? इसी प्रकार राधाकृष्णन तथा अरविन्द ने 'सर्वमुक्ति' का सदेश दिया है। तो क्या भारतीय धार्मिक परिपाटी को समाज-सेवी बनाया जाएगा ? शायद इन सब विचारको की अपेक्षा विवेकानन्द ने लोक-कल्याण पर बहुत अधिक बल दिया है। परन्तु मैं भारतीय धार्मिक परिपाटी को समाजवादी धाराओ के प्रतिकूल मानता हूँ।

१ सर्वप्रथम, बौद्ध धर्म का सुधारवादी पंथ महायान बाद मे चलकर मठ-वादी हो गया, जिसके कारण मठवास को निर्वाण-प्राप्ति का मुख्य साधन माना गया। परन्तु मठवास पर बल देने से ऐहिकता को अवश्य ही आघात पहुँचेगा। द्वितीय, महायान पंथ मे अथर्वेद से प्रभावित होकर वाम-मार्ग को अपनाया गया, जिसमें तंत्र-मंत्र पर लोगो की आस्था को प्रोत्साहन मिला। परन्तु तंत्र-मत्र पर बल देने से विज्ञान का प्रसार रुक गया।

२ फिर राधाकृष्णन् तथा अरविन्द के विचारों मे 'सर्वमुक्ति' से आध्या-त्मिक विकास का अभिप्राय लगाया जाता है, न कि तकनीकी औद्योगी-करण से और तकनीकी इत्यादि के द्वारा वास्तविक लोकहित संभव हो सकता है। अत:, सर्वमुक्ति से लोक-कल्याण की बात नही झल-कती है।

३. विवेकानन्द की उक्तियो में लोकहित की बात स्पष्ट रूप से कही गयी है, पर क्या अद्वैत वेदान्त के अनुसार लोक-कल्याण को अपनाने से ब्रह्मप्राप्ति हो सकती है ? मेरी समझ मे न तो अद्वैत वेदान्त के अनुसार और न जैन-बौद्ध धर्मों के अनुसार लोक-सेवा से मुक्ति या निर्वाण-प्राप्ति सभव समझी जा सकती है। ससार-विरक्ति भारतीय

धर्म-परम्परा के लिए आवश्यक शर्त है, जिसके आधार पर आध्यात्मिक विकास संभव माना जा सकता है। जहाँ संसार-विरक्ति का संदेश होगा वहाँ वैज्ञानिक अन्वेषण को किस प्रकार प्रोत्साहन मिल सकता है ?

४. फिर जैन-बौद्ध तथा शाकर अद्वैतवाद के अनुसार अहंभाव के विनाश के बिना मुक्ति अथवा निर्वाण प्राप्त नही हो सकता है, शायद यही भाव 'निष्काम कर्म' के सिद्धान्त मे छिपा हुआ है। परन्तु ऐहिकता के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति के अन्दर उसकी संकल्प-शक्ति पूरी बनी रहे और सकल्प के लिए अहंभाव का होना आवश्यक है। अत., निर्वाण अथवा मोक्ष-विषयक सिद्धान्त ऐहिकतावाद से मेल नही खा सकता है।

५. अन्त मे, ऐहिकतावाद के लिए आध्यात्मवाद केवल साधन हो जाता है और समाज-सेवा, लोकहित ही साक्षात चरम लक्ष्य माना जाता है। परन्तु भारतीय धार्मिक परिपाटी के अनुसार अध्यात्मवाद को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना जाता है।

अत', मेरी समझ मे भारतीय धर्म-परम्परा समाजवादी ऐहिकतावाद से मेल नही खाती है और इसलिए इस परम्परा से समकालीन राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओ पर विशेष प्रकाश नही पड सकता है। परन्तु समकालीन समाजवादी धाराओ से मेल न खाने पर भी मैं समाधिमूलक भारतीय धर्म-परम्परा को मानव का भावी धर्म मानने को तैयार हूँ।

समाधिमूलक धर्म-परम्परा और मानव का भावी धर्म

यह ठीक है कि समाजवाद भारत मे और सभवत. विश्व मे भी स्थापित होकर ही रहेगा। भारत मे समाजवाद होकर ही रहेगा इसके निम्नलिखित कारण हैं :

१ प्रजातान्त्रिक व्यवस्था भारत मे असफल हो चुकी है।

२. भारतीयो को आर्थिक स्वतन्त्रता नही प्राप्त हुई है।

३. ऊंच-नीच, शोषक-शोषित के भेद तथा दलित और सास्कृतिक दबाव को अब लोग सहन करने को तैयार नही हैं।

४. बेकारी की बाढ़ के सामने समाजवाद ही एकमात्र उपाय बच गया है।
५. फिर विश्व की समाजवादी धाराओ से भारत अपने को अछूता नही रख सकता है।
६. जन-बाढ़ की स्थिति उसी समय वश मे की जा सकती है जब देश की सामग्रियो और पदार्थ का पूर्ण विकास किया जाए और यह समाजवाद के ही द्वारा संभव हो सकता है।

पर क्या समाजवाद के स्थापित हो जाने पर मानव उस स्थिति को प्राप्त कर लेगा, जिसकी कल्पना धर्मों मे की जाती हैं ? बार बार इस पुस्तक के पृष्ठो मे यह बात दुहरायी गयी है कि मानव की अपनी कोई अन्तिम गति नही है। समाजवाद से आर्थिक समस्या का समाधान हो जाएगा। परन्तु स्वय समाजवाद मे ही निहित ऐसी समस्याएँ है जिनसे मानव अपना पिंड नही छुड़ा सकता है। समाजवाद के स्थापित हो जाने पर मानव का बौद्धिक क्षितिज बहुत व्यापक हो जाएगा, शारीरिक श्रम की भी आवश्यकता कम हो जाएगी और उपभोग की वस्तुओ मे बहुत वृद्धि हो जाएगी, विशेषकर कुंठित मानव को दो बडी सुविधाएँ प्राप्त हो जाएँगी।

१. मनोरजन का अवसर बहुत बढ़ जाएगा। इसका कारण है कि जब श्रम-घटो की कटौती हो जाएगी, तो मानव को अपने अवकाश की घड़ियो को बिताने के लिए खेल-तमाशा, फुटबॉल-हॉकी, सिनेमा-नाच इत्यादि के स्थानो मे जाकर समय काटने की आवश्यकता हो जाएगी।

२ फिर काम-जीवन भी बहुत कुछ मुक्त हो जाएगा।

इसलिए निस्संदेह समाजवादी मानव सभ्य जीव रहेगा और उसकी वर्तमानकालिक कुंठित स्थिति मे बहुत अधिक सुधार आ जाएगा। परन्तु जितने भी उपभोग तथा मनोरंजन के साधन होगे, उनसे मानव अपनी इच्छाओ और वृत्तियो को बाह्यीकृत कर पाएगा, पर क्या अपने बाह्यीकरण से मानव अपनी गहराई को भी प्राप्त करेगा ? क्या फिर वह यह नही प्रश्न करेगा कि इन सब सामग्रियो से क्या लाभ, जबकि उसकी आत्मा ही उससे ओझल होती जा रही है ? क्या मानव इस अवस्था मे फिर प्रश्न नही पूछेगा, कोऽहं, कस्त्वं, कुत आयातः ? जीवन की स्थिरता उपभोग की वस्तुओं, मनोरंजन साहित्य कला तथा दार्शनिक चिंतन से भी प्राप्त नहीं हो सकती है। ये सभी जीवन के

-साधक हैं, न कि अन्तिम लक्ष्य। मानव अपने को अपने मे ही सीमित नही रख -सकता है। उसे आत्मातिक्रमण की बड़ी आवश्यकता मालूम देती है। अभी तक मानव देवी-देवता, ईश्वर इत्यादि प्रतोकों के आधार पर अपना आत्मातिक्रमण कर अपने जीवन की स्थिरता प्राप्त करता आया है। परन्तु विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण के प्रचार और प्रसार से अनुभववादी परम्परा बढ़ती जाएगी और इस अनुभववादी परम्परा मे अननुभूत, अगोचर, अदृश्य अकथनीय तथा अनिर्वचनीय ईश्वर को नही जाना जाएगा। इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर मानव भारतीय धर्मदर्शन के पृष्ठों को फिर उलटेगा। वह जानना चाहेगा कि किस प्रकार वह अपनी आत्मा को प्राप्त करे जो एकमात्र मानव के लिए द्रष्टव्य तथा श्रोतव्य विषय है। वह फिर शील, समाधि और प्रज्ञा के आधार पर अपना निर्वाण तथा मोक्ष प्राप्त करेगा। भारतीय समाधिमूलक धर्म अनादिकाल से सिन्धुतट के निवासियों मे देखा गया है और यह आलोक अनंत काल तक रहेगा और मानव के तिमिराच्छन्न जीवन मे ज्योति देता रहेगा।

आत्मनैवायं ज्योति :

आत्मज्ञान से ही अमरता प्राप्त होती है और यह उत्तर बृहदारण्यक ने मूल प्रश्न के समाधान करने के लिए प्रस्तुत किया था।

येनाहं नामृता स्या किमहं तेन कुर्याम्।

मानव की फिर अन्तिम प्रार्थना रहेगी,

तमसो मा ज्योतिर्गमय,
असतो मा सद्गमय
मृत्योमा अमृतं गमय।

भावी धर्म और अनीश्वरवाद

सुदूर भविष्य मे समाधिमूलक धर्मों का ही बोलबाला रहेगा, परन्तु सन्निकट भविष्य मे मानवतावाद को ही प्रश्रय दिया जा रहा है और अधिकांश विचारक इसे ही भावी धर्म मान रहे हैं। इसी बीच मे पाश्चात्य ईसाई धर्म में अनीश्वरवाद की चर्चा हो रही है और इसका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक मालूम दे रहा है। इसका कारण यह है कि भारत मे पाश्चात्य सभ्यता को अपनाया गया है और भारत मे इस समय पाश्चात्य विचारों को ही विशेष प्रश्रय मिल रहा है। परन्तु इन पाश्चात्य विचारों के अन्तिम निष्कर्षों के संबध मे भारतीय विचारकों ने अपने मत को स्पष्ट नहीं किया है। परन्तु ऐसा संभव

नहीं है कि भारतीय विचारक पाश्चात्य विज्ञान और तकनीकी को अपना लें और उनमे अन्तर्निहित तथा उनसे आपादित निष्कर्षों को ठुकरा दें। अब पाश्चात्य विज्ञान एवं शिल्पविज्ञान के प्रचार, प्रसार तथा विस्तार के साथ उनमें अन्तर्निहित लौकिकता, धर्मनिरपेक्षता, अनीश्वरवाद को भी ध्यान मे रखना चाहिए। हमें भूल नही जाना चाहिए कि पाश्चात्य विज्ञान तथा तकनीकी ईसाई धर्मदर्शन से निकले हैं और इसी विज्ञान एव शिल्पविज्ञान से ऐहिकता एवं समाजवाद का सदेश मिला है। फिर इसी ऐहिकता के साथ अनीश्वरवाद का भी समर्थन हुआ है। अतः, पाश्चात्य धर्मदर्शन मे ही अन्तर्निहित विचारो के प्रस्फुटन से ही अनीश्वरवाद उत्पन्न हुआ है। इसलिए भारतीयों के लिए समकालीन विचार-क्रान्ति मे अनीश्वरवाद सामयिक एव प्रसंगपूर्ण है।

धर्मदर्शन के इतिहास मे अनीश्वरवाद कोई नई बात नही है। किन्तु परम्परागत अनीश्वरवाद तत्वमीमासीय था और तत्त्वमीमांसीय निष्कर्ष को स्थायी नही मानना चाहिए। फिर तत्त्वमीमांसीय विचार एवं निष्कर्ष बौद्धिक होते है जिनका प्रभाव मानव-जीवन पर स्थाई, व्यापक एव चिरकालीन नही होता है। साथ-ही-साथ तत्त्वमीमासीय निष्कर्ष को समकालीन दर्शन मे महत्ता नही प्रदान दी जाती हैं। इसलिए समकालीन विचारधारा मे तत्वमीमासीय अनीश्वरवाद को महत्त्वपूर्ण नही माना जाता है। तत्त्वमीमासीय अनीश्वरवाद की तुलना मे समकालीन अनीश्वरवाद तार्किक है और समकालीन समाजदर्शन से प्रभावित हुआ है। फिर समकालीन अनीश्वरवाद धर्मविरोधियो से ही नहीं, वरन् पादरियो एवं धर्मविचारको के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसलिए अनीश्वरवाद को ईसाई धर्मदर्शन का ही परिणाम कहा जा सकता है। अतः, अनीश्वरवाद भी धर्म का ही रूप है और इसे पाश्चात्य जगत् का भावी धर्म भी माना जा सकता है।

अब अनीश्वरवाद को 'धर्म' संज्ञा देने मे तथा इसे ईसाई धर्मदर्शन का ही फलित परिणाम कहने मे असंगति मालूम दे सकती है। ईसाई धर्मदर्शन ईश्वरवादी है तो इससे कैसे अनीश्वरवाद निकल सकता है? आश्चर्य तो लगता है, पर बात सच्ची और संगत है। हम इस बात को ईसाई धर्मदर्शन की मान्यताओं को, उनके ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर उनमे आन्तर्निहित अनीश्वरवाद को स्पष्ट करेंगे। परन्तु इसके पूर्व हमें अनीश्वरवाद के संप्रत्यय को ही स्पष्ट करना चाहिए।

समकालीन ईश्वरवाद में यह नहीं दिखाया जाता है कि ईश्वर नहीं है; वरन् यह कहा जाता है कि ईश्वर-संप्रत्यय, आत्मविरोधी है और फिर यह आधुनिक मानव के लिए बुद्धिगम्य भी नहीं है। इसके अनुसार ईश्वर-चर्चा जीवन की स्थितियों मे प्रसगहीन है और इसलिए कहा जा सकता है कि संभव है कि पुरातन-काल, मध्ययुग एवं बीसवी शताब्दी के प्रारंभ तक ईश्वर जीवित सत्ता था और ईश्वर मानव जीवन का सहायक भी रहा। परन्तु समकालीन जीवन में ईश्वर मर चुका है और अब आधुनिक मानव के लिए उसकी चर्चा करना प्रसंगहीन है। जिस प्रकार जादू-टोना का युग समाप्त हो गया, जिस प्रकार से जीयूस और थॉर देवता दफना दिये गए हैं उसी प्रकार अब ईश्वर भी मर चुका है। अत:, अनीश्वरवाद से ईश्वर-प्रत्यय का आत्मविरोध, अबुद्धिगम्यता तथा ईश्वर-मृत्यु ध्वनित होती है। इस अर्थ में ईसाई मान्यताओ के ऐतिहासिक संदर्भ मे अनीश्वरवादका प्रादुर्भाव हुआ है।

प्रारंभ में ईसाई धर्मदर्शन की तीन मुख्य मान्यताएँ स्वीकार की गयी थी, जिन्हे आज भी कैथोलिक पंथ मे माना जाता है—अर्थात्,

१. ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण परम सत्ता है जिसने इस विश्व की शून्य से सृष्टि की है। ईश्वर ने मानव की विशेष रूप से सृष्टि की जिसके कारण वह अन्य पशुओं तथा ससार की अन्य वस्तुओं से सर्वथा भिन्न है। ईश्वर चाहता है कि मानव ईश्वर की इच्छा पर चले। परन्तु ईश्वर ने मानव को स्वतंत्र इच्छा दी है जिसके हेतु वह ईश्वर को इच्छा का उल्लंघन भी कर सकता है। परन्तु इस संसार का एकदिन अन्त भी होगा, जब प्रत्येक मानव को उनके कर्म के अनुसार स्वर्ग अथवा नरक का वास मिलेगा। इसलिए ईश्वर को ईसाइयों ने सृष्टिकर्त्ता, अधिराजा तथा न्यायधीश के रूप मे भी माना है।

फिर ईश्वर को लोकातीत भी माना गया है। चूंकि ईश्वर मानव से परे और अतीत है, इसलिए उनके बीच मध्यस्थता की भी कल्पना की गयी है। आदिकाल से ही ईश्वर ने ईश दूतों के द्वारा बताया है कि किस प्रकार से मानव अपने पापों का प्रक्षालन कर सकता है और किस प्रकार वह अपने को ईश्वर को अर्पित कर सकता है। परन्तु मानव के आदिपिता आदम ने ईश्वर की आज्ञाओं का उल्लंघन किया और तब से सम्पूर्ण आदम-जाति (मानव) आदि-पाप से ग्रस्त होकर अपने को शुद्ध नहीं कर पायी है। अतः, ईश्वर को मानव के निकटतम आना पड़ा और अन्तिम रूप से ईश्वर ने अपनी प्रकाशना ईसा

मसीह के जीवन, उसकी शिक्षा तथा मृत्यु के द्वारा की है। ईसा-मसीह के रूप मे साकार होने के सिद्धान्त मे ईश्वर-प्रकाशना मे अन्तर्निहित दूसरी मान्यता है श्रुति की।

२ ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व मे ही ईश्वर की प्रकाशना का सिद्धान्त निहित है; क्योंकि सृष्टिकर्तृत्व से स्पष्ट होता है कि ईश्वर का ऐसा स्वरूप है कि वह अपनी कायशक्ति के द्वारा अपना प्रकाशन अपनी सृष्टि मे किया करता है। किन्तु ईश्वर ने अपना प्रकाशन मनुष्य के रूप मे होकर ईसा मसीह मे किया और इस अवतार की कथा बाइबिल मे आधिकारिक रूप मे लिखी है जिसे हम 'श्रुति' की सज्ञा दे सकते हैं। अतः, बाइबिल को अशोध्य, निर्भ्रान्त तथा अक्षरशः सत्य समझना चाहिए।

३. लेकिन बाइबिल मे अनेक बातें लिखी हुई है और सब कोई ईश्वर के रहस्य को नही समझ सकते है। यह केवल ईसाई-मडली को ही जिसे 'रोमन-चर्च' कहा जाता था एकमात्र अधिकार था कि वह बाइबिल का आधिकारिक अर्थ निश्चित करे। अतः, लोकोक्ति थी कि यदि ईश्वर पिता है, तो चर्च उसकी माता है।

विज्ञानाश्रित अनीश्वरवादी तत्त्वमीमासा : तीसरी मान्यता सबसे पहले सदेहास्पद हो गयी। जब सन् १५१७ मे मार्टिन लूथर ने प्रोटेस्टेन्टवाद की घोषणा की तो उसी समय उन्होने यह भी घोषित किया कि प्रत्येक भक्त को यह अधिकार है कि ईश्वर की पवित्र आत्मा से प्रेरित होकर वह बाइबिल से पाठ ग्रहण करे और बिना किसी धार्मिक पुजारी की मदद लिए हुए ईश्वर से अपना साक्षात् संबध स्थापित कर अपने पापो के लिए क्षमा प्राप्त करे। अतः, किसी भी ईसाई मंडली को ईश्वर के प्रतिनिधित्व का एकाधिकार नही है। साथ ही साथ प्रोटेस्टेन्टवाद ने व्यक्ति की स्वतंत्रता की घोषणा की है और उसे सच्चाई की खोज करने के लिए (सभी अधिकारियो से मुक्तकर) प्रोत्साहित किया। प्रोटेस्टेन्टवाद के अनुसार व्यक्तियों की स्वतन्त्रता तथा सत्यता की खोज मानव के लिए अत्यधिक पवित्र मान्यताएँ हैं। इन्हीं दो घोषित मन्तव्यों के फलस्वरूप प्रोटेस्टेन्टवादी देशों मे विज्ञान तथा शिल्प-विज्ञान का प्रचार एवं प्रसार होने लगा। उदाहरणार्थ, हंगरी-देश में कैल्विन के चलाए प्रोटेस्टेन्ट मंडली मे कैथोलिक की अपेक्षा ९० वर्ष पहले विज्ञानों का प्रचार हुआ था। आज भी रोमन कैथोलिक-प्रधान दक्षिण अमेरिका में विज्ञान एवं शिल्प-विज्ञान

की प्रगति प्रोटेस्टेन्ट-प्रधान संयुक्त प्रदेश की तुलना में नगण्य है। परन्तु विज्ञान एवं शिल्प-विज्ञान की प्रगति के साथ ईसाई धर्मदर्शन की पहली दो मान्यताओं में भी संदेह उत्पन्न होने लगा।

विज्ञान से उत्पन्न तीन मुख्य विचारणीय सिद्धान्त हैं—(क) वैज्ञानिक विधि (ख) वैज्ञानिक निष्कर्ष, (ग) शिल्प-विज्ञान जो विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष है। सर्वप्रथम, वैज्ञानिक निष्कर्षों से पाश्चात्य धर्मदर्शन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। विज्ञान के लिए संपूर्ण विश्व को समझने के लिए यन्त्रवाद एक कुंजी-मंत्र था। यह ठीक है कि २० वी शताब्दी के प्रारंभ मे भौतिकी मे अनियति-वाद की चर्चा चली हुई है; किन्तु यहाँ गैलेलियो से लेकर डार्विन तथा फ्रायड तक की बात कही जा रही है जिन्होने वैज्ञानिकी से यान्त्रिकी का अर्थ लगाया था। देकार्त ने आधुनिक विचार-धारा की नीव डालते हुए यान्त्रिकता के प्रचार और प्रसार के लिए द्वैतवाद की रचना की। इनके अनुसार सभी भौतिक पदार्थ, यहाँ तक कि जीव भी यंत्र ही हैं। न्यूटन की खोज के बाद इस यान्त्रिकता का अधिकतम प्रसार हुआ। न्यूटन ने स्पष्ट कर दिया कि समस्त ब्रह्माड में गुरुत्वाकर्षण का नियम पाया जाता है। सभी नक्षत्र तथा गगन की शक्तियाँ इसी नियम से संचालित होती हैं। इस ब्रह्मांडीय यान्त्रिकी मे कोपर-निकस ने (सन् १४७२-१५४३) सूर्य को केन्द्र माना था। जिसकी परिक्रमा पृथ्वी अन्य सभी नक्षत्रों के साथ करती है। यह सिद्धान्त परम्परागत ईसाई मत के विरुद्ध था। ईसाई मत के अनुसार ईश्वर ने पृथ्वी को विशेष स्थान प्रदान किया है जिसमे सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ सृष्ट जीव मानव निवास करता है। सूर्य-केन्द्रित ब्रह्माड को मानने से पृथ्वी एक गौण नक्षत्र बन गई और मानव के निवास-नक्षत्र पृथ्वी के गौण होने पर मानव का भी अवमूल्यन हो गया। परन्तु क्या मानव ईश्वर की विशेष मूल्यवान सृष्टि नही है? जैविक विकास के सिद्धान्त ने मानव के इस स्वप्न को भी निराधार सिद्ध कर दिया।

यह ठीक है कि जड़ और जीव मे आकाश-पाताल का अन्तर है। परन्तु डार्विन ने निर्दशित कर दिया कि जीवों का विकास निरुद्देश्य रीति से हुआ है। जैविक विकास में दो प्रधान तत्त्व हैं—(क) जीवों में आकस्मिक परिवर्तन का होते रहना, (ख) परिस्थिति के प्रति इन परिवर्तनों की अभियोजन-क्षमता। ये परिवर्तन पूर्णतया आकस्मिक होते हैं, अर्थात् न तो इनमें कोई उद्देश्य छिपा रहता है और न ये किसी प्रकार से नियंमित मालूम देते हैं। यदि ये परिवर्तन

पूर्वस्थित परिस्थिति के अनुकूल हुए, तो इन्हे अभियोजन-क्षम्य माना जाएगा, अर्थात् परिस्थिति मे दो विशेष सामग्रियाँ पाई जाती हैं – भोजन और मैथुनिक जोड़ा। यदि ये परिवर्तन ऐसे हैं जिनसे भोजन-प्राप्ति तथा मैथुनिक जोड़े की प्राप्ति मे सहायता मिले, तो ऐसा जीव जीवित रहेगा और उसकी सतान जारी रहेगी। अत:, भोजन प्राप्ति तथा मैथुनिक संतुष्टि के लिए जीवन-संग्राम में जिन जीवो मे अनुकूलन परिवर्तन रहेगे वे जीव संरक्षित तथा सवर्द्धित रहेगे। परन्तु न तो अभियोजन-क्षमता मे और न जीवन-सग्राम मे किसी प्रकार का उद्देश्य दिखाई देता है और न कोई नैतिक लक्ष्य ही दिखाई देता है। यदि मानव अन्य पशुओ की अपेक्षा विजयी हुआ है तो वह इसलिए कि उसका मस्तिष्क उसे जीवन सग्राम मे विजयी बनाने मे सहायक प्रतीत हुआ है। परन्तु डार्विन के अनुसार मानव-जाति के प्रादुर्भाव एव विकास मे कोई नयी बात नही देखने मे आती है। उसे वास्तव मे अन्य आकाश के पक्षियो और भूमिस्थ पशुओ मे गिनना चाहिए। अत, डार्विन के जैविक विकास ने स्पष्ट कर दिया कि मानव को स्वर्ग के दूतो मे नही, वरन् पार्थिव पशुओ मे गिनना चाहिए और इसे यह सोचना छोड देना चाहिए कि ईश्वर ने किसी विशेष विधि से मानव की सृष्टि की है। इस सिद्धान्त से व्योमचारी मानव स्वर्ग से गिरकर इस पृथ्वी का जीव बन गया। उसके अपने गर्व का हनन हुआ और अपनी उत्पत्ति पशुओ के समान जानकर उसमे आत्मग्लानि की भावना आ गई। पर क्या मानव की विशेषता उसकी बुद्धि मे नही है? क्या इसे अस्वीकार किया जा सकता है कि मानव पाशविक वृत्तियो से नही, वरन् बुद्धि से संचालित होता है? इस गर्व का भी हनन हुआ।

फ्रायड ने दिखलाया कि मानव वास्तव मे पशुओं की भाँति मूलप्रवृत्तियों से ही सचालित होता है। फिर उसकी प्रक्रियाएँ तर्क-बुद्धि से क्या संचालित रहेंगी? वह बहुधा अचेतन से ही सचालित होता रहता है। पुनः, ईश्वर जिस पर मानव की टेक है, वह स्वप्न-प्रतिमा के समान भ्रम-मात्र है। मानव ईश्वर की पूजा इसलिए करता है कि इसके द्वारा उसकी दमित तथा दबी हुई अचेतन गाँठों की सतुष्टि होती रहती है। अन्तिम रूप मे देखा जाए, तो ईश्वर मानव के आदि-पिता तथा शैशवकाल के पिता की प्रतिमा मात्र है जिसे अचेतन के कारण हम यथार्थ समझते हैं। अतः, मानव प्रक्रियाओ का सचालन अचेतन एवं शैशव प्रवृत्तियों के द्वारा होता है। मानव बुद्धि का [illegible] हुआ जिसके कारण

वह अपने को देवता समझता है ? फ्रायड के अनुसार मानव बुद्धि अतिक्षीण है और इसका जीवन पर प्रभाव बहुत छिछला है। हाँ, लेकिन मानव का उद्धार इसी बुद्धि के द्वारा हो सकता है और जब मानव अपनी बुद्धि के द्वारा यथार्थ का ज्ञान प्राप्त कर उसके प्रति अभियोजित रहेगा, तो पूर्ण शिक्षित व्यक्ति को भान हो जाएगा कि इस विश्व का कोई सृष्टिकर्त्ता नहीं है। मानव का एक मात्र सही धर्म यही होगा कि वह मानव-सौहार्द्र की स्थापना करे।

फ्रायड ने प्रथम विश्व-समर को बहुत नजदीक से देखा था और उनके अन्दर भावना आने लगी कि मानव के अन्दर मृत्यु-प्रवृत्ति है जिसके कारण मानव अन्त मे उसी मिट्टी में मिल जाना चाहता है जिससे वह अतीत में भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तनों से उत्पन्न हुआ है। इसलिए फ्रायड भौतिकवादी थे। उन्होंने दिखाने की चेष्टा की कि मानव-सभ्यता ढोंग है, ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करना बचपना है और मानव की बुद्धि ही वास्तव मे उसका मुख्य अस्त्र-शस्त्र है जिसके द्वारा उसे जीव-संग्राम मे सफलता मिली है। परन्तु अभी मानव जीवन पर बुद्धि का आधिपत्य नही है। प्रायः मानव मूल-प्रवृत्तियों, पाशविकताओं तथा अचेतन की दमित गाँठों का ही शिकार हुआ करता है।

वैज्ञानिक विधि तथा अनीश्वरवाद : अतः, वैज्ञानिक निष्कर्षों ने सृष्टि-सिद्धान्त का उन्मूलन किया; मानव की विशेष सृष्टि की कथा का खंडन किया; तर्क-बुद्धि के मानव-अभिमान का मर्दन किया, संसार की निस्सारता और उसकी निरुद्देश्यता का पाठ पढ़ाया। जिस निष्कर्ष को वैज्ञानिक तत्त्वमीमांसीय रूप मे सिद्ध किया गया, उसे वैज्ञानिक विधि के अपनाने पर पुष्ट किया गया है। जिस वैज्ञानिक विधि के द्वारा विश्व-संबंधी तथ्यात्मक ज्ञान को प्राप्त किया गया है, क्यो नही उसे धार्मिक मान्यताओ को सिद्ध करने के लिए काम में लाया जाए ? क्यो नही बाइबिल और ईसा मसीह के संबंध मे वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त किया जाए ?

बाइबिल के अध्ययन के फलस्वरूप स्पष्ट होने लगा कि इसकी रचना अनेक काल में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा की गई है। फिर इसमें अनेक स्थलों पर आत्मविरोध देखने में आता है। पुराने नियम की बात छोड़ भी दी

जाए, तो नए नियम की भाषा देवकथामूलक मालूम देती है। सुसमाचार के लेखकों में भी अपने युग की अनेक भ्रान्तियाँ स्पष्ट दीखती हैं। इन लेखकों के अनुसार अनेक बीमारियाँ भूत-प्रेत के द्वारा होती हैं जिनका उपचार भी भूत भगाने से होता है। फिर ये लेखक ईश्वर की कल्पना मानवत्वारोपीकरण के द्वारा करते थे। इनके अनुसार संसार का तीन भाग है, अर्थात् स्वर्ग, नरक और पृथ्वी और ईश्वर स्वर्ग में रहता है, इत्यादि। स्वयं ईसा भी अपने ही युग के व्यक्ति थे। उनका विचार था कि संसार का अतिशीघ्र अन्त होगा और मसीह का भी द्विरागमन होगा इत्यादि।

बाइबिल के देवकथामूलक होने के कारण धर्मदार्शनिकों का मत है कि बाइबिल की भाषा को सुधारना चाहिए। अब यदि बाइबिल समकालीन युग के लिए भ्रान्तिपूर्ण भाषा मे लिखी मानी जाए, तो इसे कैसे निर्भ्रान्त श्रुति की संज्ञा दी जाएगी? लेकिन सबसे अधिक सदेह धर्मशास्त्रियो को तब होने लगा, जब उन्होने ऐतिहासिक ईसा की खोज प्रारभ कर दी। जब विशेषज्ञ एक-एक कथन का विवेचन करने लगे, तो उन्हे सदेह होने लगा कि इन सुसमाचारो में शायद ही कोई ऐसी उक्ति है जिसे ईसा का वचन माना जा सकता है। आश्चर्य कर्मों की कथा तथा जी उठने की कथा तो देवकथात्मक कही ही जाएगा। यह ठीक है कि ईसा ऐतिहासिक व्यक्ति थे, परन्तु वे ईश्वर भी थे, इसका कौन निपटारा कर सकता है? अतः, बाइबिल को निर्भ्रान्त श्रुति मान लेने मे लोगो को सदेह होने लगा।

वैज्ञानिक विधि से प्रभावित दार्शनिक विश्लेषण का प्रादुर्भाव हुआ है। इस विश्लेषण ने ईश्वर-सप्रत्यय को आत्मविरोधी एवं व्याघातपूर्ण सिद्ध किया है। यदि ईश्वर वास्तविक है तो वह अवश्य ही उपास्य भी होगा। उपासना से तात्पर्य होता है कि भक्त ईश्वर को अपना सर्वस्व अर्पित कर दे; अपने को भुलाकर ईश्वर को ही सब कुछ माने। परन्तु ऐसी दशा में ईश्वर को अपरिमित सत्ता होना चाहिए, क्योकि यदि ईश्वर से बढ़कर कोई अन्य सत्ता हो, तो भक्त इसी उच्चतर सत्ता की आराधना करेगा और उस पर अपने सर्वस्व को लुटा देगा। अब इस अपरिमित सत्ता से क्या आपादित होता है?

पहली बात है कि अपरिमित सत्ता वह नही है जो अभी है पर जिसके नही होने की संभावना सोची जा सकती है। परन्तु वह सत्ता जिसके नहीं होने की संभावना सोची भी नही जा सकती है, उसे 'अनिवार्य सत्ता' की सज्ञा दो

वाली है। फिर 'अनिवार्य सत्ता' वह है जिसके सभी गुण अनिवार्यतः उसमें पाए जाएँ। परन्तु दार्शनिक विश्लेषण के अनुसार 'अनिवार्य सत्ता' संप्रत्यय ही आत्मविरोधी है। सत्ता वह है जो वास्तविक हो और वास्तविक वह है जो इन्द्रिय-ग्राह्य हो। परन्तु कोई भी तथ्यात्मक कथन, जिसमें इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु का उल्लेख किया जाता है, अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि कोई भी अनुभवाश्रित वस्तु ऐसी नहीं है जिसके नहीं होने की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः, सत्ता-संबंधी प्रकथन को आपातिक ही कहा जा सकता है, न कि अनिवार्य। परन्तु यदि ईश्वर को 'अनिवार्य' माना जाए, तो इससे ध्वनित होगा कि ईश्वर-संबंधी कथन विश्लेषात्मक होता है, क्योंकि विश्लेषात्मक कथन को ही अनिवार्य कहा जाता है विश्लेषात्मक कथन वह है जिसमे शब्दों को उनके निर्धारित अर्थ में संगत रूप में व्यवहृत किया जाता है, उदाहरणार्थ, 'लाल गुलाब लाल है', या 'लाल गुलाब फूल है', इत्यादि। इन कथनों में हम 'लाल गुलाब' को सगत रूप में काम मे ला रहे हैं। परन्तु इसकी सत्यता जाँचने के लिए अनुभूति की आवश्यकता नहीं होती है। केवल शब्दों के ही अर्थ स्पष्टीकरण से हम निश्चित कर सकते हैं कि अमुक कथन सत्य है, या असत्य। परन्तु जिस कथन की सत्यता जाँचने के लिए अनुभूति की आवश्यकता नहीं होती, उसे हम वास्तविक अथवा तथ्यात्मक नहीं मान सकते है। अत, यदि ईश्वर-सबंधी कथन अनिवार्य हो, तो 'ईश्वर' केवल शब्द-मात्र होगा, न कि वास्तविक सत्ता। इसलिए यदि ईश्वर अनिवार्य हो, तो वह सत्ता (वास्तविक) नहीं होगा, और यदि वह वास्तविक सत्ता हो, तो वह अनिवार्य नहीं कहा जाएगा। अतः, ईश्वर को 'अनिवार्य सत्ता' पुकारना आत्म विरोधी है।

फिर समकालीन दर्शन अनुभववादी है। इसके अनुसार जो इन्द्रियातीत है, वह ज्ञानातीत भी कहा जाता है। अब ईश्वर को अतीत सत्ता माना जाता है, परन्तु अलौकिक सत्ता इन्द्रियातीत है। इसलिए विज्ञानपोषी अनुभववाद के लिए आज ईश्वर की अलौकिकता स्वीकृत नहीं हैं। इस अलौकिकता का विरोध आधुनिक शिल्प-विज्ञान के प्रसार से भी स्पष्ट होता है।

६

विज्ञान को समकालीन युग में व्यवहार में लाया जाता है। इसका प्रभाव धर्म पर बहुत अधिक पड़ा है। जहाँ लोग गिरजाघरों में प्रार्थना के द्वारा बीमारी को, सूखे को, बाढ़ को तथा अन्य प्रकोपों को दूर करने का प्रयास

किया करते थे, वहाँ विज्ञान-प्रसार के साथ वैज्ञानिक क्रियाविधियों को काम में लाते हैं। बीमारी का इलाज डाक्टर करते, सूखे का सामना इंजनीयर करते, इत्यादि। अब मृत्यु, पाप तथा जन्म-संस्कार को छोड़कर शायद ही कोई ऐसा जीवन का क्षेत्र छूट गया है, जहाँ वैज्ञानिक क्रियाविधियों को काम में नहीं लाया जाता है। अतः, दिनों दिन ईश्वर मानव जीवन के लिए अनावश्यक प्रतीत होता जाता है। अब पाप की बात भी लें, तो जब ईश्वर ही को नहीं स्वीकार किया जाए, तो पाप कहाँ से आएगा ? फिर जन्म-संस्कार तो नवजात शिशु के लिए नही, वरन् उसके माँ-बाप के लिए होता है और यदि ईश्वर को न स्वीकार किया जाए तो बड़ों के लिए भी जन्म-संस्कार मानने की भी क्या आवश्यकता ? अब वही बात मृत्यु के संबंध में भी कही जा सकती है। दो महासमरो के बाद अब मृत्यु का भय कहाँ रहा ? भारत में ही समाचार-पत्रों के अवलोकन मात्र से स्पष्ट हो जाता है कि अब मृत्यु भय भी भय नही रहा है। अतः, ऐहिकता के सामने ईश्वर अनावश्यक मालूम दे रहा है और इसलिए ऐसा भान हो रहा है कि अब पाश्चात्य जगत् मे ईश्वर वैसा ही ओझल होता जा रहा है, जैसा यूनानी देवी-देवता काफूर हो गए है।

अतः, वैज्ञानिक विधि के अपनाने पर ईश्वर सप्रत्यय आत्मविरोधी सिद्ध हो जाता है, बाइबिल को श्रुति मानना कठिन हो जाता है, ईसा को ईश्वर-पुत्र मानना असगत मालूम देता है और शिल्प-विज्ञान तथा विज्ञान को सभी स्थलों पर काम मे लाने पर नई ऐहिकता को विशेष स्थान देने पर ईश्वर अनावश्यक प्रतीत होने लगा है। तो क्या पाश्चात्य सभ्यता मे धर्म का स्थान कुछ रह जाता है ?

हाँ। ईश्वर के स्थान पर ईसाई अनीश्वरवादी धर्मविचारक ईसा मसीह को आराध्य मान रहे हैं। परन्तु ईसा को ईश्वर नहीं कहा जा रहा है। ईसा आराध्य है पर इन अनीश्वरवादी ईसाइयों के लिए वह न तो ईश्वर का पुत्र है, न उसने अपने को ईश्वरत्व के रूप में बदल दिया है और न उसे किसी प्रकार अलौकिक माना जा सकता है। तब उसकी उपासना कैसे संभव है ? ईसा, जो इनके अनुसार मानव है, कैसे पूजित हो ? आप मानव की पूजा कर मूर्तिपूजक नहीं बनना चाहते हैं, तो फिर ईसा किस प्रकार धार्मिक आस्था का विषय रह जाता है ? कुछ अनीश्वरवादी ईसाई ईसा से प्रार्थना करना भी उचित नही मानते हैं। तो भी वे अपने को ईसाई कहते हैं। अनीश्वरवादी ईसाई अपने को

इसलिए ईसाई कहते हैं कि वे ईसा को ऐहिकता-प्राप्ति का महान उत्प्रेरक मानते हैं। इनके अनुसार लौकिक जीवन का उत्थान, सौहार्द्र भाव तथा अन्य सभी मानवों के कल्याण को संवर्धित करना, उनकी संरक्षा करना तथा भविष्य में भी उन्हें दृढ़ बनाये रखना सच्चा मानव धर्म है और इस दिशा में ईसा का महान त्याग और सेवा का जीवन है। अतः, ईसा उतना उपास्य नहीं है, जितना वे अनुकरणीय है और पथदर्शक के रूप में उत्प्रेरक हैं।

प्रश्न

१. क्या कोई एक विश्व-धर्म हो सकता है ? विवेचनपूर्ण व्याख्या कीजिए।

२. धर्म-समन्वय के संदर्भ में राधाकृष्णन् के मत की व्याख्या कीजिए। क्या इनका अध्यात्मवाद व्यापक धर्म हो सकता है ?

३. लाला भगवान दास के धर्म-समन्वय की चर्चा कीजिए। इनके मत के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।

४. क्या विविध धर्म ही निरपेक्षतया सत्य कहे जा सकते है ? इस मत की समीक्षापूर्ण व्याख्या कीजिए।

५. भारतीय धर्म-परम्परा के महत्त्व को प्रदर्शित करें।

६ अनीश्वरवाद की व्याख्या कीजिए।

★

उपसंहार

अध्याय—१०

उपसंहार

अधिकांश ईश्वरवादी अभी तक यही समझते आए हैं कि ईश्वर निरपेक्षता वास्तविक सत्ता है। न तो दार्शनिक दृष्टि से और न समकालीन युगदृष्टि के आधार पर ईश्वर की वास्तविकता स्वीकार की जा सकती है। परन्तु ईश्वर-वाद मानव जीवन का अमूल्य निधि है और ईश्वर के द्वारा मानव अपने जीवन को सभ्य, सुसंस्कृत अथवा मूल्यवान् बना सका है। पाश्चात्य सभ्यता की कहानी इसी ईश्वर-प्रतीक की कहानी है। ईश्वर के ओझल हो जाने से मानव की एक बड़ी टेक उसके पैरों के तलों से खिसक जाएगा। अब मानव एक चौराहे पर आ गया है जहाँ से अनेक दिशाएँ फूट रही है। उनके समीप समाजवाद का सुनहरा सपना दिखाई दे रहा है। परन्तु इससे भी दूर क्षितिज पर निर्वाण-मार्ग दिखाई देता है। एक बात स्पष्ट हो गयी हैं। मानव का कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं है, जहाँ पहुंचकर वह विश्राम ले सकता है। यात्रा जारी रहेगी, कारवाँ चलता रहेगा। हाँ, यह यात्रा सार्थक हो सकती है, इसमें मानवता की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है। इसके विपरीत मानब दानव भी हो सकता हैं और यात्रा निरापद और सुखद होने के बदले आपत्तिपूर्ण और संकटापन्न भी हो सकती है। मानव को जीना है और परिपक्व होकर एकदिन पके आम के समान काल-कवलित होना है। धर्म का दावा है कि उसके सहारे इस जीवन-यापन को सार्थक और लावण्यमय बनाया जा सकता है। देवी-देवता, ईश्वर तथा अनेक प्रकार के भूत और वर्तमान आदर्श जीवन को सार्थक बनाने के विभिन्न विकल्प है। जो जिसको भावे वह उसको अपनावे। प्रत्येक धर्म, परम्परागत अथवा मानवतावादी, व्यक्ति और समाज के कल्याण के निमित्त निर्धारित होता है और इसे ध्यान मे रखकर किसी धर्म को अपनाया या त्यागा जा सकता है।

मानव जीवन-यात्रा विडम्बना-पूर्ण है और कोई भी स्थिति ऐसी नहीं है जिसमें व्यक्ति को अन्तिम विश्राम मिले। जादू-टोना, तन्त्र मंत्र इत्यादि धर्म भी ऐसे थे जिनके द्वारा मानव को इस विडम्बनापूर्ण जीवन में सहारा मिला। कालगति से, ज्ञानवृद्धि तथा सभ्य जीवन की बढ़ती हुई माँगों के साथ आदिम धर्म विलुप्त होते जाते हैं और ईश्वरवाद ऐसे उन्नत धर्म उनका स्थान लेते गये। परन्तु धर्मनेताओं के लिए ईश्वरवाद भी उनके जीवन में स्थिरता प्रदान करने

में असमर्थ हो रहा है। मानव की विडम्बना जारी रहेगी और इसके साथ स्थिरता की आवश्यकता भी बनी रहेगी। यदि इस विडम्बनापूर्ण जीवन में ईश्वर से स्थिरता नही प्राप्त होगी, तो मानव-सेवा मे अपने को विलीन कर मानव अपने जीवन को सार्थक समझेगा। ऐसी स्थिति में सिन्धुतट की सभ्यता हमारा आह्वान कर बता रही है कि जीवन की स्थिरता ध्यान, समाधि के द्वारा प्राप्त हो सकती है। वर्तमान समय में ऐसा आभासित होता है कि समाधि, ध्यान, निदिध्यासन का संदेश अमर है। इसमें परिमार्जन और सुधार हो सकता है, लेकिन इसके विलयन की बात सोचना कठिन लगता है। समाजवाद के आधार पर अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा मनोमय कोषों की पूर्त्ति हो सकती है। परन्तु आन्नदमय कोष की पूर्त्ति के लिए समाधि की आवश्यकता पड़ जाएगी।

यह सब बातें सुदूर भविष्य की हुई। परन्तु क्या ईश्वरवाद अर्थहीन है ? नहीं, अभी भी यदि ईश्वर का अस्तित्व जिस व्यक्ति को वास्तविक मालूम दे उसके लिए अभी भी ईश्वर के द्वारा जीवन में स्थिरता प्राप्त हो सकती है। ईश्वर प्रतीक है और प्रतीक की सत्यता इसी मे है कि इसके प्रति आस्था हो जाने पर व्यक्ति को अनुप्राणित करे, उसके जीवन को दिव्य बनाये, दुख उत्पीड़न को वहन करने मे सशक्त करे, इत्यादि। फ्लू, फिंडले, मैकी, मिल इत्यादि विचारकों ने ई-कथन को सज्ञानात्मक समझा है और यही उनकी भूल है। ईश्वर स्वय पवित्र है और ईश्वर-प्रतीक से जीवन-पुनीत होता है। पवित्रता तथा पुनीतता अनुभवजन्य लक्षण नहीं हैं, परन्तु ये विडम्बनापूर्ण जीवन की स्थिरता की प्राप्ति के सूचक हैं।

★

सहायक ग्रन्थ-सूची

संकेताक्षर–

प्रमुख पुस्तकों के संकेताक्षर यहाँ दे दिये जा रहे हैं।

AEG–Arguments for the existence of God, J. Hick, Macmillan 1970.

इस पुस्तक मे सभी परम्परागत युक्तियों का सारांश विश्लेषण के साथ दिया गया है। यह बड़ी लाभप्रद पुस्तक है।

APR—Approaches to the Philosophy of Religion, Ed. D. J. Bronstein/H. M. Schulweis, Prentice-Hall, 1960.

यह पुस्तक अब हिन्दी में भी अनुवादित होगी।

EA—Existence and Analogy, E. L. Mascall, First Published 1949, A Libra Book, 1966.

EG—The Existence of God, J. Hick, Macmillan, 1964.

FK—Faith and Knowledge, J. Hick, Cornell University Press, 1957.

FL—Faith and Logic, Ed. Basil Mitchell, George Allen and Unwin, 1957-1958.

FP—Faith and Philosophers, Ed John Hick, Macmillan, 1964.

GE—God and Evil, Ed. Nelson Pike, Prentice-Hall, 1964.

NEPT—New Essays in Philosophical Theology, Ed. A. Flew/ A. Macintyre, SCM Press.

यह दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर लिखित प्रसिद्ध पुस्तक सिद्ध हुई है।

CCPR—Classical and Contemporary Readings in the Philosophy of Religion, Ed. John Hick, Prentice-Hall, 1964.

Readings--Readings in Religions Philosophy, Ed. MacGregor/ Robb, Houghton Miflin, 1962.

RET—Religious Experience and Truth, Ed. S. Hook, New York University Press, 1961.

धर्मदर्शन, विशेषकर पाश्चात्य ईश्वरवाद के परिचयात्मक अध्ययन के लिए अंग्रेजी मे निम्नलिखित पुस्तक उपयोगी हैं।

Bertocci, Peter Anthony—Introduction to the Philosophy of Religion, Prentice-Hall, 1951.

परम्परागत दृष्टि से लिखी गयी पुस्तक अत्यंत प्रामाणिक है।

Bowman, Archibald Allan—Studies in the Philosophy of Religion (2 Vols.), Macmillan, 1938.

Brightman, Edgar Sheffield—A Philosophy of Religion, Prentice-Hall, 1940.

यह लोकप्रिय पुस्तक है।

Burtt, Edwin A.—Types of Religious Philosophy, Harper 1951.

ऐतिहासिक दृष्टि से लिखी गयी अनुपम पुस्तक है, परन्तु यह उच्च कक्षा के छात्रों के लिए उपयोगी है।

Caird, John—Introduction to the Philosophy of Religion, Maclehose, 1894.

इसमें कान्त, हैमिल्टन, मैन्सेल इत्यादि के धर्म-विचारों की प्रत्ययवादी व्याख्या दी गयी है।

De Burgh, William George—Towards a Religious Philosophy, Macdonald 1937.

Ducasse, Curt John—A Philosophical Scrutiny of Religion, Ronald Press 1953.

यह आधुनिक पुस्तक है।

9. Josiah Royce, The World and The Individual, Vols. I & II.

Josiah Royce, The Conception of God.

10. Margaret Smith, The Sufi Path of Love, London, 1955

11. Evelyn Underhill, Mysticism, London 1904, New York 1961.

अध्याय—३ (ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण)

The Ontological Argument

St Anselm, The Ontological Argument, EG—.25-29.

जिसे उनकी पुस्तक Proslogion से उद्धृत किया गया है।

'Reply' by Gaunilo and 'Response' by Anselm, ed. and trans. M. J. Charlesworth (Ox. U. P. 1965).

Rene Descartes, Re-statement of the Argument, EG—pp. 34-37.

जिसे Meditation V से उद्धृत किया गया है। गैसेंडी द्वारा उठायी गयी आपत्तियों के प्रति देकार्त के प्रत्युत्तर के साथ देखें, Haldane and Ross, 'The Philosophical Works of Descartes', 'Camb. Uni. Press, 1912, Dover Edition, 1934, N Y.

G. W. Leibniz, That the most Perfect Being Exists, E G—pp. 37-39.

Classical Criticism

St. Thomas Aquinas, Rejection of the Argument, EG—pp. 31—33, जिसे Summa Theologica से उद्धृत किया गया है।

I. Kant, The Impossibility of An Ontological Proof of the Existence of God, EG—pp. 40-47, जिसे Critique of Pure Reason से उद्धृत किया गया है।

समकालीन समीक्षा

K. E. M. Baier, 'The Meaning of Life, Canberra University, 1957.

W. T. Blackstone, The Problem of Religious Knowledge.

Patterson Brown, *St. Thomas' Doctrine of Necessary Being, Aquinas*, Ed. A. Kenny, Macmillan, 1969.

R. G. Collingwood, Philosophical Method, Ox. U. P. 1933, Chap. 6.

I. M Crombie, Theology and falsification, NEPT—pp. 109-130.

The Possibility of Theological Statements, FL—pp. 31-83.

F. R. Duff-forbes, *Theology and falsification Again, The Australasian Journal of Philosophy*, vol. 3 ⁴, 1961.

J. N. Findlay, Can *God's* Existence be Disproved ? NEPT—pp. 47-56.

Some Reflections on Necessary Existenee, Process and Divinity Ed. William Reese Eugene Freeman, Open Court, 1964

A. G. N Flew, Theology and Falsification, NEPT—pp. 96-99, 106 108.

E. E. Harris, *Mr. Ryle and The Ontological Argument, MIND*, 1936.

C. Hartshone, Man's Vision of God, Clark & Co., Chicago, Chap. X

R. W. Hepburn, Christianity and Paradox, London, 1958.

John Hick, Religious Statements as Factually Significant, E G—pp. 252-274.

Arguments for the Existence of God, Macmillan, 1970.

John Hick/A. C. McGill, The Many-faced Argument, Macmillan, 1967.

इसका मूल विषय ही है सत्तामूलक प्रमाण ।

W. D. Hudson, *An Attempt to Defend Theism*, *Philospohy*, 1964

P. A. Hutchings, *Necessary Being And Some Type of Tautology*, *Philosophy*, January, 1964.

A Kenny, *God and Necessity*, *British Analytic Philosophy*, Ed. B Williams/A. Montefiore, Routledge, 1966.

Norman Malcolm, *Anselm's Onlological Arguments*, *The Philosophical Review*, Vol. LXIX, January 1960.

EG—pp. 47-68. फिर स्वयं मैल्कॉम ने अपनी पुस्तक 'Knowledge and Certainty' में लिखा है ।

C. B. Martin, Religious Belief, Ithaca. NY 1959.

W. I. Matson, The Existence of God, Cornell University Press, 1965.

B Mitchell, Theology ard Falsification, NEPT—pp. 103-5.

Kai Nielsen, Is God so Powerful that He Doesn't even have not to Exist ? RET.

A. Pap/P. Edwards, A Modern Introduction to Philosophy, (Glencoe, 1957.)

Terence Penelhum, *Divine Necessity*, *MIND*, 1960 vol. LXIX (pp. 175-186)

Alvin Plantinga, *Necessary Being*, *Faith and Philosophy*, Ed. Plantinga, Grand Rapids, Michigan, 1964.

God and Other Minds, Cornell. U. P. 1967, Chap, 1-3.

R Puccetti, *The Concept of God*, *Philosophical Quarterly*, 1964.

Nicholas Rescher, *The Ontological Argument Revissited*, *The Australasian Journal of Philosophy*, 1959.

C. Richardson, Do the Gods Exist ? RET.

G. Ryle, The Nature of Metaphysics Ed. D. F. Pears, NY. 1957.

Back to The Ontological Argument, Mind, 1937.

Paul F. Schmidt, Religious Knowledge, Free Press of Glencoe, 1961.

Jerome Shaffer, 'Exis ence, *Predication and the Ontological Argument, Mind,* July, 1962.

J. J. C Smart, The Existence of God, NEPT—pp. 28-46

The Cosmological Argument

Plato (428/7-348/7),

First Form of the Argument, EG-pp-71-79

Thomas Aquinas (1224/5- 274),

The Five Ways, EG—pp 80-85

टामसवादियों द्वारा टीकाएं

F. C. Copleston, Aquinas, A Pelican Book.

Austin Farrer, Fintie And Infinite, Dacre Press.

A Kenny, The Five Ways, Routledge and Kegan Paul 1969.

यह उत्तम टीका है।

E. L. Mascall, He Who is, Longmans, London, Chapters 5 and 6.

R. P. Phillips, Modern Thomistic Philosophy, Oates and Washbourne 1935, Vol. II, Part III, Chapters 2 and 3.

Victor Preller, Divine Science and the Science of God, Princeton University Press, 1967.

Richard Taylor, Metaphysics, Englewood Cliffs, Prentice Hall, 1963.

Samuel M. Thompson, A Modern Philosophy of Religion, Henry Regnery Co. 1955.

अध्याय—२ (ईश्वरवाद)

सामान्य रूप से निम्नलिखित पुस्तकें लाभप्रद हैं।

थीज्म

P. A. Bertocci, Introduction to the Philosophy of Religion, Prentice-Hall, 1963

B P Bowne, Theism (1902)

R. Flint, Theism (1877)

George Galloway, The Philosophy of Religion.

G D Hicks, The Philosophical Bases of Theism, 1937.

E O. James, The Origins of Religion, The Unicorn Press 1937.

G. MacGregor, Introduction to Religious Philosophy, 1959

A. Seth Pringle-Pattison, The Idea of God, Oxford University Press 1916.

डीज्म

सन् १५६४ से तटस्थ-ईश्वरवाद को अनुपंथी एकेश्वरवाद से भिन्न माना गया। इसके विकास में चर्बरी के लॉर्ड हर्बर्ट को विशेष स्थान दिया गया है। इनके अनुसार डीज्म के लिए निम्नलिखित धारणाएँ उल्लेखनीय हैं :

(१) ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है। (२) सभी मानव को ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। (३) ईश्वर में भक्ति और सदाचार को उपासना का स्वरूप मानना चाहिए। (४) मानव को अपने पापों के लिए पश्चाताप करना चाहिए। ईश्वर अपने शुभत्व के अनुसार पापी को इस संसार में और अनुजीवन में भी दंड देता है।

इनके अनुयायी चार्ल्स ब्लाउंट ने एक प्रमुख पुस्तक लिखी थी, अर्थात् Summary Account of the Deist's Religion, सन् १६९३।

Thomas Morgan, The Moral Philosopher, 1737.

Thomas Chubb, Discourse Concerning Reason, 1731.

Matthew Tindal, The Gospel a Republication of the Religion of Nature 1730.

Matthew Tindal, Christianity as old as creation, 1730.

इसके अनुसार जो कुछ श्रुति में बताया जाता है, वह मानव अपनी स्वाभाविक ज्ञान-ज्योति के द्वारा जाना जा सकता है। अतः श्रुति अनावश्यक है।

Peter Annet, 'The History of the man after God's own heart' (1761).

आपने अनेक लेखो को प्रस्तुत किया था। किन्तु आपका देववाद परम्परा-निष्ठ एकेश्वरवाद के विरुद्ध माना गया और इन्हें ईश्वरनिन्दक समझकर नौकरी से हटा दिया गया और कारावास भी भोगना पड़ा।

Ethan Allen, Reason the only oracle of man (1784)·

Thomas Paine, The Age of Reason (1794-1796).

इन दोनो ने स्पष्ट करना चाहा कि ईश्वर इस सृष्टि का आदिकारण है। ईश्वर के द्वारा सृष्ट होकर विश्व प्राकृतिक नियमों द्वारा अपने-आप संचालित रहता है। इस विश्व के द्वारा ईश्वर का शुभत्व परिलक्षित होता है।

चूँकि तटस्थ-ईश्वरवाद को अनुपंथिक नही माना गया, इसलिए इसका विरोध सन् १५६४ से ही प्रारंभ हो गया था। इसके प्रत्याख्यान में अनेक पुस्तकें लिखी गयीं, जिनमें यहाँ दो का उल्लेख किया जा रहा है।

Bentley, R.—Matter and Motion cannot Think (1692).

इस पुस्तक मे बताया गया है कि ईश्वर विश्व से तटस्थ होकर नहीं रहता है। विश्व के सचालन और उसके संरक्षण के लिए ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है।

Samuel Clarke, Demonstration of the being and attributes of God (1704)

लेखक ने ईश्वर के अस्तित्व को निगमनात्मक रीति से सिद्ध करने का प्रयास किया है।

आलोचनात्मक ग्रन्थ

L. Stephen, History of English Thought in the Eighteenth Century (1903), Paperback, N. Y. 1963.

John Orr, English Deism : Its roots and its fruits, Grand Rapids, Mich. 1934.

Ernst Cassirer, The Philosophy of Enlightenment, Princeton 1951, Boston, 1955.

George R. Havens, 'The Age of Ideas' N. Y. 1955.

John Hunt, Religious Thought in England from the reformation to the end of the last century, London 1873.

W. K. Jordon, Development of Religious Toleration, 4 Vols. Cambridge Mass (1932-1940).

W. E M. Lecky, History of the Rise and Influence of Rationalism in Europe, 2 Vols. London, 1910

J. M. Roberston, A History of Free Thought in the Nineteenth Century, 2 Vols, London 1929.

A Short History of Thought : Ancient and Moderns 2 Vols, London 1915.

W. R. Sorley, Moral Values and the Idea of God, Cambridge University Press, 1921.

W. T. Stace, Religion and the Modern Mind, Macmillan, 1953.

Ronald N. Stromberg, Religious Liberalism in Eighteenth Century England, Oxford 1954.

Clement C. J. Webb, Studies in the History of Natural Theology, Oxford 1915.

A. O. Lovejoy, Tne Parallel of Deism and Classicism, *Modern Philology*, Vol. XXIX (1932,—pp. 281-299.

पेंथीज्म

भारत में शंकर तथा पाश्चात्य विचारकों में प्लोटिनस, स्पिनोजा तथा हेगेलीय ईश्वरवाद को सर्वेश्वरवाद का शुद्ध रूप माना जाता है। प्लोटिनस की विचारधारा भारतीय सर्वेश्वरवाद से ओतप्रोत थी। इसी प्रकार इस्लामी सूफीवाद भी भारतीय सर्वेश्वरवाद से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। इसीलिए भारतीय सर्वेश्वरवाद को विश्व सर्वेश्वरवाद का आदि स्रोत मानना चाहिये।

1. A. J. Arberry, An Introduction to the History of Sufism.

A. J. Arberry, Sufism, an Account of the Mystics of Islam, George Allen & Unwin.

2. Benard Bosanquet, The Principle of Individuality and Value, Macmillan, 1912.

Bernard Bosanquet, The Value and Destiny of the Individual, Macmillan 1913.

3. E Caird, Evolution of Theology in the Greek Philosophers.

4. W. E. Hocking, The Meaning of God in Human Experience, Chap. 24.

5. R. A. Nicholson, Studies in Islamic Mysticism, Cambridge, 1921.

6. R A. Nicholson, The Mystics of Islam, 19 4.

7. Plotinus, *Works*, Trans. Stephen Mackenna, N. Y.

8. Benedict B. Spinoza, *Ethics*.

Flew, A.G. N./ Macintyre, A.—New Essays in Philosophical Theology, Macmillan, 1953.

अनुभववादी धर्मदर्शन के लिए मुख्य परिचय-पुस्तक।

Frank, Erich—Philosophical Understanding and Religious Truth, Oxford University Press, 1945.

समकालीन धर्मदर्शन की श्रेष्ठ पुस्तक।

Fraser, Campbell—Philosophy of Theism (2 Vols), Blackwood, 1895-96.

यह पुस्तक अब पुरानी हो चली है।

Galloway, George—The Philosophy of Religion, Scribner, 1922.

प्रत्ययवादी दृष्टिकोण से लिखी गयी पुस्तक अब भी सामान्य अध्ययन के लिए उपयोगी है।

Hick, John—Philosophy of Religion, Prentice-Hall, 1963

धर्मदर्शन-परिचय है।

Hick, John (Ed)—Faith and the Philosophers, Macmillan, 1964.

तीन उत्तम संगोष्ठियों का सग्रह।

Hocking, W. F.—The Meaning of God in Human Experience, Yale University Press, 1912.

यह पुस्तक धर्म को भाव-प्रधान मानकर लिखी गयी है और इसे प्रामाणिक रचनाओं में गिनना चाहिए।

Hook, Sidney (Ed)—Religious Experience and Truth, New-York University Press, 1961.

पॉल तीलिश के प्रतीकात्मक सिद्धान्त का आलोचनात्मक संगोष्ठी-लेख।

Hume, David—Dialogues concerning Natural Religion, The Fontana Library, 1963.

मेरी समझ में वह ह्यूम की अनुपम पुस्तक है जिसमें ईश्वर के अस्तित्व के सभी प्रमाणों को अनुभववादी दृष्टि से बेजोड़ रूप से असिद्ध ठहराया गया है।

James, E. O.—The Concept of Deity, Hutchinson University Library, 1950.

James, William—The Varieties of Religious Experience, Modern Library.

रहस्यवाद एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से इस पुस्तक को धर्म-दर्शन का क्लासिक (प्रतिष्ठित रचना) माना जाता है।

Jones, Rufus Matthew—Pathways to the reality of God—
—Macmillan 1931, New Studies in mystical religion, Macmillan, 1927.

दोनो पुस्तकें रहस्यवादी धर्मदर्शन के लिए प्रमुख हैं।

Kaufmann, Walter Arnold—Critique of Religion and Philosophy, Harper 1958, N. Y.

यह समकालीन धर्मदर्शन मे गिनी जानेवाली पुस्तक है। भाषा सरल एव सुन्दर है।

MacGregor, Geddes—Introduction to Religious Philosophy, Houghton Mifflin, 1959.

यह पुस्तक समकालीन धर्मदर्शन का परिचय देती है।

Masih, Y—Introduction to Religious Philosophy, Motilal Banarasidas 1971.

Miles, T. R—Religion and the Scientific Outlook, George Allen & Unwin, 1959.

समकालीन अनुभववादी दृष्टि अपनायी गयी है। इसकी गणना उत्तम पुस्तकों मे है।

Mitchell, Basil (Ed)—Faith and Logic, Beacon Press, 1957

समकालीन धर्मदर्शन के अनेक उत्तम लेखों का संग्रह है।

Nicholson, John A.—Philosophy of Religion, Ronald Press, 1950.

Noss, John B.—Man's Religions, Macmillan, 1956.

Paterson, William P.—The Nature of Religion, Doran, 1926.

Patterson, R. L.—Philosophy of Religion, Henry Holt, 1958.

बड़ी उपयोगी पुस्तक है।

Seth Pringle Pattison, Andrew—Studies in the philosophy of religion, Oxford University Press, 1920.

प्रत्ययवादी धर्मदर्शन की उत्तम रचना।

Sorley, W. R.—Moral Values and the Idea of God, Cambridge University Press, 1919.

ईश्वरवाद की परम्परागत व्याख्या के लिए आज भी बहुमूल्य रचना समझी जाएगी।

Stace, W. T.—Religion and the Modern Mind—Lippincott, 1952.

Tennant, F. R —Philosophical Theology (2 Vols.), Cambridge University Press, 1228 1930.

Thompson, Samuel Martin—A Modern Philosophy of Religion, Regnery, 1955.

सर्वांगपूर्ण पुस्तक।

Trueblood, David Elton—Philosophy of Religion, Harper 1957.

Underhill, Evelyn—Mysticism, Noonday Press, New York 1955.

रहस्यवाद की प्रामाणिक पुस्तक।

Watkin, Edward Ingram—Theism, Agnosticism and Atheism, Unicorn Press, 1936.

Webb, Clement Charles Julian—Religion and Theism, Scribner, 1934.

Whitehead, Afred North—Religion in the Making (1926) Macmillan.

Process and Reality, Macmillan, 1929.

महत्त्वपूर्ण, किन्तु कठिन और गहन पुस्तकें हैं।

Zuurdeeg, W. F.—An Analytical Philosophy of Religion, Abingdon Press, 1958.

इस पुस्तक की दृष्टि से प्रभावित होकर मैंने समकालीन धर्मदर्शन की रचना की है।

अध्याय—१ (धर्म का स्वरूप)

W. T. Blackstone, The Problem of Religions Philosophy, Prentice-Hall (Chap. IV)

यह परम्परागत धर्म-ज्ञान की आलोचना के लिए अनुपम समीक्षात्मक ग्रन्थ है।

E. S. Brightman, A philosophy of Religion, Prentice—Hall.

George Galloway, The Philosophy of Religion, Charles Scribner's Sons.

G. MacGregor, Introduction to Religious Philosophy, Houghton Mifflin.

Y. Masih, An Introduction to Religious Philosophy, Motilal Banarsidass, 1971.

A. N. Whitehead, Religion in the Making, Macmillan.

यह कठिन पुस्तक है जिसे बिना ह्वाइटहेड के दर्शन को जाने हुए आसानी से नहीं समझा जा सकता है।

Dom Illtyd Trethowan, An Essay in Chris'ian Philosophy, Longmans, 1954.

आलोचना

A J. Ayer/F. C. Copleston, *Discussion between Professor Ayer and Father Copleston*. Readings in Religious Philosophy MacGregor/Robb, Houghton Mifflin Co., 1962.

William H. Baumer, *Kant on Cosmological Arguments, The Monist* 1967

Patterson Brown, *Infinite Causal Regression*, *Aquinas*, Ed. A. Kenny.

John N. Deck, *St. Thomas Aquinas and The Language of Total Dependence*, *Aquinas*, Ed. A Kenny.

Michael Durrant, '*St. Thomas*' "*Third Way*", *Religious Studies*, 1969.

David Hume, Criticism of the Cosmological Argument, EG—pp. 93-98.

I. Kant, Critique of Pure Reason, Transcendental Dialectic.

E. W. Mascall, Existence and Analogy, Chap. IV.

W. I. Matson, The Existence of God, Cornell U. P. 1965.

Jan Salamucha, The Proof Ex *Motu* for the Existence of God, *Aquinas*, Ed. A. Kenny.

Ninian Smart, Philosophers and Religious Truth, SCM Press 1969,

J. J. C Smart, The Existence of God, NEPT—PP. 28-46

Teleological Argument

Plato, *Laws*

G. W. Leibniz, Evil and the best possible World, *Readings* —pp. 68-77.

William Paley (1743—1805), Natural Theology.—1802

The Watch and The Watch-Maker, EG—pp. 99—103

Jemes Martineau, A Study of Religion, Vol. I. Clarendon Press, 1900.

A. E Taylor, Does God Exist? Macmillan, 1945.

F. R. Tennant, Philosophical Theology, Vol. 2 (1930).

Cosmic Teleology, EG—pp. 120—135.

R. A. Tsanoff, The Nature of Evil, Macmillan, 1931.

A Gradational View of God and Evil,—APR—pp. 286-291. समकालीन युग से।

E. D. Robert Clark, The Universe : Plan or Accident? Muhlenberg Press, Philadelphia 1961.

समीक्षात्मक रचनाएँ

David Hume, Dialogues Concerning Natural Religion, जिससे उद्धृत कर लिखा गया।

Against the Design Argument, EG—pp. 78-116.

I. Kant, The Impossibility of the Physico-Theological Proof, *Readings* pp. 161-166.

John Stuart Mill, The Pıoblem of Evil, EG—pp. 114-120

A. J. Ayer, A Modern Intıoduction to Pnilosophy, ed. P. Edwards/ A Pap—pp. 555-556.

W. I. Matson, The Existence of God.

D. L. Scudder, 'Tennant's Philosophical Theology', yale U. P. 1930.

Moral Arguments

I. Kant, Critique of Practical Reason, Chap. 2 संक्षिप्त उद्धरण EG—pp. 137-143.

Julien Benda, *Kant*. Cassell 1948.

James Collins, God in Modern Philosophy, Routledge & kegan Paul, 1960.

W. G. De Burgh, From morality to Religion, Macdonald & Evans, 1938

John Henry Newman, A grammar of assent, Longmans, Green, 1930.

H. P. Owen, The moral argument for Christian theism, Allen & unwin, 1965.

H J. Paton, The Modern Predicament, Macmillan, 1955.

A. Seth Pringle-Pattison, The Idea of God, Ox. U. P. 1920, Lect. II.

Rashdall Hastings, Philosophy and Religion, Duckworth. संक्षिप्त उद्धरण E. G.—pp. 143-152.

God and Man, O. U. Press 1930.

W. R Sorley, Moral Values and the Idea of God, Camb. Uni. Press, 1918.

A. E. Taylor, The faith of a Moralist, Macmillan, 1930.

C. C. J. Webb, Divine Presonality and Human Life, Allen & unwin, 1920.

समीक्षात्मक रचनाएँ—

C. A. Campbell, Selfhood and Godhood, Allen & unwin, 1957.

Ronald Hepburn, Moral Arguments for the existence of God, The Encyclopedia of Philosophy, New York, 1967.

Margaret Knight, *Morality—Supernatural* or *Social ? The Humanist Outlook*, ed. A. J. Ayer, Pemberton, London 1968.

W. G. Maclagan, The theological Frontier of Ethics, Allen & unwin, 1961.

अध्याय—४ (ईश्वर के गुण)

S. Alexander, Space, Time and Deity, Vol. II.

S. Alexander, *Theism and Pantheism*, Philosophical and Literary Pieces, ed. J. Laird, Macmillan, 1939.

Henri Bergson, Creative Evolution, ed. A. Mitchell, Macmillan, 1928.

Henri Bergson, Two Sources of Morality and religion, ed. E. A. Audra/C Brereton, Macmillan 1935.

P. A. Bertocci, Introduction to the Philosophy of religion, Prentice-Hall, 1963.

F. H. Bradley, Appearance and Reality,

Vergilius Ferm ed., An encyclopedia of religion, Peter Owen, 1964.

A. Flew/D. M. Mackinnon, Creation, NEPT.

E. Frank, Philosophical Understanding and religious truth, Ox. U. P., N. Y., 1945.

T. H. Green, Prolegomena to Ethics,

Charles Hartshorne, Man's Vision of God, Clark & Co., Chicago, 1941.

W. D. Hudson, *Transcendence*, Theology, Vol. LXIX, March, 1966.

C. B. Martin, The Perfect Good; NEPT.

E. L. Mascall, He who is, Longmans, 1948.

E. L. Mascall, Existence and Analogy, Longmans, Green 1949.

Helen Oppenheimer, *Immanence*, Theology, Vol. LXIX, March, 1966.

J. Royce, The World and the Individual, Vol. II.

A. Seth Pringle-Pattison, The Idea of God, Ox. Un. Press, 1920.

S. M. Thompson, A Modern Philosophy of Religion, Henry Regnery Co., 1955.

A. N. Whitehead, 'Process and Reality, Camb. Uni. Press, 1929.

A. N. Whitehead, Science and the Modern World, A Pelican Book.

A. N. Whitehead, Religion in the making, Macmillan 1926.

John Wild, Introduction to religions philosophy, Harper & Brothers, 1948.

अध्याय—५ (अशुभ की समस्या)

S. Alexander, Space, Time and Deity, Vol. II, Macmillan, 1927.

H. D. Aiken, God and Evil, *Ethics*, January 1958.

इसमे फ्लू और मैकी के द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का प्रत्युत्तर दिया गया है।

Henri Bergson, Creative Evolution, Macmillan, 1928.

Maurice Cranston, Is there a problem of the freedom of will, *Hibbert Journal*, Vol. 51, 1952-1953.

F. Dostoevsky, *Rebellion.*

P. M. Farrell, Evil and Omnipotence, *Mind*, Vol LXVII, 1958.

A. G. N. Flew, Divine Omnipotence and human freedom, NEPT.

S. A. Grave, On Evil and Omnipotence, *Mind*, Vol. LXV, 1956.

T H. Green, Prolegomena to Ethics, Sec. 114.

John Laird, Evidence against a providential God, APR.

J. L Mackie, Evil and Omnipotence, *Mind*, 1955.

Edward H. Madden/Peter H. Hare, Evil And Unlimited Power, *Review of Metaphysics*, December 1966.

यह बहुत अच्छा लेख है।

H. J. Mccloskey, God And Evil, ed. by Nelson Pike, Prentice-Hall, 1964.

J. M. E. McTaggart, Why God Must Be Finite, APR.

J. S. Mill, Is There More Evil Than Good In Nature? APR.

Ninian Smart, 'Omnipotence, Evil And Superman', *Philosophy*, April and July 1961, January and April, 1962.

इन लेखों में भी फ्लू और मैकी के द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का प्रत्युत्तर किया गया है।

Alvin Plantinga, The Free Will Defence, *Philosophy in America*, Ed. by Max Black, George Allen, 1965.

Mark Pontifex, The Question of Evil, *Prospects for Metaphysics*, Ed. by I. Ramsey.

R. Puccetti, The Concept of God, *Philosophical Quarterly*, Vol. 14, July, 1964.

P. A. Schilpp (Ed.), The Philosophy of G. E. Moore, The library of living Philosophers, 1952.

William Temple, The problem of Moral Evil, CCPR.

F. R. Tennant, That Evil Is Necessary, APR

अध्याय—६ (अमरता की समस्या)

E. L. Allen, The Immortality of the soul, *Hibbert Journal*, Vol. 59, 1960-1961, pp. 227-235

P. A Bertocci', Introduction to the Philosophy of Religion.

Bernard Bosanquet, Proceedings of the Aristotelian Society, 1917-1918.

Bronstein Sehulweis, Thoughts on The Death of Socrates, APR.

A. Flew/D. M. Mackinnon, Death, NEPT.

I. Kant, God And Immortality as Postulates of Practical reason, CCPR.

G. MacGregor, Introduction To Religious Philosophy.

I. T. Ramsey, Freedom and Immortality, SCM Press, 1957.

George Santayana, Ideal Immortality, APR.

A. Seth, Pringle-Pattison, The Idea of God, Lectuees XIV, XV and Note D.

A. Seth Pringle-Pattison Proceedings of The Aristotelian Society 1917-1918

A. Seth Pringle-Pattison. The Idea of Immortality, Clarendon Press, 1922, Lecture VII.

A E Taylor, The Christian Hope of Immortality, APR.

Ludwig Wittgenstein, On Death And The Mystical, CCPR.

अध्याय—७ (धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या)

विलियम जेम्स

The Will To Believe And Other Essays, 1897.

The Varieties of Religious Experience 1902.

A Pluralistic Universe, 1909.

ये तीनो पुस्तकें Longmans, Green से छापी गयी हैं।

हेनरी बर्गसाँ

1. Creative Evolution.

2. Two sources of morality and religion.

सिग्मुंड फ्रायड

फ्रायड युग-प्रवर्तक चिन्तक हुए हैं और अनगिनत पुस्तकें इनके संबंध में लिखी गई हैं। 'समकालीन धर्मदर्शन' के लेखक ने 'Freudianism and Religion' १९६४ मे थैकर स्पिक के द्वारा प्रकाशित की है। फ्रायड की निम्नलिखित पुस्तकें उपयोगी मानी जाएँगी। ये पुस्तकें Hogarth Press, London से छपी हैं।

1. Civilization and Its Discontents, 1930.

2. Future of An Illusion.

3. Introductory Lectures.
4. Sigmund Freud's Letters, Basic Book, 1954.
5. Moses and Monotheism.
6. New Introductory Lectures on Psycho-Analysis.
7. Totem and Taboo, Pelican Book, 1938.

युंग

युंग के लेखो के संबंध मे देखें,

Jolan Jacobi, The psychology of Jung, Kegan Paul

इस पुस्तक के अन्त में युंग के सभी लेखों की सूची दे दी गयी है। इस पुस्तक के दृष्टिकोण से निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण हैं।

1. Modern Man In Search of a Soul.
2. Psychology and Religion.
3. Collected Works, Vols. 5, 11, 16.
4. Essays on Contemporary Events.
5. Answer to Job, Collected Works, Vol. 11.

जिसमें धर्म-संबंधी लेखों का संकलन है।

दो पुस्तकें युंग के समर्थन में लिखी गई उल्लेखनीय हैं।

6. Victor White, God and The Unconscious, Harvill Press, Chicago, 1953.

7. Hans Schaer, Religion And The Cure of Souls In Jung's Psychology,

युंग के विपक्ष मे प्रसिद्ध लेखक मार्टिन बूबेर ने लिखा है।

8. Martin Buber, Eclipse of God, Victor Gollancz, Ltd, 1953.

अध्याय—८ (धार्मिक ज्ञान का स्वरूप)

तत्त्वमूलक अनीश्वरवाद के प्रसंग में लेखों की सूची अध्याय—३ के सत्तामूलक प्रमाण के अन्तर्गत दे दी गई है। यहाँ संक्षेप मे कतिपय रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

1. Findlay, J. N. *Can God's Existence Be Disproved ?*, NEPT.

2. Flew, A. *Theology and Falsification*, NEPT.

3. Smart, J. J. C. The Existence of God, NEPT.

4. Nielsen Kai, Is God So Powerful That He Doesn't Even Have Not To Exist ? RET.

5. Richardson, C., Do the Gods exist ? RET.

6. Schmidt, Paul F., Frustrating strategies in religious discussion, RET.

7. Schmidt, Paul F, Religious Knowledge, Free Press of Glencoe.

फिडले के अनीश्वरवाद के प्रत्युत्तर में हृडसन और हृचिडग्स के लेखों के लिए देखें अध्याय – ३ (सत्तामूलक प्रमाण)

Ian T. Ramsey

1. Religions Language, 1957 और अब यह पुस्तक SCM Press से १९६९ छापी गई है।

2. Freedom and Immortality, SCM 1957.

इसकी समालोचना H. D Lewis ने Hibbert Journal Vol. 59, pp. 168-177 में की है।

रामजे के प्रत्युत्तर के लिए देखें 'Freedom and Immortality, Hibbert Journal 1959, pp. 348-355.

3. Prospects For Metaphysics, Ed. by I. T. Ramsey, George Allen 1961.

4. Religion and Science : Conflict and Synthesis, London, 1964.

5. Models and Mystery, Oxford 1964.

6. Christian Discourse, 1965.

7. The Philosophical Theology of I. T. Ramsey, The Bishop of Durham, *Theology*, Vol. LXXIV, March 1971.

8 Mehta, Ved, The New Theologian, Penguin books. 1965.

9. Nicholls, William, The Pelican Guide To Modern Theology, Vol. 1, Pelican Books 1969, pp, 330-334.

10. Owen H. P., The *Philosophical Theology of I. T. Ramsey,* Theology, Vol. LXXIV, February 1971, pp 67-74.

आई० एम० क्रॉम्बी, जॉन हिक, जॉन विल्सन

I. M. Crombie, Arising From The University Discussion, NEPT—109-130

I M. Crombie The Possibility of The Theological Statements, *Faith and Logic,* George Allen, 1957.

John Hick, Faith and Knowledge, Cornell University Press, 1957.

John Hick, Philosophy and Religion, Chap III, Ox. U P. 1961.

John Hick, The Existence of God, ed. Macmillan, 1964

John Hick, The Arguments For The Existence of God, Macmillan 1970.

आलोचना

W. T. Blackstone,'The Probelem of Religious Knowledge' Spectrum book.

D. R. Duff-Forbes, Theology and Falsification again, *Australasian Journal of Pnilosophy,* Vol. 39, 1961.

Paul Edwards, RET.

Kai Nielsen, RET.

J. A. Passmore, Christianity and Positivism, *Australasian Journal of Philosophy,* Vol. 35, 1957.

John Wilson, Philosophy and Religion, Oxford University Press, 1961.

John Wilson, Language And The Pursuit of Truth, Camb. Univ. Press.

John Wilson, Truth of Religion, S. P. C. K.

साम्यानुमानिक ज्ञान पर भारतीय विचारकों ने नहीं के बराबर काम किया है। इस प्रसंग में निम्नलिखित पुस्तकें उपयोगी हैं -

Thomas Aquinas, Summa Theologiae,

मूल लैटिन भाषा से अंग्रेजी में अनूदित तीन जिल्दों में, न्यूयार्क १६४७। फिर नये अनुवाद तथा टीका के साथ ६० जिल्दों में Blackfriars, Eyre and Spottiswoode (London, New York) यह मुख्य पुस्तक है।

Thomas Aquinas, Summa contra Gentiles अंग्रेजी में अनूदित।

Pegis, A. C. & Others, On The Truth of The Catholic Faith, New York 1955.

संक्षिप्त संस्करण

1. Basic Writings of St. Thomas Aquinas, 2 Vols., ed. A. Pegis, New York, 1945.

2 St. Thomas Aquinas : Philosophical Texts, T. Gilby, 1951.

3. Thomas Aquinas; Selected Writings, ed. Robert P. Goodwin, Indianapolis, 1965.

कुछ टीकाएँ

1. Anscombe, G. E. M. and Geach, P. T., Three Philosophers, Oxford, 1961.

2. Blackstone, The Problem of Religious Knowledge, Spectrum Book.

3 Chenu, M. D., A guide to the Study of Thomas Aquinas, New York, 1965.

4. Coplestone, F. C. Aqinas, London, 1955.

5. Edward, Paul, *Analogy.*, The Encyclopedia of Philosophy. यह प्रामाणिक लेख है।

6. Gilson, E, The Christian Philosophy of St. Thomas Aquinas, New York, 1956.

साम्यानुमान

7. Grenet, Paul, *Thomism, An Introduction*, New York, 1967.

8. Kenny, A., *The Five Ways*, London, 1969
(ईश्वर-सम्बन्धी प्रमाण के लिए टामसवादी तथा समकालीन विचारधारा के दृष्टिकोण से आवश्यक पुस्तक)

9. Kenny, A., edited, *Aquinas*, Macmillan, 1969. कुछ लेख महत्त्वपूर्ण हैं।

10. McInerny, R. M., The Logic of Analogy, An Interpretation of St. Thomas, The Hague, 1961.

11. Maritain, J., The Angelic Doctor, New York, 1958.

12. Mascall, E. L., Existence and Analogy,

13. Pegis, A. C., Introduction to St. Thomas Aquinas, New York, 1965.

14. Sillen, E., Ways of thinking about God, London, 1961.

टामस अक्वाइनस के सम्बन्ध में लगभग छः पत्रिकाएँ निकलती हैं, उनमें ये दो उल्लेखनीय हैं—

1. Proceedings of the American Catholic Philosophical Association, Washington.

2 The Thomist, Washiagton.

इनमें कैथलिक लोगों की एक और पत्रिका भी उल्लेखनीय है—

3. International Philosophical Quarterly, Fordham University, USA.

फिर ग्रंथसूची के लिए देखें।

4. Bourke, V. J., Thomist Bibliography (1920-1940), St. Louis, 1945.

5. Chenu, M. D., Bibliographie Thomiste, Paris, 1960.

Paul Tillich

आप इस युग के बहुत बड़े धर्मदार्शनिक थे। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।

The religious situation, Henry Holt & Co, 1932

The problem of theological method, *Journal of religion*, January 1947.

The protestant era, Chicago university press, 1948.

The courage to be, The fontana Library, 1967,First published, 1952.

Reply to interpretation and criticisn by Paul Tillich, *The theology of Paul Tillich*, ed C. W. Kegley and R. W. Bretall Macmillan 1952.

Biblical religion and the search for ultimate Reality, Chicago uni. Press, 1955.

The nature of religious language : Christian scholar, reprinted in *Theology of culture*, ed. Rober C. Kimball, Ox. U. P , New york, 1959.

The meaning and Justification of religions symbcls, RET

Theology and Symbolism, Ed. F. E. Johnson, Harper & Brothes, 1955.

The New Being, Charles scribner's sons 1955.

Existentlal Analysis ard religious symbols.

Contemporary Problems in religion Ed. by

H. A. Basilius (Wayne uni. Press, 1956) also in CCPR

Dynamics of faith, George Allen 1957.

Theology of Culture, Ox uni. Press, 1959.

Systematic Theology (3 Vols. Chicago university Press, 1951, 1957, 1963)

यह तीलिख् की मूल और महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

Christianity and the Encounter of the world Religions, Columbia univ. Press, 1963 NY

On the boundary, Harper & Row, 1966.

On Tillich

Luther Adams, Paul Tillich's philosophy of culture, Science and Religion, Harper & Row, 1965.

William P Alston, Tillich on idolatry, *Journal of Religion*, 1958.

John Y. Fenton, Being-Itself and Religious Symbolism *Journal of Religion* 1965.

Paul L Holmer, Paul Tillich and the language about God, 1958

Paul L Holimer, Paul Tillich : Lnguage and meaning, *Journal of Religious Thought*, 1965-66.

C. W. Kegly/Bretall. Ed., The theology of Paul Tillich, Macmillan, NY, 1952.

David H. Kelsey, The fabric of Paul Tillich's Tneology, Yale uni. Press 1967.

S. Ford Lewis, The three strands of Tillich's theory of religious symbols, *Journal of Religion*, January 1966.

John Macquarrie, Twentieth-Century Religious Thought, Harper and Row 1963.

Alexander McKelway, The systematic theology of Paul Tillich, John Knox Press, Richmond, 1964.

D. Moody Smith, *Journal of Religion*, January 1966.

George H. Tavard, Paul Tillich and the christian message, Charles scribner's sons, 1962.

R. B. Braithwaite

R. B. Braithwaite, An empiricist view of the nature of religious belief, EG first published in 1955 (Camb. uni, Press)

A. C. Ewing, Religious Experience in the light of Contemporary Philosophy, *Philosophy*, July 1957.

J. A. Passmore, Christianity and positivism, *Australasian Journal of philosophy*, August 1957.

H. J. N. Horsburgh, Profasser Braithwaite and Billy Brown, *Australasian Journal of Philosophy*, December 1958.

E. L. Mascall, Words and Images, Chap. 3, Longmans, 1957.

John Hick, Phiosophy of Religion, Prentice Hall 1963·

R· M. *Hare*.

Theology and falsification, NEPT

Religion and Morals: F L.

Basil Mitchell, Theology falsification, NEPT.

A.Flew, Theology and falsification, NEPT.

W, T. Blackstone, The problem of religious knowledge.

Y. Masih, Religious philosophy : An introduction, Motilal Banarsidass 1971.

Y. Masih, The nature of religious knowledge, Visva-Bharati, 1971.

अध्याय–९ (धर्म-समन्वय तथा धम का भविष्य)

Bhagavan Das, The essential unity of all religions

Mircea Eliade, The sacred and the Proiane, tr. by W R. Trask, New York, 1961.

N. F. S. Ferre, Reason in Religion.

Jack Finegan, Archaeology of world Religions, Princeton & London, 1965.

C W. M Gell, Schweitzer and Radhakrishnan : A Comparison, H. J. vol. 51, 1952-1953.

Friedrick Heiler, How can christian and non-Christian religions co-operate ? *Hibbert Journol*, Vol. 52, 1953-1254

W. E. Hocking, Christianity and the faith of the coming civilization, *Hibbert Journal* Vol. 54, 1955-1956.

W. E. Hocking, The coming World civilization, Harper and Brothers.

J. M. Kitagawa, The Comparative study of religions, New York 1961.

Geradus Van Der Leeuw, Religion in essence and manifestation, London and Gloucester, Mass. : 1938

Rudolf Otto, The Idea of the Holy, tr. by John W. Harvey, New York : 1950

S. Radhakrishnan, Eastern Religion & Western Thought.

The Philosophy of S. Radhakrishnan, ed. Paul Schillp.

Ninian Smart, Reasons and faith, London & New York 1958.

Ninian Smart World Religions : A Dialogue, A Pelican Book, 1966.

Huston Smith, The religions of man, Harper & Row 1958

W. C. Smith, Questions of Religious Truths, New York & London 1967.

Paul Tillich, Christianity and the Encounter of the World Religions, Columbia University Press, 1963.

A. Toynbee, Mazzini and the future faith, *Hibbert Journal*, Vol. 54, 1955 56.

R. J. Zwei Werblowsky, On the role of comparative religion in promoting mutual understanding, *Hibbert Journal*, Vol. 58, 1959-1960.

Joachim Wach, Types of religious experience : Christian and non-Christion, Chicago, 1951.

Comparative Religion

A. C. Bouquet, Comparative Religion, Penguin Books, 1942

Jacques-Albert Cuttat, The encounter of religions, Desclee Company, 1960.

E. O. James, Comparative Religions : An introductory and historical Study, Methuen, 1938.

Joseph M. Kitagawa, Religions of the East, the Westminster Press, 1960.

Robert Lawson Slater, World Religions and World Community, Columbia University Press, 1963.

H. D. Lewis/R. L. Slater, The Study of religions, A Pelican Book, 1966

John B. Noss, Man's Religions, Collier, Mocmillan, 1963.

Ninian Smart, The religious experience of mankind Charls Scribner's Sons, NY. 1969, (Fortana 1971)

R. C. Zaehner ed., The concise encyclcpedia of living faiths, Hawthorn Books, 1959.

अनीश्वरवाद

T. J. J. Altizer/W. Hamilton, Radical Theology and The Death of God, A Pelican Book 1968.

अनीश्वरवाद के संबंध मे १७ पृष्ठों की सूची दी गयी है जो इस विषय के शोधकार्य के लिए आवश्यक मानी जायगी। इस पुस्तक के साथ

Paul Van Buren, The Secular meaning of Gospel

तथा Harvey Cox, The Secular city, SCM Press, 1965.

को मूल ग्रंथों में गिनना चाहिए। अन्य ग्रंथ इन प्रकार बताए जा सकते हैं।

John C. Cooper, The roots of Radical Theology, Westminster Press, Philadelphia, 1967.

Langdon Gilkey, The relevance of god Language, Bobbs Merrill, New York, 1967.

Jackson Ice/John I. Cavey (Eds.) The Death of god Debate Westminter Press, 1967.

E. L. Mascall, The Secularisations of Christianity, Libra Book, 1967.

B. Murchland ed., The meaning of the Death of god, Macmillan 1967, Random House, NY 1967

Thomas Ogletree ed., The Radical Theology Reader, Bobbs Merrill, N. York, 1967

Gabriel Vahanian, The Death of god, G. Braziller, New York, 1961.

Gabriel Vahanian, The God is Dead Debate, McGraw Hill, New York, 1967.

Paul Van Buren, The Secular meaning of the Gospel, S. C. M. London, 1963.

पारिभाषिक शब्दावली

(अ)

अंगागि संबंध — Organic-relation.

अंगीय एकता — Organic unity.

अंडोच्छेदन — Castration.

अंतः ग्रसन — Involvement.

अंतः प्रज्ञा — Intuition

अंतः प्रेरणा — Intution.

अंततः — Ultimately.

अंतर्दृष्टि — Intuition.

अंतर्बाधा — Inhibition.

अंतरस्थ — Intrinsic.

अंतर्वेधन — Interpenetration.

अंतर्व्याप्ति — Interpenetration.

अंतर्ज्ञान — Intuition.

अंतर्वर्ती — Immanent.

अंतर्वर्तितावाद — Immanentism.

अंतर्विश्वास — Conviction.

अंतिम — Ultimate.

अंध व्यवस्था — Chaos.

आदिगत व्यवस्था — Primordial.

अकथनीय — Ineffable.

अकाट्य — Irrefutable.

अकूट — Genuine.

अकृत्रिम — Genuine.

अक्षरशः — Literally.

अखंडनीय — Irrefutable.

अगोचर — Invisible.

अग्रदर्शन — Foreseeing.

अग्रज्ञान — Foreknow.

अति अक्षरशः — Too literally

अति शब्दशः — Too literally

अदृश्य — Invisible.

अधिकृत कथन — Protocol-Statement.

अधि-दर्शन — Meta-Philosophy.

अधि-नीतिशास्त्र — Meta ethics.

अधि-भाषा — Meta-language.

अधिमत — Verdict.

अधि-व्याख्या — Super, explanation.

अभ्यर्थना — Demand.

अनंतकालिक, अनंतकालीन — Enduring.

अनन्य — Exclusive.

अनन्य — Unique.

अनन्य — Sui generis.

अनन्यता — Identity.
अनासक्ति — Detachment.
अनिर्णयात्मक, अनिर्णायक — Inconclusive.
अनिर्धार्यता — Indeterminacy.
अनिर्वचनीय — Ineffable.
अनिश्चयात्मक — Inconclusive.
अनुकंपा — Compassion.
अनुकूल-प्रतीक — Intergrating Symbol.
अनुक्रमण, अनुक्रमित — Follow From.
अनुक्रियाशील — Responsive.
अनुगमन — Follow From.
अनुग्रह — Grace.
अनुनय — Persuasion.
अनुनयी — Persuasive.
अनुपंथी — Orthodox.
अनुपातमूलक — Analogy.
अनुबंधन, अनुबद्धता — Obligation.
अनुभवजन्य — A posteriori.
अनुभवातीत — Transcenental.
अनुभवाश्रित — A posteriori.
अनुमति — Assent.
अनुमोदन — Approval.
अनुमोदन — (Ratification के अर्थ में) Sanction.
अनुज्ञा — Approval.
अनुलाप — Tautology.
अनुवीक्षक-यंत्र — Microscope.
अनुष्ठानात्मक — Procedural.
अनुशास्ति — Sanction.
अनुसमर्थन — (Ratification के अर्थ में Sanction.
अनेकार्थक — Equivocal
अन्यदेशीय — Alienation.
अन्यदेशीयता — Estrangement.
अन्यवैश्विक — Other-worldly.
अन्यापवर्जक, अन्यापवर्जी — Exclusive.
अन्योन्य क्रिया — Inter-action.
अन्वित होना — Related.
अन्वीक्षात्मक — Tentative.
अपकर्षण — Abstraction.
अपरिचितता —Estrangement
अपसूचना — Warning.
अबुद्धिपरक — Non-rational.
अभ्रांत — Incorrigible.

अभिकथन — Assertion.
अभिकल्प — Desirgn
अभिप्राय — Intention.
अभिप्लवन — Overwhelming.
अभिप्लुत होना — Overwhelm.
अभिमुखता — Orientation.
अभियोक्ता, अभियोजक — Prosecutor.
अभियोजन — Prosecution.
अभिरुचि — Concern.
अभिवचन — Assertion.
अभिविन्यास — Orientation.
अभिवृत्ति — Attitude.
अभिशक्षा — Conviction.
अभिशप्त — Taboo.
अविश्लेष्य — Unanalysable.
अभिस्थापन — Orientation.
अभेद — Identity.
अभ्यनुकूलन — Adaptation.
अमूर्त प्रत्यय — Abstraction.
अयुक्तिक — Irratioual
अर्थ-निरूपण — Interpretation
अर्पण — Commitment.
अर्ह — Value.
अर्हापण — Value.
अवतल — Concave.
अवधारण — Assumption.
अवधारणा — Concept.
अवज्ञ — Infra-intellectual.
अवबौद्धिक — Intra-intellectual.
अवरोध — Inhibition
अवरोध — Resistance.
अवसान — Extinction.
अविनाशिता — Conservation of energy.
अविभेदित — Undifferentiated.
अविमोचनीय — Irredeemable.
अविवाद्य — Indisputable.
अव्यक्त — Implicit.
अव्यवस्था — Chaos.
अवाकृत्यांतरवाद — Reductionism.
अशोधनीय — Irredeemable.
अशोध्य — Incorrigible

असंबद्ध — Irrelevant.
असंदिग्ध — Indubitable
असमंजस — Dilemma.
असममित — Asymmetrical.
असममिति — Asymmetry

(आ)

आंगिक — Organic
आंतरण — Transference.
आकस्मिक. आपातिक — Contingent.
आक्रामकता — Aggresiveness.
आगमन — Induction
आत्म-जागरण — Invoke.
आत्मजातिक — Sui generis
आत्मतुल्य — Sui generis
आत्मनिष्ठ — Subjective
आत्म-बोध — Invoke.
आत्मनियमित — Autonomous.
आत्मविमुखीकरण — Alienation
आत्म-विकास — Culture of soul.
आत्मा का संवर्धन — Culture of soul
आत्मसम्मोहन — Auto-suggestion.
आत्माभिपुष्टि — Affirmation-self

असली — Auth entic.
अस्वीकृति — Rejection.
अहं, अहमाव — Ego.
अहंमन्यता — Egotism.
अहंमात्रवाद — Sollpsism.
आत्मीकरण — Assimilation.
आद्यप्रतिरूप — Archtype
आद्यप्रतिमा — Archtype
आप्त (पुरुष) — Authei tic
आप्तवचन — Autho ity.
आप्तवाद — Authoritarianism.
आपातिता — Contingency.
आदान प्रदान करना — Reciprocate
आदर्श — Norm
आदिष्ट — Sanctioned.
आदिम — Initial
आदेश — Sanction
आदेश — Ruling
आदेशात्मक — Imperative
आयाम — Dimension
आभार — Obligation
आश्चर्यजनक, आश्चर्यपूर्ण — Numinous
आभास — Appearance
आज्ञप्त — Sanctioned
आज्ञप्ति — Sanction

आज्ञात्मक — Imperative
आलंकारिक — Figurative
आवर्तक, आवर्ती — Recurrent
आवृत्ति — Repeat
आवेष्टन — Involvement
आरंभिक — Initial
आरंभिक प्राक्कल्पना — Initial hypothesis.
आशंसा — Approval
आश्चर्य — Awe
आसन्न — Immediate
आस्था — Faith

(इ)

इकाई — Unit
इल्हाम (इस्लाम) — Revelation
इष्टसिद्धि — Expediency
ईश-दूत — Prophet
ईश्वरनिन्दा — Blasphemy
ईश-बोधन, ईश-मान करना — Divi ation
ईश्वर साक्षात्कारवाद — Mysticism

(उ)

उग्र — Extreme
उचित — Justified
उच्चकोटिक — Classical
उच्चता — Superiority
उत्कंठा — Concern
उद्गमन — Emergence
उद्गमन — Induction
उदात्तन — Sublimation
उदात्तीकरण — Sublimation
उदगम्य — A posteriori
उद्बोध — Evoke
उद्भूति — Emanation
उदारता — Tolerance
उद्घाटक — Revelatory
उत्क्रमिक — Progressive
उत्कृष्टता — Superiority
उत्तल — Convex
उत्तरदायी — Responsible
उत्तेजना — Incentive
उद्देश्यमूलक, उद्देश्यवाद — Teleology
उन्नयन — Sublimation.
उन्नतोदर — Convex
उन्मज्जन — Emergence.
उन्मूलनवादी — Iconoclast
उपक्रमण — Initiate
उपक्रमिता — Initiator.
उपक्रांत — Initiated

उद्घाटन — Disclosure
उपफल — By-product
उपयोगितावादी — Utilitarian
उपलक्षण — Type
उपलक्षण — Implication
उपलक्षित होना — Follow from
उपसृष्ट — By-product
उपाधि — Condition
उपार्पण — Commitment

उपार्जित — Acquired
उभयतोपाश — Dilemma
उभयभाविता — Ambivalance
ऊर्जासंरक्षण — Conservation of energy
उलझन — Involvement
उल्लास — Ecstasy

(ऊ)

ऊब — Boredom

औ

औचित्य-समर्थन — Justification

(ए)

एकमात्र — Exclusive
एकरूपीकरण — Unity
एकरेखीय — Unilinear
एकशिलात्मक — Monolithic
एकक — Unit
एकांतिक — Exclusive
एकाग्रता — Concentration

एकाश्मक — Monolithic
एकीकरण — Integration
एकीकरण — Unify
ऐकिक — Unitary
एकाधिकार, एकाधिपत्य — Monopoly
एकात्मवाद — Solipsism
एकात्मसत्तावाद — Solipsism

(क)

कपोलकल्पना — Myth
करणवाद — Instrumentalism
कराल — Tremendous
कर्म (एथिक्स) — Action

करुणा — Compassion
कर्मकांड विधि — Ritual
कर्मकार — Artificer
कसाकसी — Tension
काकतालीयता — Chance
काट्य — Falsifiable

कारण — Cause
आकारिक कारण — Formal
उपादान कारण — Material
निमित्त कारण — Efficient
प्रयोजन कारण — Final
यांत्रिक कारण — Mechanical
कारणता — Causality
कारणता — Causation
कारणता, अंतर्वर्ती — Immanent
क्रिया विधि — Mechanism
क्रियात्मक — Conative
क्रिया-वृत्ति — Conation
कुंजीपद, कुंजीप्रत्यय — Key-notion
कुफ्र — Blasphemy
केवल — Absolute
कौटुम्बिक काम — Incest
क्रम — Order
क्रियाकरण — Operation
क्लैसिक — Classical
क्षतिमय — Risk
खंडन करना — Refute
खरा — Authentic
खंडनीय — Falsifiable.
गड्डमड्ड — Muddle
गड़बड़-घोटाला — Muddle
गणक — Calculator
गणनयंत्र — Calculator
गणितीय — Mathematical

बहिर्वर्ती —Transcendent
कार्य-कारण भाव — Causality
कार्यपरक निर्भरता — Functional dependence
काल-निरपेक्ष (जो सभी कालों से परे हो)— Eternal
कालातीत — Eternal
कालोचित — Expedient
क्रियावृत्तिक — Conative
क्रिया-विधिपरक — Operational
क्रियाशील — Dynamic
कुंठा — Frustration
कोटि — Category
क्रम (Scheme के अर्थ में) — System
कॉस्मिक — Cosmic
खंडनीय — Falsifiable
खिंचाव — Tension
गर्भित — Implicit
गत्यात्मक — Dynamic
गहनता — Mystery
गुण — Attribute
गुप्त — Esoteric
गुह्य — Mystery

गतानुगति — Convention
गतानुगतिक — Conventional
गतिक — Dynamic
घोरत्व — Tremendum
घटक — Component
घटक — Factors.
चिन्तये अतोऽस्मि — Cogito ergo sum
चित्तवृत्ति — Disposition
चीत्कार — Exclamation
जड़पूजा — Fetishism
जनसाधारण — Laity
जातिविलोपन — Extinction of species
ठोस — Concrete
तंत्रमंत्र — Occult
तल — Level
तथ्यपूर्ण — Authentic
तथ्यानुबंधन — Colligation of facts
तनाव — Tension
तर्कपूर्ण — Rational
तर्कमूलक — Discursive
तर्क-वितर्क — Dispute
तर्क विरुद्ध — Irrational
त्रुटिपूरक — Compensatory
दंतकथा — Myth
दायित्व — Risk
दायी — Responsible

गुह्य-विद्या — Occult
गूढ़ — Esoteric
गूढ़ता — Mystery
घटना-प्रवाह — Trends
घोर — Tremendous
घोषणा — Declaration
चुनौती — Challenge
चेतना — Awareness
चेतावनी — Warning
जीवशक्ति — Elan vital
जैव, जैविक — Biological
जैविक एकता — Organic unity.
तर्कसिद्ध — (log.) Valid
तर्कातीत — Non-rational
तादात्म्य — Identity
तदात्मीकरण — Identification
ताबीज — Fetish
तीव्र — Extreme
तुल्यरूप शब्द — Analogue
दूरदर्शिता — Prudence
द्विपाशक — Dilemma
दीक्षणीय — Esoteric

दुर्व्यवस्था — Chaos
दुश्चक्र — Vicious Circle
दुश्चिंता Anxiety
दृढ़ कथन — Assertion
दृढ़ प्रत्यय, दृढ़मत, — Conviction
दृढ़ प्रत्यायक — Convictor
दृष्टांत — Parable
देवकथा — Myth
देवत्वप्राप्ति, देवीकरण — Deification
धर्मनिष्ठ, धर्मपरायण — Religious
धर्मविज्ञान, धर्मविद्या — Theology
नकारात्मक — Negation
नतोदर — Concave
नबी — Prophet
नमूना — Pattern
नररूपात्मक — Anthropomorphism
नररूपीकरण — Anthropomorphism
न्यायसंगत — Justified, Justifiable
निगम्य — A priori
नित्य — Eternal
नित्य — Immutable
निदर्शन करना — Demonstrate
निदेश — Ruling
निर्गमन — Emanation

दैववाद — Fatalism
दैवी समाधान — Deusex machina.
दोलन — Oscillation
द्रव्यवाची, द्रव्यवाचक — Conerete (logic)
द्रव्यसूचक — Substantival
द्विधार्थक — Ambiguous
द्वयर्थक — Ambiguous
धर्मादेश — Commandment
निर्धारित — Defined
निर्मोक्षनीय — Irreemdable
निर्धारक — Factors
निर्लिप्ति — Detachment
निर्वंशन — Extinction of species
निर्विकल्प — Immutable
निर्विकार — Immutable
निर्विवाद — Indisputable
निर्वेद — Resignation
निर्वैयक्तिक — Impersonal
निश्चल — Static
निश्चित — Defined
निश्चित कथा — Association
निश्चितार्थक कथन — Indicative statement

निर्णय — Decision
निर्देशात्मक — Ostensive
निर्भ्रांत — Inerrant
नियमितता — Regularity
नियामक — Regulative
निराकरण — Refute, Rejection
निराशावाद, निराशावृत्ति — Pessimism
निरुत्तर — Irrefutable
निरुपाधि — Absolute
निरुपाधिक — Unconditional
निरोधक — Prophylactic
निर्देश्य — Referent
पक्षपोषण — Defence.
पदानुक्रम — Hierarchy,
पदार्थ — Category.
परंपरानिष्ठ — Orthodox.
परकृत — Passive.
परम — Absolute.
परमानन्द — Beatitude.
परिकलक — Calculator.
परम्परागत — Conventional.
परस्पर-क्रिया — Interaction.
पराभूत करना — Overwhelm.
परावर्ती — Reflexive.

निश्चायक — Conclusive
निश्चिति — Certainty
तर्कीय निश्चिति — Logical certainly
निश्चेष्ट — Passive
निषिद्ध — Taboo
निष्क्रिय — Passive
निष्ठा — Faith
निस्सरण, निस्सारण — Emanation
निस्सारित — Extracted
निहित — Implicit
निःशेषी — Exhaustive
निःसंदिग्ध — Indubitable
निःसंदेह — Indubitably
न्यायादेश — Ruling
न्याय्य — Justifiable
परिणाम निरपेक्ष नीति — Deontology.
परिनिष्ठित — Classical.
परिपाटीबद्ध — Conventional.
परिमापित — Defined.
परीक्षण — Experiment.
परोक्ष — Invisible.
पवित्र — Holy.
पवित्र — Sacred.
पवित्रता — Sanctity.
पर्सोना — Persona.
पहेलिका, पहेली — Puzzle.
पारस्परिक — Correlative.

पराव्याख्या — Super-explanation.
परिकल्पना — Hypothesis.
परिकल्पनात्मक, परिकल्पित — Speculative.
परिग्राही — All-Comprehensive.
पुनरावृत्ति — Repeat.
पुनीत — Sacred.
पुनीतता — Sanctity.
पुनरुक्ति — Tautology.
पूज्य — Blessed.
पूज्यार्ह — Blessed.
पूर्णात्मक — Holistic.
पूर्णीकरण — Integration.
पूर्वदर्शन — Foreseeing
प्रख्यापन — Declaration.
प्रतिकारक — Compensatory.
प्रतिकृति — Model.
प्रतिक्रम — Inverse.
प्रतिगमन — Regression.
प्रतिदान — Requite.
प्रतिपूरक — Compensatory.
प्रकार — Type.
प्रकार्य — Function.
प्रकाशना (ईसाई धर्म) — Revelation.
प्रक्रियात्मक — Procedural.
प्रतिफलित — Requite.

परानोइया — Paranoia.
पारलौकिक — Other-worldly.
पावन — Holy.
पारलौकिक — Eschatological.
पुनर्मेल — Reconciliation.
पुरस्कार — Requite.
पुष्टिकरण — Confirmation.
पूरक — Complementary.
पूर्व नियतता — Foreordination.
पूर्वज्ञान — Foreknowledge
प्रतिरूप — Pattern.
प्रतिरूप — Model.
प्रतिरूप — Type.
प्रतिरोध — Resistance.
प्रतिदान करना — Reciprocate.
प्रतिफल चुकाना — Reciprocate.
प्रतिज्ञप्ति — Proposition.
प्रतिवाद — Defence.
प्रतिवादी — Defendant (law)
प्रतीपगमन — Regression.
प्रत्यय — Idea.
प्रत्यंश संवाद — Correspondence point to point.

प्रतिबंध — Qualification.
प्रतिबंध — Condition.
प्रतिबंधित — Conditioned.
प्रतिबुद्धिवाद — Anti-intellectualism.
प्रतिमान — Model.
प्रतिमान — Standard.
प्ररूप — Type.
प्रलोभन — Incentive.
प्रवर्तक — Persuasive.
प्रसारण — Radiation.
प्रसारित — Radiated.
प्रत्युत्तरदायी (पुजारी के प्रति) — Responsive
प्रज्ञात्मक — Noetic
प्रमानात्मक — Norm
प्रसाद — Grace.
प्रसुप्त — Dormant
प्राक्कल्पना — Hypothesis
प्रागनुभव — A priori.
प्रदर्शक — Revelatory.
प्रभुता, प्रभुसत्ता — Sovereignty.
प्रमाप — Standard.
प्रयोग — Experiment.
प्रज्ञा — Intellect.
प्रज्ञात्मक — Intellectual.
प्रज्ञान — Intelligence.
प्राणशक्ति — Elan vital.
प्राथमिक — Initial
प्राग्दर्शन — Foreseeing.
प्राग्ज्ञान — Foreknowledge
प्राधिकारी — Authority.
प्रामाणिक — Genuine.
प्रामाणिक — Authentic
प्रायिक — Probable.
प्राज्ञ — Prudent.
प्राज्ञता — Prudence.
प्रारंभ करना — Initiate
प्रोत्साहन — Incentive.

फ

फलतः — Ultimately.
फ़ैसला — Decision.

ब

बचाव — Defence
बहिष्कारक — Exclusive,
बहिः स्रवण — Efflux.
बाध्यता — Compulsion
बाध्यकारी — Compulsive.
बाह्य — Extraneous,
बुद्धि — Intellect.
बुद्धिगम्य — Intellectual.
बहिःस्राव — Efflux
बहिर्निष्ठ — Transcendental, Extrinsic.
बाह्य — Objective
बुद्धिवाद — Rationalism.

बुद्धिसंगत — Rational, based on reason as organ.
ब्रह्मांडीय — Cosmic.
बोध — Comprehension.
बोध — Apprehension.

बुद्धिसंपन्न — Rational, endowed with the faculty of reason.
बोध — Awareness.
बौद्धिक — Intellectual.
बौद्धिक — Noetic.

भ

भविष्य दर्शन — Foreseeing
भागग्रहण — Participation
भाग्यवाद — Fatalism
भान — Awareness
भाव — Being
भाव-प्रेरक, — Emotive

भावोत्तेजक — Emotive
भावना — Idea
भाव-समाधि — Ecstasy
भिड़न्त — Encounter
भिन्न जातीय — Heterogeneous
भ्रम — Illusion

म

मंत्रमुग्धता — Fascination
मत — Tenet
मध्याभाव — Excluded middle
मनोनीत करना — Choose
मनोभाव — Disposition
मनोवृत्ति — Disposition
मनोवृत्ति — Mentality
मरणान्तर — Eschatological
माँग — Demand
मॉडल — Model
मान — Value

मनुष्यत्वारोपण — Anthropomorphism
मनोग्रस्ति — Obsessional Neurosis
मनोग्रस्ति — Obsessional Compulsive Neurosis
महान — Awesome
मानवारोप — Anthropomorphism
मानव विज्ञान — Anthropology
मानस-व्यापार — Function

मानक	— Norm	मान्यता	— Validity
मानक	— Standard		
मिथ्याप्य, मिथ्यापनीय	— Falsifiable	मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना	— Homo Mensura
मुठभेड़	— Encounter	मूल्य	— Va ue
मूलभूत	— Ultimate	मूल्यन	— Value
मूर्त	— Concrete	मूल्य-मीमांसा	— Axiology
मूर्ति-भंजन	— Iconoclasm	मूल्य-मीमांसीय	— Axiological
मूर्ति-भंजक	— Iconoclast	मूल्यों की व्यवस्था	— Organization of values
मृत्यूत्तर	— Eschato-logical		
मेल-मिलाप	— Reconciliation		

य

यथातथ्य, यथाभूत	— Exact	नीतिपरक युक्ति	— Moral
यथातथ्य	— Exactness	प्रकृति-प्रयोजन युक्ति	— Physic-theological
यथार्थ	— Concrete		
यथार्थ भाव	— Indicative mood	प्रत्यय सत्ता युक्ति	— Ontological
		प्रयोजनवादी युक्ति	— Teleological
यांत्रिक	— Mechanic		
यांत्रिकता	— Mechanism	विश्व-अपातिता युक्ति	— A contingentia
युक्ति	— Argument		
युक्ति	— Arguement	विश्व कारण युक्ति	— Cosmological
अभिकल्प युक्ति	— Design		
उद्देश्यमूलक युक्ति	— Teleological		
युक्तिमूलक	— Rational, ba- based on reason asan ergan.	युक्तिवाद	— Rationalism.
		यौक्तिकीकरण	— Rationalization.
युक्तिमूलक	— Rational; · based on reason as an organ.	रचना	— Organic structure.
		रहस्य	— Mystery.

र

रहस्यवाद — Mysticism.
रहस्यानुभव — Mysticism.
रागात्मक — Passional.
रिक्त — Vacuous.
रिक्तपूरक प्राक्-कल्पना — Ad hoc hypothesis.
रीत्यनुसार — Conventional.
रूढ़िगत — Conventional.
रूढ़ परिभाषा — Conventional definition.
रूपांतर — Version.
रूपात्मक — Modal.
रेचनात्मक — Purgatorial.

ल

लकीर पंथी — Dogmatist.
लक्षण — Attribute.
ललकार — Challenge.
लाक्षणिक — Figurative.
लोक — Public.
लोकहित — Common good.

व

वचनबद्धता — Commitment.
वरण — Choose.
वरिष्ठता — Superiority.
वर्जित — Taboo.
वशीकरण — Fascination.
वस्तुनिष्ठ — Objective.
वाम — Perverse.
वामता — Perversion.
वास्तविक — Actual
वास्तविकीकरण — Actualisation.
विकिरित — Radiated.
विकृत — Perverse.
विकृति — Perversion.
विचलन — Deviation.
विचार — Idea.
विचारधारा — Ideology.
विजातीय — Heterogeneous.
विदेहात्मिक-शोध-समिति —Psychical Research Society. P. R. S.
विधान — Sanction.
विधेय धर्म — Transcendentals.
विध्यनुकूल — Valid.
विनियामक — Ragulative.
विनिश्चय — Decision.
विपर्यस्त — Perverse, Pervert.
विकिरण — Radiation.
विफलता — Frustration.
विमा — Dimension.
विभिन्न दर्शन-ग्रहण— Eclecticism.
विभिन्नदर्शन-ग्राही— Eclectic.
विभिन्नित —Differentiated.
विभेदित — Differentiated.

विमुक्त करना — Redeem.
विमोचनीय — Redeemable.
विरसता — Boredom.
विरोधाभास — Paradox.
विरोधाभासी — Paradoxical.
विरोधी — Opponent.
विलगाव — Estrangement.
विवाद — Dispute.
विविक्ति — Abstraction.
विवेकशील — Rational, endowed with faculty of reason.
विवेकी — Rational, endowed with the faculty of reason
वैकल्प्यपद — Privative term.
वैयक्तिक विचरण — Personal error.
वैध — Valid.
वैधरण — Validate.
वैधता — Validity.
वैयक्तिक — Individual,
व्यक्तिनिष्ठ — Subjective.
व्यक्तिबंधन — Correlation.
व्यवस्था — Organization
व्यवस्था — System.
व्यष्टि — Individual.

विशिष्टता — Qualification.
विशुद्धि — Sanctity.
विश्रंभ — Trust.
विश्लेषात्मक — Analytic.
विश्वास — Belief.
विध्यात्मक विश्वास — Affirmative.
निषेधात्मक विश्वास — Negative.
विशेषणवाद — Attribution.
विशेषता — Attribute.
विषम — Heterogeneous.
विषयेतर — Extraneous.
विसंगत — Irrelevant.
विस्मय — Awe.
विस्मयकारी — Awesome.
विस्मयाकुल — Aweful.
विस्मयाभिभूत — Aweful.
विह्वल होना — Overwhelm.
वैयक्तिक समीकरण — Personal euqation.
वैज्ञानिक पुनर्गठन — Rationalization in Science
वैराग्य — Detachment.
वैशेषणिक — Adjectival.
शिल्पी — Artificer.
वैषयिक — Objective.
व्यष्टीय — Individuation.
व्यष्टि विकास — Ontogenesis.
व्यापार — Function.

श

शब्दशः — Literally.
शहीद — Martyr.
शाब्दिक — Literal.
शाश्वत — Eternal.
शास्त्रविधि — Ritual.
शुचि — Sacred.
शुचिता — Sacredness.
शुद्धता — Sacredness.
श्रद्धा — Faith.
श्रुति (हिन्दुत्व) — Revelation.
शून्य — Vacuous.
शून्यतः — Creation ex nihilo.
श्रेणीबद्ध — Hierarchy.

स

सर्वज्ञता — Omniscience.
सर्वशक्तिमत्ता — Omnipotent.
सर्वपक्षी — Comprehensive.
सर्वपरी — Comprehensive.
सर्वपिता — All-father.
सर्वतः पूर्ण — Exhaustive.
सर्वव्यापक — Comprehensive.
सर्वसंग्राही — All comprehensive
सर्वसंग्राही — Comprehensive.
सर्वसग्राही — Synoptic.
सांयोगिता — Contingent.
साधनतावाद — Instrumentalism.
सापेक्षता — Relativity.
सामंजस्य — Harmony.
सादृश्य — Analogy.
सामन्तवाद — Feudalism.
सर्व समावेशी — All-Comprehensive.
सर्वहित — Common good.
सर्वांगपूर्ण — Comprehensive
सर्वांगपूर्ण — Exhaustive.
सर्वाशुभवाद — Pessimism.
सर्वोत्कृष्टता — Superlative.
सर्वोत्तमता — Superlative.
सर्वोपस्थिति — Omnipresence
सहचार — Association.
सहबंधन — Correlation.
सहभागिता — Communion.
सहसंबद्धक — Correlative.
सहिष्णुता — Tolerance.
सामान्य बुद्धि — Common Sense.
सामान्यीकरण — Generalisation.
साम्यानुमान — Analogy.
सायुज्य — Communion.
ईश्वर सायुज्य — Communion with God.

सामान्य विचार — Astraction.
सामान्य प्रत्यय — Concept.
सिद्धांत — Tenet.
सिफारिशी — Commendatory.
सीमांकन — Demarcation.
सीमा — Limit.
सीमांकित — Limiting.
सीमा-निर्धारण — Demarcation.
सुधारवाद — Ameliorism,
सुबोधीकरण — Interpretation.
संकलन — Integration.
संकल्प — Intention.
संकल्पना — Concept.
संकल्पवाद — Voluntarism.
संकेत — HInt.
संक्रमण — Transference.
संकार्य — Operation.
संक्रियावाद — Operationalism
संगति — Harmony.
संगठन — Organization.
संघटित — Integration.
संचयी, संचित — Cumualative.
संदर्शक-पोस्ट, — Guide-Post.
संदर्शिका
संदिग्ध — Ambguous.
संनिश्चय — Verdict.
संपेक्ष — Synthesis.

सारसंग्राही — Synoptic.
सार्वजनिक — Public.
सूत्रपात — Initiate.
सृष्टि — Creation ex nihilo.
सोपाधिक — Conditioned.
सोपान-क्रमिक — Hierarchy.
सौंदर्यशास्त्र — Aesthetic.
सौंदर्यात्मक — Aesthetic.
सौंदर्यानुभूति — Aesthetic experience.
सौपानिक — Hierarchy.
संप्रत्यक्ष — Apperception.
संप्रत्यय — Concept.
संप्रत्यय — Conviction.
संप्रत्यय — Conviction.
संप्रत्यायक — Convictor.
संप्रत्ययात्मक — Convictional.
संप्रत्ययवाद — Conceptualism
संप्रत्यायक — Convictional.
सबंधित, संबद्ध — Related.
संबोध — Concept.
संबोधवाद — Conceptualism.
संभावित — Probability.
संभाव्य — Probable.
समाकल्पन — Apperception.
समारोपन — Attribution.

संपात — Coincidence.
संपाती — Coincident
संपुष्टि — Confirmation, Corroboration
संपूर्णात्मक — Holistic.
संप्रतिपति — Consensus.
सज्ञापित करना — Communicate.
संरक्षण — Conservation.
सलग्नता — Concern.
सविन्यसन — Formulate.
सविन्यस्त — Formulated.
ससजन — Cohesion.
संसक्तता — Coherence.
अनुतांत्रिक संसक्तता — Systematic
संसूचना — Information.
संसूचित करना — Communicate.
संवेगकारक — Emotive.
संविभ्रम — Paranoia.
सश्लेषात्मक — Synthetic.
सस्तान — Commendation.
संस्तावी — Commendatory
संस्तुत — Aaproved.
स्तर — Level.
स्वयंसिद्ध, स्वयंसिद्धि — Axiom.
स्वांगीकरण — Assimilation.
स्वातन्त्र्य, संकल्प — Freedom of will.

सम्मोहन — Fascination.
संज्ञात्मक — Substantival.
सज्ञान — Cognition.
संपोषण — Corroboration
संज्ञानवादी — Cognitivist.
संज्ञानात्मक — Cognotive.
संस्थिति — Collocation.
सहृति — System.
सच्चा — Genuine.
सत्याप, सत्यपनीय — Verifiable.
सनातन — Immutable.
समादेश — Command.
समाधेयक — Solver.
समावेष्टन — Participate.
समाहारवाद — Syneretism.
समुच्चयवाद — Syncretism.
समयोचित — Expedient.
समर्थन — Justificatian.
समर्पण — Dedication.
समाकरण — Intergration.
सम्मुख होना — Encounter.
सर्वकालीन — Enduring.
सर्वगतता — Ommipresence
स्वनियमाधीन — Autonomous
सूची-स्तंभ — Pyramid.
सूची-स्तंभीय — Pyramidal.
स्वतः प्रवृत्ति, स्वतः स्फूर्ति — Spontaneity.

स्वातंत्र्य — Freedom of will

स्वाधीन — Autonomous.

स्वायत्त — Autonomous.

स्वीकारोक्ति — Assertion.

स्वीकृत — Sanctioned.

स्वीकृति — (Ratification के अर्थ में) Sanction.

ज्ञान-संबंधी — Noetic.

ज्ञानातीत — Transcendental

स्वयंभू — Causa Sui.

स्वरमेल — Symphony.

स्वरसंगति — Symphony.

स्थैतिक — Static.

हुतात्मा — Martyr.

हानिभय — Risk.

ज्ञानाश्रयी सिद्धांत — Cogonitivist.

★

नाम-निर्देश

धर्म
आदिम
अनादिम
आध्यात्मिक धर्म परम्परागत
अनादिम धर्म (बौद्ध, जैन, ईसाई धर्म आदि)
लौकिक वर्तमानयुगी धर्म
(मानवतावाद और उसके प्रकार)
शुद्ध समाधिमूलक
(हीनयानी बौद्ध धर्म)
मिश्र
(इसमें समाधि और उपासना दोनो का
सम्मिश्रण एव समन्वय रहता है। उदाहरणार्थ,
वेदान्ती (शाकर) तथा महायानी बौद्ध धर्म।
कुछ रहस्यवादी ईश्वरवाद को भी इसमे सम्मिलित
किया जा सकता है)
शुद्ध उपासनामूलक ईश्वरवाद
(इस्लाम ईसाई धर्म आदि)
एकेश्वरवाद
न-एकेश्वरवाद
दार्शनिक एकेश्वरवाद
व्यावहारिक (इस्लाम और
ईसाई धर्म
द्वैतवाद
अनेकेश्वरवाद
(देववाद केवल निमित्तेश्वरवाद)
डीज्म
सर्वेश्वरवाद
(पान्थीज्म)
निमित्तोपादानेश्वरवाद
(पानेनथीज्म अथवा थीज्म)